AGAM AUR TRIPITAK : EK AN[illegible]

(A Critical Study of the Jaina and the Buddhist Canons)

VOL. II

[LANGUAGE & LITERATURE]

By

RASHTRASANT MUNISHRI NAGARAJJI D. L[illegible]

Preface by

RASHTRASANT UPADDYAY SHRI AMAR MU[illegible]

A review by

Dr. PRABHAKAR MACHAVE

Director, Bhartiya Bhasa Parishad, Calcutta

Ex. Chairman, Sahitya Academy, New Delhi

Edited by

UPADDYAY MUNISHRI MAHENDRAKUMARJI 'PR[illegible]

Published by

ARHAT PRAKASHAN

A. B. Jain Swetamber Terapanthi Samaj

355-358, Todi Corner, 32 Ezra Street,

CALCUTTA-700 001

AGAM AUR TRIPITAK : EK ANUSILAN

(A Critical Study of the Jains and the Buddhist Canonical Literature)

VOL. II

[LANGUAGE & LITERATURE]

By
RASHTRASANT MUNISHRI NAGARAJJI D. Litt.

Preface by
RASHTRASANT UPADDYAY SHRI AMAR MUNIJI

A review by
Dr. PRABHAKAR MACHAVE
Director, Bhartiya Bhasa Parishad, Calcutta
Ex. Chairman, Shitya Academy, New Delhi

Edited by
L. UPADDYAY MUMISHRI MAHENDRAKUMARJI 'PRATHAM'

Published by
ARHAT PRAKASHAN
A. B. Jain Swetamber Terapanthi Samaj
366-368, Todi Corner, 32 Ezra Street,
CALCUTTA-700 001

प्रकाशकीय

'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' खण्ड : १ कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ। यह सर्वविदित है ही कि वह साहित्यिक-जगत् में अपनी दिशा का एक कीर्तिमान बना। नाना विश्वविद्यालयों ने उसे अपने-अपने पाठ्यक्रम में रखा तथा कानपुर विश्वविद्यालय ने मुख्यतः उसी ग्रन्थ के आधार पर लेखक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्० की मानद उपाधि से सम्मानित किया। परम प्रसन्नता की बात है कि उसी गौरवपूर्ण ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के प्रकाशन का दायित्व हमारे अर्हत् प्रकाशन संस्थान को मिला।

स्वर्गीय उपाध्याय मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' के अभिनिष्क्रमण-काल के अगले वर्ष सन् १९७६ से ही इस प्रकाशन संस्थान का 'अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर तेरापंथी समाज' के दायित्व में उदय हुआ। तब से अब तक लगभग २० पुस्तकें हम प्रकाशित कर चुके हैं। अब इस विशाल ग्रन्थ का प्रकाशन कर हमें हर्षानुभूति हो रही है।

तथारूप विशाल ग्रन्थों के प्रकाशन में मुख्यतः दो तरह की कठिनाइयां हुआ करती हैं। एक अर्थ की और दूसरी प्रकाशन-शुद्धि की। हमें दोनों ही कठिनाइयों से नहीं गुजरना पड़ा है। राष्ट्रसन्त मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्० जैन-जैनेतर सभी समाजों में श्रद्धास्पद हैं। एक हजार से पांच हजार तक की योजना बनाकर हम चले थे। जहां भी प्रस्ताव रखा, सफलता मिली व प्रस्तुत प्रयोजन से १० हजार तक के सहयोगी भी हमें मिले। आज मैं उन समस्त आर्थिक सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। उनके सहयोग से ही वर्तमान महंगाई के युग में भी हम अपना लक्ष्य पूरा कर पा रहे हैं।

संस्कृत, प्राकृत, पालि, हिन्दी, अंग्रेजी आदि नाना भाषाओं के सन्दर्भों से भरे-पूरे ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन का कार्य भी कठिनतर था, पर हमारे अभ्यस्त एवं अनुभवी कार्यकर्ता श्री मुहरसिंह जैन व श्री रामचन्द्र सारस्वत ने उस दुरूह कार्य को भी पूर्ण जागरूकता से सहज कर बताया।

मुद्रण-व्यवस्था की दृष्टि से हरलालका आर्ट प्रिंटर्स और मेहता फाइन आर्ट प्रेस; इन दो प्रेसों का सहारा हमें लेना पड़ा। कलकत्ता के विद्युत् संकट के कारण विलम्ब अवश्य हुआ, पर श्री शंकरलालजी हरलालका एवं माननीय श्री म [illegible] का ग्रन्थ को यथो[illegible] शित करने में [illegible] योगदान [illegible] जी

भूमिका

वाग्-देवता के वरद्-पुत्र जिस किसी भी गूढ़, गम्भीर एवं सूक्ष्म विषय को अपने चिन्तन की सूक्ष्मता एवं तीक्ष्णता से स्पर्श कर लेते हैं, वह विद्वानों को तो क्या, साधारण जिज्ञासुओं तक के लिए भी हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है। सूर्य-किरणों से जैसे कि तमसाच्छन्न वस्तु-जगत् सहसा आलोकित हो उठता है, ठीक वैसे ही सद्सद् विवेकवती प्रतिभा के धनी सरस्वती पुत्रों की चिन्तन-प्रभा से दुरूह से दुरूह प्रतिपाद्य भी सहज-सरल एवं सुबोधता से प्रतिभासित हो जाता है।

स्वनामधन्य मनीषी मुनिश्री नगराजजी ऐसे ही वाग्-देवता के एक यशस्वी वरद्-पुत्र हैं। उक्त कथन में अतिशयोक्ति जैसी कोई बात नहीं है। यह मैं अपने प्रिय स्नेही होने के नाते ही नहीं कह रहा हूँ। उनका तलस्पर्शी अध्ययन, चिन्तन एवं लेखन ही ऐसा है कि वह किसी भी सहृदय उदार मनीषी को ऐसा कहने के लिए सहज ही मुखर कर देता है।

मुनिश्री अपने प्रतिपाद्य विषय को केवल प्रतिपादन के लिए ही प्रतिपादित नहीं करते हैं, केवल लिखने के लिए ही नहीं लिखते हैं। वे जैसा कि उनका नाम 'नगराज' (मेरु) है। "यादृश बुद्धि बलोदयम्" के शक्ति सूत्र के अनुसार काफी गहराई और साथ ही काफी ऊंचाई तक अपने अभीष्ट प्रतिपाद्य को प्रथम आत्मसात् करते हैं, तदनन्तर उसके मर्म को उद्घाटित करते हैं। उनका अध्ययन जैसा कि विशाल, गम्भीर एवं बहुमुखी है, वैसा ही उसको समुद्भासित कर देने वाला उनका चिन्तन-मनन भी है। यह मणि-कांचन योग ही है, जो अपनी पूर्ण आभा से व्यक्ति के भास्वर व्यक्तित्व को जन-मन में प्रकाशमान बनाता है; अतएव मुनिश्री स्पष्ट ही महाकवि मुरारी के शब्दों में ज्ञान-सागर के आपाताल-निमग्न पीवरतनु मन्थाचल हैं, छलांग लगाकर ऊपर ही ऊपर उड़न गति से सागर को पार करने वाले रामायण युग के वीर-वानर नहीं—

> "अब्धिर्लंङ्घित एव वानर भटैः, किन्त्वस्य गम्भीरताम्।
> आपाताल-निमग्न-पीवरतनुर्, जानाति मन्थाचलः॥"

बहुत वर्ष पहले मुनिश्री का 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' ग्रन्थ देखने में आया था। ग्रन्थ मुद्रण में जितना महाकाय था, उतना ही वह अपने प्रतिपाद्य विषय में भी विराट् था। यह ग्रन्थ विद्वज्जगत् में काफी लोक-प्रिय रहा है। फल-स्वरूप उन्हें

प्रस्तावना

'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का विषय था—इतिहास और परम्परा। प्रस्तुत द्वितीय खण्ड का विषय है—भाषा और साहित्य। आगमों की भाषा प्राकृत और त्रिपिटकों की भाषा पालि का वर्तमान भाषा-विज्ञान में क्या स्थान है, वे किस भाषा-परिवार से सम्बद्ध हैं, यह ग्रन्थ की आदि चर्चा का विषय है। वर्तमान भाषा-विज्ञान बहुत विकसित हो चला है व हो रहा है। उसे समझे बिना हम प्राकृत व पालि के सही स्वरूप को समझ पा रहे हैं, यह हमारा भ्रम ही हो सकता है। इसी हेतु से वर्तमान भाषा-विज्ञान को भी पर्याप्त विस्तार से यहां लिख देना पड़ा है जो कि जैन-साहित्य में सम्भवतः प्रथम बार ही प्रस्तुत हुआ होगा। आज प्रत्येक बात व प्रत्येक वस्तु अन्तर्राष्ट्रीय महत्व पा सकती है बशर्ते कि उसे विश्वजनीन मान-दण्डों के सन्दर्भ से प्रस्तुत किया जा सके। प्राकृत व पालि भाषाएं केवल धर्म-शास्त्रों के आयाम तक ही सीमित रखी जाती हैं तो उनका दायरा बहुत छोटा रह जाता है, केवल जैनों व बौद्धों तक। भाषा शास्त्रीय सन्दर्भ पाकर वे विश्वमान्य भाषा परिवारों से सम्बद्ध हो जाती हैं अर्थात् वे सम्प्रदाय के दायरे से निकल कर अपने अस्तित्व बोध का मुक्त-गगन पा लेती हैं।

आर्य भाषाओं का विवरण लिखते संस्कृत भी अविनाभावि रूप से प्रस्तुत हो जाती है। उस पर भी मैंने भाषा शास्त्रीय विचार कर दिया है। आगम व त्रिपिटक साहित्य की तरह वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् आदि का भी दिग्दर्शन करा दिया है।

आगम अभिधा से मैंने समग्र पैंतालीस आगम ही विवेचित किये हैं। बत्तीस पैंतालीस के साम्प्रदायिक भेद को नगण्य मानकर उपेक्षित ही किया है। दिगम्बर-शास्त्र आगम नहीं कहलाते हैं, पर उनका सम्बन्ध शौरसेनी प्राकृत से ही है तथा आगम ही उनकी तुलना सम्बन्धित परम्परा में मानी गई है; अतः उन्हें भी मैंने अपने विवेचन समग्रतः ले लिया है।

जैन व बौद्ध, दिगम्बर व श्वेताम्बर उक्त भेद-प्रभेदों की सतह से ऊपर रहकर मीमांसा करने का मेरा लक्ष्य रहा है। मैं अपने अभिप्रेत में कहां तक सफल रहा हूं तो विज्ञ पाठकों की अनुभूति का विषय ही हो सकता है। जैन या बौद्ध, श्वेताम्बर दिगम्बर सभी प्रणेता आचार्यों के प्रति मेरे मन में समान ही श्रद्धा-भाव रहा है। अत

प्रतिपादन में मानसिक उन्मादपना मेरे कहीं बाधक नहीं बनी, ऐसी मेरी अपनी अनुभूति है।

भाषा एवं लिपि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अतः इस पूरा अध्याय लिपि-रचना के उद्भव और विकास पर ही लिखा गया है। शिलालेखों व ताम्र-लेखों की प्राकृत पर विचार करते एक स्वतंत्र अध्याय में शिलालेखों व स्तम्भों का भी पूरा लेखा-जोखा दे दिया गया है। भद्रबाहु प्रथम, द्वितीय, चन्द्रगुप्त प्रथम, द्वितीय तात्कालीन तथा श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा के स्फुट धारणा-भेद आदि नाना विषय आपातत: चर्चित कर दिये गये हैं ताकि विवाद-संकुल बातें भी समीक्षात्मक रूप से स्पष्ट हो सकें। कुल मिलाकर मेरा यही अभिप्राय रहा है कि ग्रन्थ विद्वद्-भोग्य होने के साथ जन-भोग्य भी बन सके। दुरूह विषय भी पाठकों के सरलता व सरसता से समझ में आ सके।

प्रस्तुत दूसरे खण्ड का लेखन वि० संवत् २०३० के मेरे चूरू चातुर्मास में हुआ। उस समय मेरे अनन्य सहयोगी मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' व 'द्वितीय' दोनों में से कोई भी मेरे पास नहीं थे। 'प्रथम' कलकत्ता में थे तथा 'द्वितीय' आचार्य श्री के साथ दिल्ली में। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। संयोगतः साहित्य प्रेमी व समाजसेवी श्री सोहनलालजी हीरावत ने डा० छगनलाल शास्त्री को आमन्त्रित कर लिया। वे २-३ महीने मेरे पास रहे। उनका श्लाघनीय योगदान मेरे साहित्य-अनुसन्धान कार्य में रहा।

कुल २-३ वर्षों में मेरा लेखन-कार्य सम्पन्न हो गया। सम्पादन की दृष्टि से सारी लेख-सामग्री मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' के पास क्रमशः कलकत्ता व बनारस जाती रही। मेरे अभिनिष्क्रमण से पूर्व ही सम्पादन कार्य भी लगभग सम्पन्न हो गया।

ग्रन्थ का प्रथम खण्ड वि० संवत् २०२६ में प्रकाशित हो गया था। दूसरा खण्ड अब वि० संवत् २०३९ में प्रकाशित हो रहा है। इतने लम्बे अन्तराल के अनेक कारण हैं। वि० संवत् २०२७ में हम लोग दिल्ली आ गये। वहां लगातार १ वर्ष भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती, रायपुर व चूरू के अग्नि-परीक्षा-प्रकरण आदि कार्यों में इतने व्यस्त रहे कि दूसरा खण्ड आरम्भ करने की बात मैं सोच ही नहीं सकता था। तदनन्तर चूरू चातुर्मास तथा उसके अगले वर्ष शार्दूलपुर चातुर्मास में लेखन-कार्य प्रायशः सम्पन्न हो गया। मेरे जीवन में लगभग यह क्रम रहा है—राजधानियों के प्रवास में जन-सम्पर्क व जन-हित और गावों व कस्बों के प्रवास में स्वान्तः सुखाय साहित्य-साधना।

इसी वर्ष संवत् २०३१ में मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का बनारस में अभिनिष्क्रमण हो चुका था। कई वर्षों से चला आ रहा सामाजिक संघर्ष पूर्णतः ज्वार पर आ गया। सारी स्थितियां संदिग्ध हो गईं। उस संदिग्ध स्थिति में ग्रन्थ का प्रकाशन संभव भी नहीं था और मैं चाहता भी नहीं था। उक्त घटना-प्रसंग के दो वर्ष पश्चात् ही मेरा

अभिनिष्क्रमण हो गया। कलकत्ता तक की सुदूर यात्रा हो गई। कलकत्ता में संवत् २०३५ में मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' की विद्यमानता में ही अर्हत् प्रकाशन की ओर से ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ हो गया। ४ वर्ष का प्रलम्ब समय जो प्रकाशन-कार्य में लगा, उसका मुख्य हेतु तो कलकत्ता का विद्युत्-संकट हो रहा है। अस्तु, पाठकों का चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ अब उनके हाथों में आ रहा है, यह सन्तोष का विषय है। कितना सुन्दर होता, स्व० उपाध्याय मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' की विद्यमानता में ही यह प्रकाशित होकर सामने आ पाता।

विश्रुत विद्वान् उपाध्यायप्रवर श्री अमर मुनिजी ने प्रस्तुत खण्ड पर भूमिका लिखकर तथा विख्यात भाषा शास्त्री डा० प्रभाकर माचवे ने 'एक अवलोकन' लिख कर ग्रन्थ को व मुझे गरिमा प्रदान की है, एतदर्थ मैं आभारी हूँ।

मैं उन समस्त लेखकों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी कृतियों को मैंने अपने लेखन में संदर्भित किया है।

लोक-संग्राहक प्रवृत्तियों से मैंने स्वयं को निवृत्त प्राय: कर लिया है तथा अन्यान्य अनिवार्य अपेक्षाओं को मेरे परम सहयोगी मुनि मानमलजी एवं मुनि मणिकुमारजी निभा लेते हैं; अत: 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' ग्रन्थ के पूर्व निर्धारित तृतीय खण्ड का लेखन कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो सकेगा, ऐसी आशा है।

—मुनि नगराज

लुहारीवाला भवन
कलकत्ता
दीपावली वि० सं० २०३९
१५ नवम्बर १९८२

६. शौरसेनी प्राकृत और उसका वाङ्मय

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन

खण्ड : २

[भाषा और साहित्य]

आगमों की भाषा प्राकृत है। त्रिपिटकों की भाषा पालि है। दोनों भाषाओं में अद्भुत सांस्कृतिक ऐक्य है। दोनों भाषाओं का उद्गम-बिन्दु भी एक है। दोनों का विकास-क्रम भी बहुत कुछ समान रहा है। दोनों के विकसित स्वरूप में भी अद्भुत साम्य है। जो कुछ वैषम्य है, उसके भी नाना हेतु हैं। प्राकृत और पालि के सारे सम्बन्धों व विसम्बन्धों को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए भाषा मात्र की उत्पत्ति और प्रवाह-क्रम का सर्वांगात्मक रूप से प्रस्तुतीकरण आवश्यक होगा।

भाषाओं के विकास और प्रसार की एक लम्बी कहानी है। भाषाओं का विकास मानव के बौद्धिक और भावात्मक विकास के साथ जुड़ा है। मानव ने संस्कृति, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में महनीय अभियान चलाये। फलतः विश्व में विभिन्न संस्कृतियों, दार्शनिक परम्पराओं, साहित्यिक अभियोजनाओं तथा सामाजिक विकास का एक परिनिष्ठित रूप प्रतिष्ठापन्न हुआ। भाषाओं में इनसे सम्बन्धित आरोहों-अवरोहों का महत्वपूर्ण विवरण ढूंढा जा सकता है; क्योंकि मानव के जीवन में धर्म और अभिव्यक्ति का गहरा सम्बन्ध है। धर्म की तेजस्विता गोपित नहीं रहना चाहती। सूर्य की रश्मियों की तरह वह फूटना चाहती है। आकाश की तरह उसे अपना कलेवर फैलाने के लिए स्थान या माध्यम चाहिए। वह भाषा है; अतः भाषाओं के वैज्ञानिक अनुशीलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

विभिन्न भाषाओं की आश्चर्यजनक निकटता

आश्चर्य होता है, सहस्रों मीलों की दूरी पर बोली जाने वाली फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं से भारत में बोली जाने वाली हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी तथा राजस्थानी आदि भाषाओं का गहरा सम्बन्ध है, जबकि बाह्य कलेवर में वे उनसे अत्यन्त भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं। दूसरा आश्चर्य यह भी होगा कि भारत में ही बोली जाने वाली तमिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम आदि भाषाओं से उत्तर भारतीय भाषाओं का मौलिक सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत, प्राकृत तथा पालि आदि का पश्चिम की ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि प्राचीन भाषाओं के साथ विशेष सम्बन्ध है। एक दूसरी से सहस्रों मीलों की दूरी पर प्रचलित तथा परस्पर सर्वथा अपरिचित-सी प्रतीत होने वाली विश्व की अनेक

आगमों की भाषा प्राकृत है। त्रिपिटकों की भाषा पालि है। दोनों भाषाओं में अद्भुत सांस्कृतिक ऐक्य है। दोनों भाषाओं का उद्गम-बिन्दु भी एक है। दोनों का विकास-क्रम भी बहुत कुछ समान रहा है। दोनों के विकसित स्वरूप में भी अद्भुत सामंजस्य है। जो कुछ वैषम्य है, उसके भी नाना हेतु हैं। प्राकृत और पालि के सारे सम्बन्धों व विसम्बन्धों को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए भाषा मात्र की उत्पत्ति और प्रवाह-क्रम का समीक्षात्मक रूप में प्रस्तुतीकरण आवश्यक होगा।

भाषाओं के विकास और प्रसार की एक लम्बी कहानी है। भाषाओं का विकास मानव के बौद्धिक और भावात्मक विकास के साथ जुड़ा है। मानव ने संस्कृति, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में महनीय अभियान चलाये। फलतः विश्व में विभिन्न संस्कृतियों, दार्शनिक परम्पराओं, साहित्यिक अभियोजनाओं तथा सामाजिक विकास का एक परिनिश्चित रूप प्रतिष्ठापन्न हुआ। भाषाओं में इनसे सम्बन्धित आरोहों-अवरोहों का महत्वपूर्ण विवरण ढूंढा जा सकता है; क्योंकि मानव के जीवन में कर्म और अभिव्यक्ति का गहरा सम्बन्ध है। कर्म की तेजस्विता गोपित नहीं रहना चाहती। सूर्य की रश्मियों की तरह वह फूटना चाहती है। आकाश की तरह उसे अपना कलेवर फैलाने के लिए स्थान या माध्यम चाहिए। वह भाषा है; अतः भाषाओं के वैज्ञानिक अनुशीलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

विभिन्न भाषाओं की आश्चर्यजनक निकटता

आश्चर्य होता है, सहस्रों मीलों की दूरी पर बोली जाने वाली फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं से भारत में बोली जाने वाली हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी तथा राजस्थानी आदि भाषाओं का गहरा सम्बन्ध है, जबकि बाह्य कलेवर में वे उनसे अत्यन्त भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं। दूसरा आश्चर्य यह भी होगा कि भारत में ही बोली जाने वाली तमिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम आदि भाषाओं से उत्तर भारतीय भाषाओं का मौलिक सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत, प्राकृत तथा पालि आदि का पश्चिम की ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि प्राचीन भाषाओं के साथ विशेष सम्बन्ध है। एक दूसरी से सहस्रों मीलों की दूरी पर प्रचलित तथा परस्पर सर्वथा अपरिचित-सी प्रतीत होने वाली विश्व की अनेक

भाषाओं का निकटता-पूर्ण सम्बन्ध है। ज्ञात होता है कि विश्व के विभिन्न मानव-समुदायों में अत्यन्त प्राचीन काल से कोई पारस्परिक साम्य चला आ रहा है। भाषाओं के स्वरूप और विकास का वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक रूप में अध्ययन करने से ये तथ्य विशद रूप में प्रकट होते हैं। इसी विचार-सरणि के सन्दर्भ में भाषाओं का जो सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन-क्रम चला, वही भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र बन गया है।

भाषा-विज्ञान की शाखाएं

भाषा-विज्ञान में भाषा-तत्त्व का विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण और विवेचन किया जाता रहा है, आज भी किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, व्युत्पत्ति-विज्ञान; आदि उसकी मुख्य शाखाएं या विभाग होते हैं।

ध्वनि-विज्ञान (Phonology)

भाषा का मूल आधार ध्वनि है। ध्वनि का ही व्यवस्थित रूप शब्द है। शब्दों का साकांक्ष या परस्पर-सम्बद्ध समवाय वाक्य है। वाक्यों से भाषा निष्पन्न होती है; अतएव ध्वनि-विज्ञान भाषा-शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके अन्तर्गत ध्वनि-यन्त्र, स्वर-तन्त्री तथा ध्वनि को व्यक्त रूप में प्रस्फुटित करने वाले वागिन्द्रिय के मुख-विवर, नासिका-विवर, तालु, कण्ठ, ओठ, दन्त, मूर्द्धा, जिह्वा आदि अवयव, उनसे ध्वनि उत्पन्न होने की प्रक्रिया, ध्वनि-तरंग, श्रोत्रेन्द्रिय से संस्पर्शन या संघर्षण, श्रोता द्वारा स्पष्ट शब्द के रूप में ग्रहण या श्रवण आदि के साथ-साथ ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनि-विकास, उसके कारण तथा दिशाएं आदि विषयों का समावेश है।

रूप-विज्ञान (Morphology)

शब्द का वह आकार, जो वाक्य में प्रयुक्त किये जाने योग्य होता है, रूप कहा जाता है। 'पद' का भी उसी के लिए प्रयोग होता है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने सुप्तिङन्तं पदम् कहा है। अर्थात् शब्दों के अन्त में सु, औ, जस आदि तथा ति, तस्, अन्ति आदि विभक्तियों के लगने पर जो विशेष्य, विशेषण, सर्वनाम तथा क्रियाओं के रूप निष्पन्न होते हैं, वे पद हैं। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ने ते विभक्त्यन्ताः पदम् कहा है।

विभक्ति-शून्य शब्द (प्रातिपदिक) और धातुओं का यथावस्थित रूप में प्रयोग नहीं होता। विभिन्न सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए उनके साथ भिन्न-भिन्न विभक्तियां जोड़ी जाती हैं। विभक्ति-युक्त प्रातिपदिक या धातु प्रयोग-योग्य होते हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध काव्य-तत्त्व-वेत्ता कविराज विश्वनाथ ने पद की व्याख्या करते हुए लिखा है : "वे वर्ण या वर्ण-समुच्चय, जो प्रयोग के योग्य हैं तथा अनान्वित रूप में किसी एक अर्थ के बोधक हैं, पद

कहे जाते हैं ।[1] रूप-विज्ञान में इस प्रकार के नाम व आख्यात (क्रिया) पदों (रूपों) के विश्लेषण, विकार तथा अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय आदि का तुलनात्मक विवेचन होता है ।

अर्थ-विज्ञान (Semantics)

शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध है । अर्थ-शून्य शब्द का भाषा के लिए कोई महत्त्व नहीं होता । शब्द बाह्य कलेवर है, अर्थ उसकी आत्मा है । केवल कलेवर की चर्चा से साध्य नहीं सधता । उसके साथ-साथ उसकी आत्मा का विवेचन भी अत्यन्त आवश्यक होता है । शब्दों के साथ सश्लिष्ट अर्थ का एक लम्बा इतिहास है । किन-किन स्थितियों और हेतुओं से किन-किन शब्दों का किन-किन अर्थों से कब, कैसे सम्बन्ध जुड़ जाता है; इसका अन्वेषण एवं विश्लेषण करते हैं, तो बड़ा आश्चर्य होता है । वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित शब्दाः कामदुधाः इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है । इसका अभिप्राय यह था कि शब्द कामधेनु की तरह हैं । अनेकानेक अर्थ देकर भोक्ता या प्रयोक्ता को परितुष्ट करने वाले हैं । कहने का प्रकार या क्रम भिन्न हो सकता है, पर, मूल रूप में तथ्य वही है, जो ऊपर कहा गया है । उदाहरणार्थ, जुगुप्सा शब्द को लें । वर्तमान में इसका अर्थ घृणा माना जाता है । यदि इस शब्द के इतिहास की प्राचीन पर्तें उघाड़ें, तो ज्ञात होगा कि किसी समय इस शब्द का अर्थ 'रक्षा करने की इच्छा' (गोप्तुमिच्छा जुगुप्सा) था । समय बीता । इस अर्थ में कुछ परिवर्तन आया । प्रयोक्ताओं ने सोचा होगा, जिसकी हम रक्षा करना चाहते हैं, वह तो छिपा कर रखने योग्य होता है; अतः 'जुगुप्सा' का अर्थ गोपन (छिपाना) हो गया । मनुष्य सतत मननशील प्राणी है । उसके चिन्तन एवं मनन के साथ नये-नये मोड़ आते रहते हैं । उक्त अर्थ में फिर एक नया मोड़ आया । सम्भवतः सोचा गया हो, हम छिपाते तो जघन्य वस्तु को हैं, अच्छी वस्तुएं तो दिखाने की होती नहीं । इस चिन्तन के निष्कर्ष के रूप में जुगुप्सा का अर्थ 'गोपन' से परिवर्तित होकर 'घृणा' हो गया । वास्तव में शब्द का स्रष्टा एवं उसका प्रयोक्ता मानव है । प्रयोग की भिन्न-भिन्न कोटियों का मानव की मनःस्थितियों से सम्बन्ध है ।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध आदि पर विचार, विवेचन और विश्लेषण इस विभाग के अन्तर्गत आता है । वर्तमान के कुछ भाषा-वैज्ञानिक इसको भाषा-विज्ञान का विषय नहीं मानते । वे इसे दर्शन-शास्त्र से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं । प्राचीन काल के कुछ भारतीय दार्शनिकों ने भी प्रसंगवश शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की चर्चा की है । पर, जहां स्वतंत्र रूप से भाषा-शास्त्र के सांगोपांग विश्लेषण का प्रसंग हो, वहां इसे अनिवार्यतः उसी

---

१. वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

—साहित्य दर्पण; २.२

को लेना होगा। उसके बिना किसी भी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से परिशीलन अपूर्ण रहेगा। अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक तथा इतिहासात्मक; सभी दृष्टियों से अर्थ का अध्ययन करना अपेक्षित होता है। अर्थ-परिवर्तन, अर्थ-विकास, अर्थ-ह्रास तथा अर्थ-उत्कर्ष आदि अनेक पहलू इसमें सहज ही आ जाते हैं।

वाक्य-विज्ञान (Syntax)

भाषा का प्रयोजन अपने भावों की अभिव्यंजना तथा दूसरे के भावों का यथावत् रूप में ग्रहण करना है। दूसरे शब्दों में इसे (भाषा को) विचार-विनिमय का माध्यम कहा जा सकता है। ध्वनि, शब्द, पद; ये सभी भाषा के आधार हैं। पर, भाषा जब वाक्य की भूमिका के योग्य होती है, तब उसका कलेवर वाक्यों से निष्पन्न होता है। पद वाक्य में प्रयुक्त होकर ही अभीप्सित अर्थ प्रकट करने में सक्षम होते हैं। वाक्य में पदों या शब्दों का स्थानिक महत्त्व भी होता है; अतः अर्थ-योजन में स्थान-निर्धारण भी अपेक्षित रहता है। उदाहरणार्थ, I go to school अंग्रेजी के इस वाक्य में 'Go' क्रिया दूसरे स्थान पर है। Go to school इस वाक्य में भी Go' क्रिया का प्रयोग है। यहाँ Go पहले स्थान पर है। पर, स्थान-भेद के कारण इस क्रिया के अर्थ में भिन्नता आ गयी है। पहले वाक्य में यह क्रिया जहाँ सामान्य वर्तमान की द्योतक है, वहाँ दूसरे वाक्य में आज्ञा-द्योतक है। वाक्य-विज्ञान से सम्बद्ध इसी प्रकार के अनेक विषय हैं, जो वाक्य-रचना की विविध अपेक्षाओं पर टिके हुए हैं। उन सबका इस विभाग के अन्तर्गत विवेचन और विश्लेषण किया जाता है।

निर्वचन-शास्त्र [व्युत्पत्ति-विज्ञान] (Etymology)

शब्दों की उत्पत्ति, उनका इतिहास आदि का इस विभाग में समावेश है। शब्दों की उत्पत्ति की अनेक कोटियाँ तथा विधाएँ हैं, जिनके अन्वेषण से और भी अनेक तथ्य प्रकट होते हैं। मानव के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन काल में भाषा-विज्ञान का इस प्रकार का अध्ययन व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप में नहीं हुआ। भारतवर्ष और यूनान में एक सीमा तक इस सन्दर्भ में प्रयत्न चले थे। यूनान में बहुत स्थूल रूप में इस पर चर्चा हुई। पर, भारतीय मनीषी उस समय की स्थितियों और अनुकूलताओं के अनुसार अधिक गहराई में गये थे।

विश्व के उपलब्ध साहित्य में वैदिक वाङ्मय का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। वेदों में प्रयुक्त भाषा और अनुस्यूत अर्थ व परम्परा सदा अक्षुण्ण बनी रहे, इसके लिए विद्वानों ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष और निरुक्त ६ शास्त्र और प्रतिष्ठित किये,

को वेदांग[1] कहे जाते हैं।

शिक्षा (ध्वनि-विज्ञान) का वेद की संहिताओं से गहरा सम्बन्ध है। वैदिक संहिताओं का शुद्ध उच्चारण किया जा सके, उनका स्वर-संचार यथावत् रह सके, इसके लिए अनेक नियम गठित किये गये। जिन ग्रन्थों में इनका विशेष वर्णन है, वे प्रातिशाख्य कहलाते हैं। प्रातिशाख्य प्रतिशाखा से बना है। पृथक्-पृथक् वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाएं मानी गयी हैं। उन शाखाओं से सम्बद्ध संहिताओं के शुद्ध उच्चारण का भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उल्लेख है। प्रातिशाख्यों का सर्जन विश्व का प्राचीनतम भाषा-वैज्ञानिक कार्य है। इनका मुख्य उद्देश्य मात्रा काल, स्वराघात, उच्चारण की विशिष्टताओं का प्रदर्शन, संहिताओं के इङ्गित उच्चारण की सुरक्षा, वैज्ञानिकता एवं सूक्ष्मता के साथ ध्वनियों का विवेचन तथा ध्वनि-अंगों की जानकारी देना था। प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कतिपय शिक्षा ग्रन्थ भी हैं, जो कलेवर में छोटे हैं। वेद का यह अंग भाषा-विज्ञान से बहुत अधिक सम्बद्ध है। ध्वनि-विज्ञान-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समाधान एक सीमा तक इसमें प्राप्त है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के रूप में स्वरों के उच्चारण के विशेष क्रम भी ध्वनि-विज्ञान से सूक्ष्मतया सम्पृक्त हैं।

कल्प पारिभाषिक शब्द है, जो कर्म-काण्ड-विधि के लिए प्रयुक्त हुआ है। दूसरे से छठे तक पांच अंगों में चौथा 'निरुक्त' भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त के रचयिता महान् विद्वान् यास्क थे। उनका समय लगभग ई० पू० ८०० माना जाता है।

वैयाकरणों का अभिमत

निरुक्तकार यास्क

यास्क ने निरुक्त या व्युत्पत्ति-शास्त्र की रचना कर भारतीय वाङ्मय को वास्तव में बड़ी देन दी। उनके द्वारा रचित व्युत्पत्ति-शास्त्र विभिन्न शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सूचनाएं देता है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यास्क के सामने उस समय भाषा के दो रूप विद्यमान थे, वैदिक भाषा और लौकिक भाषा। वैदिक भाषा से उनका तात्पर्य उस संस्कृत से है, जिसका वेदों में प्रयोग हुआ है। वे उसे निगम, छन्दस्, ऋक् आदि नाम भी देते हैं। लौकिक भाषा के लिए वे केवल 'भाषा' व्यवहृत करते हैं। उनके अनुसार वैदिक संस्कृत मूल भाषा है तथा लौकिक भाषाएं उससे निकली हैं।

आज के भाषा-वैज्ञानिक एक ऐसी भारोपीय परिवार की अत्यन्त प्राचीन मूल भाषा की भी कल्पना करते हैं, जो वैदिक संस्कृत तथा तत्समकक्ष अन्यान्य तत्परिवारीय प्राच्य व

---

१. शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडंगानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

यास्क द्वारा विवेचित व्युत्पत्ति-क्रम को जानने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं : *आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।* जो आचार-ग्रहण करवाता है अथवा अर्थों का आचयन करता है, अन्तेवासी को पदार्थों का बोध करवाता है अथवा अन्तेवासी में बुद्धि का संचय करता है, वह आचार्य कहा जाता है।

'श्मशान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क लिखते हैं : श्मशानम् श्मशयनम्। शम = शरीरम्। शरीरं शृणाते। शम्नातेः वा। श्म—शरीर जहां शयन करता है, चिर निद्रा में सोता है, वह श्मशान कहा जाता है।

महान् वैयाकरण पाणिनि

यास्क के अनन्तर महान् वैयाकरण पाणिनि को भाषा-विज्ञान के विकास के सन्दर्भ मे सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण के गठन के अन्तर्गत पद-विज्ञान आदि का भी गम्भीर और वैज्ञानिक विवेचन किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती *वैयाकरणों आपिशलि, काशकृत्स्न आदि का भी उल्लेख किया।* *पाणिनि के पूर्ववर्ती* एक बहुत बड़े वैयाकरण इन्द्र थे। तैत्तरीय-संहिता इन्हें प्रथम वैयाकरण सिद्ध करती है। वहां लिखा है : "देवताओं ने इन्द्र से कहा—हमें भाषा को व्याकृत कर समझाइए[1]।"

इन्द्र ने वैसा किया। इन्द्र का वैयाकरण-सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व एवं पश्चात् भी चलता रहा। वर्तमान में जो प्रातिशाख्य प्राप्त है, वे इसी सम्प्रदाय के है। वार्तिककार कात्यायन भी इसी सम्प्रदाय के थे।

पाणिनि ने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के महत्वपूर्ण शोध-कार्य का सार अष्टाध्यायी में समाविष्ट किया। उन्होंने कतिपय प्रसंगों में उदीच्य और प्राच्य सम्प्रदायों की भी चर्चा की है। कथासरित्सागर में सोमदेव ने लिखा है कि पाणिनि के गुरु का नाम उपाध्याय वर्ष था। कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त इनके सहपाठी थे। पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रों के रूप में *व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान* के क्षेत्र में बहुत बड़ी देन दी है। माहेश्वर सूत्रों की कुछ अनुपम विशेषताएं है। उनमें ध्वनियों का स्थान एवं प्रयत्न के अनुसार जो वर्गीकरण किया गया है, वह ध्वनि-विज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

पाणिनि की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने केवल चौदह सूत्रों के आधार पर

---

१. वाग्वै प्राच्य व्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तमिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

आलोचक कात्यायन

पाणिनि के पश्चात् अन्य भी कई वैयाकरण हुए। कात्यायन उनमें बहुत प्रसिद्ध हैं। कथासरित्सागरकार ने इन्हें पाणिनि का सहपाठी बतलाया है। यह उचित नहीं जान पड़ता। कात्यायन का समय लगभग ई० पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी होना चाहिए। कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों की आलोचना की, उनमें दोष दिखलाया तथा शुद्ध नियम निर्दिष्ट किये। इस सम्बन्ध में विद्वानों का अभिमत है कि कात्यायन ने जिन्हें दोष कहा, वे वस्तुतः दोष नहीं थे। पाणिनि तथा कात्यायन के बीच लगभग १५० वर्ष का समय पड़ता है। उस बीच भाषा में जो परिवर्तन आया, उसे ही कात्यायन ने अशुद्ध या दुष्ट माना। इतना स्पष्ट है कि कात्यायन के वार्त्तिकों से भाषा के विकास से सम्बद्ध कई तथ्य ज्ञात होते हैं, जो अर्थ-विज्ञान एवं ध्वनि-विज्ञान से जुड़े हैं।

महाभाष्यकार पतंजलि

कात्यायन के पश्चात् पतंजलि आते हैं। उनका समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है। वे पाणिनि के अनुयायी थे। उन्होंने महाभाष्य की रचना की, जिसका उद्देश्य कात्यायन के नियमों में दोष दिखाकर पाणिनि का मण्डन करना था। उन्होंने जो नियम बनाये, वे इष्टि कहलाते हैं।

पतंजलि के महाभाष्य का महत्व नियम-स्थापना की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं है। उसका महत्व तो भाषा के दार्शनिक विवेचन में है। उन्होंने ध्वनि के स्वरूप, वाक्य के भाग तथा ध्वनि-समूह व अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध आदि भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयों पर गहन चिन्तन उपस्थित किया। व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान जैसे विषय को पतंजलि ने जिन सरल, सुबद्ध और हृद्य शब्दों से वर्णित किया है, वह वास्तव में अद्भुत है। उनकी शैली अत्यन्त ललित तथा हेतु-पूर्ण है। सरल, सरस व प्रांजल भाषा तथा प्रसाद-पूर्ण शैली की दृष्टि से समग्र संस्कृत वाङ्मय में आचार्य शंकर कृत शारीरिक भाष्य के अतिरिक्त ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो इस महाभाष्य के समकक्ष हो।

व्याकरण का उत्तरवर्ती स्रोत

महाभाष्यकार पतंजलि के अनन्तर पाणिनीय शाखा के अन्तर्गत उत्तरोत्तर अनेक वैयाकरण होते गये, जिनमें जयादित्य तथा वामन (सातवीं शती पूर्वार्ध), भर्तृहरि (सातवीं शती), जिनेन्द्र बुद्धि (आठवीं शती पूर्वार्ध), कय्यट (ग्यारहवीं शती), हरदत्त (बारहवीं शती) मुख्य थे। उन्होंने पाणिनि की व्याकरण-परम्परा में अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों तथा व्याख्या-ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें भाषा और व्याकरण के अनेक पक्षों पर तलस्पर्शी विवेचन है। उनके अनन्तर इस शाखा में जो वैयाकरण हुए, उन्होंने कौमुदी की परम्परा

वार्तालाप है और जब वह ध्वन्यात्मक होकर मुख-विवर से व्यक्त होता है, तो उसकी संज्ञा भाषा हो जाती है। सारांश यह है, प्लेटो के अनुसार भाषा और विचार में मूलतः ऐक्य है। केवल बाह्य दृष्टि से ध्वन्यात्मकता और अध्वनियात्मकता के रूप में अन्तर है।

प्लेटो वाक्य-विश्लेषण और शब्द-भेद के सम्बन्ध में भी कुछ आगे बढ़े हैं। उद्देश्य, विधेय, वाच्य, व्युत्पत्ति आदि पर भी उनके कुछ संकेत मिलते हैं, जो भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी यूनानी चिन्तन के विकास के प्रतीक हैं।

अरस्तू का काव्यशास्त्र

यूनान के तीसरे महान् दार्शनिक, काव्यशास्त्री और चिन्तक अरस्तू थे। उनका भी मुख्य विषय भाषा नहीं था, पर, प्रासंगिक रूप में भाषा पर भी उन्होंने अपना चिन्तन दिया। अरस्तू का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पोयटिक्स (काव्यशास्त्र) है, जिसमें उन्होंने त्रासदी, कामदी आदि काव्य-विधाओं का मार्मिक विवेचन किया है। पोयटिक्स के दूसरे भाग में अरस्तू ने जहाँ शैली का विवेचन किया है, वहाँ भाषा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। यद्यपि वह भाषा-विज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध नहीं है, पर, महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार वर्ण अविभाज्य ध्वनि है। वह स्वर, अन्तःस्थ और स्पर्श के रूप में विभक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि पर भी उन्होंने चर्चा की है। उन्होंने स्वर की जो परिभाषा दी, वस्तुतः वह कुछ दृष्टियों से वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती है। उन्होंने बताया कि जिसकी ध्वनि के उच्चारण में जिह्वा और ओष्ठ का व्यवहार न हो, वह स्वर है।

उद्देश्य, विधेय, संज्ञा, क्रिया आदि पर भी अरस्तू ने प्रकाश डाला है। कारकों तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों का भी उन्होंने विवेचन किया है, जो यूरोप में इस कोटि का सबसे पहला प्रयत्न है। प्लेटो ने शब्दों के श्रेणी-विभाग (Parts of Speech) का जो प्रयत्न आरम्भ किया था, उसे पूरा कर आठ तक पहुँचाने का श्रेय अरस्तू को ही है। उन्होंने लिंग (स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग)-भेद तथा उनके लक्षणों का भी विश्लेषण किया।

ग्रीक, लैटिन और हिब्रू

ग्रीक वैयाकरणों ने तदनन्तर प्रस्तुत विषय को और आगे बढ़ाया। जिनमें पहले थ्रैक्स (ई० पू० दूसरी शती) हैं। ग्रीस और रोम में जब पारस्परिक संपर्क बढ़ने लगा, तब विद्वानों का आदान-प्रदान भी सम्भव हुआ। फलतः रोमवासियों ने ग्रीस की भाषा-अध्ययन-पद्धति को ग्रहण किया और लैटिन भाषा के व्याकरणों की रचना होने लगी। लैटिन का सबसे प्रमुख [illegible] व्याकरण [illegible] नामक विद्वान् द्वारा लिखा गया। वह ईसाई-धर्म के उदय का समय था, अतः ग्रीस और रोम में ओल्ड टेस्टामेंट (Old testament)

के अध्ययन का एक विशेष क्रम चला। उस बीच विद्वानों को ग्रीक,लैटिन और हिब्रू भाषाओं के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन का विशेष अवसर प्राप्त हुआ।

ओल्ड टेस्टामेंट की भाषा होने के कारण उस समय हिब्रू को वहां सबसे प्राचीन तथा सब भाषाओं की जननी माना जाता था। फलतः विद्वानों ने यूरोप की अन्य भाषाओं के वैसे शब्दों का अन्वेषण आरम्भ किया, जो हिब्रू के तद्‌र्थक शब्दों के सदृश या मिलते-जुलते थे। ऐसे कोश बनने लगे, जिनमें इस प्रकार के शब्दों का संकलन था। उन सभी शब्दों की व्युत्पत्ति हिब्रू से साध्य है, ऐसा प्रमाणित करने का भी प्रयास चलने लगा। इस सन्दर्भ में तत्कालीन विद्वानों का अरबी तथा सीरियन आदि भाषाओं के परिशीलन की ओर भी ध्यान गया।

पन्द्रहवीं शती यूरोप में विद्याओं और कलाओं के उत्थान या पुनरुज्जीवन का समय माना जाता है। साहित्य, संस्कृति आदि के विकास के लिए जन-मानस जागृत हो उठा था तथा अनेक आन्दोलन या सबल प्रयत्न पूरे वेग के साथ चलने लगे थे। भिन्न-भिन्न देश-वासियों का अपनी-अपनी भाषाओं के अभ्युदय की ओर भी चिन्तन केन्द्रित हुआ। परिणाम-स्वरूप भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का जितना जैसा संभव था, उपक्रम चला। भाषा-अध्येताओं ने इस सन्दर्भ में जो उपलब्धियां प्राप्त कीं, उनमें से कुछ थीं :

❀ विद्वानों को ऐसा आभास हुआ कि ग्रीक और लैटिन भाषाएं सम्भवतः किसी एक ही स्रोत से प्रस्फुटित हुई हैं।

❀ भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की दृष्टि से यह, चाहे अति साधारण ही सही, एक प्रेरक संकेत था।

❀ विद्वानों को चाहे हल्की ही सही, ऐसी भी प्रतीति हुई कि हो सकता है, शब्दों का आधार धातुएं हों।

भाषाओं के अध्ययन की ओर उस समय यूरोप में कितनी उन्मुखता हो चली थी, यह इसी से स्पष्ट है कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज ने भी इस ओर ध्यान दिया। शासक वर्ग भी इससे प्रभावित हुआ। फलतः पीटर महान् ने तुलनात्मक शब्दों का संग्रह करवाया। रूस की महारानी कैथरिन द्वितीय ने भी पी० एस० पलुस (१७४१-१८११) को एक तुलनात्मक शब्दावली तैयार करने की आज्ञा दी। फलतः उन्होंने यूरोप और एशिया; दोनों महाद्वीपों की अनेक भाषाओं के २८५ तुलनात्मक शब्द संकलित किये। इसके दूसरे संस्करण में कुछ और विकास हुआ। लगभग अस्सी भाषाओं के सादृश्य मूलक शब्दों का सबमें और समावेश किया गया।

हो रही हो, उसका स्वरूप निःसन्देह आश्चर्यजनक है। यह ग्रीक से अधिक परिपूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा इन दोनों से अधिक परिमार्जित है[1]।''

वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक रूप में भाषाओं के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने वालों में सर विलियम जॉन्स का नाम सदा शीर्षस्थ रहेगा। भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म एवं गम्भीर परिशीलन का लगभग उसी समय से व्यवस्थित क्रम चला, जो उत्तरोत्तर अभिनव उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता रहा। यह क्रम विश्व के अनेक देशों में चला और आज भी चल रहा है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण करते हुए आश्चर्य होता है और साथ ही प्रेरणा भी मिलती है कि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का गहन अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उन भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक रूप में सूक्ष्म विश्लेषण भी किया, जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले मनीषियों, अनुसन्धित्सुओं और अध्येताओं के लिये सदैव उद्बोध-प्रद रहेगा।

आदि मान्यताएँ

भाषा का उद्भव कब हुआ, किस प्रकार हुआ और वह किन-किन विकास-क्रमों में से गुजरती हुई वर्तमान अवस्था तक पहुंची, यह एक प्रश्न है; जो आज से नहीं, चिरकाल से है। वास्तव में इसका सही-सही समाधान दे पाना बहुत कठिन है; क्योंकि भाषा भी लगभग उतनी ही चिरन्तन है, जितनी कि मानव-जाति। मानव-जाति अनादि है, उसी प्रकार भाषा भी अनादि है, इस प्रकार कहा जा सकता है। पर, बुद्धिशील मानव स्वभावतः जिज्ञासु है, इतने मात्र से कैसे परितुष्ट होता? जीवन के साथ सतत संलग्न भाषा का उद्भव कैसे हुआ, वह विकास और विस्तार के पथ पर किस प्रकार अग्रसर हुई, यह जानने की उत्सुकता उसके मन में सदा से बनी रही है। इस प्रश्न का समाधान पाने को वह चिन्तित रहा है। फलतः अनेक प्रयत्न चले। समाधान भी पाये, पर, भिन्न-भिन्न प्रकार के। आज भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का सर्वसम्मत समाधान नहीं हो पाया है। यहां प्रस्तुत प्रश्न पर अब तक हुए चिन्तन का विहंगावलोकन करते हुए कुछ ऊहापोह अपेक्षित है। विभिन्न धर्मों के लोगों की उद्भावनाओं पर विचार करना पहली अपेक्षा होगी। समाधान खोजने वालों में कई प्रकार के व्यक्ति होते है। उनकी अपनी कुछ पूर्व संचित धारणाएं होती हैं और अतिशय-प्रकाशन की भावना भी। भाषा के उद्भव के प्रश्न पर प्रायः विश्व के सभी धर्मों के अनुयायियों ने अपने-अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं।

---

1. The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either............

वैदिक मान्यता

जो वेद में विश्वास करते हैं, उनकी मान्यता है कि वेद मानव-कृत नहीं हैं, अपौरुषेय हैं। ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की, मानव को बनाया, भाषा की रचना की। ऋषियों के अन्तर्मन में ज्ञान का उद्भास किया, जो वेद की ऋचाओं और मन्त्रों में प्रस्फुटित हुआ। इनकी भाषा छन्दस् या वैदिक संस्कृत है, जो अनादि है, ईश्वरकृत है, इसलिये इसे देव-भाषा कहा जाता है। संसार की सभी भाषाएं इसी से निकली हैं। यह मानव को ईश्वर-दत्त भाषा है।

संस्कृत के महान् वैयाकरण, अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि ने भी भाषा की ईश्वर-कृतता को एक दूसरे प्रकार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्याकरण के अइउण[1] आदि सूत्रों के विषय में लिखा है : "सनक आदि ऋषियों का उद्धार करने के लिए अर्थात् उन्हें शब्द-शास्त्र का ज्ञान देने के लिये नटराज भगवान् शंकर ने ताण्डव नृत्य के पश्चात् चौदह बार अपना डमरू बजाया, जिससे चौदह सूत्रों की सृष्टि हुई।"[2] इन्हीं चौदह सूत्रों पर सारा शब्द-शास्त्र टिका है।

यास्क का सूक्ष्म चिन्तन

पाणिनि से पूर्ववर्ती निरुक्तकार यास्क (ई० पू० ८००) के उस कथन पर इस प्रसंग में विचार करना उपयोगी होगा, जो शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में है। भाषा की उत्पत्ति की समस्या पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ता है। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात; इन चार पद-भेदों का विवेचन करते हुए प्रासंगिक रूप में उन्होंने शब्द की भी चर्चा की है। उन्होंने लिखा है : "शब्द अणीयान् है; इसलिए लोक में व्यवहार (काम चलाने) के लिए वस्तुओं का संज्ञाकरण (नाम या अभिधान) शब्द द्वारा हुआ।"[3] उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप में कुछ भी नहीं लिखा है। हो सकता है, उन्हें यह आवश्यक नहीं लगा हो। इस विषय में वे किसी पूर्व कल्पना या धारणा को लिए हुए हों।

लौकिक जनों को पारस्परिक व्यवहार चलाने के लिए कोई एक माध्यम चाहिए। संकेत

---

१ अइउण् १। ऋलृक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४॥

२ नृत्तावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

३ अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

—निरुक्त, १, २

आदि उसके यथेष्ट पूरक नहीं हो सकते। तब मनुष्य विभिन्न वस्तुओं की भिन्न भिन्न संज्ञायें करना चाहता है। एतदर्थ वह शब्दों को निष्पन्न करता है। शब्द द्वारा "संज्ञाकरण" का जो कथन निरुक्तकार करते हैं, उससे यह स्पष्ट झलकता है कि उनकी आस्था किसी ईश्वर-कृत भाषा के अस्तित्व में नहीं थी। यदि कोई भाषा ईश्वर-कृत होती, तो उसमें विभिन्न वस्तुओं के अर्थ-द्योतक शब्द होते ही। वैसी स्थिति में वस्तुओं के संज्ञाकरण या उन्हें नाम देने की मानव को क्या आवश्यकता पड़ती? व्यवस्थित और ईश्वर-कृत भाषा में किसी भी प्रकार की अपरिपूर्णता नहीं होती। वस्तुओं के नामकरण की तभी आवश्यकता पड़ती है, जब भाषा जैसा कोई प्रकार मानव को प्राप्त नहीं हो। यास्क का कथन इसी सन्दर्भ में प्रतीत होता है।

भाषा के अनन्य अंग शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क जो मानव-कृतता की ओर इङ्गित करते है, यह उनका वस्तुतः बड़ा क्रान्तिकारी चिन्तन है। उनके उत्तरवर्ती महान् वैयाकरण पाणिनि तक भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुरातन बद्धमूल रूढ धारणा से आगे नहीं बढ़ सके, जब कि यास्क ने उनसे तीन शताब्दी पूर्व ही उपर्युक्त संकेत कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि यास्क अपेक्षाकृत अधिक समीक्षक एवं अनुसन्धित्सु थे।

यास्क के समक्ष उस समय संस्कृत भाषा थी, जो देव-भाषा कहलाती थी। आज भी कहलाती है। यास्क ने देव-भाषा की सिद्धि बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से की है। वे लिखते हैं : "मनुष्य वस्तुओं के लिए जो नाम का प्रयोग करते हैं, देवताओं के लिए भी वे वैसे ही हैं।"[1] तात्पर्य है, मनुष्य की भाषा को देवता भी उसी रूप में समझते हैं। इससे मानव-भाषा देव-भाषा भी है, ऐसा सिद्ध होता है। संस्कृत के लिये इसी कारण देव-भाषा शब्द व्यवहृत है, यहां यास्क का ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है।

बौद्ध मान्यता

बौद्ध धर्म का त्रिपिटक के रूप में सारा मूल वाङ्मय मागधी में है, जो आगे चल कर पालि के नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्धों में सिंहली परम्परा की प्रामाणिकता अबाधित है। सबसे पहले सिंहल (लंका) में ही विनय पिटक, सुत्त पिटक तथा अभिधम्म पिटक लिपिबद्ध किये गये। सिंहली परम्परा का अभिमत है कि सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत ने अपना धर्मोपदेश मागधी (पालि) में किया। उनके अनुसार मागधी संसार की आदि भाषा है। आचार्य बुद्धघोष ने इस तथ्य का स्पष्ट शब्दों में उद्घोष करते हुए लिखा है : "मागधी सभी सत्वों—जीवधारियों की मूल भाषा है।"[2]

---

१. तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् । — निरुक्त; १, २

२. मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभासाय । — विसुद्धिमग्ग

महावंस के परिवर्द्धित अंश चूलवंस का भी इसी प्रकार का एक प्रसंग है। रेवत स्थविर के आदेश से आचार्य बुद्धघोष लंका गये। वहां उन्होंने सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी मे अनुवाद किया। उसका उल्लेख करते हुए वहां कहा गया है : "सभी सिंहली अट्ठकथाएं मागधी भाषा में परिवर्तित—अनूदित की गयीं, जो (मागधी) समस्त प्राणी वर्ग की मूल भाषा है।"[1]

मागधी या पाली के सम्बन्ध में जो सिंहली परम्परा का विश्वास है, वैसा ही बर्मी परम्परा का भी विश्वास है। इतना ही नहीं, पालि त्रिपिटक में विश्वास रखने वाले प्रायः सभी बौद्ध धर्मानुयायी अपनी धार्मिक भाषा पालि या मागधी को संसार की मूल भाषा स्वीकार करते है।

जैन मान्यता

जैन परम्परा का भी अपने धर्म-ग्रन्थों की भाषा के सम्बन्ध में ऐसा ही विश्वास है। जैनों के द्वादशांगमूलक समग्र आगम अर्द्ध-मागधी में है। उनकी मान्यता है कि जैन आगम तीर्थंकर महावीर के मुख से निकले उपदेशों का संकलन हैं, जो उनके प्रमुख शिष्यों—गणधरों द्वारा किया गया था। उनके अनुसार अर्द्धमागधी विश्व की आदि भाषा है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति पर रचित चूर्णि में उल्लेख है : "प्राकृत भाषा (अर्द्धमागधी) जीव के स्वाभाविक गुणों से निष्पन्न है।"[2] यही (अर्द्धमागधी) देवताओं की भाषा है, ऐसा जैनों का विश्वास है। कहा गया है : "अर्द्धमागधी आर्य एवं सिद्ध वचन है, देवताओं की भाषा है।"[3]

तीर्थंकर जब धर्म-देशना करते हैं, उनके समवसरण (विराट श्रोतृ-परिषद्) में मनुष्यों देवताओं आदि के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के उपस्थित रहने का भी उल्लेख है। तीर्थंकरों की देशना अर्द्धमागधी में होती है। उस (तीर्थंकर भाषित-वाणी) का यह अतिशय या वैशिष्ट्य होता है कि श्रोतृ-वृन्द द्वारा ध्वन्यात्मक रूप में गृहीत होते ही वह उनकी अपनी भाषा के रूप में परिणत हो जाती है अर्थात् वे उसे अपनी भाषा में समझते हैं। उपस्थित तिर्यंच (पशु-पक्षी-गण) भी उस देशना को इसी (अपनी भाषा में परिणत) रूप में श्रवण

---

१. परिवत्तेसि सब्बापि सीहलट्ठकथातदा।
सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया॥
—चूलवंस; परिच्छेद, ३७

२. जीवस्स साभावियगुणेहिं ते पागतभासाए।

३. आरिस वयणो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी।

करते हैं। एक प्रकार से यह भाषा केवल मानव-समुदाय तथा देव-वृन्द तक ही सीमित नहीं है, पशु-पक्षियों तक व्याप्त है।

प्राकृत-विद्वानों का अभिमत

जैन शास्त्रकारों या व्याख्याकारों ने ही नहीं, अपितु कतिपय उत्तरवर्ती जैन-अजैन प्राकृत विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध अलंकार शास्त्री नमि साधु ने प्राकृत की व्याख्या करते हुए लिखा है: "प्राकृत व्याकरण आदि के संस्कार से निरपेक्ष समस्त जगत् के प्राणियों का सहज वचन-व्यापार—भाषा है।............ प्राकृत का अर्थ प्राक् कृत = पूर्व कृत अथवा आदि सृष्ट भाषा है। यह बालकों, महिलाओं आदि के लिये सहजतया बोधगम्य है और सब भाषाओं का मूल है।"[1]

भोज-रचित सरस्वती कण्ठाभरण के व्याख्याकार आजड़ ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्राकृत समस्त जगत् के प्राणियों का स्वाभाविक वचन-व्यापार है, शब्दशास्त्र-जनित विशेष संस्कारयुक्त है तथा बच्चों, ग्वालों व नारियों द्वारा सहज ही प्रयोग में लेने योग्य है। सभी भाषाओं का मूल कारण होने से यह उनकी प्रकृति है अर्थात् उन भाषाओं का यह (उसी प्रकार) मूल कारण है, जिस प्रकार प्रकृति जगत् का मूल कारण है।[2]

प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज ने गउडवहो काव्य में प्राकृत की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है: "जैसे जल-सरिताएं समुद्र में मिलती हैं और उसी से (वाष्प रूप में) निकलती हैं, उसी तरह भाषाएं प्राकृत में ही प्रवेश पाती हैं और उसी से निकलती हैं।"[3]

रोमन कैथोलिक मान्यता

ईसाई धर्म में भी भाषा के विषय में इसी प्रकार की मान्यता है। इस धर्म के दो सम्प्रदाय हैं—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट। रोमन कैथोलिक प्राचीन है। उनका सर्वमान्य धर्म ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेन्ट है, जो हिब्रू में लिखा गया है। उनके अनुसार परमात्मा ने सबसे पहले पूर्ण विकसित भाषा के रूप में इसे आदम और हव्वा को प्रदान किया। उनका

---

१. सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। .... प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषा-निबन्धनभूतं वचनमुच्यते।

२. [illegible] निखिलजगज्जन्तूनां शब्दशास्त्रकृतविशेषसंस्कारः सहजो [illegible] वचनव्यापारः [illegible] मूलकारणत्वात् प्रकृतिरिव प्रकृतिः तत्र भवा सैव वा प्राकृतम्।

३. सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं ॥ ९३ ॥

विश्वास है कि विश्व की यह आदि भाषा है। सभी भाषाओं का यह उद्गम-स्रोत है। स्वर्ग के देव-गण इसी भाषा में सम्भाषण करते हैं।

हिब्रू से सभी भाषाओं का उद्गम सिद्ध करने के लिए ग्रीक, लेटिन आदि पाश्चात्य भाषाओं के ऐसे अनेक शब्द संकलित किये गये, जो उससे मिलते-जुलते थे। इस प्रकार यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हिब्रू से सिद्ध किये जाने के भी प्रयास हुए। इसके लिये ध्वनि-साम्य, अर्थ-साम्य आदि को आधार बनाया गया! जो भी हो, तुलनात्मक अध्ययन का बीज रूप में एक क्रम तो चला, जो उत्तरवर्ती भाषा-शास्त्रीय व्यापक अध्ययन के लिये किसी रूप में सही, उत्साहप्रद था।

इस्लाम का अभिमत

आदि भाषा के सम्बन्ध में इस्लाम का मन्तव्य भी उपर्युक्त परम्पराओं से मिलता-जुलता है। इस्लाम के अनुयायियों के अनुसार कुरान, जो अरबी भाषा में है, खुदा का कलाम है।

मिस्र में भी प्राचीन काल से वहाँ के निवासियों का अपनी भाषा के सम्बन्ध में इसी प्रकार का विचार था। इस्लाम का प्रचार होने के अनन्तर मिस्रवासी अरबी को ईश्वर-दत्त आदि भाषा मानने लगे।

भाषा को लेकर कितनी शताब्दियों तक धर्म के क्षेत्र में मानव की कितनी अधिक रूढ़ धारणाएं बनी रहीं, मिस्र की एक घटना से यह विशेष स्पष्ट होता है। टेलीफोन का आविष्कार हुआ। संसार के सभी प्रमुख देशों में उसकी लाइनें बिछाई जाने लगीं। मिस्र में भी टेलीफोन लगने की चर्चा आई। मिस्रवासियों ने जब यह जाना कि सैकड़ों मील की दूरी से कही हुई बात उन्हीं शब्दों में सुनी जा सकेगी, तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। मिस्र के मौलवियों ने इसका विरोध किया। उनका तर्क था कि इन्सान की आवाज इतनी दूर नहीं पहुंच सकती। यदि पहुँचेगी, तो वह इन्सान की आवाज़ नहीं, अपितु शैतान की आवाज़ होगी; अर्थात् इन्सान की बोली हुई बात को शैतान पकड़ेगा, आगे तक पहुंचायेगा।

जन-साधारण की मौलवियों के प्रति अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने मौलवियों के कथन का समर्थन करते हुए कहा कि वे शैतान की आवाज नहीं सुनेंगे। उनके यहाँ टेलीफोन की लाइनें न बिछाई जायें। प्रशासन स्तब्ध था, कैसे करे? बहुत समझाया गया, पर वे नहीं माने। अन्त में वे एक शर्त पर मानने को सहर्ष प्रस्तुत हुए। उन्होंने कहा, कुरान की आयतें खुदा की कही हुई हैं। मनुष्य उनको बोल सकता है, शैतान उनका उच्चारण नहीं कर सकता। यदि दूरवर्ती मनुष्य द्वारा बोली हुई कुरान की आयतें टेलीफोन से सही रूप में

अनुरूप हों, वे शब्द आख्यातज या धातु-निष्पन्न हैं। पर, जहां ऐसी संगति नहीं होती, वे शब्द संज्ञा-वाची हैं, रूढ़ हैं, यौगिक नहीं, जैसे—गो, अश्व, पुरुष, हस्ती।

"सभी शब्द यदि धातु-निष्पन्न हों, तो जो वस्तु (प्राणी) जो कर्म करे, वैसा (कर्म) करने वाली सभी वस्तुएं उसी नाम से अभिहित होनी चाहिए। जो कोई भी अध्व (मार्ग) का अशन-व्यापन करें, शीघ्रता से दौड़ते हुए मार्ग को पार करें, वे सब 'अश्व' कहे जाने चाहिएं। जो कोई भी तर्दन करें, चुभें, वे तृण कहे जाने चाहिएं। पर, ऐसा नहीं होता। एक बाधा यह आती है, जो वस्तु जितनी क्रियाओं में सम्प्रयुक्त होती है, उन सभी क्रियाओं के अनुसार उस (एक ही) वस्तु के उतने हो नाम होने चाहिएं, जैसे—स्थूणा (मकान का खम्भा) दरशया (छेद में सोने वाला—खम्भे को छेद में लगाया जाता है) भी कहा जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता।

"एक और कठिनाई है, यदि सभी शब्द धातु-निष्पन्न होते, तो जो शब्द जिस रूप में व्याकरण के नियमानुसार तदर्थ-बोधक धातु से निष्पन्न होते, उसी रूप में उन्हें पुकारा जाता, जिससे अर्थ-प्रतीति में सुविधा रहती। इसके अनुसार पुरुष पुरिशय कहा जाता, अश्व अष्टा कहा जाता और तृण तर्दन कहा जाता। ऐसा भी नहीं कहा जाता है।

"अर्थ-विशेष में किसी शब्द के सिद्ध या व्यवहृत हो जाने के अनन्तर उसकी व्युत्पत्ति का विचार चलता है, अमुक शब्द किसी धातु से बना। ऐसा नहीं होता, तो प्रयोग या व्यवहार से पूर्व भी उसका निर्वचन कर लिया जाना चाहिए था। पृथिवी शब्द का उदाहरण लें। प्रथनात् अर्थात् फैलाये जाने से पृथिवी नामकरण हुआ। इस व्युत्पत्ति पर कई प्रकार की शंकाएं उठती हैं। इस (पृथिवी) को किसने फैलाया ? उसका आधार क्या रहा अर्थात् कहां टिक कर फैलाया। पृथ्वी ही सबका आधार है। जिसे जो पुरुष फैलाये, उसे अपने लिए कोई आधार चाहिए। तभी उससे यह हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि शब्दों का व्यवहार देखने पर मानव व्युत्पत्ति साधने का यत्न करता है और सभी व्युत्पत्तियां निष्पादक धातु के अर्थ की शब्द के व्यवहृत या प्रचलित अर्थ में संगति सिद्ध नहीं करतीं।

"शाकटायन किसी शब्द के अर्थ के अन्वित—अनुगत न होने पर तथा उस (शब्द) की संघटना से संगत धातु से सम्बद्ध न होने पर उस शब्द की व्युत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकार से साधने के प्रयत्न में अनेक पदों से उस (शब्द) के अंशों का संचयन कर उसे बनाते हैं। जैसे—'सत्य' शब्द का निर्माण करने में 'इण्' (गत्यर्थक) धातु के प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप आयक के यकार को अन्त में रखा, अस् (होना) धातु के णिजन्त-रहित मूल

रूप सत् को प्रारम्भ में रखा, इस प्रकार जोड़-तोड़ करने से 'सत्य' शब्द निष्पन्न हुआ। यह सहजता नहीं है।

"क्रिया का अस्तित्व या प्रवृत्ति द्रव्यपूर्वक है अर्थात् द्रव्य क्रिया से पूर्व होता है। द्रव्य के स्पन्दन, आन्दोलन या हलन-चलन की अभिव्यंजना के हेतु क्रिया अस्तित्व में आती है। ऐसी स्थिति में बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले होने वाले द्रव्य का नाम नहीं दिया जा सकता।' यहाँ 'अश्व' का उदाहरण ले सकते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार शीघ्र दौड़ने के कारण एक प्राणी विशेष 'अश्व' शब्द से संज्ञित होता, तो यह संज्ञा उसकी (शीघ्र दौड़ना रूप) क्रिया के देखने के बाद उसे दी जाती, पर, वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अश्वाभिध प्राणी के उत्पन्न होते ही, जब वह चलने में भी अक्षम होता है, यह संज्ञा उसे प्राप्त है। ऐसी स्थिति में उसकी व्युत्पत्ति की संगति घटित नहीं होती।

शब्दों की निष्पत्ति फलतः भाषा की संरचना में धातु-सिद्धान्त का कितना योग है, इस पर यह सहस्राब्दियों पूर्व के तर्क-वितर्क का एक उदाहरण है। इससे जहाँ एक ओर भारत के मनीषियों के आलोचनात्मक चिन्तन का परिचय मिलता है, वहां दूसरी ओर भाषा और शब्द जैसे विषयों में, जिनकी गहराई में जाने में लोग विशेष रुचि नहीं लेते, उनके तलस्पर्शी अवगाहन का एक स्पृहणीय उद्योग दृष्टिगोचर होता है।

---

१ तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके।

तद्यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि, यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।

अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्चनतत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन्।

यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात् यत्किंचित्तृन्द्यात्तृणं तत्।

अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेय प्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा, दरशयावासंजनी च स्यात्।

अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्, अष्टेत्यश्वं, तर्दनमिति तृणम्।

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति। प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत्कि-माधारश्चेति।

में भावों का उद्रेक निश्चय ही होता है। हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, विस्मय आदि का आधिक्य सहज ही मानव को भावावेश में ला देता है। प्राचीन काल का मानव जब इस प्रकार भावाविष्ट हो जाता, अनायास ही कुछ शब्द उसके मुख से निकल पड़ते। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, अतएव अवश्यम्भावी थी। ओह, आह, उफ, छिः, धत् आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

संस्कृत में आः[1] (कोप, पीड़ा), धिक्[2] (निर्भर्त्सना, निन्दा), बत[3] (खेद, अनुकम्पा, सन्तोष), हन्त[4] (हर्ष, अनुकम्पा, विषाद), सामि[5] (जुगुप्सित), जोषं[6] (नीरवता, सुख), अलं[7] (पर्याप्त, शक्ति, वारण-निषेध), हुं[8] (वितर्क, परिप्रश्न), हा[9] (विषाद), अहह[10] (अद्भुतता, खेद), हिरुक्[11] (वर्जन), आहो, उताहो[12] (विकल्प), अहो, ही[13] (विस्मय) तथा ऊं[14] (प्रश्न, अनुनय) इत्यादि आकस्मिक भावों के द्योतक हैं। इनकी उत्पत्ति में भी उपर्युक्त सिद्धान्त किसी अपेक्षा से संगत हो सकता है।

अंग्रेजी में Ah, Oh, Alas, (Surprise, fear or regret = विस्मय, भय या खेद), Pish (Contempt = अवज्ञा), Pooh (disdain or contempt = घृणा या अवज्ञा) तथा Fie (Disgust = जुगुप्सा) आदि का प्रयोग उपर्युक्त सन्दर्भ में होता है।

अंग्रेजी व्याकरण में ये Interjections (विस्मयादिबोधक) कहलाते हैं। इसी कारण यह सिद्धान्त (Interjectional Theory) के नाम से विश्रुत है। इस सिद्धान्त का

---

१. आस्तु स्यात् कोपपीडयोः। —अमरकोश, तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग, पृष्ठ २४०
२. धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः। —वही, पृ० २४०
३. खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत। —वही, पृ० २४४
४. हन्त हर्षे अनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः। —वही, पृ० २४४
५. सामि त्वर्धे जुगुप्सिते। —वही, पृ० २४९
६. तूष्णीमर्थे सुखे जोषम्। —वही, पृ० २५१
७. अलं···पर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्। —वही, पृ० २५२
८. हुं वितर्के परिप्रश्ने। —वही, पृ० २५२
९. हा विषादशुगर्तिषु। —वही, पृ० २५६
१०. अहहेत्यद्भुते खेदे। —वही, तृतीय कांड, अव्यय वर्ग, श्लो० ७
११. हिरुङ्नाना च—वर्जने। —वही, श्लो० ७
१२. आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमुत च।—वही, श्लो० ५
१३. अहो ही च विस्मये।—वही, श्लो० १

अभिप्राय था कि शब्दों के उद्भव और विकास की यह पहली सीढ़ी है। इन्हीं शब्दों से उत्तरोत्तर नये-नये शब्द बनते गये, भाषा विकसित होती गयी। इस सिद्धान्त के उद्भावकों में कंडिलेक का नाम उल्लेखनीय है।

डा० भोलानाथ तिवारी ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है : "इस सिद्धान्त के मान्य होने में कई कठिनाइयां है। पहली बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नहीं मिलते। यदि स्वभावतः आरम्भ में ये निःसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यों में लगभग एक जैसे होते। संसार भर के कुत्ते दुःखी होने पर लगभग एक ही प्रकार भौंक कर रोते हैं, पर, संसार भर के आदमी न तो दुःखी होने पर एक प्रकार से 'हाय' करते है और न प्रसन्न होने पर एक प्रकार से 'वाह'। लगता है, इनके साथ संयोग से ही इस प्रकार के भाव सम्बद्ध हो गये हैं और ये पूर्णतः यादृच्छिक है। साथ ही इन शब्दों से पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। किसी भाषा में इनकी संख्या चालीस-पचास से अधिक नहीं होगी। और वहां भी इन्हें पूर्णतः भाषा का अंग नहीं माना जा सकता। बेनफी ने यह ठीक ही कहा था कि ऐसे शब्द केवल वहां प्रयुक्त होते है, जहां बोलना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार ये भाषा नहीं हैं। यदि इन्हें भाषा का अंग भी माना जाये तो अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है, कुछ थोड़े शब्दों की उत्पत्ति की समस्या पर ही इनसे प्रकाश पड़ता है।"[1]

सूक्ष्मता से इस सिद्धान्त पर चिन्तन करने पर अनुमित होता है कि भाषा के एक अंश की पूर्ति में इसका कुछ-न-कुछ स्थान है ही। भाषा के सभी शब्द इन्हीं Interjectional (विस्मयादिबोधक) शब्दों से निःसृत हुए, इसे सम्भव नहीं माना जा सकता।

अंशतः इस सिद्धान्त का औचित्य प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—विभिन्न भावों के आवेश में आदि मानव ने उन्हें प्रकट करने के लिए जब जैसी बन पड़ी, ध्वनियां उच्चारित की हों। भाषा का अस्तित्व न होने से भाव और ध्वनि का कोई निश्चित द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध नहीं था। एक ही भाव के लिए एक प्रदेशवासी मानवों के मुख से एक ही ध्वनि निकलती रही हो, यह सम्भव नहीं लगता। भाषा के बिना तब कोई व्यवस्थित सामाजिक जीवन नहीं था। इसलिए यह अतथ्य नहीं माना जा सकता कि एक ही भाव के लिए कई व्यक्तियों द्वारा कई ध्वनियां उच्चारित हुई हों। फिर ज्यों-ज्यों ध्वनियों या शब्दों का कुछ विकास हुआ, ध्वनियों की विभिन्नता या भेद अनुभूत होने लगा, तब सम्भवतः किसी एक भाव के लिए किसी एक शब्द का प्रयोग निश्चित हो गया हो।

डा० तिवारी पशुओं की बोली की चर्चा करते हुए जो कहते हैं कि देशगत भेद उस

---

१. भाषा विज्ञान, पृ० ३३

भाषा के विकास का यह आदि-चरण है। ये ध्वनियाँ अमुक-अमुक भावों की अभिव्यंजना को इंगित या प्रतीक बन जाती हैं।

पूर्व वर्णित मनोभावाभिव्यंजनवाद (Interjectional Theory) से यह स्थापना पृथक् है। वहाँ आकस्मिक भावोद्वेलन सहसा मुंह से निकल पड़ने वाली ध्वनियों का विवेचन है और यहाँ आवश्यकता, उत्सुकता, असहिष्णुता, कामेच्छा आदि से अभिभूत होकर जब मानव ध्वनियाँ प्रकट करने का प्रयत्न करता है, परिणाम स्वरूप उसके मुंह से जो ध्वनियाँ निःसृत होती हैं, उनका समावेश है। सहसा ध्वनि का निकल पड़ना और आवश्यक मान कर ध्वनियाँ निकालना; दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

भाषा के विकास का दूसरा सोपान अनुकरणात्मक शब्दों का है। पशुओं व पक्षियों की बोलियों के अनुकरण तथा निर्जीव वस्तुओं के अनुरणन के नाम से जो विवेचन किया गया है, जॉनसन का लगभग वही अभिप्राय है।

भाव-संकेत : इंगित

जॉनसन तीसरा सोपान भाव-संकेतों या इंगितों का बतलाते हैं। इनका भी आधार अनुकरण ही है, पर, यह अनुकरण बाह्य पदार्थों, पशु-पक्षियों या वस्तुओं से सम्बद्ध नहीं है। यह अनुकरण जिह्वा आदि द्वारा अंगों का, अंग-संकेतों का, उनमें भी प्रमुखतः हाथों का है। जॉनसन इसे Unconscious Imitation कहते हैं, अर्थात् यह ऐसा अनुकरण है, जिसका अनुकर्ता को स्वयं भी कोई भान नहीं रहता। उनका ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि मन में जब-जब एक विशेष प्रकार का भाव उभार में आता है, देह के अंगों में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है। क्रोध और दुस्साहस की मनोदशा में मनुष्य तनकर खड़ा हो जाता है, उसका सीना तन जाता है, होठ फड़कने लगते हैं, भयाक्रान्त होने पर वह दुबक जाता है (सिकुड़ जाता है), उल्लासपूर्ण मिलन-मुद्रा में बाहें फैला देता है, दृढ़ निश्चय, प्रतिज्ञा या आक्रमण के भावावेश में भुजाएं उठा लेता है, चुनौती के भाव में सामने की वस्तु पर हथेली दे मारता है। ये आंगिक क्रिया-प्रक्रियाएं होती रहती हैं और उनके अनुकरण पर अननुभूत रूप में Unconsciously वागिन्द्रिय द्वारा कुछ शब्द उच्चारित होते रहते हैं। अनेक भावों के प्रकाशक शब्दों के उद्भव का यह प्रकार है। जॉनसन सम्भवतः यही कहना चाहते हैं।

सूक्ष्म-भावों की अभिव्यंजना

सूक्ष्म भावों के द्योतक शब्दों के उद्भव के सम्बन्ध में जॉनसन का कहना है कि ज्यों-ज्यों मानव का उत्तरोत्तर मानसिक विकास होता गया, शनैः-शनैः सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना के लिए भी कुछ ध्वनियाँ या शब्द उद्भावित करता गया। भाषा के चार सोपानों में यह

अन्तिम सोपान है।

जॉनसन ने भाषा के अनेक पहलुओं पर विस्तार से विचार करने का प्रयत्न किया है। स्वरों और व्यंजनों का विकास किस प्रकार हुआ, इस पर भी प्रकाश डाला है। ध्वनियों के साथ अर्थों के सम्बन्ध की स्थापना पर भी चर्चा की है। उदाहरणार्थ, उनके अनुसार जिन धातुओं के आरम्भ में ऋकार या रकार होता है, वे धातुएं गत्यर्थक होती हैं; क्योंकि ऋकार या रकार के उच्चारण में जिह्वा विशेष गतिशील होती है या दौड़ती है। इसी प्रकार और भी उन्होंने विश्लेषण किया है। एक विशेष बात जॉनसन यह कहते हैं कि आदि मानव ने अपने शरीर में तरह-तरह के Curves = आकुंचन—मोड़ देखे। उनका अनुकरण करते हुए उसने कतिपय मूल भावों को सूचित करने वाले शब्दों का सर्जन किया।

भाव-संकेतों का अभिप्राय

प्रस्तुत प्रसंग में जॉनसन ने तीसरे सोपान में जो भाव-संकेतों की चर्चा की है, उस पर सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यकता है। मानव ने अपने देह के हाथ आदि अंगों के परिचालन के आधार पर विविध ध्वनियों की सृष्टि की, यह समझ में आने योग्य नहीं है। अंग-विशेष के हलन-चलन या स्पन्दन से ध्वनि-विशेष का सम्बन्ध जुड़ना कल्पनातीत लगता है। जैसे, यदि कोई व्यक्ति क्रोधावेश में हो, दांत पीसने लगे, आक्रमण की मुद्रा में हाथ उठा ले, तो समझ में नहीं आता, किसी ध्वनि द्वारा क्या इसे प्रकट किया जा सकता है? ध्वनि का अपना क्षेत्र है, देह-चालन से कोई विशेष आवाज तो निकलती नहीं, फिर किस रूप में उसका अनुकरण सम्भव है? जॉनसन ने अंग-परिचालन के साथ ध्वनि-उच्चारण का ताल-मेल बिठाने का जो प्रयत्न किया है, वह अपने-आप में नवीन अवश्य है, पर, युक्ति-संगत नहीं लगता।

धातुओं के आदि अक्षर : विशेष अर्थ : विसंगति

धातुओं के आदि अक्षरों का विशेष अर्थों के साथ ताल-मेल बिठाना भी सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर यथार्थ सिद्ध नहीं होता। ऋकार या रकार से प्रारम्भ होने वाली धातुओं का जो उल्लेख गत्यर्थकता के सन्दर्भ में किया गया था, उनके समकक्ष जो दूसरी गत्यर्थक धातुएं हैं और जिनका प्रारम्भ ऋ या र से नहीं होता, उनका क्या होगा? गम् धातु गत्यर्थक है। वह 'ग्' से प्रारम्भ होती है। 'ग्' के उच्चारण में वागिन्द्रिय का कोई अंग 'र्' के उच्चारण की तरह दौड़ता नहीं, फिर उपर्युक्त स्थापना की संगति कैसी होगी? गम् की तरह अन्य भी कितनी ही धातुएं होंगी, जो गत्यर्थक हैं, जिनका प्रारम्भ ऋ या र् से नहीं होता। ऋ या र् से प्रारम्भ होने वाली ऐसी धातुएं भी हैं, जो गत्यर्थक नहीं हैं। संस्कृत 'रञ्ज्' धातु, जो रंजित होने के अर्थ में है, र् से ही उसका आरम्भ होता है। ठीक

आदि अन्य भाषाओं में भी इसके उदाहरण मिल सकते हैं।

पूर्व-चर्चित धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, नाम, सर्वनाम आदि के रूप में भाषा का व्याकृत स्वरूप उसके विकसित होने के बाद का प्रयत्न है। जब भाषा के परिष्करण और परिमार्जन की अपेक्षा हुई, तब उसमें प्रयुक्त शब्दों की शल्य-चिकित्सा का प्रयत्न विशेष रूप से चला। व्याकरण-शास्त्र, व्युत्पत्ति-शास्त्र आदि के सर्जन का सम्भवतः यही प्रेरक सूत्र था। ये विषय मानव की तर्कणा-शक्ति पर आधृत हैं। आदिकाल के मानव में तर्क-शक्ति इतनी विकसित हो पाई थी, यह सम्भव नहीं लगता। वस्तुतः मानव का तार्किक और प्रातिभ विकास अनेक सहस्राब्दियों के अध्यवसाय और यत्न का फल है।

स्वीट का समन्वयात्मक विचार

स्वीट उन्नीसवीं शती के सुप्रसिद्ध भाषा-विज्ञान-वेत्ता थे। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति किसी एक आधार से नहीं मानी। उनके अनुसार कई कारणों या आधारों का समन्वित रूप भाषा के उद्भव में साधक था। उन्होंने प्रारम्भिक शब्द-समूह को तीन श्रेणियों में विभाजित किया। उनके अनुसार पहले वे थे, जिनका आधार अनुकरण था। उन्होंने दूसरी श्रेणी में उन शब्दों को रखा, जो मनोभावाभिव्यंजक हैं। उनके अनुसार तीसरी श्रेणी में वे शब्द आते हैं, जिन्हें प्रतीकात्मक (Symbolic) कहा गया है। उनकी मान्यता है कि भाषा में प्रारम्भ में इस श्रेणी के शब्द संख्या में बहुत अधिक रहे होंगे।

शब्द : अर्थ : यदृच्छा : प्रतीक

स्वीट के अनुसार प्रतीकात्मक शब्द वे हैं, जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। संयोगवश जो किसी विशेष अर्थ के ज्ञापक या प्रतीक बन जाते हैं। उन अर्थों में उनका प्रयोग चलता रहता है। फलतः भाषा में उनके साथ उन विशेष अर्थों की स्थापना हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक शिशु है। वह माँ को देखता है। कुछ बोलना चाहता है। [illegible] में उसके होंठ खुल जाते हैं। अनायास 'मा मा' ध्वनि निकल पड़ती है। [illegible] (mama) ध्वनि का किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। संयोगवश शिशु के [illegible] बार-बार यह ध्वनि निकलती है। इसका उच्चारण सरल [illegible] गृहीत कर लेती है। परिणाम [illegible]

रूप में इसी श्रेणी के शब्द रहे होंगे। इन सांयोगिक ध्वनियों में से अधिकांश के साथ अ...
ओष्ठ्य हैं। सहसा कोई बच्चा कोई ध्वनि उच्चारित करने को ज्यों ही तत्पर होता है, हो...
खुल जाते हैं। अनायास उसके मुंह से जो ध्वनि निःसृत होती है, प्रायः ओष्ठ्य होती है
क्योंकि वैसा करने में उसे अपेक्षाकृत बहुत कम श्रम होता है।

स्फोट ने प्रतीकात्मक शब्दों की श्रेणी में कतिपय सर्वनाम शब्दों को भी समाविष्ट किया है। उनकी निष्पत्ति सांयोगिक है, पर, उन अर्थों के लिए वे गृहीत हो गये। फलतः उनका एक निश्चित अर्थ के साथ वाच्य-वाचक-सम्बन्ध स्थापित हो गया। उदाहरण के लिए संस्कृत के त्वम् (तुम) सर्वनाम को लिया जा सकता है। ग्रीक में यह To, लैटिन में Tu, हिन्दी में तू, अंग्रेजी में Thow होता है। इसी प्रकार संस्कृत में यह और वह वाचक सर्वनाम 'इदम्' और 'अदस्' हैं। अंग्रेजी में इसके स्थान पर This और That हैं तथा जर्मन में Dies और Das। स्फोट ने बहुत-सी क्रियाओं की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भी प्रतीकात्मकता के आधार पर विचार किया है।

सार : समीक्षा

भाषा के सन्दर्भ में यह मानव की आदिम अवस्था का प्रयास था। इसके अनुसार सम्भव है, आरम्भ में 'प्रतीक' कोटि के अनेक शब्द निष्पन्न हुए होंगे। उनका प्रयोग भी चलता रहा होगा। उनमें से जो शब्द अभीप्सित अर्थ की अभिव्यंजना में सर्वाधिक सक्षम, उच्चारण और श्रवण में समीचीन नहीं रहे होंगे, धीरे-धीरे वे मिटते गये होंगे और जो (शब्द) उक्त अर्थ में अधिक सक्षम एवं संगत प्रतीत हुए होंगे, उन्होंने भाषा में अपना अमिट स्थान बना लिया होगा। जैसे, प्रकृति-जगत् और जीव-जगत् में सर्वत्र Survival of the fittest = योग्यतमावशेष का सिद्धान्त लागू है, उसी प्रकार शब्दों के जगत् में भी वह व्याप्त है। यहां भी योग्यतम या उपयुक्त का ही अस्तित्व रहता है, अन्य सब धीरे-धीरे अस्तित्व-हीन होते जाते हैं। प्रतीकात्मक शब्द जो भाषा में सुरक्षित रह पाये हैं, वे आदि सृष्ट शब्दों में से थोड़े से हैं।

स्फोट ने जिन तीन सोपानों का प्रतिपादन किया है, एक सीमा विशेष तक भाषा की संरचना में उनकी उपयोगिता है। इस प्रसंग में इतना आवश्यक है कि स्फोट ने विभिन्न धातुओं तथा सर्वनामों के रूपों की प्रतीकात्मकता से जो संगति बिठाने का प्रयत्न किया है, वह यथार्थ का स्पर्श करता नहीं लगता। इसके अतिरिक्त एक बात और है, स्फोट द्वारा उक्त तीनों सोपानों के अन्तर्गत जिन शब्दों का उद्भव व्याख्यात हुआ है, उसके बाद भी उन (तीनों) से कई गुने शब्द और हैं, जिनके अस्तित्व में आने की कारण-परम्परा अज्ञात रह जाती है। अनुकरण, मनोभावाभिव्यंजन तथा प्रतीक; इन तीनों कोटियों में वे नहीं आते। पूर्व वर्णित अनुकरण और आकस्मिक भाव प्रसूत शब्द संख्या में थोड़े से हैं। उसी प्रकार

प्रतीकात्मक शब्द भी प्रायः पारिवारिक सम्बन्धों की व्यापकता से बहुत दूर नहीं जाते। वे भी संख्या में सीमित ही हैं।

प्रतीकात्मक आदि प्रारम्भ में प्रयुज्यमान शब्दों के सादृश्य के आधार पर अन्यान्य शब्द अस्तित्व में आते गये, भाषा विकास की ओर गतिशील रही, ऐसी कल्पना भी सार्थक नहीं लगती। जैसे, प्रतीकात्मक शब्दों के विषय को ही लें। बच्चों का एक ससीम जगत् है। उनके सम्बन्ध और आवश्यकताएं सीमित हैं। उनकी आकांक्षाओं के जगत् का सम्बन्ध मात्र खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना आदि निसर्गज मूल क्रियाओं से दूर नहीं है। इस स्थिति के परिप्रेक्ष्य में जो सांयोगिक ध्वनियां या शब्द प्रादुर्भूत होते हैं, उनके द्वारा ज्ञाप्यमान अर्थ बहुत सीमित होता है। उनसे केवल अत्यन्त स्थूल पदार्थों और भावों का सूचन सम्भव है। सूक्ष्म भावों की परिधि में वे नहीं पहुंच पाते।

भाषा की उत्पत्ति : अवलम्बन : निराशा

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार अनेक मत आविर्भूत हुए, चर्चित हुए, परिवर्तित हुए, पर, अब तक किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर पहुंचा नहीं जा सका। इसकी प्रतिक्रिया कुछ मूर्धन्य विद्वानों के मन पर बड़ी प्रतिकूल हुई। उन्हें लगा कि भाषा के उद्गम या मूल जैसे विषय की खोज करना व्यर्थ है; क्योंकि अब तक की गवेषणा और अनुशीलन के *उपरान्त भी किसी वास्तविक तथ्य का उद्घाटन नहीं हो सका।*

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एडगर स्टूर्विण्ट ने लिखा है : "अत्यधिक निरर्थक तर्क-वितर्क के उपरान्त भाषा विज्ञान-वेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मानवीय भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री कोई साक्ष्य उपस्थित नहीं करती।"[1]

इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् मोरियो-पाई का भी इस सम्बन्ध में इसी प्रकार का विचार है। उन्होंने लिखा है : "वह एक तथ्य, जिस पर सभी भाषा वैज्ञानिक पूर्णतया सहमत हैं, यह है कि मानवीय भाषा के उद्गम की समस्या का अभी तक समाधान हो नहीं पाया है।"[2]

---

1. After much futile discussion linguists have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech. —*An Introduction to Linguistic Science, P.40, New Haven, 1948.*
2. If there is one thing on which all linguistics are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved.
—*The story of Language, P. 18, London, 1952.*

अमेरिकन भाषा-शास्त्री जे० वेण्ड्रिएस ने इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया है : "भाषा के उद्गम की समस्या का कोई भी सन्तोषजनक समाधान नहीं हो पाया है।"[1]

विद्वानों के उपर्युक्त विचार निराशाजनक है। किसी विषय पर एक दीर्घ अवधि तक अनवरत कार्य करते रहने पर भी जब अभीप्सित परिणाम नहीं आता, तब कुछ थकान का अनुभव होने लगता है। थकान के दो फलित होते हैं—एक वह है, जहाँ आशा मुरझा जाती है। उसके पश्चात् आगे उसी जोश के साथ प्रयत्न चले, यह कम सम्भव होता है। दूसरा वह है, जहाँ थकान तो आती है, पर जो अदम्य उत्साह के धनी होते हैं, वे थकान को विश्राम बना लेते हैं तथा भविष्य में अधिक तन्मयता एवं लगन से कार्य करते जाते हैं।

खोज पर प्रतिबन्ध : विचित्र निर्णय

लगभग एक शताब्दी पूर्व की एक घटना से ज्ञात होगा कि संसार के भाषा वैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति का आधार खोजते-खोजते कितने ऊब गये थे। बहुत प्रयत्न करते रहने पर भी जब भाषा की उत्पत्ति का सम्यक्तया पता नहीं चल सका, तो विद्वानों में उस ओर से पराङ्मुखता होने लगी। कुछ का कथन था कि भाषा की उत्पत्ति-सम्बन्धी यह विषय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का नहीं है। यह नृवंश-विज्ञान या मानव-विज्ञान का विषय है। मानव-जाति का विविध सन्दर्भों में किस प्रकार विकास हुआ, उसका एक यह भी पक्ष है। कुछ का विचार दूसरी दिशा की ओर रहा। उनके अनुसार यह विषय प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध है। कुछ विद्वानों का अभिमत था कि भाषा-विज्ञान एक विज्ञान है। भाषा की उत्पत्ति का विषय इससे सम्बद्ध है। इस पर विचार करने के लिए वह ठोस सामग्री और आधार चाहिए; जिनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। कल्पनाओं पर विज्ञान नहीं टिकता। इसके वैज्ञानिक परीक्षण और अनुसन्धान के लिए आज प्रत्यक्षतः कोई सामग्री प्राप्त नहीं है। भाषा कब उत्पन्न हुई, कोई भी समय की इयत्ता नहीं बाँध सकता। हो सकता है, यह लाखों वर्ष पूर्व की बात रही हो, जिसका लेखा-जोखा केवल अनुमानों के आधार पर कल्पित किया जा सकता है। वैज्ञानिक कसौटी पर कसे जा सकने योग्य आधार न होने के कारण भाषा की उत्पत्ति का विषय भाषा-विज्ञान का अंग नहीं माना जाना चाहिए। इस पर सोचने में और उलझन पैदा करने में कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उपर्युक्त विचारों ने एक सनसनी पैदा कर दी। पेरिस में ई० सन् १८६६ में भाषा-विज्ञान परिषद् की प्रतिष्ठापना हुई। उसके नियमोपनियम बनाये गये। आश्चर्य होगा, उनके अन्तर्गत यह भी था कि अब से भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर

1. — — —The problem of the origin of language does not admit of only satisfactory solution.

—J. Kendryes Language, p. 315, London, 1952

कोई विचार नहीं करना होगा। अर्थात् भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सोचने पर परिषद् के संचालकों ने प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार एक तरह से इस प्रश्न को सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। प्रतिबन्ध लगाने वाले साधारण व्यक्ति नहीं थे, संसार के विश्रुत भाषा-शास्त्री थे। *सम्भव है, उन्हें लगा हो, जिसका कोई परिणाम नहीं आने वाला है* उस प्रकार के विषय पर विद्वान् वृथा श्रम क्यों करें ?

गवेषणा नहीं रुकी

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है, प्रतिबन्ध लग गया, पर प्रस्तुत विषय पर अनवरत कार्य चालू रहा। इतना ही नहीं, प्रायः हर दस वर्ष के बाद भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कोई नया वाद या सिद्धान्त प्रस्फुटित होता गया। यह ठीक ही है। मानव स्वभावतः *जिज्ञासा-प्रधान और मननशील प्राणी है। जिज्ञासा-प्रतिबन्ध से अवरुद्ध नहीं* होती। वह प्रतिभा-सम्पन्न, उद्बुद्धचेता व्यक्ति को अभीष्ट की गवेषणा में सदा उन्मुख बनाये रखती है।

विज्ञान शब्द भौतिक विज्ञान के रूप में एक पारिभाषिक अर्थ लिए हुए है। भौतिक विज्ञान कार्य-कारण-परम्परा पर आधृत है। कारण की परिणति कार्य में होती है। कारण-सामग्री के बिना कार्य नहीं होता। कारण सामग्री है, तो कार्य का होना रुकता नहीं। यह निर्बाध नियम है। विज्ञान के इस पारिभाषिक अर्थ में भाषा-विज्ञान एक विज्ञान (Science) नहीं है। पर, यह कल्पना-प्रसूत नहीं है, इसलिए इसे कला (Art) भी नहीं कहा जा सकता। बड़ी उलझन है, कला भी नहीं, विज्ञान भी नहीं, तो फिर यह क्या है ? *भाषा वैज्ञानिकों ने इस पहलू पर भी विचार किया है।*

मन भाव-संकुल हुआ। अन्तःस्फुरणा जगी। कल्पना का सहारा मिला। शब्द-समवाय *निकल पड़ा। यह कविता है।* भाव-प्रसूत है, भाव-संस्पर्शी है; अतः मनोज्ञ है, सरस है, पर, इसका यथार्थ वस्तु-जगत् का यथार्थ नहीं है, कल्पना का यथार्थ है; अतएव यह कला है। इसमें सौन्दर्य पहले है, सत्य तदनन्तर। भाषा-विज्ञान इससे पृथक् कोटि का है। विज्ञान की तरह उसका टिकाव भौतिक कारण-सामग्री पर नहीं है, पर, वह कारण-शून्य एवं काल्पनिक भी नहीं है। शब्द भाषा का दैहिक कलेवर है। वे मुख से निःसृत होते हैं। पर, कल्पना की तरह वैसे-वैसे ही नहीं निकल पड़ते। शब्द अक्षरों का समवाय है। गलस्थित ध्वनि-यन्त्र, स्वर-तन्त्रियाँ, मुख-विवर-गत उच्चारण-अवयव आदि के साथ श्वास या मूला-धार [illegible] के संस्पर्श या संघर्ष से अक्षरों का उद्भव बहुत [illegible] मित [illegible] एक सुनिश्चित वैज्ञानिक क्रम पर आधृत [illegible] पांत्रिक [illegible] इसमें विश्व भाषा की इयत्ता [illegible] विश्लेष-

सार वैज्ञानिक विधि-क्रम कहा जा सकता है।

भाषा का विकास यद्यपि शब्दोत्पत्ति की तरह सर्वथा निरपवाद वैज्ञानिक कारण-शृंखला पर तो नहीं टिका है, पर, फिर भी वहां एक क्रम-बद्धता, हेतुमत्ता तथा व्यवस्था है। वह सापवाद तो है, पर, साधारण नहीं है। ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिनसे यह भाषाओं के विवेचन का शास्त्र भाषा-विज्ञान कहा जाता है, जो भौतिक-विज्ञान से पृथक् होता हुआ भी उसी तरह कार्य-कारण-परम्परापूर्वक युक्ति और तर्क द्वारा विश्लेष्य और अनुसन्धेय है।

निराशा क्यों ?

भाषा-विज्ञान को जब विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) मानते हैं, तो भाषा, जिसका यह विज्ञान है, उसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध सभी पक्षों का अध्ययन एवं अनुसन्धान होना चाहिए। [illegible] इतिहास, विस्तार, विकास आदि के साथ-साथ उसके उद्भव पर भी विचार करना आवश्यक है। गवेषणा के हेतु अपेक्षित सामग्री व आधार नहीं प्राप्त हो सके, इसलिए उस विषय को ही भाषा विज्ञान से निकाल कर सदा के लिए समाप्त कर दिया जाए, यह उचित नहीं लगता। वैज्ञानिक और अन्वेष्टा कभी किसी विषय को इसलिए नहीं छोड़ देते कि उसके अन्वेषण के लिए उन्हें उपकरण व साधन नहीं मिल रहे हैं। अनुशीलन और अध्ययन का कार्य गतिशील रहेगा, तो किसी समय आवश्यक सामग्री उपलब्ध होगी ही। आज तक नहीं मिल रही है, तो आगे भी नहीं मिलेगी, ऐसा क्यों मानें? इस प्रसंग में संस्कृत के महान् नाटककार भवभूति की यह उक्ति निःसन्देह बड़ी प्रेरणाप्रद है : कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी: अर्थात् यह काल निःसीम है और पृथ्वी बहुत विशाल है। पता नहीं कब, कौन उत्पन्न हो जाये, जो दुष्कर और दुःसाध्य कार्य करने में भी सक्षम हो। भविष्य की सच्ची आशाओं के सहारे जो मनस्वी कार्य में जुटे रहते हैं, वे निश्चित ही सफल होते हैं। कार्य को रोक देना या छोड़ देना तो भविष्य की सब सम्भावनाओं को मिटा देना है। उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में [illegible] भाषा के उद्भव पर कुछ और चिन्तन वांछित होगा।

वाक्-प्रस्फुटन

[illegible] विकास की अवस्थाओं को पार करता हुआ आगे [illegible] विकास होता गया। [illegible] ज्यों-ज्यों [illegible] के लिए [illegible] "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" के अनुसार [illegible] आविर्भूत होता गया। यह अनुकरण, [illegible] के आधार पर [illegible] और ([illegible]) [illegible]

संरचना की आदिम दशा का परिचय है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी

वागिन्द्रिय से वाक्-निःसृति के क्रम पर कुछ संकेत पूर्व पृष्ठों में किया गया था। यहाँ उसका कुछ विस्तार से विश्लेषण किया जा रहा है। वैदिक वाङ्मय में परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी; इन नामों से चार प्रकार की वाणी वर्णित हुई है। महाभाष्यकार पतंजली ने महाभाष्य के प्रारम्भ में ही ऋग्वेद की एक पंक्ति [1] उद्धृत करते हुए इस ओर इंगित किया है।

साहित्य-दर्पण के टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने वर्ण की व्याख्या के प्रसंग में परा, पश्यन्ती आदि वाक् रूपों का संक्षेप में सुन्दर विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है : "ज्ञान में आये हुए अर्थ की विवक्षा से आत्मा तद्बोधक शब्द के निष्पादन के लिए अंतःकरण को प्रेरित करता है। अन्तःकरण मूलाधार स्थित अग्नि—ऊष्मा—तेज को संचालित करता है। अग्नि के द्वारा तत्स्थलवर्ती वायु स्पन्दित होता है। इस प्रकार स्पन्दित वायु द्वारा वहाँ सूक्ष्म रूप में जो शब्द उद्भूत होता है, वह 'परा' वाक् कहा जाता है। तदनन्तर नाभि प्रदेश तक सचालित वायु के द्वारा उस देश के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे 'पश्यन्ती' वाक् कहा जाता है। ये दोनों (वाक्) सूक्ष्म होती हैं ; अतः ये परमात्मा या योगी द्वारा ज्ञेय है। साधारण-जन उन्हें कर्ण-गोचर नहीं कर सकते। वह वायु हृदय-देश तक परिसृत होती है और हृदय के संयोग से जो शब्द निष्पन्न होता है, वह 'मध्यमा' वाक् कहलाता है। कभी-कभी कान बन्द कर सूक्ष्मतया ध्वनि के रूप में जनसाधारण भी उसे अधिगत कर सकते हैं। उसके पश्चात् वह वायु मुख तक पहुँचती है, कण्ठासन्न होती है, मूर्धा को आहत करती है, उसके प्रतिघात से वापिस लौटती है तथा मुख-विवर में होती हुई कण्ठ आदि आठ उच्चारण स्थानों में किसी एक का अभिघात करती है, किसी एक से टकराती है। तब जो शब्द उत्पन्न होता है, वह 'वैखरी' वाक् कहा जाता है।"[2]

---

१. गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। —ऋग्वेद; १।१६४।४५

२. चेतनेन ज्ञातार्थविवक्षया तद्बोधक शब्द निष्पादनाय प्रेरितमन्तःकरणं मूलाधारस्थित-मनलं चालयति, तच्चालितोऽनलस्तत्स्थलवर्तिवायुचालनाय प्रभवति, तच्चालितेन वायुना तत्रैव सूक्ष्मरूपेणोत्पादितः शब्दः परा वागित्यभिधीयते। ततो नाभिदेशपर्यन्तचलितेन तेन तद्देशसंयोगादुत्पादितः शब्दः पश्यन्तीति व्यवह्रियते। एतद्द्वयस्य सूक्ष्मसूक्ष्मतरतयेश्वर-योगिमात्रगम्यता, नास्मदादिश्रुतिगोचरता। ततस्तेनैव हृदयदेशं परिसरिता हृदयसंयोगेन निष्पादितः शब्दो मध्यमेत्युच्यते। सा च स्वकर्णपिधानेन ध्वन्यात्मकतया सूक्ष्मरूपेण

का उत्तरवर्ती रूप 'वैखरी'[1] है, जो मानव के व्यवहार-जगत् का अंग है। 'वैखरी' के प्रस्फुटित होने का अर्थ है—शब्द द्वारा एक आकार की प्राप्ति।

बहुत जटिल से प्रतीत होने वाले उपर्युक्त विवेचन का संक्षेप में सारांश यह है कि शब्द मात्र के प्रस्फुटित या प्रकट होने में मुख्य क्रियाशील तत्त्व पवन या श्वास है। मूलाधार में उत्पन्न सूक्ष्मतम से प्रारम्भ होकर नाभिदेश में उद्भूत सूक्ष्मतर में से गुजरते हुए हृदय-देश में प्रकटित—व्यक्त-अव्यक्त सूक्ष्म स्वरूप को प्राप्त शब्द के श्वास-संश्लिष्ट होने का ही सम्भवतः यह प्रभाव होना चाहिए कि श्वास विभिन्न स्थिति, रूप, क्रम एवं परिमाण में स्वर-यन्त्र के पर्दों का संस्पर्श करता हुआ उनके विविधतया तनने, फैलने, सिकुड़ने, मिलने, अर्द्धमिलित, अल्पमिलित, ईषन्मिलित आदि अवस्थाएं प्राप्त करने, फलतः तदनुरूप स्वर, व्यंजन शब्द-गठक अक्षर परिस्फुटित करने का हेतु बनता है।

वाणी के प्रादुर्भाव का जो क्रम प्रतिपादित हुआ है, वास्तव में बड़ा महत्त्वपूर्ण है और वैज्ञानिक सरणि लिये हुए है। वागुत्पत्ति जैसे विषय पर भी भारतीय विद्वानों ने कितनी गहरी डुबकियां लीं, इसका यह परिचायक है।

जैन दर्शन की दृष्टि से

जैन दर्शन तीन प्रकार की प्रवृत्तियां—योग स्वीकार करता है—मानसिक, वाचिक तथा कायिक। जब मनुष्य मनोयोग या मनःप्रवृत्ति में संलग्न होता है, तो उस (मनोयोग) के द्वारा सूक्ष्म कर्म-पुद्गल (कर्म-परमाणु) आकृष्ट होते हैं। ये कर्म-परमाणु मूर्त होते हैं, पर, उनका अत्यन्त सूक्ष्म आकार होता है। मन की प्रवृत्ति या चिन्तन जिस प्रकार का होगा, उसी के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्माणु आकृष्ट होंगे।

मनोयोग या मानसिक चिन्तन किसी भी उद्भूयमान कर्म की प्रथम व सूक्ष्म संरचना है। चिन्तन के अनन्तर वाचिक अभिव्यक्ति का क्रम आता है, जिसके लिए शब्दात्मक भाषा की आवश्यकता होती है। मनोयोग जब वाक्-योग में परिणत होना चाहता है, तो वे मनःप्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट कर्म-परमाणु ध्वनि-निष्पत्ति-क्रम पर विशेष प्रभाव डालते हैं। वह प्रभाव आकृष्ट या संचित कर्म-परमाणुओं की भिन्न-भिन्न दशाओं के अनुसार विविध प्रकार का होता है, जैसा होना स्वाभाविक है। फलतः विभिन्न मनोभावों के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां या शब्द वाक्-योग के रूप में निकल पड़ते हैं।

---

१. विशेषेण खं खानि = वि + ख + अण् + ङीप् अर्थात् जो विशेष रूप से आकाश को खनन करे—निःसारित करे।

स्थूल और सूक्ष्म की भेद-रेखा

अनुकरण, मनोभावाभिव्यंजन, इंगित या प्रतीक आदि सिद्धान्त जिनका पहले विवेचन किया गया है, स्थूल भाव-बोधक शब्दों की उत्पत्ति में किसी-न-किसी रूप में सहायक बनें, यह सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है। सूक्ष्म भावों के परिस्फुरण का समय सम्भवतः मानव के जीवन में तब आया होगा, जब वह मानसिक दृष्टि से विशेष विकसित हो गया होगा। वैदी दशा में परा, पश्यन्ती आदि के रूप में वाक्-निष्पत्ति के क्रम तथा जैन-दर्शन सम्मत वाक्-योग के क्रियान्वयन की सरणि से सूक्ष्म-भाव-बोधक शब्दों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कुछ प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है।

एक प्रश्न का उभरना स्वाभाविक है कि परा, पश्यन्ती आदि के उद्भव-क्रम के अन्तर्गत सृष्ट सूक्ष्म शब्दाकारों या मनःप्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट विभिन्न पुद्गल-परमाणुओं से निःसार्यमाण ध्वनि या शब्द प्रभावित होने हैं, तो फिर समस्त जगत् के लोगों द्वारा प्रयुज्यमान शब्दों में, भाषाओं में परस्पर अन्तर क्यों है ?

तथ्य यह है कि संसार भर के मानव एक ही स्थिति, प्रकृति, जल-वायु, उपकरण, सामाजिकता आदि के परिवेश में नहीं रहते। उनमें अत्यधिक भिन्नता है। उच्चारण-अवयव तथा उच्चार्यमाण ध्वनि-समवाय उसमें अप्रभावित कैसे रह सकता है ?

दूसरा विशेष तथ्य यह है कि उपर्युक्त वाक्-निष्पत्ति-क्रम का सम्बन्ध विशेषतः सूक्ष्मार्थ-बोधक शब्दों की उत्पत्ति के साथ सम्भाव्य है, जब कि स्थूल भाव-ज्ञापक शब्द संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में बन चुके थे। जो-जो भाषाएं अपना जिस प्रकार का स्थूल रूप लिये हुए थीं, सूक्ष्म भाव-बोधक शब्दों की संरचना का ढलाव भी उसी ओर हो, ऐसा सहज प्रतीत होता है। इस प्रकार के अनेक कारण रहे होंगे, जिनसे भिन्न-भिन्न भू-भागों की भाषाओं के स्वरूप भिन्न-भिन्न सांचों में ढलते गये।

उपसंहृति

दार्शनिक पृष्ठभूमि पर वैज्ञानिक शैली से किया गया उपर्युक्त विवेचन एक ऊहापोह है। वास्तव में भाषा के उद्भव और विस्तार की कहानी बहुत लम्बी एवं उलझन भरी है। भाषा को वर्तमान रूप तक पहुंचाने में विकासशील मानव को न जाने कितनी मंजिलें पार करनी पड़ी हैं। मानव-मानव का पारस्परिक सम्पर्क, जन्तु-जगत् का साहचर्य, प्रकृति में विहरण तथा अपने कृतित्व से उद्भावित उपकरणों का साहाय्य प्रभृति अनेक उपादान मानव के साथ थे, जिन्होंने उसे प्रगति और विकास के पथ पर सतत गतिशील रहने में स्फूर्ति प्रदान की। उदीयमान एवं विकासमान भाषा भी उस प्रगति का एक अंग रही। उसी

सहस्राब्दियों के ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य धारा को अपने में संजोये हुए हैं।

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

भाषाओं की अपनी-अपनी आकृति है। उनकी रचना का अपना प्रकार है। आकृति के आधार पर भाषाओं का जो वर्गीकरण किया जाता है, उसे आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं। उसके अनुसार संसार की भाषाओं के दो वर्ग होते हैं—योगात्मक भाषाएं और अयोगात्मक भाषाएं।

योगात्मक भाषाएं

जिन भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का योग होता है, वे योगात्मक भाषाएं कहलाती हैं। पद और उनसे बने हुए वाक्य भाषा के गठक हैं। पद में मुख्यतः दो बातें होती हैं—अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व। शब्द जिस अर्थ का ज्ञापक है, वह अर्थ-तत्त्व कहा जाता है। जिससे वाक्यगत शब्दों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसे सम्बन्ध-तत्त्व कहा जाता है। सम्बन्ध-तत्त्व के योग के बिना वाक्य नहीं बन सकता। भिन्न-भिन्न शब्द अपने भिन्न-भिन्न अर्थ ज्ञापित करते रहेंगे। उनकी समन्विति नहीं होगी। जैसे—अस्मद्, युष्मद्, वस्त्र, दा (धातु) ये चार शब्द हैं। चारों का अपना-अपना अर्थ है, पर, परस्पर कोई संगति नहीं है। यदि इसे वयं युष्मभ्यं वस्त्राणि अदद्म; ऐसा रूप दे दिया जाए, तो एक संगत तथ्य प्रकट होता है। ऐसा करने में विभक्तियों, प्रत्ययों आदि का योग हुआ है, यही सम्बन्ध-तत्त्व है। वयम्, युष्मभ्यम्, वस्त्राणि तथा अदद्म—ये अस्मद्, युष्मद्, वस्त्र और दा के रूप हैं। रूप बनाने की एक विशेष पद्धति या शैली है।

योगात्मक भाषा-वर्ग में संस्कृत आदि कुछ भाषाएं ऐसी हैं, जिनमें अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के योग से निष्पन्न विभक्त्यन्त और प्रत्ययान्त पदों को वाक्य में किसी एक सुनिश्चित क्रम के अनुरूप ही रखा जाए, ऐसा आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि उपर्युक्त वाक्य वयं युष्मभ्यं वस्त्राणि अदद्म को वस्त्राणि अदद्म युष्मभ्यं वयम्, अदद्म वस्त्राणि युष्मभ्यं वयम् तथा युष्मभ्यं वयं वस्त्राणि अदद्म इत्यादि अनेक प्रकार से परिवर्तित कर सकते हैं। अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। पर, बहुत-सी योगात्मक भाषाएं ऐसी हैं, जिनमें इस प्रकार नहीं हो सकता। उनमें अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के योग के साथ-साथ कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को वाक्य में रखने का एक विशेष क्रम है, जिसका अनुवर्तन आवश्यक है। जैसे, उक्त वाक्य को हम अंग्रेजी में We gave you the clothes इस प्रकार अनूदित करेंगे। We, gave, you, clothes आदि वाक्य-गत पदों को हम संस्कृत की तरह आगे-पीछे स्वेच्छा क्रम में नहीं रख सकते। हिन्दी में भी प्रायः ऐसा ही है।

अयोगात्मक भाषाएँ

जिन भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का कोई योग नहीं होता, वे अयोगात्मक भाषाएँ कहलाती हैं। इनमें शब्द के साथ विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि कुछ नहीं जुड़ते। अभीप्सित अर्थ को ज्ञापित करने के लिए तद्बोधक शब्दों को एक विशेष क्रम से रख देना यथेष्ट है। उन्हीं शब्दों का स्थानिक क्रम बदल कर तत्सम्बन्ध अन्य अनेक आशय प्रकट किये जा सकते हैं।

अयोगात्मक भाषा वर्ग में चीनी भाषा मुख्य है। उदाहरण के लिए उस भाषा के तीन शब्द हैं—ङो, त, नि। ङो का अर्थ मैं, त का मारना तथा नि का तुम है। "मैं तुम को मारता हूँ"; यह प्रकट करने के लिए चीनी भाषा में ङो त नि कहना होगा। "तुम मुझे मारते हो" ऐसा कहने के लिए नि त ङो कहना होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्ता कारक का भाव प्रकट करने केलिए केवल इतना-सा अपेक्षित हुआ कि जिसका कर्तृत्व स्थापित करना है, उस शब्द को वाक्य के प्रारम्भ में रख दिया गया। कर्म कारक का भाव प्रकट करना हो तो मात्र इतना करणीय है कि कर्म-स्थानिक संज्ञा या सर्वनाम को क्रिया के बाद रख दिया जाए। कर्ता, कर्म आदि कारकों का भाव स्थान के एक निश्चित परिवर्तन से व्यक्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो शब्द जिस रूप में भाषा में है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता; विभक्ति, प्रत्यय तथा उपसर्ग आदि का उसके साथ कोई योग नहीं होता।

चीनी भाषा का एक उदाहरण और लें। त लइ—वह आता है। यह वर्तमान-काल-बोधक वाक्य है। इसे यदि भूतकाल का बनाना हो तो लइ क्रिया के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इस क्रिया के आगे एक शब्द लिओन (Lion) जिसका अर्थ समाप्त है, और रख दिया जाएगा। तब वह वाक्य इस प्रकार होगा—त लइ (Lai) लिओन अर्थात् उसने आना समाप्त किया, वह आया। लिओन का अर्थ-तत्त्व है—समाप्त करना, पर, त लइ लिओन में वह सम्बन्ध-तत्त्व का द्योतक हो गया है। लिओन (Lion) के स्थान पर यदि लिआव (Liao) जिसका अर्थ पूर्ण या पूर्णता है, रख दिया जाए, तो भी भूतकाल का अर्थ प्रकट हो जाएगा। उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न शब्द सर्वथा अपरिवर्तित रहते हुए स्थान, प्रयोग आदि के एक विशेष क्रम के कारण अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का अपेक्षित निर्वाह भली-भाँति कर पाते हैं। अयोगात्मक भाषाओं में सबसे अधिक महत्त्व वाक्य में शब्दों के क्रम का है, पर, स्वर, लहजे (Tone) और निपात का भी अर्थाभिव्यक्ति में स्थान है।

संसार में अयोगात्मक भाषाएँ बहुत थोड़ी-सी हैं। अयोगात्मक भाषाओं में चीनी-

भाषा जैसे स्थान-प्रधान है, उसी प्रकार अफ्रीका की सुडानी भाषा में भी वाक्यगत शब्दों के क्रम या स्थान का महत्व है। असामी स्वर-प्रधान है। बर्मी, स्यामी तथा तिब्बती निपात-प्रधान है।

योगात्मक भाषाओं के भेदोपभेद

योगात्मक भाषाओं के मुख्यतः तीन भेद हैं : प्रश्लिष्ट योगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट योगात्मक।

प्रश्लिष्ट में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का इतना मेल हो जाता है कि वे शब्द का में पृथक्-पृथक् पहचाने नहीं जा सकते। जैसे—शालि से शालेय [1], उपगु से औपगव [2], पृथिवी से पार्थिव [3], वायु से वायव्य [4], शुल्कशाला से शौल्कशालिक [5], वत्स से वात्स्य [6], मृदु से मार्दव [7], विनता से वैनतेय [8], नदी से नादेय [9], बृहस्पति से बार्हस्पत्य [10], मुद्ग से मौद्गीन [11], तुला से तुल्य [12], दिति से दैत्य [13], कुशाम्ब से कौशाम्बी [14], गो से गव्य [15] तथा अग्नि से आग्नेय [16]; इत्यादि।

---

१. व्रीहिशाल्योर्ढक्।—पाणिनीय अष्टाध्यायी, ५।२।२
२. उपगोरिदम्—औपगवम्। तस्येदम्।—वही, ४।३।१२०
३. पृथिव्या ईश्वरः—पार्थिवः। तस्येश्वरः।—वही, ५।१।४२
४. वाय्वृतुपित्रुषसो यत्।—वही, ४।२।३१
५. शुल्कशालाया आगतः—शौल्कशालिकः। ठगायस्थानेभ्यः।—वही, ४।३।७५
६. वत्सस्य अपत्यम्—वात्स्यः। गर्गादिभ्यो यञ्।—वही, ४।१।१०५
७. मृदोर्भावः—मार्दवम्। इगन्ताच्च लघुपूर्वात्।—वही, ५।१।१३१
८. स्त्रीभ्यो ढक्।—वही, ४।१।१२०
९. नद्यादिभ्यो ढक्।—वही, ४।२।९७
१०. बृहस्पतिर्देवता अस्य—बार्हस्पत्यम्। साऽस्य देवता। —वही, ४।२।२४
११. भवत्यस्मिन्निति भवनम्। मुद्गानां भवनम्—मौद्गीनम्। धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्।—वही, ५।२।१
१२. तुलया सम्मितम्—तुल्यम्। नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसंमितेषु।—वही, ४।४।९१
१३. दितेः अपत्यम्—दैत्यः। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः।
—पाणिनीय अष्टाध्यायी, ४।१।८५
१४. कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी—कौशाम्बी। तेन निर्वृत्तम्।—वही, ४।२।६८
१५. गोपयसोर्यत्।—वही, ४।३।१६०
१६. अग्नेः विकारः—आग्नेयः। तस्य विकारः। —वही, ४।३।१३४

स्पष्ट है कि यहाँ अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व अत्यन्त घुल-मिल गये हैं। तात्पर्य यह है कि प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थ-तत्त्व के भीतर ही सम्बन्ध-तत्त्व-गर्भित परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि होते हैं। इसलिए अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का पार्थक्य विलुप्त हो जाता है।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं

भाषाओं में प्रयुज्यमान पदों में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का योग तो होता है, पर, दोनों तिल-तण्डुलवत् पृथक्-पृथक् बने रहते हैं, अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के वर्ग में आती हैं। तिल और चावल जैसी तरह मिला दिये जाने पर भी एकात्मक नहीं होते। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व की परस्पर ऐसी ही स्थिति है। द्रविड़ परिवार की भाषाएं अश्लिष्ट योगात्मक वर्ग के अन्तर्गत हैं। अश्लिष्ट योगात्मकता को स्पष्ट करने के लिए कन्नड़ और तमिल का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते रहने का जो उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि वचन, कारक आदि को व्यक्त करने के लिए इस भाषा-वर्ग में शब्द के आगे जो विभक्ति, प्रत्यय आदि जोड़ा जाता है, वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है, तत्संयुक्त शब्द (अर्थ-तत्त्व) तो अपरिवर्तित रहता ही है। उदाहरणार्थ, कन्नड़ भाषा के सेवक शब्द के रूप उद्धृत किये जा रहे हैं :

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सेवक - नु	सेवक - रु
कर्म	सेवक - नन्नु	सेवक - रन्नु
करण	सेवक - निंद	सेवक - रिंद
सम्प्रदान	सेवक - निगे	सेवक - रिगे
सम्बन्ध	सेवक - न	सेवक - र
अधिकरण	सेवक - नल्लि	सेवक - रल्लि

कन्नड़ भाषा में कर्ता एक वचन का नु, बहुवचन का रु, कर्म एक वचन का नन्नु, बहुवचन का रन्नु, करण एक वचन का निंद, बहुवचन का रिंद, सम्प्रदान एक वचन का निगे, बहुवचन का रिगे, सम्बन्ध एक वचन का न, बहुवचन का र तथा अधिकरण एक वचन का नल्लि, बहुवचन का रल्लि चिह्न या विभक्ति है।

अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व इन शब्दों में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं, अतः स्पष्टतः प्रतीत होते हैं।

तमिल के 'कोइल्' = मन्दिर शब्द के रूपों का उदाहरण और प्रस्तुत किया जाता है। उसके रूप इस प्रकार चलेंगे :

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	कोइल्	कोइल् गल
कर्म	कोइल एई	कोइल्-गल एई
सम्बन्ध	कोइल-उडैय	कोइल् गल-उडैय

तमिल में 'गल' बहुवचन द्योतक है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए उसे एकवचन के आगे जोड़ दिया जाता है। तमिल में एई कर्म कारक का तथा उडैय सम्बन्ध कारक का चिह्न (विभक्ति) है। एकवचन में जिस कारक को उद्दिष्ट करना हो, उसके अनुसार ये विभक्तियां उसके आगे जोड़ दी जाती हैं। यदि बहुवचन बोधित करना हो, तो बहुवचन द्योतक गल, जो एकवचन-सूचक शब्द के अन्त में जुड़ा है, के अनन्तर ये कारक-चिह्न जोड़ दिये जाते हैं। ऊपर उल्लिखित 'कोइल्' शब्द के रूपों से यह प्रकट है। अश्लिष्ट योगात्मकता का स्वरूप इससे और स्पष्ट हो जाता है।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाएं

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट हुआ कि सम्बन्ध-तत्व अर्थ-तत्व में इस प्रकार लीन हो जाता है कि बाह्य दृष्टि से उसकी प्रतीति नहीं होती। श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में भी अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का योग होता है, अर्थ-तत्व में कुछ विकार और परिवर्तन भी आता है, पर, फिर भी सम्बन्ध-तत्व प्रश्लिष्ट की तरह अर्थ-तत्व में लीन नहीं होता। उसका स्पष्ट रूप तथा अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का भेद स्पष्टतया तो नहीं दीखता, पर, सम्बन्ध-तत्व की कुछ झलक या आभास अवश्य मिलता है। जैसे—कर्म से कर्मण्य[1], कण्ठ से कण्ठ्य[2], संवत्सर से सांवत्सरिक[3], पाणिनि से पाणिनीय[4], धर्म से धार्मिक[5], दधि से दाधिक[6], धनुष् से धानुष्क[7], निकट से नैकटिक[8], अक्ष से

१. कर्मणि साधुः—कर्मण्यः। तत्र साधुः। —पाणिनीय अष्टाध्यायी, ४।४।९८
२. शरीरावयवाच्च।—वही, ४।३।५५
३. कालाट्ठञ्।—वही, ४।३।११
४. पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम्। तेन प्रोक्तम्।—वही, ४।३।१०१
५. धर्मं चरति।—वही, ४।४।४१
६. दध्ना संसृष्टम्—दाधिकम्। संसृष्टे।—वही, ४।४।२२
७. धनुः प्रहरणमस्य—धानुष्कः। प्रहरणम्।—वही, ४।४।५७
८. निकटे वसति—नैकटिकः। निकटे वसति।—वही, ४।४।७३

आक्षिक[1], उडुप से औडुपिक[2], तथा धेनु से धैनुक[3]; इत्यादि। इन उदाहरणों में अर्थ-तत्व यद्यपि यथावत् नहीं रहा है, पर, उसमें सम्बन्ध-तत्व सर्वथा लुप्त नहीं हुआ, अंशतः वह उपलब्ध है।

अरबी भाषा में मारने के अर्थ में 'क़्-त्-ल्' धातु है। उससे क़त्ल=खून, क़ातिल=खून करने वाला तथा क़िल्ल = शत्रु आदि शब्द बनते हैं। संस्कृत के पूर्वोक्त उदाहरणों की तरह इनमें भी अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का योग है, पर, सम्बन्ध-तत्व की यत् किंचित् पहचान बनी हुई है। यह भी श्लिष्ट योगात्मक का उदाहरण है। विश्व की भाषाओं में विकास और समृद्धि की दृष्टि से श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं का अत्यधिक महत्व है।

आकृति के आधार पर भाषाओं के परिवार

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर शब्द-समूह, सम्बन्ध-तत्व व ध्वनि-साम्य के अनुसार संसार की भाषाओं को अनेक भागों या परिवारों में बांटा जाता है। कौन-कौन-सी भाषाएं कौन से परिवारों से सम्बद्ध हैं, भाषाओं के व्यापक रूप में तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन के पश्चात् ही यह निर्णय किया जा सकता है। यह बहुत लम्बे तथा गम्भीर अध्ययन का विषय है। बहुत कम भाषा-परिवारों का इस प्रकार का अध्ययन हो पाया है; अतः संसार में सैकड़ों की संख्या में जो भाषाएं हैं, उनका स्पष्ट पारिवारिक निर्णय और अधिक गवेषणा एवं अध्ययन-सापेक्ष है। फिर भी विद्वानों ने भाषाओं और उनके परिवारों के सम्बन्ध में बहुत काम किया है।

उन्नीसवीं शती के दो दशकों के बाद जर्मन विद्वान् विल्हेल्म फान हम्बोल्ट ने प्रस्तुत विषय पर विस्तार से विचार किया और उन्होंने संसार की भाषाओं को तेरह परिवारों में बांटा। अन्यान्य विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप परिवारों की संख्या भिन्न-भिन्न निर्धारित की। पार्टिज् ने दस परिवार माने। फ्रेडरिक मूलर आदि भाषा-वैज्ञानिकों ने इस संख्या को सौ तक पहुंचाया। कुछ विद्वानों का विचार है कि केवल अमेरिका में ही एक सौ भाषा-परिवार विद्यमान हैं। राइस ने कहा है कि सब भाषाओं का परिवार एक ही है। ग्रे के अनुसार विश्व की भाषाएं छब्बीस परिवारों में विभक्त हैं। भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों के विचार भी भाषा-परिवारों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न हैं।

---

१. अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितो वा—आक्षिकः। तेन दीव्यति खनति जयति जितम्।
—पाणिनीय अष्टाध्यायी, ४।४।२

२. उडुपेन तरति—औडुपिकः। तरति।—वही, ४।४।५

३. इसुसुक्तान्तात्कः।—वही, ७।३।५१

भाषा-परिवारों की ये संख्याएं बड़ा कुतूहल उत्पन्न करती हैं। एक से सौ तक व सीमावधियां कम आश्चर्यजनक नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व की भाषाओं का अब तक ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से सांगोपांग अध्ययन नहीं हो पाया है इसलिए उपर्युक्त निर्णायक संख्याएं अनुमानों के आधार पर परिकल्पित हैं।

डा० भोलानाथ तिवारी के अनुसार स्थूल दृष्टि से संसार के प्रमुख भाषा-परिवार १-भारोपीय, २-सेमिटिक, ३-हेमेटिक, ४-यूराल-अल्टाइक, ५-चीनी या एकाक्षरी, ६-द्रविड़, ७-मलय-पालिनीशियन, ८-बांटू, ९-बुशमैन, १०-सुडानी, ११-आस्ट्रेलियन-पापुयन, १२-रेड-इण्डियन, १३-काकेशी, १४-जापानी-कोरियाई हैं।[1]

भौगोलिक आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण

भाषाओं के वर्गीकरण का एक प्रकार और है, जिसका आधार भौगोलिक है। इसका आशय यह है कि संसार के जिन-जिन भू-खण्डों में जो-जो भाषाएं बोली जाती हैं, उन बृहत् इकाइयों के आधार पर भू-खण्डों का वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण में कुछ अधिक स्पष्टता रहती है। एक तथ्य ध्यातव्य है, एक भू-खण्ड में किसी एक ही परिवार की भाषाएं हों, ऐसा नहीं होता। उस भू-खण्ड में अनेक परिवारों की भाषाएं हो सकती हैं। उनमें परिवार-गत भिन्नता के कारण भेद रहना स्वाभाविक है, पर भौगोलिक निकटता के कारण परस्पर ध्वनियों एवं शब्दों का भी आदान-प्रदान होता रहा है। इस दृष्टि से विश्व के भाषा-खण्ड चार प्रकार के माने गये हैं—१-अफ्रीका-खण्ड, २-यूरेशिया-खण्ड, ३-प्रशान्त महासागरीय-खण्ड और ४-अमेरिका-खण्ड।

भाषा-परिवार

संसार की भाषाएं अनेक भाषा-परिवारों में विभक्त हैं। जिस प्रकार मानव का अपना परिवार होता है, उसी प्रकार एक स्रोत से उद्भूत, विकसित और प्रसृत भाषाओं का एक समुदाय होता है, जिसे भाषा-विज्ञान में भाषा-परिवार की संज्ञा दी जाती है। एक उदाहरण से यह तथ्य विशेष स्पष्ट होता है। कल्पना करें, विश्व के किसी भू-खण्ड में प्राचीन काल में कोई जाति आबाद थी। उसकी अपनी भाषा थी, जिससे उसका दैनन्दिन काम चलता था। समय बीतता गया, वहां के निवासियों की जन-संख्या बढ़ती गयी। उनमें से बहुतों को लगा होगा, हमारा जीवन-निर्वाह यहां सुख-सुविधापूर्वक नहीं हो रहा है। इसलिए कोई और स्थान खोज लेना चाहिए।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उनके मन में विजिगीषा का भाव जगा हो।

---

१. कुछ विद्वान् संख्या ७, ११ तथा १४ के अलग-से परिवार मानते हैं।

जो भी हो, उनमें से अनेक लोग अपने मूल स्थान से एक समूह के रूप में किसी दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं। बहुत दूर चले जाने पर वे कहीं अपने आवास की अनुकूलता देखते हैं और रुक जाते हैं। उस भू-भाग की भाषा, जहां वे टिके हैं, उनकी अपनी भाषा से भिन्न है। कोई व्यक्ति या समुदाय, जहां भी रहता है, उसे वहां के निवासियों से सम्बन्ध रखना आवश्यक होता है। रहन-सहन, खान-पान, लेन-देन आदि में सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वहां रहने वालों से समीपता बढ़ाये बिना काम नहीं चल सकता; अतः वह समागत समुदाय अपनी भाषा में कुछ ऐसे शब्दों, ध्वनियों आदि को स्वीकार कर लेता है, जो उस भू-भाग के निवासियों की भाषा के होते हैं। इस प्रकार एक मिली-जुली नई भाषा का जन्म हो जाता है, जो आने वाले लोगों की अपनी भाषा से कुछ-कुछ भिन्न हो जाती है, पर, उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होता। जो भेद आता है, वह अधिकांशतः बाह्य स्थूल कलेवर तक सीमित रहता है। इस नई मिली-जुली भाषा से आगत समुदाय अपना काम चलाने लगता है। उस प्रदेश के मूल निवासी भी उस (नई) भाषा द्वारा प्रयोजन की बातें लगभग समझने लगते हैं। साथ ही मूल निवासियों की भाषा पर भी उसका कुछ प्रभाव होता है।

समय बीतता जाता है। जन-संख्या बढ़ जाती है। बाहर से आकर बसे हुए लोगों को पुनः किसी और नये भू-खण्ड में जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। उनमें से काफी संख्या में लोग एक समुदाय के रूप में आगे की ओर चल पड़ते हैं। चलते-चलते फिर किसी एक स्थान को सुविधाजनक समझ कर ठहर जाते हैं, वहां आबाद हो जाते हैं। वहां भी पिछली स्थिति की पुनरावृत्ति होती है। नवागत और उस भू-खण्ड के निवासी; दोनों की भाषाओं के मिले-जुले रूप की एक और नई भाषा बन जाती है। नवागत जनों और उस स्थान के वासियों के पारस्परिक व्यवहार, काम-काज आदि के लिए उसका उपयोग होता है, जिससे दोनों को अपना काम चलाने में सुविधा हो जाती है।

नई भाषा पर कुछ विचार करें, जिसे नये प्रवासी बोलते हैं, जो प्राक्तन व्यक्तियों द्वारा भी व्यवहृत होती है। एक भाषा वह थी, जिसका प्रयोग इन नये प्रवासियों के आदि-स्थान के पूर्वजों द्वारा होता था। दूसरी भाषा वह थी, जो मूल स्थान से चले समुदाय के पहले पड़ाव या आवास पर बनी। जैसा कि संकेत किया गया है, यह भाषा नवीन अवश्य थी, पर, मूल भाषा या आदि-भाषा से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकी थी। दूसरे आवास पर जो भाषा बनी, वह मूल भाषा से तथा प्रथम आवास में निर्मित भाषा से नया रूप लिये हुए थी, पर, वह भी आदि स्थान की भाषा तथा पहले आवास की भाषा से बिलकुल पृथक् नहीं हो गयी थी। इतना अवश्य हुआ, जो स्वाभाविक था कि आदि स्थान की भाषा से वह कुछ अधिक भिन्न थी तथा पहले आवास की भाषा से कुछ कम भिन्न।

जो भी हो, उनमें से अनेक लोग अपने मूल स्थान से एक समूह के रूप में किसी दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं। बहुत दूर चले जाने पर वे कहीं अपने आवास की अनुकूलता देखते हैं और रुक जाते हैं। उस भू-भाग की भाषा, जहां वे टिके हैं, उनकी अपनी भाषा से भिन्न है। कोई व्यक्ति या समुदाय, जहां भी रहता है, उसे वहां के निवासियों से सम्बन्ध रखना आवश्यक होता है। रहन-सहन, खान-पान, लेन-देन आदि में सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वहां रहने वालों से समीपता बढाये बिना काम नहीं चल सकता; अतः वह समागत समुदाय अपनी भाषा में कुछ ऐसे शब्दों, ध्वनियों आदि को स्वीकार कर लेता है, जो उस भू-भाग के निवासियों की भाषा के होते हैं। इस प्रकार एक मिली-जुली नई भाषा का जन्म हो जाता है, जो आने वाले लोगों की अपनी भाषा से कुछ-कुछ भिन्न हो जाती है, पर, उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होता। जो भेद आता है, वह अधिकांशतः बाह्य स्थूल कलेवर तक सीमित रहता है। इस नई मिली-जुली भाषा से आगत समुदाय अपना काम चलाने लगता है। उस प्रदेश के मूल निवासी भी उस (नई) भाषा द्वारा प्रयोजन की बातें लगभग समझने लगते हैं। साथ ही मूल निवासियों की भाषा पर भी उसका कुछ प्रभाव होता है।

समय बीतता जाता है। जन-संख्या बढ़ जाती है। बाहर से आकर बसे हुए लोगों को पुनः किसी और नये भू-खण्ड में जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। उनमें से काफी संख्या में लोग एक समुदाय के रूप में आगे की ओर चल पड़ते हैं। चलते-चलते फिर किसी एक स्थान को सुविधाजनक समझ कर ठहर जाते हैं, वहां आबाद हो जाते हैं। वहां भी पिछली स्थिति की पुनरावृत्ति होती है। नवागत और उस भू-खण्ड के निवासी; दोनों की भाषाओं के मिले-जुले रूप की एक और नई भाषा बन जाती है। नवागत जनों और उस स्थान के वासियों के पारस्परिक व्यवहार, काम-काज आदि के लिए उसका उपयोग होता है, जिससे दोनों को अपना काम चलाने में सुविधा हो जाती है।

नई भाषा पर कुछ विचार करें, जिसे नये प्रवासी बोलते हैं, जो प्राक्तन व्यक्तियों द्वारा भी व्यवहृत होती है। एक भाषा वह थी, जिसका प्रयोग इन नये प्रवासियों के आदि-स्थान के पूर्वजों द्वारा होता था। दूसरी भाषा वह थी, जो मूल स्थान से चले समुदाय के पहले पड़ाव या आवास पर बनी। जैसा कि संकेत किया गया है, वह भाषा नवीन अवश्य थी, पर, मूल भाषा या आदि-भाषा से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकी थी। दूसरे आवास पर जो भाषा बनी, वह मूल भाषा से तथा प्रथम आवास में निर्मित भाषा से न्यारा रूप लिये हुए थी, पर, वह भी आदि स्थान की भाषा तथा पहले आवास की भाषा से बिलकुल पृथक् नहीं हो सकी थी। इतना अवश्य हुआ, जो स्वाभाविक था कि आदि स्थान की भाषा से वह कुछ अधिक भिन्न थी तथा पहले आवास की भाषा से कुछ कम भिन्न।

वस्तु-स्थिति यह है कि नये स्थान पर बसने वाले लोग नये शब्द और ध्वनियाँ अपनी भाषा में अवश्य ग्रहण कर लेते हैं, पर, अपने प्राक्तन भाषा-तत्व को छोड़ नहीं सकते थे; अतः मूल-भाषा के साथ नये-नये आवासों में बनने वाली भाषाओं का अन्तः-सादृश्य बना रहता है।

पुनः आदि-स्थान पर दृष्टि-निक्षेप किया जाए, जहां से पहला समुदाय चला था। सम्भव है, उसके चले जाने के कुछ समय पश्चात् उसी स्थान से एक और समुदाय पहले से विपरीत दिशा की ओर रवाना हुआ हो। यह दूसरा समुदाय भी, पहले की तरह आगे बढ़ता गया हो। उस समुदाय के लोग जहां-जहां बसते गये, नई-नई (मिली-जुली) भाषाएं अस्तित्व में आती गयीं।

गहराई में उतरने से ज्ञात होता है, एक केन्द्रसे भाषाओं की दो धाराएं विकास पाती गयीं। दोनों के विकास के स्थान भिन्न-भिन्न रहे। स्थितियां भिन्न थीं, लोग भिन्न थे और उन-उन स्थानों की भाषाएं भी भिन्न थीं, जिनके मेल-जोल से ये नई उभरती और पनपती भाषाएं अस्तित्व में आ सकीं। इसलिए यह स्वाभाविक था कि दो विपरीत दिशाओं की आवास-भूमियों में सृष्ट और विकसित भाषाओं के कलेवर की भिन्नता में तरतमता हो। पर, यह सब होते हुए भी उन दोनों दिशाओं की भाषाओं को सर्वथा विसदृश नहीं माना जा सकता। उन सबका प्रारम्भिक स्रोत एक होने से उनमें ध्वनि, शब्द-गठन, रूप-निर्माण तथा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से एक सादृश्य विद्यमान रहता है, जिसकी व्याप्ति भाषा के बहिर्देह में अपेक्षाकृत कम दृष्टिगोचर होती है, पर, उसके अन्तर्देह (Spirit) में वह निश्चय ही बनी रहती है।

किसी समय जो मूल (आदि) भाषा रही थी, दो विपरीत दिशाओं में प्रसृत भाषा-समूह का आदि उद्गम-स्रोत थी, उसके फलतः, दूर-दूर तक फैला हुआ, उसकी शाखा, उपशाखा, प्रशाखा आदि के रूप में विद्यमान भाषा-समुदाय एक भाषा परिवार कहा जाता है, जिसके प्रसृत और विस्तृत होने में शताब्दियां ही नहीं, सहस्राब्दियां तक लग जाती हैं। यह बड़े महत्व की बात है कि किसी भाषा-परिवार का ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षात्मक रूप में अध्ययन करने पर सहस्राब्दियों की लम्बी अवधि के मध्य सर्जित, विकसित और विस्तृत मानव संस्कृति के कितने ही पर्त उद्घाटित होते हैं। भाषा का प्रयोक्ता मानव है। वह ज्यों-ज्यों सभ्य और विकसित होता जाता है, उसकी विचार-चेतना नये-नये आयाम लेती जाती है, जिन्हें भाषा अभिव्यक्ति प्रदान करती है। इसलिए भाषा को अनेक परिवर्तनों तथा विकास-स्तरों में से गुजरना हुई सुरक्षित होती है, मानव के अभ्यवसाय, पौरुष एवं उत्कर्ष की ओर बढ़ते चरणों के इतिवृत्ति का सबसे अधिक प्रामाणिक साक्ष्य बना रहता है। पूर्व चर्चित भाषा-परिवारों के सूक्ष्म अध्ययन से ऐसे फलित प्रस्फुटित हो

घाते हैं, जो मानवीय सभ्यता, दर्शन, चिन्तन, समाज-विकास एवं साहित्य-सर्जन के अनेक परिमार्जित पक्षों को प्रकाश में लाने वाले हों।

पारिवारिक सादृश्य के मुख्य आधार

शब्द-समूह (शब्द और अर्थ) रचना-क्रम अथवा सम्बन्ध-तत्व (व्याकरण) तथा ध्वनि; ये तीन विषय ऐसे हैं, जिनका एक भाषा-परिवार में किसी-न-किसी रूप में व्यक्त, किंचिद् व्यक्त या अव्यक्त सादृश्य या साम्य होता है। एक परिवार की भाषाओं के उत्तरोत्तर उद्भव तथा विकास की एक बहुत लम्बी शृंखला है। प्रयोक्ताओं के अनेक स्थानों में से गुजरने, विभिन्न भू-भागों में ठहरने तथा बसने के अनन्तर अर्थात् एक लम्बी अवधि, जो शताब्दियों तक की हो सकती है, के बाद जब कोई भाषा सुप्रतिष्ठ होती है, तब तक उसमें *प्रयुज्यमान शब्दों की ध्वनियां बहुत कुछ परिवर्तित हो जाती हैं।* सहसा उन्हें देखने पर यह कल्पना करना सम्भव नहीं होता कि अमुक भाषाओं का उसके साथ परिवार-गत सम्बन्ध है। पर, अन्य आधारों के कारण ध्वनि-सम्बन्धी प्रकट असमानता के अन्तरतम में समानता के बीज ढूंढे जा सकते हैं।

एक परिवार की भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले शब्दों में भी देश-भेद, काल-भेद तथा व्यक्ति-भेद आदि के कारण बहुत भिन्नता आ जाती है। उदाहरण के लिये फ्रेंच और हिन्दी को ले सकते हैं। यद्यपि दोनों का परिवार एक है, पर, दोनों के शब्दों में बहुत अधिक भिन्नता आ गयी है। इसके विपरीत एक अन्य निष्कर्ष फलित होता है, भिन्न परिवार की भाषाओं का प्रयोग करने वाले लोग स्थानिक दृष्टि से यदि निकट रहते हैं, तो उनमें दोनों ओर की भाषाओं के शब्दों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। इससे परिवार-गत भिन्नता के होते हुए भी उन दोनों भाषाओं के शब्द-समूह में कुछ सादृश्य आ जाता है। उदाहरण के लिए मराठी और कन्नड़ को लिया जा सकता है। ये दो भिन्न परिवारों की भाषाएं हैं, परन्तु, ऐसा होते हुए भी उनके शब्दों में कहीं-कहीं समानता प्राप्त होती है।

एक परिवार की भाषाओं में सबसे अधिक समानता मूलक जो स्थायी तत्व है, वह है, व्याकरण या रचना-क्रम की समानता। किसी भी परिवार की भाषाओं में सतत विकास होता जाता है, जो स्वाभाविक है। विकास में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। यह होते हुए भी किसी भाषा की व्याकरणिक आकृति या रचना-क्रम पर इसका प्रभाव बहुत धीमा होता है।

भारोपीय परिवार

पालि व प्राकृत भाषाएं आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत माने गये चौदह भाषा-

उत्तरी राजस्थान तक इनकी अवस्थिति के सम्बन्ध में राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गेजेटियर, चूरू में उल्लेख किया गया है : "कहा जाता है कि प्राचीन काल में चूरू जिले के समीपवर्ती गंगानगर जिले के भू भाग में सरस्वती और दृषद्वती नामक नदियां बहती थीं, जिनसे राजस्थान के इस क्षेत्र में आर्यों की उपस्थिति प्रमाणित होती है।

गंगानगर जिले के रंगमहल, काली बंगा, बड़ोपल तथा नोहर आदि स्थानों में पुरातत्त्व की दृष्टि से जो खुदाई हुई है, उससे प्रकट होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता इस क्षेत्र तक फैली हुई थी।"[1]

दोनों नदियां आज प्राप्त नहीं हैं। सरस्वती के सम्बन्ध में एम० मोनियर विलियम ने संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोश में उल्लेख किया है : "एक सुप्रसिद्ध छोटी नदी, जिसे हिन्दू पवित्र मानते हैं, जो आज 'सुरसूती' से पहचानी जा सकती है और जो दृषद्वती के साथ आर्य देश और उसके एक मण्डल ब्रह्मावर्त का सीमांकन करती है।"[2]

ऋग्वेद ७,९५,२ में बताया गया है कि यह नदी समुद्र में मिलती है। पर, उत्तरवर्ती किंवदन्तियों के अनुसार यह भूमि में लुप्त हो जाती है और इलाहाबाद में गंगा और यमुना से मिल जाती है।"[3]

---

1. We are told that in the ancient times two Vedic rivers—Saraswati and Drishadwati flowed in the contiguous areas of the district i. e., in Ganganagar, which testifies to the presence of the Aryans in this part of Rajasthan.

   Recent archaeological excavations, carried out in the adjoining district of Ganganagar at Rangmahal, Kalibanga, Bedopal, Nohar etc. indicate that the Indus valley civilization extended upto this area.

   —*Rajasthan District Gazetter, Churu, P. 15.*

2. *Manusmriti ; 2/17*

3. N. of well-known small river (held very sacred by the Hindus; identified with the Modern Sursooty, and formerly marking with the Drishadavati one of the boundaries of the region Arya-Desha and of the sacred district called Brahmavarta (See Mn. II, 17); in R. V. VII 95, 2; this river is represented as flowing into the sea, although later legends make it disappear underground and join the Ganges and Jumna at Allahabad,

   —*Sanskrit-English Dictionary* by Sir Monier-Williams M.W.A; K. C. I. E.

वामन शिवराम आप्टे ने अपने कोश[1] में सरस्वती का मरुस्थल की रेत में लुप्त होना लिखा है।

दृषद्वती के सम्बन्ध में एम० मोनियर विलियम्स[2] का उल्लेख है कि वह सरस्वती मे मिलती है।

आप्टे इस नदी के विषय में कहते हैं : "एक नदी का नाम जो आर्यावर्त की पूर्व सीमा बनाती है तथा सरस्वती नदी में मिलती है।"[3]

एम० मोनियर विलियम्स ने सरस्वती की जो 'सुरसुती' के नाम से पहचान कराई है, वह चिन्त्य प्रतीत होती है। राजस्थान मे घग्घर नाम से प्रसिद्ध वर्षा ऋतु में प्रायः बहने वाली नदी सरस्वती सम्भावित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरस्वती के तट पर अति प्राचीन काल में कभी आर्यों का आवास था। पर, इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आर्यों का यही मूल स्थान था।

राजस्थान के गंगानगर जिले के कालीबंगा, रंगमहल आदि स्थानों की खुदाई और वहां से प्राप्त वस्तुओं से पुरातत्त्व के विद्वानों और अनुसन्धित्सुओं को यह प्रेरणा अवश्य लेनी चाहिए कि वे सिन्धु घाटी की सभ्यता के बारे में गहन अध्ययन और अनुशीलन करें, जो यहां विशेष रूप से परिव्याप्त थी। सम्भव है, ऐसा होने पर अनेक नये तथ्य प्रकाश मे आयें, प्राक् आर्यकालीन संस्कृति के सम्बन्ध में भी कुछ इंगित प्राप्त हों।

कुछ भारतीय विद्वान्, जिनमें डा० सम्पूर्णानन्द का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है; वेदों, पुराणों तथा तत्सम्बद्ध साहित्य के आधार पर उपर्युक्त मत से मिलता-जुलता मत प्रकट करते हैं। किसी निश्चित स्थान का इदमभूत संकेत तो वे नहीं करते, पर, उनका प्रबल तर्क यह है कि जब प्राचीन भारतीय आर्य-साहित्य मे आर्यों के बाहर से आने का कहीं भी उल्लेख नहीं है, तब क्यों नहीं उन्हें भारतवर्ष के ही मूल निवासी माना जाए।

समीक्षा

प्रस्तुत मत के उद्भावक और पोषक व्यक्तियों मे उच्च कोटि के विद्वान् है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने भारतीय वाङ्मय का गम्भीर अनुशीलन किया है, पर, आर्यों के मूल स्थान

---

१. आप्टे : संस्कृत-हिन्दी-कोश, पृ० १०८७

2. Name of a river which flows into the Saraswati.

— *Sanskrit-English Dictionary, P. 492*

३. आप्टे : संस्कृत-हिन्दी-कोश, पृ० ४७१

के सम्बन्ध में उनका जो मन्तव्य है, [illegible] के [illegible] विद्वानों [illegible] के विचारानुसार भाषा-विज्ञान [illegible] भारत से [illegible] के [illegible] संगत नहीं जान पड़ता। हो सकता है, [illegible] का भी स्थान रहा हो। भारत का [illegible] संस्कृति, धर्म, साहित्य, कला, निर्माण आदि अनेक दृष्टियों से उत्थान और विकास के सर्वोच्च [illegible] पहुंचा था। पर, उसका अविभाजित चित्र, जो [illegible] में भी [illegible], कतिपय पाश्चात्य [illegible] भारतीयों के मस्तिष्क पर [illegible] है, [illegible] इस मान्यता पर नहीं आ पाया, यह विस्मय और समीक्षा-योग्य है।

कुछ सूक्ष्मता से उन तथ्यों का भी परीक्षण करें, जिनसे उपर्युक्त मान्यता की प्रामाणिकता व्याहत होती है। यदि भारोपीय परिवार की भाषाओं के विस्तार पर दृष्टिपात करें, तो यह स्पष्टतया परिज्ञात होगा कि उनका विस्तार भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर में ही नहीं, अपितु उनमें से अधिकांश का तो यूरोप में फैली हुई हैं या एशिया, यूरोप के मिलने के स्थान के आस-पास। ऐसी स्थिति में क्या यह कल्पना करें कि भारतवर्ष से आर्य (विरोस) पश्चिम की ओर बढ़ते गये, अनेक भाषाएं बनती गयीं। यह कल्पना युक्ति-युक्त और न्याय-संगत प्रतीत नहीं होती। भारत से इतनी दूर तक जाने का आर्यों का कोई उद्देश्य होना चाहिए। भारतवर्ष की भूमि बहुत उर्वर रही है। उस समय जन-संख्या भी कम थी। जीवन-निर्वाह की कोई समस्या नहीं थी। फिर यूरोप के दूर देशों तक चल कर लोग गये, वहां आबाद हुए, समझ में आने योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त प्राचीन वाङ्मय में भारतीयों के इस प्रकार के अभियान या बहिर्गमन का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में क्या यह अधिक सम्भव नहीं लगता कि कोई एक समुदाय पश्चिम से पूर्व की ओर चला हो और चलते चलते कुछ ठहरावों के बाद, जिनमें उसके अनेक साथी उन ठहरावों के स्थानों पर आबाद भी हो गये हों, भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम भाग में पहुंचा हो, वहां बस गया हो। उनमें से कतिपय कुछ समय पश्चात् आसपास की दूसरी दिशाओं में भी चले गये हों।

भारतवर्ष में भारोपीय, द्रविड़, आग्नेय आदि परिवारों की भाषाएं प्रचलित हैं। उत्तर भारत में पंजाब से लेकर असम तक तथा भारत के मध्यवर्ती भाग में पंजाबी, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मैथिली, भोजपुरी, बंगला, उड़िया, आसामी, मराठी आदि भारोपीय परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। बंगाल, बिहार व मध्यप्रदेश के कुछ भू-भागों, खासी-जयन्ती की पहाड़ियों तथा तमिलनाडु के गंजाम जिले में मुंडा (कनावरी, खेरवारी, कुर्कू, खड़िया, जुआंग, शावर, गदवा आदि) भाषाओं का प्रचलन है, जो आग्नेय परिवार की भाषाएं हैं। दक्षिण में आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक आदि के अतिरिक्त लक्षद्वीप

और लंका आदि में भी द्रविड़-परिवार की (तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कुडगू, टोडा आदि) भाषाओं का प्रचलन है। इसका आशय यह है कि किसी प्रदेश में द्रविड़-परिवार की कोई एक भाषा बोली जाती है, दूसरे में कोई अन्य। जैसे, आन्ध्र में तेलुगू, तमिलनाडु में तमिल, लंका में जो तमिल भाषी लोग बसे हुए हैं उनमें तमिल, केरल में मलयालम तथा कर्नाटक में कन्नड़ बोली जाती है।

आर्य जाति का मूल स्थान यदि भारतवर्ष होता, तो यह स्वाभाविक था कि उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा-परिवार की भाषाएं ही समग्र भारत में व्यवहृत होतीं। ऐसा नहीं हुआ, इसका एक सम्भावित कारण यह हो सकता है कि द्रविड़-परिवार की भाषाएं बोलने वाले पहले से ही यहां बसे हुए हों, जिनकी अपनी भाषाएं भी कुछ विकसित रही हों। तदनन्तर आर्यों का आगमन हुआ हो। तब उनके द्वारा प्रयुज्यमान भाषा-परिवार की विविध भाषाएं भारत के समग्र उत्तरी भाग में क्रमशः विस्तार पाती गयी हों।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से कुछ नये तथ्य उद्घाटित होते हैं। इनका समय ऋग्वेद से पहले का है। वहां प्राप्त सामग्री के आधार पर विद्वानों ने उस सम्बन्ध में विशेष गवेषणा की है। उन्होंने अनुमान लगाया है कि मोहन जो-दड़ो आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व की किसी समृद्ध सभ्यता का भग्नावशेष है। उस सभ्यता के लोगों की अपनी भाषा, संस्कृति तथा एक व्यवस्थित जीवन-प्रणाली थी। इस सन्दर्भ में उद्घाटित तथ्यों या निष्कर्षों के अनुसार ऐसा सम्भाव्य हो सकता है कि मोहन-जो-दड़ो से सम्बद्ध सभ्यता, संस्कृति द्रविड़ों की रही हो, उनकी अपनी भाषा भी रही हो, जिसका विकास आज तमिल, तेलुगू तथा कन्नड़ आदि के रूप में पाते हैं।

प्राचीन भू-विज्ञान, जल-वायु-विज्ञान, भाषा-विज्ञान तथा नृवंश-विज्ञान आदि पर हुए गवेषणात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर आर्यों का मूल स्थान वर्तमान काल में भारतवर्ष की जो सीमाएं हैं, उनसे कहीं बाहर होना चाहिए। सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक आदि ने भी आर्यों का मूल स्थान भारतवर्ष से बाहर ही माना है।

मूल स्थान भारत से बाहर

यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है; अतः इस पर बहुत गहराई से चिन्तन हुआ है, अब भी होता है। यहां इस सम्बन्ध में विश्व के विभिन्न विद्वानों के नाना अभिमत विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन पर कुछ विचार करना उपयोगी होगा। संस्कृत भाषा व वेदों के महान् विद्वान् प्रो० मैक्स मूलर द्वारा पामीर का प्लेटो तथा उसके आसपास मध्य एशिया, स्कैंडेनेवियन भाषाओं के विद्वान् डा० लैथम (Ladham) द्वारा स्कैंडेनेविया, इटली के

मानवशास्त्रवेत्ता सेर्जी (Sergi) द्वारा एशिया माइनर के पठार, लोकमान्य तिलक द्वारा उत्तरी ध्रुव के पास, सर देसाई द्वारा रूस में बाल्कन झील के पास, डा० गाइल्ज (Giles) द्वारा हंगरी के कारपेथियन पहाड़ के आसपास, हर्ट द्वारा पोलैंड में विश्चुला नदी के तट पर, नेहरिंग द्वारा दक्षिणी रूस मध्य आदि विद्वानों द्वारा पश्चिमी बाल्टिक के किनारे, स्लाव भाषाओं के विद्वान् प्रो० श्रेडर (Schrader) द्वारा दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने तथा केस्पियन सागर के उत्तरी तट के पास, डा० ब्रान्डेन्स्टाइन (Brandenstein) द्वारा यूराल पर्वतमाला के दक्षिण (दक्षिण-पश्चिम रूस) में आर्यों का मूल स्थान होने की परिकल्पनाएं की गई है।

कुछ विद्वानों ने जर्मनी, लिथुवानिया, मेसोपोटामिया, रूसी तुर्किस्तान, परसिया, बाल्टिक सागर के दक्षिणी-पूर्वी तट आदि को आर्यों का मूल स्थान बतलाने का प्रयत्न किया है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार एक मान्यता यह भी है कि तिब्बत मानव-सृष्टि का आदि स्थान है। मानव-जाति का इसी स्थान पर उद्भव हुआ। यहीं से वह सारे विश्व में फैली। इस मान्यता के अनुसार तिब्बत त्रिविष्टप का परिवर्तित रूप है। त्रिविष्टप[1] का अर्थ तीनों लोकों का समूह है। सारी मानव-जाति का उत्पत्ति-स्थान जब तिब्बत है, तब आर्य-जाति सहज ही वहां की सिद्ध हो जाती है। आर्यों के मूल-स्थान के विषय में इतने मत-मतान्तरों के मध्य सही स्थान का अति प्रामाणिक निर्णय दे पाना सरल नहीं है।

समीक्षा : स्थापना

उपर्युक्त मतों पर जब तटस्थ भाव से विचार करते हैं, तो सबसे पहले एक तथ्य की ओर ध्यान जाता है, जिस पर पहले भी यथाप्रसंग कुछ इंगित किया गया है। निश्चय ही बुद्धि और भावुकता परस्पर विपरीत तत्त्व हैं। भावुकता से मोह उत्पन्न होता है। मोह का परिणाम किसी विशिष्ट वस्तु की ओर झुकाव है। यह सर्वथा सम्भव है, फलस्वरूप विवेक वहां कुछ क्षीण हो जाता है। आर्यों के मूल-स्थान के निर्धारण में भी कुछ विद्वानों की मनोवृत्ति पर इसका प्रभाव प्रतीत होता है।

भारतीय विद्वानों ने भारत को जो आर्यों का आदि स्थान बतलाया, उसका आधार भारतीय वाङ्मय था। प्रो० श्रेडर ने स्लाव-भाषाओं के क्षेत्र को आर्यों का मूल स्थान घोषित किया। प्रो० श्रेडर स्लाव-भाषाओं के विद्वान् थे। उनका अनुसन्धान और अनुशीलन मुख्यतः स्लाव-भाषाओं के आधार पर हुआ। उन्होंने अपने मत की स्थापना तथा दृढ़ीकरण में इन्हीं भाषाओं के उद्धरण उपस्थित किये। डा० क्षेत्रम स्कैंडेनेवियन भाषाओं के पण्डित थे। उन्होंने एतद्विषयक अपने अध्ययन-अन्वेषण के परिणाम स्वरूप आर्यों का मूल स्थान

---

१. त्रयाणां विष्टपानां समाहार :—त्रिविष्टपम्

स्कैंडेनेविया सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन विद्वानों की तीनों श्रेणियों का आर्यों के मूल स्थान की स्थापना में अपनी-अपनी भाषाओं के क्षेत्र अर्थात् अपने अपने देशों की ओर चिन्तन केन्द्रित हुआ। इसमें कुछ-न-कुछ ममत्व की झलक आती ही है।

भारोपीय-परिवार की भाषाओं का पूर्व और पश्चिम में विस्तार, विभिन्न स्थितियां, ध्वनियों का तारतम्य, भौगोलिकता तथा भाषाओं के उत्तरवर्ती विकास की विविध परिणतियां आदि अनेक पक्ष इस सन्दर्भ में चर्चित हुए। निष्कर्षतः कतिपय वरिष्ठ भाषा-वैज्ञानिकों का मत ब्रान्देन्स्ताइन के पक्ष में रहा। भारतवर्ष के महान् भाषा-विज्ञान-वेत्ता डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी ब्रान्देन्स्ताइन के मत का समर्थन किया। तदनुसार यूराल पर्वतमाला के दक्षिण का प्रदेश आर्यों का आदि स्थान परिकल्पित किया गया। सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डा० बटकृष्ण घोष आदि कुछ विद्वान् ब्रान्देन्स्ताइन के मत के बहुत से पहलू स्वीकार नहीं करते, परन्तु, अधिकांश विद्वानों का झुकाव इसी ओर है।

मूल स्थान से अभियान

यूराल पर्वत के दक्षिणी भू-भाग को आर्यों या विरोस् लोगों का मूल स्थान मान कर अब हम चिन्तन करें। ब्रान्देन्स्ताइन का विचार है कि शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये (आर्य या विरोस्) किसी एक ही स्थान में अविभक्त रूप में निवास करते थे। समय बीतने पर उनमें से कुछ लोग दक्षिण-पूर्व की ओर चल पड़े, जिन्हें हम भारत-ईरानी लोगों के पूर्व-पुरुष कह सकते हैं। मूल स्थान से वे सीधे ईरान पहुंचे *या बीच में कहीं रुके, निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।* इस सन्दर्भ में भारत के प्रमुख भाषा-वैज्ञानिक डा० बाबूराम सक्सेना के विचार मननीय हैं : "इतिहास में आर्य जाति का आविर्भाव अन्यों (मिस्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, चीनी आदि) की अपेक्षा अर्वाचीन है। अनुमान है कि आदिम आर्यों का प्रथम सम्पर्क उत्तरी मेसोपोटेमिया की तत्कालीन सभ्य जातियों से, ईसा से पूर्व तेईसवीं या बाईसवीं सदी में हुआ, ई० पू० २००० वर्ष के आसपास उनकी स्थिति मेसोपोटेमिया में पाई जाती है, प्रायः ई० पू० १४०० के बोगाजकोई लेख में आर्यों का प्रथम सर्वथा स्पष्ट उल्लेख है।"[1] इससे यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि आर्यों का पहला मुकाम मेसोपोटेमिया में हुआ हो।

दो भागों में विभाजन

अभियान का पहला परिणाम यह हुआ कि अपने मूलस्थान से विरोस् या आर्य सहज ही दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक वे, जो दक्षिण-पूर्व की ओर आगे बढ़े तथा दूसरे

---

१. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० ३२२

वे, जो उनके चले जाने पर पीछे रह गये। [illegible] वे, [illegible] अलग-अलग उस स्थान को छोड़ कर किन्हीं नये स्थानों की खोज में निकले, दक्षिण-पश्चिम आदि अन्यान्य दिशाओं की ओर चल पड़े हों। [illegible] बढ़ते गये हों। भिन्न-भिन्न दिशाओं में आगे बढ़ते रहने तथा भिन्न-भिन्न भू-भागों में आबाद हो जाने के कारण नई-नई भाषाएं विकसित होती गयी हों।

ईरान में आवास : भाषा में परिवर्तन

दक्षिण-पूर्व होती हुई पूर्व की ओर बढ़ने वाली शाखा के लोग जब ईरान में बस जाते हैं, तब वहां पर उनकी मूल भाषा का रूप परिवर्तित होने लगता है। ईरान आर्यानाम् का परिवर्तित रूप है; यह ठीक ही प्रतीत होता है। सम्भवतः आर्यों के उस भू-भाग में बसने के पश्चात् उस (देश) का यह नाम प्रचलित हुआ हो।

भाषा-परिवार के विवेचन के प्रसंग में जैसा कहा गया है, जो लोग बाहर से आते हैं, उन्हें, जहां आकर वे टिकते हैं, वहां के मूल लोगों की भाषा से काफी लेना होता है। इस प्रकार एक मिली-जुली भाषा बन जाती है। ईरान में ऐसा ही हुआ।

भारोपीय परिवार की भारत-ईरानी शाखा

ईरान आने के पश्चात् आर्यों की भाषा की जो धारा प्रवाहित होती है, उसे भारोपीय-परिवार की आर्य-शाखा या भारत-ईरानी शाखा कहा जाता है। भारोपीय - परिवार में इस शाखा का बड़ा महत्व है। आगे चलकर ऋग्वेद[1] जैसे साहित्य का इसी में प्रणयन होता है, जो विश्व के उपलब्ध वाङ्मय में सबसे प्राचीन माना जाता है। प्राचीनता के साथ-साथ ऋग्वेद की भाषा - सम्बन्धी विशेषता को संसार के प्रायः सभी प्रमुख विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसके साथ - साथ भारत-ईरानी परिवार की भाषाओं का रूप-गठन तथा वाङ्मय भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पश्चिम में भाषा-विज्ञान के व्यापक तथा बहुमुखी अध्ययन एवं अन्वेषण का जो क्रम गतिशील हुआ, उसका आधार भी मुख्यतः ये ही आर्य-परिवार की भाषाएं हैं। इन भाषाओं के सूक्ष्म अनुशीलन और विश्लेषण के प्रसंग में पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान विश्व की विभिन्न भाषाओं के ध्वन्यात्मक, शब्दात्मक तथा रचनात्मक सादृश्य की ओर आकृष्ट हुआ। कलकत्ता स्थित भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जॉन्स के परिचय-प्रसंग में इस दिशा में जो प्रकाश डाला गया है, उससे यह तथ्य प्रमाणित होता है।

आर्यों के ईरान में आ जाने तथा बस जाने के अनन्तर जो नई भाषा अस्तित्व में

---

१. अग्रिम प्रकरण में यथाप्रसंग यह चर्चा की जायेगी।

थाई, उससे जहाँ आने वालों को अपने विचार व्यक्त करने में सुविधा हुई, वहाँ मूल निवासियों को भी आगत जनों के साथ अपना व्यवहार बढ़ाने में वह भाषा सहायक सिद्ध हुई।

कोई भाषा जब परिनिष्ठित रूप ले लेती है, तो उसमें साहित्य का सर्जन होने लगता है। ऐसा अनुमान है कि ईरानी में भी काफी साहित्य लिखा गया था। पर, आज वह संसार को उपलब्ध नहीं है। ई० पू० ३२३ में यवन-सम्राट् सिकन्दर ने ईरान पर आक्रमण किया। विध्वंस और लूटपाट के साथ-साथ उसने ईरान के ग्रन्थालय भी जला डाले। ई० ६५१ में ईरान पर अरब का आक्रमण हुआ। आक्रामकों ने जहाँ उस देश को नष्ट-भ्रष्ट किया, वहाँ के ग्रन्थालयों को भी अछूता नहीं छोड़ा। उन्हें अग्निदेव को भेंट कर दिया।

दो बार में इस प्रकार वह साहित्यिक निधि, जो मनीषियों की प्रज्ञा और श्रम से सर्जित थी, मानव के उन्माद का शिकार होकर शून्य में विलीन हो गयी। सहज प्रश्न होता है कि ये आक्रान्ता आक्रान्त देश के ग्रन्थागारों को क्यों जला डालते हैं? इससे न केवल आक्रान्त देश की ही हानि होती है, अपितु विश्व की बहुत बड़ी साहित्यिक व सांस्कृतिक उपलब्धियां सहसा विध्वस्त हो जाती हैं। पर, क्या किया जाए, जब मानव का मन उन्माद-ग्रस्त हो जाता है, तब वह जो न करे, थोड़ा है। जो कुछ बच पाया, वह था पारसियों का धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता और ई० पू० ६०० के हखमानी बादशाहों के शिलालेख।

अवेस्ता का समय ई० पू० ७ वीं शती माना जाता है। यही ईरान का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। अवेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। अवेस्ता में ऋग्वेद की तरह प्रार्थनाएं हैं। जिस भाषा में अवेस्ता की रचना हुई है, उसे अवेस्ती कहा जाता है। वह (अवेस्ती) कुछ समय तक बैक्ट्रिया की राजभाषा भी रही थी; अतः उसे प्राचीन बैक्ट्रियन भी कहा जाता है।

अवेस्ती, प्राचीन फारसी

ईरानी की दो शाखाएं मानी जाती हैं—अवेस्ती और प्राचीन फारसी। दोनों के प्रसृत होने में समय का बहुत अधिक अन्तर नहीं है। सम्भवतः प्राचीन फारसी अवेस्ती के कुछ बाद की हो। ईरान का पश्चिमी भाग फारस कहा जाता था। पुरानी फारसी का वहीं प्रचलन था। फारस में प्रचलित होने के कारण इसका नाम फारसी पड़ा हो, ऐसी सम्भावना है। पुरानी फारसी में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। कुछ कीलाक्षरीय अभिलेख प्राप्त हैं, जो एकमेनियन शासकों द्वारा ई० पू० पांचवीं-छठी शती में उत्कीर्ण करवाये गये थे।

पहलवी का उद्गम

अवेस्ता जब जन-भाषा के रूप में प्रयुज्यमान न रही, तब उसका स्थान मध्यकालीन फारसी या पहलवी ने ले लिया। प्राचीन फारसी से मध्यकालीन फारसी या पहलवी का उद्गम हुआ। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पहलवी प्राचीन फारसी का विकसित रूप है।

अवेस्ता भाषा के अप्रचलित हो जाने से अवेस्ता कुछ दुर्बोध प्रतीत होने लगा; अतः उस पर पहलवी भाषा में एक टीका लिखी गयी। उसे ज़ेन्देन्द कहते हैं। ज़ेन्द का अर्थ ही टीका है। ज़ेन्द व अवेस्ता दोनों को मिला कर ज़ेन्दावेस्ता कहा जाता है। पहलवी में टीका कब लिखी गई, इसका ठीक समय तो नहीं बताया जा सकता, पर, इतना कहा जा सकता है कि ई० पू० तीसरी शती तक पहलवी का प्रचलन हो चुका था। ई० पू० तीसरी शती के कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर पहलवी में उल्लेख है। यह पहलवी का प्राचीनतम रूप कहा जा सकता है।

प्राचीन फारसी और मध्यकालीन फारसी या पहलवी के बीच का अर्थात् प्राचीन फारसी के पहलवी के रूप में परिणत होने के पूर्व का, दोनों के मध्यवर्ती रूप का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं होता। पहलवी में तीसरी शती से साहित्य-रचना का क्रम दृष्टिगोचर होता है। उससे पूर्व का साहित्य नहीं मिलता।

पहलवी के दो रूप : हुज़्वारेश, पाजंद

पहलवी के दो रूप प्राप्त हैं। एक वह है, जिसमें अरबी (सेमेटिक परिवार) के शब्दों का आधिक्य है, जिसका हेतु इस्लाम का प्रभाव है। इसकी लिपी भी अरबी है। इसे हुज़्वारेश कहा जाता है। दूसरा वह है, जो सेमेटिक परिवार के प्रभाव से मुक्त है। इसे पाजंद या पारसी कहा जाता है। भारत में जो पारसी बसते हैं, उनकी यही मातृ-भाषा है। पारसी अधिकांशतः बम्बई में हैं। गुजराती-भाषियों से उनका अधिक सम्पर्क रहा है; अतः गुजराती पर पाजंद का कुछ प्रभाव लक्षित होता है।

आधुनिक फारसी : परिष्कार या विकार

फारसी का तीसरा रूप आधुनिक फारसी है, जो ईरान में बोली जाती है। महाकवि फिरदौसी (ई० स० ९४०-१०२०) का शाहनामा नामक महाकाव्य इसी भाषा में है। इसमें तो अरबी शब्द कम ही प्रयुक्त हुए हैं, पर, इसके पश्चात् आधुनिक फारसी में अरबी शब्दों के बढ़ने का क्रम बढ़ता रहा। अभी पिछले कुछ समय से ईरान के साहित्यिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता

कवयित्री लल्ला की रचना का लन्दन से प्रकाशन किया। कश्मीरी का साहित्य आगे और विकसित होता गया। फलतः इस समय इस भाषा का साहित्य बहुत समृद्ध और बहुमुखी है। कश्मीरी भाषा की कई उपभाषाएं बोलियां हैं। कुछ बोलियों का क्षेत्र पंजाब का निकटवर्ती भू-भाग है; अतः उनमें पंजाबी का मिश्रण जैसा हो गया है। परिणामस्वरूप उनका वास्तविक रूप नहीं रह पाया है, कुछ मिश्रित-सा रूप बन गया है।

काश्मीर में उर्दू

कश्मीर में इस समय बोलचाल में उर्दू का अधिक प्रयोग होता है। कश्मीरी भाषा उसकी तुलना में उपेक्षित जैसी लगती है। बादशाह अकबर ने जब कश्मीर को मुगल-साम्राज्य में मिला लिया, सम्भवतः तब से वहां उर्दू का सूत्रपात हुआ होगा। तब तक कश्मीरी भाषा का ही अधिक प्रचलन था। आगे चलकर उर्दू अधिक प्रसार पाती गयी, कश्मीरी सिमटती गयी। जनता में अब अपनी परम्परा-प्रसूत भाषा के प्रति पुनः आत्मीयता उभर रही है। कश्मीरी ईरानी की दरद शाखा की भाषा होते हुए भी संस्कृत से प्रभावित क्यों है; इसका यही स्पष्ट कारण परिलक्षित होता है।

मानव की सदा से यह कामना रही है कि वह सुख, सुविधा और समृद्धि के साथ जीए। बड़े-बड़े अभियानों, दुःसाहसिक कार्यों और पराक्रमों के पीछे उसकी यही मनोवृत्ति कार्य करती रही है। विरोस्-वीर या आर्य जाति के लोग कभी यूराल पहाड़ के दक्षिण में अर्थात् रूस के दक्षिणी पश्चिमी भाग में बसते थे। उसमें बहुत बड़े-बड़े मैदान हैं। तब तक वहां कृषि का विकास नहीं हो पाया था। ब्रान्देन्स्टाइन का मत है कि विरोस् सूखी चट्टानों वाली पहाड़ियों पर रहते थे। वहाँ हरे-भरे वन नहीं थे। केवल कुछ गुल्म और बांझ आदि वृक्ष थे। जन-संख्या की वृद्धि, जीवन-निर्वाह के सीमित साधन, आर्यों के लिए उनके बहिर्-अभियान के प्रेरक सूत्र बने होंगे। वे चल पड़े होंगे, साहस और उमंग के साथ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रियर्सन ने विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका दी है, जिसमें उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस विशाल कार्य के अतिरिक्त भाषाओं के सम्बन्ध में वे और भी महत्वपूर्ण कार्य करते रहे। १९०६ में पिशाच भाषा पर एक ग्रन्थ तथा १९११ में काश्मीरी पर दो भागों में उनका एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। ये ग्रन्थ बड़े प्रामाणिक माने जाते हैं। उन्होंने काश्मीरी भाषा का एक कोश भी तैयार किया, जो सन् १९२४ में चार भागों में प्रकाशित हुआ। भारत से सहस्रों मील दूर का एक व्यक्ति, वह भी प्रशासनिक अधिकारी भाषाओं पर इतना विशाल कार्य करे, निःसन्देह अत्यन्त आश्चर्यजनक होने के साथ-साथ विद्वानों के लिए प्रेरक भी है।

यूराल के दक्षिणी मैदानों में कहीं उन्हें अश्व मिला होगा। उसे उन्होंने प्रशिक्षित किया होगा। वे उसे वाहन और भार-वहन के उपयोग में लेने लगे होंगे। ऋग्वेद में अश्व की बड़ी प्रशंसा की गयी है। उसकी ऋचाओं में अश्व का जो महत्व है, वह गाय का नहीं है। आर्यों को गाय का परिचय और उसकी उपयोगिता का ज्ञान सम्भवतः बाद में हुआ होगा। विद्वानों का अभिमत है कि उस समय मेसोपोटेमिया में बैल, ऊँट और गधे का उपयोग होता था। स्फूर्ति और गति में अश्व के समक्ष वे पशु नहीं टिक सके। यही कारण है कि अश्व के साथ उनका (आर्यों का) अभियान उत्तरोत्तर सफल और विजयशील होता गया।। उनके अभियान की सफलता का एक और हेतु उनका संगठन भी था।

आर्यों के सामाजिक सगठन, व्यवस्था तथा जीवन-क्रम के सम्बन्ध में डा० बाबूराम सक्सेना ने लिखा है: "वीरों के विषय मे विद्वानों का अनुमान है कि पशु-पालन और शिकार इनकी जीविका के मुख्य साधन थे। खेतीबारी इन्होंने दक्खिन के प्रदेशों में आकर इन प्रदेशों के तत्कालीन मनुष्यों से सीखी। तभी इन्हें गाय और बैल का महत्व मालूम हुआ। इनके मूल स्थान मे फलों के वृक्ष भी न थे। फलों का अधिकाधिक प्रयोग भी इन्होंने इन्ही जातियों से सीखा। वीरों मे समाज का सगठन पितृ-प्रधान था। बहु-विवाह की प्रथा न थी। कई कुल मिला कर एक गोत्र बनता था। इनका दिमाग ऊँचे दर्जे का था। सगठन अच्छा था। स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार में यथेष्ट संयम था। स्त्री जाति का समुचित आदर था। कन्या का विवाह पिता, बड़े भाई आदि की इच्छा और आज्ञा से होता था। धर्म के क्षेत्र में इनको अलक्षित देवी सत्ता पर विश्वास था और इसकी विविध देव-शक्तियों के रूप में कल्पना की गयी थी। पृथ्वी लोक के परे द्यौलोक देवी शक्तियों का निवास-स्थान था। द्यो, पिता, सविता, पृथ्वी, उषा आदि देवताओं की संख्या परिमित ही थी, मिस्री और सुमेरी जातियों की तरह इनके देवी-देवता बहुतेरे न थे। स्पष्ट ही है कि तरह इस सुसगठित और सयमी, शरीर, मन और आत्मा के हृष्टपुष्ट वीर जहां भी गये, वहां अपनी शक्ति की स्थापना कर सके और अपनी वाणी का प्रभुत्व अन्य प्राणियों पर स्थापित कर सके।[1]

शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक विशेषता लिये आर्य ईरान होते हुए भारत पहुंचे। ईरान में आगमन और आवास के सम्बन्ध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है। वे भारत मे सबसे पहले पंचनद तथा सरस्वती व दृषद्वती द्वारा परिवृत भू-खण्ड में टिके।

क्या आर्य एक साथ आये ?

एक प्रश्न इस प्रसंग में और विचारणीय है। आर्यों के भारत आने के विषय मे विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ मानते हैं, एक ही बार मे आर्य भारत में आ गये और वे ही आगे फैलते

१. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० ३२७

गये। कुछ की मान्यता है कि दो बार में या कई बार में अनेक टोलियों के रूप में वे भारत में आये और बसने गये। पहले पहल आने वाले आर्य पश्चिम भारत में बस चुके थे तथा मध्यप्रदेश व पूर्वी भाग में कुछ फैलते जा रहे थे ; अतः बाद में आने वाली टोलियों को और पूर्व में मगध, विदेह, अंग, गौड आदि प्रदेशों में बसना पड़ा हो।

एक प्रश्न और है, जो आर्य भारत में आये, क्या वे सभी एक ही जाति के थे ? अथवा कई जातियों के थे ?

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने आर्यों के भारत आने के प्रसंग में लिखा है : "भारत में जो आर्य भाषा-भाषी आये थे, वे शारीरिक गठन की दृष्टि से एक ही जाति के थे, ऐसा नहीं प्रतीत होता। अनुमान किया जाता है, इनमें दो भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक गठन वाले जन-समूह थे। एक Nordic 'नार्डिक' अर्थात् उत्तर प्रदेश के मानव थे। ये दीर्घकाय, सफेद या गौर वर्ण, हिरण्यकेश, नील चक्षु, सरल नासिक और लम्बे सिर वाले थे। बहुतों के मतानुसार ये ही विशुद्ध इन्दो-यूरोपीय या मौलिक आर्य हैं। और दूसरी जाति के लोग Alpine 'आल्प पर्वतीय' या मध्य यूरोपीय जाति के बताये जाते हैं। ये अपेक्षाकृत लघुकाय, पिंगलकेश या कृष्णकेश और चिपटे सिर वाले थे। भारत में आई हुई इस आल्पीय श्रेणी की जाति मूलतः आर्यभाषी थी या नहीं, इस विषय में सभी एक मत नहीं हैं। लेकिन, भारत में कहीं-कहीं, जैसे गुजरात और बंगाल में, आर्य भाषी लोग इस चिपटे सिर वाली आल्पीय श्रेणी के अन्तर्गत है। पंजाब, राजपूताना और उत्तर-हिन्दुस्तान में Nordic या उत्तरी श्रेणी के वृहत्काय, लम्बे सिर वाले आर्यों का निवास अधिक हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। आर्यभाषी उपजाति-समूह ने भिन्न-भिन्न काल में तथा भिन्न-भिन्न दलों में भारत में प्रवेश किया। इनकी भिन्न-भिन्न उपजातियों या गोत्रों में प्रचलित मौखिक या बोलचाल की भाषा में थोड़ा बहुत पार्थक्य हो गया था। लेकिन, इन सब बोल-चाल की भाषाओं के ऊपर कविता या साहित्य की एक भाषा इनमें बन गयी थी, जिसका निदर्शन हमें ऋग्वेद में मिलता है। उत्तर पंजाब में आर्यों का पहला निवास हुआ। इसके बाद आर्य जाति और भाषा का प्रसार पूर्व की ओर हुआ। सिन्धु और पंचनद से सरस्वती और दृषद्वती के दोआब से होकर वे गंगा-यमुना के देश की ओर बढ़े। द्राविड़ और आस्ट्रिक (आग्नेय) भाषाएं आर्य भाषा के विस्तार के साथ ही साथ परित्यक्त होने लगीं।"[1]

कतिपय अन्य विद्वानों का भी आर्यों के भारत आगमन के सम्बन्ध में लगभग इसी प्रकार का विचार है कि वे कई दलों में, कई बार में भारत आये। जार्ज ग्रियर्सन का अभिमत है कि वे कम से-कम दो बार में अवश्य आये।

१. भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं, पृ० ३३-३५

आर्य एक भाषा लिये आये

डा० चटर्जी भारत आने वाले आर्यों को Nordic नार्डिक अर्थात् उत्तर देश के मानव और Alpine आल्प-पर्वतीय या मध्य यूरोपीय जाति के—इस रूप में जो दो प्रकार के बतलाते हैं, हो सकता है, ऐसी सम्भावना हो। पर, ऐसा मानने में एक कठिनाई अवश्य आती है। दो भिन्न जातियों के लोग, जिनकी भाषाएं भिन्न होनी ही चाहिए, जिन्हें वे अपने साथ लिये आये। बहुत मामूली-सा पार्थक्य, जो सुगमता से शीघ्र ही मिट जाए, दो भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न जातियों की भाषाओं में कैसे सम्भव हो सकता है, यह सूक्ष्मता से विचार करने योग्य है। हां, एक बात हो सकती है; यूराल पर्वत के दक्षिण में अर्थात् दक्षिण-पश्चिम रूस में, जिसे आर्यों का आदि स्थान मानकर हम चिन्तन कर रहे हैं, ये दो भिन्न जातियां रहती रही हों। दोनों की भाषा एक हो गई हो, जिसे भाषा-वैज्ञानिकों ने अब कल्पित नाम विरोस् दिया है। पर, इन दोनों जातियों में किस जाति के लोग वहां के मूल निवासी थे, किस जाति के लोग बाद में वहां आकर उनमें मिल गये, इस सम्बन्ध में इतिहास कुछ नहीं बताता। केवल कल्पना ही की जा सकती है।

प्रस्तुत प्रयोज्य भाषा-सम्बन्धी विश्लेषण है; अतः यह मानकर चलना संगत होगा कि भारत में बाहर से जो लोग आये, उनकी भाषा मूलतः एक थी। विभिन्न टोलियों व गोत्रों की बोलियों में किंचित पार्थक्य हो सकता है, जो नगण्य है।

ऋचाओं के नाद

आर्य पंचनद में आये। प्रकृति सुरम्य थी। भूमि उर्वर थी। स्वच्छ सलिला सरिताएं बहती थीं। यूराल के दक्षिणवर्ती मैदानों से चलकर यहां तक पहुंचने के बीच आर्यों ने विभिन्न भू-भागों में बसने वाली विभिन्न जातियों के सम्पर्क से तब तक कृषि-कर्म जान लिया होगा। वे परिश्रमी और लगनशील थे। कृषि-कार्य में जुट गये होंगे। फसलों से भूमि लहलहा उठी होगी। ऐसे सुन्दर और मनोज्ञ वातावरण ने आर्यों को मोह लिया होगा, जिसकी प्रति-ध्वनि ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त कर सकते हैं। ऋग्वेद के ऋषि सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, द्यौ, उषा; इन सब में देवत्व की प्रतिष्ठा[1] कर इनकी स्तुति और प्रशस्ति[2] में हर्ष-विभोर हो उठते हैं। भूमिः माता पुत्रोऽहं पृथिव्याः जैसे वाक्य उनके अन्तरतम की सुखद अनुभूति के परिचायक हैं।

---

१. ओं अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता। वसवो देवता दित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति र्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।

२. ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा का सादृश्य

ऋग्वेद जिस भाषा में लिखा गया, वह आर्यों की बोलियों का एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप था। भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद और अवेस्ता का काफी सादृश्य है, जो तुलनात्मक रूप में उपस्थित किये गये अग्रांकित शब्दों से स्पष्ट है—

वैदिक संस्कृत	अवेस्ता (ईरानी)	वैदिक संस्कृत	ईरानी अवेस्ता
अनु	अनु	अन्य	अन्य
असि	अहि	असुर	अहुर
अस्थि	अस्ति	आपः	अप
ऋतुम्	रतुम्	ओजस्	ओजः
कपम्	कफ़म्	सम्राट्	हशमात्
क्रतुः	ख़तुश्	गाथा	गाथा
जानुः	ज़ानु	जंघा	ज़ंगा
ददामि	ददामि	दहति	दज़हैति
दीर्घम्	दरेगम्	धारयत्	दारयत्
नमस्	नमह्	पुत्र	पुथ्र
भरति	बरइति	भवति	बवइति
भूमि	बूमि	भ्राता	ब्राता
यज्ञ	यश्	रिणक्ति	इरिनख्ति
वसिष्ठ	वहिश्त	विश्व	विस्प
सखा	हख्	सप्त	हप्त
सहस्र	हज़ंग्र	सिन्धु	हिन्दु

डा० बटकृष्ण घोष द्वारा अवेस्ती और संस्कृत का नैकट्य प्रकट करने की दृष्टि से किया गया अवेस्ता की यस्ना १०८ का संस्कृत रूपान्तर यहाँ और उद्धृत किया जा रहा है :

अवेस्ता : यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएता मश्यो ।
संस्कृत : यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः ।
अवेस्ता : फ्रा आब्यो तनुब्यों हओमो वीसइते बएषजाइ ।
संस्कृत : प्र आभ्यस्तनूभ्यः सोमो विशते भेषजाय ।

तुलना से देखने पर यह स्पष्ट आभास होता कि दोनों भाषाओं में ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है ।

भारोपीय का मूल ध्वनियां

भाषा परिवर्तनशील है। परिवर्तन का ही दूसरा नाम विकास है। भारोपीय की मूल ध्वनियां वैदिक संस्कृत तक आते - आते कितनी परिवर्तित हो गयी थीं, इसे स्पष्ट करने के लिए दोनों का तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। विद्वानों ने मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों को निम्नांकित रूप में अनुमानित किया है :

कवर्ग—(१) क्, ख्, ग्, घ्

(२) क्_, ख्_, ग्_, घ्_

(३) क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्

भारोपीय में कवर्ग तीन प्रकार से था। प्रथम कवर्ग को कुछ विद्वान् सामान्य कवर्ग मानते हैं। पर, कुछ विद्वान् इसे तालु की गौण सहायता से उच्चरित किया जाने वाला मानते है। तदनुसार इसका क्य, ख्य, ग्य और घ्य के रूप में उच्चारण होता था। डा० चटर्जी का मत इस सम्बन्ध में भिन्न है। वे इसे तालव्य नहीं मानते, पुरः कण्ठ्य (Advanced Vela,) मानते हैं। दूसरा कवर्ग अरबी के क्_, ख्_ आदि के समान कहा जा सकता है। यूरोपीय विद्वान् कण्ठ्य (Velar) कहते हैं, परन्तु डा० चटर्जी की मान्यता के अनुसार यह पश्चकण्ठ्य (Back Velar) अथवा अलिजिह्वीय (Uvular) है। तीसरे प्रकार के कवर्ग के उच्चारण में ओष्ठ की भी गौण सहायता ली जाती थी। इसके उच्चारण में कवर्ग की वास्तविक ध्वनि मुख्य थी और व् ध्वनि बहुत ही अल्प और गौण थी। डा० चटर्जी प्रभृति कतिपय भाषा - वैज्ञानिक उक्त तीन प्रकार के कवर्गों के क्, ख्, ग्, घ्_ वर्णों के साथ तीन प्रकार के ङ्_ की भी कल्पना करते हैं, परन्तु, बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि 'न्' ध्वनि ही इन भिन्न-भिन्न कवर्गों के साथ इनके अनुसार रूप धारण कर लेती थी।

तवर्ग—त्, थ्, द्, ध्,

पवर्ग—प्, फ्, ब्, भ्

ऊष्म—स्

ऊष्म स् यदि दो स्वरों के बीच आता तो उसका उच्चारण सघोष[1]—ज्_ होता।

अन्तःस्थ व्यंजन : य्, र्, ल्, व्, न्, म्;

अन्तःस्थ स्वर : इ, ऋ, लृ, उ, न्, म्

---

१. बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

—अष्टाध्यायी, सूत्र १।१।९ की वृत्ति

ओष्ठ्य : प्, फ्, ब्, भ्, म्

दन्तोष्ठ्य : व्

अन्तःस्थ : य्, र्, ल्, व्

शुद्ध अनुनासिक अनुस्वार : (ँ)

संघर्षी : श्, ष्, स्, ह्, ह्,

≍ जिह्वामूलीय[1] ≍ उपध्मानीय[2]

भारोपीय की ध्वनियों के साथ वैदिक संस्कृत की ध्वनियों की तुलना करने पर प्रकट होता है कि आदि स्थान से यहाँ तक पहुँचने पर ध्वनियों में बहुत परिवर्तन हो गया था। परिवर्तन की कुछ विशेष दिशाएं इस प्रकार है :

अ भारोपीय में जहाँ कवर्ग की तीन श्रेणियाँ थी, वैदिक संस्कृत में केवल एक रह गयी।

आ व्यंजनों में चवर्ग और टवर्ग, जो भारोपीय में नहीं थे, वैदिक संस्कृत में नये रूप में आ गये।

इ भारोपीय में ऊष्म या संघर्षी ध्वनि केवल स् थी, जो वैदिक संस्कृत में श्, ष्, स्, ह् आदि के रूप में विस्तार पा गयी।

वैदिक संस्कृत की ध्वनियों की जो तालिका दी गयी है, उसमें ए और ओ को मूल स्वरों में दिखलाते हुए केवल ऐ और औ को संयुक्त स्वरों के रूप में उपस्थित किया गया है। यहाँ कुछ ज्ञातव्य है। संस्कृत-व्याकरण में ए, ऐ, ओ, औ को संयुक्त स्वर माना जाता रहा है; अतः ये दीर्घ स्वरों[1] में गिने जाते रहे हैं। इनका उच्चारण—ए = अइ, ओ = अउ, ऐ = आइ, औ = आउ माना जाता रहा है। परन्तु अब भाषा-शास्त्र के बहुश्रुत विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते। जैसा कि भारोपीय में है, उनका कहना है कि ए और ओ मूल स्वर हैं। इनका ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों में प्रयोग होता था। संयुक्त स्वर केवल ऐ और औ हैं, जिनका उच्चारण क्रमशः अइ और अउ था।

मूर्द्धन्य व्यंजन : एक अनुपम विशेषता

वैदिक संस्कृत की एक बहुत बड़ी विशेषता है। वहाँ व्यंजनों में मूर्द्धन्य ध्वनियों के वर्ग का अस्तित्व है। भारोपीय परिवार की अन्य किसी भी भाषा में यह वर्ग[1] (ट वर्ग—ट्, ठ्, ड्, ढ्) नहीं पाया जाता।

---

१. ≍ क ≍ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।

२. ≍ प ≍ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः।

—अष्टाध्यायी, १।१।९, वृत्ति

१. [illegible]

यज्ञ, उनका महत्व, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध प्रभृति भिन्न-भिन्न यज्ञों में वेद-मन्त्रों का यथास्थान पाठ आदि विषयों का इस वेद में विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन है। यह गद्य-पद्यात्मक है। विशेषतः इसका व्याख्या-भाग गद्यात्मक है। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से दो शाखाएं हैं। यद्यपि महाभाष्यकार पतंजलि ने इसकी एक सौ एक शाखाओं की चर्चा की है, पर, वे प्रायशः अप्राप्त हैं।

शुक्ल यजुर्वेद—वैदिक परम्परा में ऐसी मान्यता है कि सूर्य ने इसे प्रकट किया था। सूर्य ज्योतिर्मय, उज्ज्वल या शुक्ल है; अतः शुक्ल यजुर्वेद नामकरण हो गया। एक कारण और भी बताया जाता है—इसमें मन्त्र क्रम-बद्ध तथा स्पष्ट रूप में आकलित हैं। व्यवस्थापन की स्पष्टता या स्वच्छता होने से यह शुक्ल यजुर्वेद कहा गया। इसमें वे मन्त्र समाविष्ट हैं, जिनका वैदिक यज्ञों के सन्दर्भ में उच्चारण किया जाना अपेक्षित है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं—काण्व और माध्यन्दिन प्राप्त हैं।

कृष्ण यजुर्वेद—शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्रों की अवस्थिति में क्रम-बद्धता व स्पष्टता है; वहां कृष्ण यजुर्वेद इसके प्रतिरूप है। वहां मन्त्र यथावत् क्रम के साथ नहीं दिये गये हैं। स्यात् इसी अस्पष्टता या अस्वच्छता के कारण उसका नाम कृष्ण यजुर्वेद पड़ गया हो। शुक्ल यजुर्वेद से एक अन्य अन्तर भी है। शुक्ल यजुर्वेद की तरह भिन्न-भिन्न यज्ञों के सन्दर्भ में उच्चारणीय मन्त्र तो इसमें हैं ही, साथ-ही-साथ यज्ञों के सम्बन्ध में विचार-चर्चा भी है। यह इसका वैशिष्ट्य है।

कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं हैं—काठक-संहिता, कपिष्ठलकठ संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता। वेद-भाष्यकार महीधर ने यजुर्वेद-भाष्य की भूमिका में इस प्रसंग में बड़ी रोचक व अद्भुत कथा लिखी है। उनके अनुसार महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य आदि अपने शिष्यों को चारों वेद पढ़ाये। एक दिन कोई ऐसी घटना घटी। वैशम्पायन याज्ञवल्क्य पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले—"तूने जो कुछ मुझसे पढ़ा है, उसे छोड़ दे।" याज्ञवल्क्य भी यह सुनकर क्रोधाविष्ट हो गये। उन्होंने जो कुछ पढ़ा था, उसे उगल दिया। गुरु (वैशम्पायन) की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने तित्तिर बन कर उसे खा लिया। यही उद्वान्त (वमन किया हुआ) ज्ञान तैत्तिरीय संहिता है।

कतिपय भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि रावण वेदों का बड़ा विद्वान् था। उसने वेद-भाष्य रचा। उसके साथ मिला हुआ यजुर्वेद का भाग कृष्ण या काला यजुर्वेद कहलाया।

सामवेद

सामवेद संगीत-प्रधान है। इसमें अधिकांशतः ऋग्वेद के मन्त्र संगृहीत हैं। इसमें स्वतन्त्र मन्त्र बहुत कम हैं, केवल पचहत्तर हैं। इसका संकलन यज्ञों में किये जाने वाले

वैदिक वाङ्मय

भारत की आर्य-परिवारीय भाषाओं के उपलब्ध साहित्य में वेद सर्वाधिक प्राचीन माने गये हैं। 'वेद' शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है। वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने तैत्तिरीय संहिता में वेद का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है : इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः अर्थात् जो इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति का अलौकिक उपाय ज्ञापित करता है, वह ग्रन्थ वेद है। वे संख्या में चार हैं। उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड। कर्म-काण्ड में संहिता-भाग, ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यक-ग्रन्थों का समावेश है तथा ज्ञान-काण्ड में उपनिषदों का। इनका विशेष विश्लेषण आगे किया जाएगा।

ऋग्वेद

वैदिक वाङ्मय में प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद का पहला स्थान है। इसकी भाषा, रचना, शैली आदि से यह प्रकट है। इसमें जो भाषा व्यवहृत हुई है, वह भारोपीय भाषा-परिवार के उपलब्ध साहित्य में सबसे अधिक पुरातन भाषा का उदाहरण है। इसकी रचना पद्यों में हुई है, जिन्हें मन्त्र, ऋक् या ऋचा कहा जाता है। वहां गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें अधिकांश चार चरणों के छन्द हैं, कुछ तीन चरणों के भी। अनेक मन्त्र प्रार्थनापरक हैं। उनके अतिरिक्त यज्ञ और दार्शनिक भाव से सम्बद्ध मन्त्र भी हैं।

ऋग्वेद दस भागों में विभक्त है। वे 'मण्डल' कहे जाते हैं। विभाजन का एक और क्रम भी है, जो आठ भागों में सन्निहित है। इसके प्रत्येक भाग की 'अष्टक' संज्ञा है। अधिक प्रचलन पहले का है। बताया जाता है कि प्रारम्भ में ऋग्वेद की पांच शाखाएं थीं—१-शाकल, २-बाष्कल, ३-आश्वलायन, ४-शांख्यायन तथा ५-माण्डूकेय। इस समय केवल शाकल शाखा ही प्राप्त है।

पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत है कि समग्र ऋग्वेद की रचना किसी एक ही स्थान पर नहीं हुई। उनके अनुसार ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का भाग पंचनद प्रदेश में रचा गया। अवशिष्ट भाग अर्थात् प्रथम, अष्टम, नवम तथा दशम मण्डल उनके पूर्व की ओर आगे बढ़ जाने के बाद बने। इसका यह कारण बताया जाता है कि प्रथम बार में बने भाग में गंगा नदी, वंग और पांचाल का उल्लेख नहीं है; क्योंकि पंचनद में इनका अस्तित्व नहीं था। तत्पश्चात् बने भाग में इनका उल्लेख है; क्योंकि पूर्व में ये सब थे।

यजुर्वेद

यजुर्वेद में कुछ ऋग्वेद के मन्त्र हैं और कुछ दूसरे। यज्ञों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न

यज्ञ, उनका महत्व, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध प्रभृति भिन्न-भिन्न यज्ञों में वेद-मन्त्रों का यथास्थान पाठ आदि विषयों का इस वेद में विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन है। यह गद्य-पद्यात्मक है। विशेषतः इसका व्याख्या-भाग गद्यात्मक है। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से दो शाखाएं हैं। यद्यपि महाभाष्यकार पतंजलि ने इसकी एक सौ एक शाखाओं की चर्चा की है, पर, वे प्रायशः अप्राप्त हैं।

शुक्ल यजुर्वेद—वैदिक परम्परा में ऐसी मान्यता है कि सूर्य ने इसे प्रकट किया था। सूर्य ज्योतिर्मय, उज्ज्वल या शुक्ल है; अतः शुक्ल यजुर्वेद नामकरण हो गया। एक कारण और भी बताया जाता है—इसमें मन्त्र क्रम-बद्ध तथा स्पष्ट रूप में आकलित हैं। व्यवस्थापन की स्पष्टता या स्वच्छता होने से यह शुक्ल यजुर्वेद कहा गया। इसमें वे मन्त्र समाविष्ट हैं, जिनका वैदिक यज्ञों के सन्दर्भ में उच्चारण किया जाना अपेक्षित है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं—काण्व और माध्यन्दिन प्राप्त हैं।

कृष्ण यजुर्वेद—शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्रों की अवस्थिति में क्रम-बद्धता व स्पष्टता है; वहां कृष्ण यजुर्वेद इसके प्रतिरूप है। वहां मन्त्र यथावत् क्रम के साथ नहीं दिये गये हैं। स्यात् इसी अस्पष्टता या अस्वच्छता के कारण उसका नाम कृष्ण यजुर्वेद पड़ गया हो। शुक्ल यजुर्वेद से एक अन्य अन्तर भी है। शुक्ल यजुर्वेद की तरह भिन्न-भिन्न यज्ञों के सन्दर्भ में उच्चारणीय मन्त्र तो इसमें हैं ही, साथ-ही-साथ यज्ञों के सम्बन्ध में विचार-चर्चा भी है। यह इसका वैशिष्ट्य है।

कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं हैं—काठक-संहिता, कापिष्ठलकठ संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता। वेद-भाष्यकार महीधर ने यजुर्वेद-भाष्य की भूमिका में इस प्रसंग में बड़ी रोचक व अद्भुत कथा लिखी है। उसके अनुसार महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य आदि अपने शिष्यों को चारों वेद पढ़ाये। एक दिन कोई ऐसी घटना घटी। वैशम्पायन याज्ञवल्क्य पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले—"तूने जो कुछ मुझसे पढ़ा है, उसे छोड़ दे।" याज्ञवल्क्य भी यह सुनकर क्रोधाविष्ट हो गये। उन्होंने जो कुछ पढ़ा था, उसे उगल दिया। गुरु (वैशम्पायन) की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने तित्तिर बन कर उसे खा लिया। यही उद्वान्त (वमन किया हुआ) ज्ञान तैत्तिरीय संहिता है।

कतिपय भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि रावण वेदों का बड़ा विद्वान् था। उसने वेद-भाष्य रचा। उसके साथ मिला हुआ यजुर्वेद का भाग कृष्ण या काला यजुर्वेद कहलाया।

सामवेद

सामवेद ... इसमें ... हुआ है। ... इसमें

स्वतन्त्र मन्त्र ... किये

ाम-गान[1] की दृष्टि से हुआ है; अतः मन्त्रों की पुनरावृत्ति बहुत है। कुल १,८१० मन्त्र
। यदि पुनरावृत्त मन्त्रों को निकाल दिया जाए, तो आधे से थोड़े से अधिक १८५ मन्त्र
च जाते हैं, पूर्वार्द्ध में ५८५ और उत्तरार्द्ध में ४७०।

सामवेद दो भागों में विभक्त है। उसका पूर्वार्द्ध आर्चिक तथा उत्तरार्द्ध उत्तरार्चिक कहा जाता है। आर्चिक शब्द ऋक् या ऋचा से बना है, जिसका अर्थ ऋचाओं का समूह है। उत्तरार्चिक की अपनी एक विशेषता है। उसमें मन्त्रों को बड़े सुन्दर क्रम से रखा गया है। जिन मन्त्रों का किसी एक यज्ञ में उपयोग होता है, उन्हें एक स्थान पर रखा गया है। इससे यज्ञ विशेष में प्रयोज्य मन्त्रों को पृथक्-पृथक् ढूंढना नहीं पड़ता। पृथक्-पृथक् यज्ञों के लिए अपेक्षित मन्त्र पृथक्-पृथक् स्थानों पर एकत्र प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार जिन मन्त्रों का जिस देवता से सम्बन्ध है, वे एकत्र संगृहीत हैं। जो मन्त्र किसी एक ही छन्द में रचित है, उनको एकत्र रखा गया है। इससे मन्त्रों के प्रयोग में विशेष सुविधा होती है।

गान-सम्बन्धी महत्वपूर्ण वाङ्मय इस संहिता के अन्तर्गत समाविष्ट है, जिसमें मन्त्रों के गान का प्रकार, गान के समय ह्रस्व मात्राओं का दीर्घ अथवा लुप्त के रूप में परिवर्तन, लयात्मकता की दृष्टि से शब्दों की पुनरावृत्ति, स्वर, विश्राम, मूर्च्छना आदि संगीतोपयोगी क्रमों के सम्बन्धों में नियम दिये गये हैं। भारतीय संगीत का जो बहुमुखी विकास हुआ, सामवेद उसका मुख्य आधार रहा, विद्वानों की ऐसी मान्यता है।

परम्परया ऐसा विश्वास किया जाता है कि कभी सामवेद की हजार शाखाएं विद्यमान थीं। आज उसकी केवल दो शाखाएं सम्पूर्ण रूप में तथा एक आंशिक रूप में प्राप्त है। प्रथम 'राणायनीय' है, जो पूरी प्राप्त है। द्वितीय शाखा का नाम 'कौथुम' है, जिसका केवल सातवां अध्याय प्राप्त है। अवशिष्ट अंश नष्ट हो गया है। तृतीय शाखा 'जैमिनीय' के नाम से विश्रुत है, जो सम्पूर्णतया प्राप्त है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में प्रायः ऐसे मन्त्रों का संग्रह है, जिनका सम्बन्ध शत्रु-नाशन, मारण, उच्चाटन आदि से है। इसमें विपत्ति, पाप, अशुभ एवं दुर्भाग्य से अपने बचाव के लिए रचित अनेक प्रार्थनाएं भी हैं। अपने लिए मंगल तथा दूसरों—अपने शत्रुओं के लिए अमंगलजनक

---

१. यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः॥

सामग्री इसमें आकलित है। इसी कारण विण्टरनित्ज ने इसे टोना-टोटका और मन्त्र-तन्त्र करने वाले पुरोहितों की रचना कहा है। अन्य वेदों की तरह उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त इसमें धार्मिक संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले कुछ सूक्त तथा देवताओं के अभिनन्दन व प्रशस्ति में रचित प्रार्थनाएं भी हैं।

अथर्व वेद को अथर्वांगिरस, भृग्वांगिरस तथा ब्रह्मवेद भी कहा जाता है। सम्भवतः अंगिरा शब्द का प्रयोग हानि और विनाश करने वाले कार्यों के लिए है। अथर्वा शब्द का अर्थ पुरोहित है, विशेषतः वह पुरोहित, जो मन्त्र आदि के प्रयोग में सिद्ध हो। इस वेद की 'शौनक' और 'पैप्पलाद' नामक दो शाखाएं हैं, जिनमें विशेषतः प्रथम का ही अधिक प्रचलन है।

अमंगल, अशुभ और विनाशपरक विषयों से सम्पृक्त होने के कारण कुछ लोग अथर्व वेद को आसुरी विद्या में गिनते हैं। यही कारण है कि इसे वेदत्रयी में नहीं गिना जाता रहा है। वस्तुतः विशुद्ध वेदों के रूप में ऋक्, यजुष् और साम की ही गणना थी। बहुत समय तक यही परम्परा रही। आचार्य पुष्पदन्त रचित सुप्रसिद्ध महिम्नः स्तोत्र के निम्नांकित श्लोक से यह प्रकट है :

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इति॥

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह वेद सबके अन्त में बना, सम्भवतः आर्यों के बंगाल में पहुंचने के पश्चात्। वहां जादू-मन्त्र, टोने-टोटके आदि पहले से ही प्रचलित रहे हैं। बहुत समय बाद इसे वेदों में परिगणित किया गया।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

याज्ञिक कर्म-काण्ड का एक विस्तृत विधि-क्रम या पूरा शास्त्र है। वैदिक विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका विशद विवेचन किया है। यजमान[1], पुरोहित, होता[2], उद्गाता[3],

१. यज्ञ करने वाला गृहस्थ।

२. उच्च तथा स्पष्ट स्वरों से मन्त्रों का उच्चारण कर देवताओं को आह्वान करने वाला।

३. संगीत के नियमों के [illegible] सामवेद के मन्त्रों का गान कर देव-स्तुति करने वाला।

अध्वर्यु[1], ब्रह्मा[2] आदि यज्ञ-सम्पादन में भाग लेने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के कार्य, विधि, यज्ञ-वेदी का निर्माण, यज्ञ-सम्पादकों की अवस्थिति, भिन्न-भिन्न यज्ञों में भिन्न-भिन्न मन्त्रों का विनियोग, यज्ञों और मन्त्रों का सम्बन्ध, मन्त्रों की व्याख्या प्रभृति विषयों का इन ग्रन्थों में बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत उल्लेख है। इनमें प्रसंग-क्रम से अनेक आख्यानों का भी समावेश है। आगे चलकर अधिकांशतः ये ही आख्यान पुराणों के रूप में विकसित हुए हों; ऐसी सम्भावना की जाती है।

वेदों के जिन-जिन विषयों से जो-जो ब्राह्मण-ग्रन्थ सम्बद्ध हैं, वे उन-उन वेदों की उन-उन शाखाओं के ब्राह्मण कहे जाते हैं। वेद-मन्त्रों के अर्थ निर्धारण में निःसन्देह इन ग्रन्थों की बहुत बड़ी उपयोगिता है। उनकी सहायता से ही वेद-मन्त्रों का हार्द यथावत् रूप में समझा जा सकता है।

आरण्यक

आरण्यक भी वेदों के कर्म-काण्डात्मक भाग के अन्तर्गत स्वीकृत हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहां याज्ञिक विधि-विधानों का विस्तृत, गम्भीर और परम्परानुस्यूत विश्लेषण है, आरण्यकों में अर्थवाद के आधार पर तलस्पर्शी व्याख्या-विवेचना है। वैदिक यज्ञ-विधान के अन्तर्गत करणीय कार्यों के उद्देश्य, लाभ आदि के बहुमुखी विश्लेषण के साथ-साथ आरण्यकों में वेदों के उन स्थलों का उल्लेख है, जिनसे याज्ञिक विधि-भाग में किये गये निर्देशों का तात्पर्य स्पष्ट होता है।

कहा जाता है, ब्रह्मचर्य में निमग्न ऋषियों द्वारा वैदिक यज्ञ-याग से सम्बद्ध गम्भीर विषयों पर 'अरण्यों'—वनों में चिन्तन किये जाने के कारण ये अर्थवाद-प्रधान ग्रन्थ आरण्यक शब्द से अभिहित हुए। अथवा अरण्य एव पाठ्यत्वाद् आरण्यकमितीर्यते के अनुसार अरण्यों में पढ़ाये जाने के कारण इनकी आरण्यक संज्ञा हुई। सम्भवतः इसी कारण इनका उपयोग विशेषतः वानप्रस्थियों के लिए माना गया है। वानप्रस्थ में अरण्य-वास का विधान है, जहां व्यक्ति लौकिक जीवन से शाश्वत आनन्द की ओर अग्रसर होने को प्रयत्नशील होता है। पर, वह एकाएक गृही जीवन के संस्कारों से छूट सके, यह कम सम्भव होता है। आरण्यक

---

१. अनुच्च स्वर से मन्त्र उच्चारण करते हुए पुरोडाश प्रभृति याज्ञिक द्रव्यों को तैयार करने वाला और देवताओं को उद्दिष्ट कर आहुति देने वाला।

२. चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता, यज्ञों के विधि-क्रम व नियमोपनियम को सूक्ष्मता से जानने वाला; अतः यज्ञ संलग्न सभी पुरोहितों के कार्यों का निरीक्षण तथा अपेक्षित होने पर परिष्कार करने वाला।

वानप्रस्थी साधकों को ऐसा मार्ग उपदिष्ट करते हैं, जिससे क्रमशः ब्राह्मी स्थिति की ओर गति कर सकें। ब्राह्मण-ग्रन्थों की तरह आरण्यकों की रचना भी सरल, संक्षिप्त और क्रिया-बहुल है। भिन्न-भिन्न वेदों से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न आरण्यक हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के ज्ञान-काण्ड के अन्तर्गत हैं। यद्यपि वहां वैदिक यज्ञ-यागादि कर्म-काण्डों का निषेध नहीं है, पर स्वर्गकामोयजेत के अनुसार इनका फल मात्र स्वर्ग-प्राप्ति है। स्वर्ग-फल शाश्वत नहीं है। पुण्य-क्षय के अनन्तर स्वर्ग से पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है।[1] आशय यह है कि यज्ञ-यागादि कर्म-काण्ड-परक कार्यों से आवागमन नहीं मिटता, शाश्वत सुख नहीं मिलता। जो स्वर्गिक सुख मिलता है, वह भी भोग-प्रधान है। भोग का अवसान सुख में नहीं है, दुःख में है। आवागमन—जन्म-मरण, भौतिक अनुकूलता, प्रतिकूलता, वैभव, विलास और समृद्धि; इन सबसे परे एक स्थिति है, जिसे उपनिषद् की भाषा में ब्रह्मानन्द कहा जाता है। वह केवल ज्ञान द्वारा साध्य है। ज्ञान के बिना बन्धन से कभी छुटकारा[2] नहीं हो सकता। उपनिषद्-साहित्य का यही विषय है, जिस पर विभिन्न दृष्टियों से सूक्ष्म चिन्तन और पर्यालोचन किया गया है।

उपनिषद् के ज्ञान का कितना अधिक महत्व समझा जाता रहा है, इस सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् का एक प्रसंग है : अनेक विद्याओं में निष्णात देवर्षि नारद सनत्कुमार के पास आते हैं और उनसे अभ्यर्थना करते हैं—"मुझे अध्ययन करवाइए, शिक्षा दीजिए।" इस प्रकार कहकर वे शिष्य-भाव से उनके सान्निध्य में उपसन्न होते हैं।"

सनत्कुमार ने कहा—"आप जो कुछ जानते हैं, मुझे बतलाएं। तदनन्तर मैं आपको आगे कहूंगा, उपदेश करूंगा।"

नारद बोले—"भगवन् ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद पढ़ा है। इतिहास और पुराण जो पंचम वेद कहे जाते हैं, मैंने पढ़े हैं। व्याकरण, पितृकल्प—श्राद्ध-कल्प, गणित-शास्त्र, उत्पात-ज्ञान, महाकालादि निधिशास्त्र, तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, देव विद्या-निरुक्त, ब्रह्मविद्या—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का शिक्षा शास्त्र, वैदिक संहिताओं के शुद्ध उच्चारण और स्वर-प्रयोग के लिए निर्धारित नियमों के उद्बोधक ग्रन्थ—प्रातिशाख्य, यज्ञ-कर्मकाण्डविधि, छन्द-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, धनुर्वेद, सर्पविद्या, देवजनविद्या—नृत्य, गान, वाद्य और शिल्प आदि विज्ञान भी मैंने पढ़े हैं।"

---

१. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

२. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

"भगवन् ! वह मैं यह सब जानते हुए भी केवल मन्त्र-वेत्ता-शब्दार्थमात्र का जानने वाला हूं, आत्म-वेत्ता नहीं हूं । मैंने आप जैसों से सुना है, आत्मवित् शोक को पार कर लेता है । भगवान् ! मैं शोकान्वित हूं । आप मुझे शोक के पार कर दीजिए ।"

सनत्कुमार ने कहा—"आप जो कुछ जानते हैं, वह मात्र नाम ही है ।"[1]

परिचय-सम्भाषण के बाद आत्म-वेत्ता सनत्कुमार नारद को आत्म-ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का उपदेश करते हैं ।

बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रसंग है । याज्ञवल्क्य प्रव्रजित होना चाहते हैं । उनके दो पत्नियां थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी । याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा—"मैं गृहस्थ आश्रम से सन्यास आश्रम में जाना चाहता हूं, इसलिए कात्यायनी के साथ तेरा बंटवारा कर दूं ।"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! यदि यह धन से परिपूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाए, तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूं ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता । उससे तुम्हारा जीवन वैसा ही होगा, जैसा दूसरे साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का होता है । धन से अमरत्व की आशा नहीं की जा सकती ।"

मैत्रेयी बोली—"जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसका मैं क्या करूं ? अमृतत्व का जो उपाय आप जानते हैं, वह मुझे बतलाएं ।"[2]

---

१. ओं अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ।

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ।

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ।

—छान्दोग्योपनिषद्, सप्तम अध्याय, प्रथम खण्ड, १-३

२ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ।

स होवाच मैत्रेयी । यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता

रचनाएं हैं, जिनमें मुझे मानवीय भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुंची हुई प्रतीत होती है।" [1]

शोपेनहर ने लिखा है : "संसार में इस प्रकार का कोई अध्ययन (तत्त्व-चिन्तन) नहीं है, जो उपनिषदों के समान लाभप्रद तथा उन्नयन की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम मानवीय मेधा की उपज हैं। शीघ्र या विलम्ब में एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनता का धर्म होगा।"[2]

वेदों को स्मरण रखने की विशेष परम्परा रही है। चारों वेदों को आद्योपान्त अक्षरशः एवं स्वरशः कण्ठाग्र रखने वाले वेदपाठी ब्राह्मण होते रहे हैं कुछ आज भी मिल सकते हैं। द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि ब्राह्मणों की जातीय उपाधियां, सम्भव है, कभी वेदों के अभ्यास के कारण ही प्रवृत्त हुई हों। शिष्य गुरु से श्रवण कर वेद को ग्रहण करता था। वेद, जो श्रुति कहे जाते हैं, इसी आशय की ओर संकेत करते हैं।

विद्या को गुरु से सुनकर हृद्गत तथा आत्मसात् करने का प्राचीन काल में बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। बल या सत्त्व-सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार ज्ञानोपासना के क्रम में अग्रसर होता हुआ विज्ञातृत्व तक पहुंचता था, इसका छान्दोग्योपनिषद् में सुन्दर विवेचन किया गया है। वहां कहा गया है : "....जब पुरुष बल या सत्त्व-सम्पन्न होता है, तभी वह उत्थानोन्मुख होता है। उत्थानोन्मुख होता हुआ वह परिचर्याशील होता है। परिचरिता होकर वह उपसदन करता है—गुरु के सान्निध्य में उपस्थित होता है। उपसन्न होकर वह आचार्य का दर्शन करता है अर्थात् उनके जीवन का एकाग्र भाव से द्रष्टा बनता है। तब श्रोता, उनके कथन का तन्मय भाव से श्रवण करने वाला, बनता है। आचार्य का कथन—प्रतिपादन इस प्रकार उपपन्न है, ऐसा मनन करता है। मनन करने पर वह तथ्य का बोद्धा—ज्ञाता—यह तत्त्व ऐसा ही है, इस प्रकार जानने वाला होता है। ज्ञान की परिणति अनुष्ठान में होती है। वह वैसा आचरण करता है। आचरित जीवन में सहज ही अनुभूत

---

1. The upanished are the ......Sources of......the vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me have reached its very acme.

—कल्याण, वर्ष ७, संख्या ८, 'ब्रह्मविद्या रहस्य' शीर्षक लेख से

2. In the world there is no study.......so beneficial and so elevating as that of upanished.........(They) are a product of the highest wisdom.........It is destined sooner or later to become the faith of the people.

—कल्याण, वर्ष ७, संख्या ८, 'ब्रह्मविद्या रहस्य' शीर्षक लेख से

बनता है। अनुभव ही विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान है। इस प्रकार वह पुरुष विज्ञाता की स्थिति में पहुंचता है।"[1]

आचार्य के चरणों में बैठकर परिचर्या, दर्शन, श्रवण, मनन तथा बोध के सोपानों से उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते साधक के विज्ञातृ-दशा तक पहुंचने का यह क्रम पुराकाल की ज्ञानोपासना के श्रद्धा, विनय, सेवा, श्रम एवं अनुभूति सम्पृक्त पथ का संसूचक है।

वेद-मन्त्रों के पाठ-क्रम

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में जरा भी त्रुटि न रह पाए और वेद-मन्त्र युग-युगान्तर तक यथावत् रूप में वेद-पाठियों की स्मृति में बने रहें, इसके लिए वैदिक विद्वानों ने कई प्रकार के उपाय किये। उनमें उनके द्वारा वेदों के पाठ के सम्बन्ध में किया गया क्रम-विभाग बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने वेद-पाठ के पांच प्रकार निर्धारित किये : १-संहिता-पाठ, २-पद-पाठ, ३-क्रम-पाठ, ४-जटा-पाठ, ५-घन-पाठ।

संहिता-पाठ—वेद में जो मन्त्र जिस प्रकार स्थित है, उनका ज्यों-का-त्यों यथावत् पाठ करना संहिता-पाठ कहा जाता है।

पद-पाठ—वेद के किसी मन्त्र को अलग-अलग पदों में विभक्त कर उसका पाठ करना पद-पाठ कहा जाता है। उदाहरणार्थ, एक मन्त्र के प्रतीक के रूप में कमल को लेते हैं। इसका संहिता-पाठ होगा—कमल और पद-पाठ होगा—क, म, ल। दोनों का भेद स्पष्ट है। संहिता-पाठ में कमल के रूप में मन्त्र के सभी पद एक साथ हैं तथा पद-पाठ में वे पद अलग-अलग हैं। जो पद अलग-अलग किये जाते हैं, उनमें प्रारम्भ तथा अन्त में स्वर-परिवर्तन के भिन्न-भिन्न नियम लागू होते हैं। वेद-पाठी के लिए उन नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। तभी पाठ शुद्ध बन पाता है। नियमों का सम्यक्तया अवलम्बन कर किये गये पद-पाठ से पुनः संहिता पाठ पूर्ण रूपेण शुद्ध बनता है; जैसा कि मन्त्र को पृथक्-पृथक् विभक्त करने से पूर्व था।

क्रम-पाठ—पद-पाठ के शब्दों को अर्थात् प्रत्येक पद को एक-एक बार लिया जाता था और इस क्रम में पिछले पद के शब्द को भी लिया जाता था तथा अगले पद के शब्द को भी, यह क्रम उत्तरोत्तर चलता रहता था। उदाहरणार्थ, किसी मन्त्र के प्रतीक-रूप में कमलनयन

---

१. ......स यदा बली भवति, अथ उत्थाता भवति। उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति। परिचरन् उपसत्ता भवति। उपसीदन् द्रष्टा भवति। श्रोता भवति। मन्ता भवति। बोद्धा भवति। कर्ता भवति। विज्ञाता भवति।

—छान्दोग्योपनिषद्, सप्तम खण्ड, १

लें। इसका पद-पाठ क, ख, ग, घ—इस प्रकार होगा, जो क्रम-पाठ में कख, खग, गघ के रूप में परिवर्तित होगा।

जटा-पाठ—क्रम-पाठ के त्रिविध भेद को मिलाने से जटा-पाठ निष्पन्न होता है अर्थात् जटा-पाठ में पहली बार में प्रथम पद, द्वितीय पद, दूसरी बार में द्वितीय पद, प्रथम पद, तीसरी बार में प्रथम पद, द्वितीय पद, चौथी बार में द्वितीय पद, तृतीय पद, पांचवीं बार में तृतीय पद, द्वितीय पद, छठी बार में द्वितीय पद, तृतीय पद उच्चारित होगा। प्रतीक रूप में कख, खक, कख, गख, खग से इसे समझा जा सकता है।

घन-पाठ—जटा-पाठ में दो-दो पदों के तीन भेद बनाये गये। घन-पाठ में इनके स्थान पर दो-दो पदों के दो और तीन-तीन पदों के तीन भेद बना कर मन्त्र-पाठ के पांच रूप तैयार किये जाते हैं। प्रतीक रूप में इसे कख, खक, कखग, गखक, कखग से समझा जा सकता है।

संहिता-पाठ को इन पाठ-क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से चार भागों में बांटा गया था। क्रम इतना व्यवस्थित और नियमित था कि भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न खण्डों में उच्चरित पाठ को पुनः संहिता-पाठ में परिवर्तित करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती थी। यह विधि-क्रम यद्यपि दुरूह और अभ्यास-साध्य तो था, पर, वेदों के पाठ को सहस्राब्दियों तक सर्वथा शुद्ध, पूर्णतया अपरिवर्तित बनाये रखने में बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ। इसी कारण कहा जाता है कि सहस्रों वर्ष पूर्व जिस भाषा या शब्दावली में वेदों के मन्त्र रचित हुए, उनका ठीक वैसा ही रूप आज भी उपलब्ध है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उच्चारण स्वर

वैदिक मन्त्रों की ध्वनियों को सर्वथा विशुद्ध बनाये रखने के लिए स्वर-विधान वैदिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। वैदिकी प्रक्रिया में तीन स्वर माने गये हैं : उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-अवयव मुख के भीतर स्थित हैं। इन उच्चारण-अवयवों के ऊपर तथा नीचे के दो-दो भाग या खण्ड हैं; इसलिए ये सखण्ड कहे जाते हैं। अन्तः प्रेरित वायु स्वर-यन्त्र को संस्पृष्ट या संघृष्ट करती हुई जब इन (उच्चारण-अवयवों) पर आघात करती है, तब वर्ण उत्पन्न होते हैं। जब कोई स्वर इन उच्चारण-अवयवों के ऊपर के भाग से उत्पन्न होता है, तब वह अपेक्षाकृत उच्च प्रतीत होता है। उसी का नाम उदात्त[1] है। जब कोई स्वर उच्चारण-अवयवों के नीचे के भाग से उच्चरित होता

---

1. उच्चैरुदात्तः ॥ अष्टाध्यायी १।२।२९॥
   ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्।

है, तब उसे अनुदात्त[1] कहा जाता है। जिस स्वर के उच्चारण में उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व; दोनों का मिश्रण हो अर्थात् जो स्वर कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-अवयवों के मध्य भाग से उच्चरित हों, वह स्वरित[2] कहलाता है।

स्वरों के पृथक्-पृथक् चिन्ह भी माने गये हैं। कतिपय वैदिक पाठ सचिन्ह उपलब्ध होते हैं। इससे उच्चारण में परिपूर्ण शुद्ध बने रहने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में स्वर-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। इतना ही नहीं, स्वरों के विपरीत उच्चारण को दूषित के साथ-साथ अनिष्ट-कारक भी बतलाया गया है। दैत्यराज वृत्र का कथानक स्वर-प्रयोग के वैपरीत्य के दुष्फल पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

दैत्यराज वृत्र ने देवराज इन्द्र के वध को उद्दिष्ट कर यज्ञ किया। आहुतियों के सम्पुट में इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व वाक्य रखा गया। इसका अभिप्राय यह था कि इन्द्र का शत्रु[3] (नाशक) बढ़े। दैत्य-गुरु शुक्र इस सम्पुट के साथ आहुतियां देते थे। उच्चारण-क्रम में एक त्रुटि बनी। इन्द्रशत्रु पद में तत्पुरुष समास है। नियमतः यहां अन्त्य अक्षर उदात्त[4] होता है। पर, आहुति-दाता ने पूर्वपद में उदात्त कर दिया। इससे यह समस्त (इन्द्रशत्रु) पद तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि हो गया। क्योंकि बहुव्रीहि में पूर्व पद में उदात्त[5] होता है। बहुव्रीहि होते ही पद का आशय एकदम परिवर्तित हो गया। बहुव्रीहि होने पर इन्द्रशत्रुः पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—इन्द्र है शत्रु (नाशक) जिसका, वह इन्द्रशत्रु।[6]

समास बदलने ही दोनों पदों के अर्थ में सर्वथा विपरीतता हो गयी। तत्पुरुष में इन्द्रशत्रु पद वृत्र के लिये इन्द्र के शातयिता या नाशक रूप में उद्दिष्ट था, बहुव्रीहि हो जाने पर शातयिङ-भाव (नाशकत्व) इन्द्र के साथ जुड़ गया। परिणामतः वर्धस्व का फल इन्द्र को मिला, वृत्र को नहीं। संग्राम में वृत्र मारा गया, इन्द्र विजयी हुआ, वर्द्धित हुआ। इसीलिए कहा गया है :

---

१. नीचैरनुदात्तः ॥१।२।३०॥
ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नो ऽच् अनुदात्तसंज्ञः स्यात्।

२. समाहारः स्वरितः ॥१।२।३१॥
उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यत्र सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्॥

३. इन्द्रस्य शत्रुः—शातयिता ॥

४. समासस्य ॥६।१।२२३॥ अन्त उदात्तः स्यात्।

५. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥६।२।१॥
उदात्तस्वरितयोगिपूर्वपदं प्रकृत्या स्यात्।

६. इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुः

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[1]

यदि मन्त्र स्वर और वर्ण से हीन हो, उसमें स्वर और वर्ण का शुद्ध प्रयोग न मिथ्या या अशुद्ध प्रयोग हो, तो वह अभीप्सित अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकता। मिथ प्रयुक्त स्वर वाग्वज्र बन जाता है। वह यजमान का वध कर डालता है। इन्द्रशत्रुः पद स्वर-प्रयोग में हुए अपराध या भूल का परिणाम यजमान वृत्र का मरण था।

ध्वनियों के उच्चारण में सर्वथा यथावत्ता और जरा भी इधर-से-उधर न होने स्थिति बनाये रखने के लिए वैदिक विद्वान् कितने दृढ़ संकल्प थे, यह इस कथानक स्पष्ट है।

वैदिक भाषा के विकास-स्तर

ऐसा माना जाता है कि ऋग्वेद पहले और दसवें मण्डल के अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद और अवेस्ता की की गयी तुलना इन्हीं (प्रथम व दशम को छोड़कर अन्य मण्डलों) अंशों से सयोजित करनी चाहिए। ऋग्वेद के प्रथम एवं दशम मण्डल की भाषा परवर्ती प्रतीत होती है।

पाश्चात्य विद्वान् प्रो० भास्वर्ग मैथ्यू आदि का अभिमत है कि वैदिक संस्कृत का प्राचीनतम रूप आर्यों के पंजाब के आस-पास आने तक के समय का है। इन विद्वानों के मतानुसार वैदिक संस्कृत का दूसरा रूप उस समय का है, जब आर्य मध्य देश तक अग्रसर हो चुके थे। इस बीच वे उन-उन भू-भागों में अपने से पहले बसने वाले लोगों के सम्पर्क में आ चुके थे, जिनकी भाषाओं का आर्यों की भाषा पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। वैदिक संस्कृत के एक तीसरे रूप की और कल्पना की जा सकती है, जो तब विकसित हुआ, जब आर्य मध्य देश से आगे बढ़ते हुए पूर्वीय भू-भाग में पहुंच चुके थे। विद्वानों का अनुमान है कि यह काल सम्भवतः ई० पू० ८००-६०० के समीप रहा होगा।

लौकिक संस्कृत

वेद और लोक; यह शब्द-युगल प्राचीन वाङ्मय में एक विशेष अर्थ के साथ प्रयुक्त है। जिन कार्य, विधि-विधान, परम्परा, भाषा आदि का सम्बन्ध, अपौरुषेय या ईश्वरीय ज्ञान के नाते वेद के साथ रहा, उनके पीछे वैदिक विशेषण जुड़ा और जो कार्य ऐहिक और

---

१. पाणिनीय शिक्षा, ५२

अभिप्रेत लोक, संसार या समाज से सम्बद्ध हैं, के साथ लौकिक विशेषण लगा। भाषा के साथ भी ऐसा ही हुआ। एक भाषा थी, जिसके द्वारा समग्र वैदिक विधि-विधान, कार्य-कलाप तथा कर्म-काण्ड चलते थे। छन्दस् या वैदिक भाषा के नाम से अनेक दृष्टियों से इसका विवेचन-विश्लेषण किया जा चुका है। एक ऐसी भाषा की आवश्यकता अनुभूत हुई, जो रूप-बाहुल्य से मुक्त हो, प्रांजल तथा परिष्कृत हो, सुबोध्य हो, लोक में कार्यकर हो। लोक-प्रयोज्य भाषा तो तब थी ही। उसके शिष्ट, परिमार्जित और संस्कारमय रूप की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति महान् वैयाकरण पाणिनि ने की।

वैदिक संस्कृत के जिन तीन रूपों की ऊपर चर्चा की गयी है, ऐसा स्वाभाविक प्रतीत होता है कि इन तीनों रूपों के समकक्ष जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली भाषा के भी तीन रूप रहे होंगे। विद्वानों का अभिमत है कि लौकिक संस्कृत बोलचाल की भाषा के जिस रूप पर आधृत है, वह उन तीनों में प्रथम—उत्तर की बोलचाल की भाषा का रूप ही सम्भावित है। लौकिक संस्कृत, सम्भव है, आगे चलकर अन्य दो रूपों से भी प्रभावित हुई हो। इस सन्दर्भ में महाभाष्यकार पतंजलि लिखते हैं : "शब्दों के प्रयोग का विषय अत्यन्त विशाल है। भिन्न-भिन्न शब्द भिन्न-भिन्न स्थानों में अलग-अलग निश्चित अर्थ लिये हुए दिखाई देते हैं। जैसे, गतिकर्मक शवति का प्रयोग कम्बोज-देश में ही—हिन्दुकुश की घाटियों में ही प्रचलित है। आर्य लोग इसके विकार—इससे बने हुए कृदन्त रूप शव का प्रयोग करते हैं। गत्यर्थ में सौराष्ट्र में हम्मति, प्राच्य तथा मध्य देश में रंहति का प्रचलन है, परन्तु, आर्य गम् का ही प्रयोग करते हैं। प्राच्य देश में काटने के अर्थ में दाति का प्रयोग चलता है, परन्तु, उत्तर के लोगों में कृदन्त नाम—दात्र का प्रयोग ही प्रचलित है।"[1]

महाभाष्यकार ने कम्बोज, प्राच्य, मध्य, सौराष्ट्र और उदीच्य के नाम से भारत के भिन्न-भिन्न भू-भागों अथवा वहाँ के निवासियों की ओर संकेत किया है तथा आर्यों के नाम से अलग चर्चा की है। उनमें (भिन्न-भिन्न स्थानों के लोगों में) एक ही क्रिया या अर्थ-सम्बद्ध प्रयोगों के विषय में जो अन्तर है, उसकी व्याख्या है। यहाँ जिज्ञासा होती है, आर्यों को इनसे भिन्न बताकर महाभाष्यकार क्या प्रकट करना चाहते हैं? उक्त प्रदेशों के लोगों द्वारा किये गये शब्द-प्रयोग के भेद की वे चर्चा करते हैं। यहाँ भेद मात्र शब्द-प्रयोग का है, उस

1. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्त शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

—[illegible]

सबकी भाषा तो एक ही थी, जिसका महाभाष्यकार विवेचन कर रहे हैं। ऐसा लगता है, महाभाष्यकार का आर्यों से उन लोगों का अभिप्राय है, जो भाषा के शिष्ट या परिनिष्ठित रूप का प्रयोग करते थे, जो उस समय भाषा का स्तर (Standard) था। सम्भवतः भौगोलिक दृष्टि से वे पश्चिमोत्तर प्रदेश के लोग रहे हों। वास्तविक दृष्टया तो सभी आर्य ही थे और आर्य-भाषा ही बोलते थे। वायु आदि के प्रभाव व भौगोलिक भेद के कारण जो कुछ भिन्नता आ गयी थी, उससे उन-उन प्रदेशों में प्रचलित लोक-भाषाओं का संस्कृत पर प्रभाव पड़ना समर्थित होता है।

पाणिनि द्वारा संस्कार और संमार्जन प्राप्त कर शिष्ट भाषा के रूप में लौकिक संस्कृत का उद्भव हुआ। आगे चल कर इसे केवल संस्कृत के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। 'संस्कृत' नाम पाणिनि के काल से चला अथवा उससे पूर्व ही प्रयुक्त हो चला था, निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। भाषा के अर्थ में संस्कृत शब्द का सबसे पहला प्रयोग वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है। सुन्दर काण्ड का प्रसंग है। हनुमान सीता से वार्तालाप आरम्भ करने से पूर्व सोच रहे हैं कि उन्हें उनसे किस भाषा में बातचीत करनी है। उस प्रसंग में उल्लेख है :

> अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
> वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥[1]

—मेरा शरीर बहुत छोटा है तथा मैं विशेषतः बन्दर हूं। मैं मानवोचित संस्कृत भाषा में बोलूंगा।

वाचम् पद के साथ जुड़ा हुआ यहां संस्कृताम् पद व्यक्ति-वाचक संज्ञा है या गुणवाचक विशेषण, यह विचारणीय है। मानुषीं संस्कृतां वाचम् का अर्थ मंजी हुई लोक-भाषा भी हो सकता है। वस्तुस्थिति क्या है, निश्चय की भाषा में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर, शाब्दिक कलेवर की दृष्टि से तो संस्कृत शब्द प्रयुक्त हुआ ही है।

अंग्रेजी में लौकिक संस्कृत का अनुवाद Classical Sanskrit किया गया है। लोक और Class शब्द की संगति नहीं प्रतीत होती। सम्भवतः एक विशेष वर्ग—सुशिक्षित ब्राह्मण वर्ग की भाषा या शिष्ट भाषा का आशय ध्यान में रख कर यह अंग्रेजी शब्द दिया गया हो। Classical शब्द के आधार पर कुछ विद्वान् लौकिक संस्कृत के स्थान पर श्रेण्य संस्कृत का प्रयोग भी करने लगे हैं।

---

१. सुन्दर काण्ड, सर्ग ३०, श्लोक १७

दो रूप बनते थे, जबकि लौकिक संस्कृत मे देवैः तथा पूर्वैः ही बच पाये। वैदिक संस्कृत में सप्तमी विभक्ति में अस्मे और अस्मां आदि दो-दो रूप बनते थे, लौकिक संस्कृत मे केवल अस्मे ही बच पाया। वैदिक संस्कृत मे क्रिया के ग्यारह लकार होते थे। वहाँ सम्भावना तथा आज्ञा के लिए लेट् लकार और था। जैसे, भवाति, पताति, तारिषत्; आदि। लौकिक संस्कृत में लेट् लकार नहीं मिलता। वहाँ दस ही लकार रहे। वैदिक संस्कृत में तुमन् (Infinitive) के रूप चलने की परम्परा थी। तुमन् के अर्थ में और भी कई प्रत्ययों का प्रयोग होता था। जैसे, तवै—पातवै, ध्यै—गमध्यै, असे—जीवसे इत्यादि। लौकिक संस्कृत में तुमन् से निष्पन्न होने वाला एक ही रूप बचा। जैसे, गन्तुम्, मन्तुम, चलितुम्, अध्येतुम्; आदि। वैदिक संस्कृत में लोट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन में त, तन, थन, तात; ये चार प्रत्यय प्राप्त हैं, जिनसे शिणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात जैसे, रूप बनते हैं। लौकिक संस्कृत में केवल त प्रत्यय ही रह गया। जैसे, शिणुत।

वैदिक संस्कृत में यु प्रत्यय से बने अनेक शब्द प्राप्त होते है। जैसे यज्यु, देवयु, वाजयु; आदि। लौकिक संस्कृत मे वे प्रायः लुप्त हो गये। दस्यु जैसे एक-दो शब्द ही प्राप्त हैं। वैदिक संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद; दोनो गणो मे जो धातुएं निरूपित है, उनमें से कतिपय लौकिक संस्कृत में केवल आत्मनेपद मे ही मिलती है। वैदिक संस्कृत मे स्वद् सर्वनाम भी प्राप्त है। लौकिक संस्कृत मे केवल तद् ही मिलता है। वैदिक संस्कृत में स्वस्ति के रूप चलते थे। स्वस्तये रूप से यह प्रमाणित है। लौकिक संस्कृत में स्वस्ति को अव्यय[1] माना गया है। इसके रूप नहीं चलते। वैदिक संस्कृत में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित; तीन प्रकार के स्वर प्राप्त है। लौकिक संस्कृत मे उनका प्रयोग नही होता। वैदिक संस्कृत में संगीतात्मकता है, जैसे कि ग्रीक में है। लौकिक संस्कृत में संगीतात्मकता का अभाव हो गया। वैदिक संस्कृत में य और व के स्थान पर इय और उव का प्रयोग भी देखा जाता है। जैसे, लौकिक संस्कृत के वीर्यम् शब्द के समकक्ष वीरियम् भी है और स्वम् के समकक्ष सुवम् भी। वैदिक संस्कृत का त्वतान प्रत्यय लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। वैदिक संस्कृत में सप्तमी के एकवचन में ङि का लोप हो जाता है। जैसे, व्योमन्। लौकिक संस्कृत में व्योमनि होता है। वैदिक संस्कृत मे उपसर्ग क्रिया से दूर रहते हैं। जैसे; प्र बाभ्रवे निवर्तयाय शिवन्तीः लौकिक संस्कृत में वे ठीक क्रिया के पूर्व पाये जाते हैं। वैदिक संस्कृत में स्वर के कारण समास में अन्तर हो जाता है। जैसे, यदि आद्योदात्त हो तो बहुव्रीहि समास होता है और यदि अन्त्योदात्त हो, तो तत्पुरुष। जैसे, इन्द्रशत्रु। वैदिक संस्कृत में चौंसठ वर्ण प्राप्त होते हैं तथा लौकिक संस्कृत में पचास।

---

१. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

पुराकालीन आर्य-भाषा के वैदिक भाषा से लौकिक संस्कृत के रूप में एक नूतन आकार-प्रकार लेने के पीछे कई कारण रहे होंगे। उनमें एक कारण यह भी हो सकता है कि वैदिक भाषा मुख्यतः ऋग्वेद की भाषा स्थिर बन गयी थी। उसके समकालीन अन्य आर्य-भाषाएं, जो देश-भेद से बोलचाल में प्रयुक्त होती थीं, क्रमशः कालानुसार बदलती गयीं, विकसित होती गयीं, अर्थात् विकास, जो किसी भाषा की जीवितता का लक्षण है, विद्यमान रहा। वैदिक भाषा में यह सम्भव नहीं था। फलतः वह जन-सामान्य से दूर होती गयी। ऐसा होते हुए भी राष्ट्र में उसका साहित्यिक महत्त्व था; इसलिए उसका अध्ययन-अध्यापन अवरुद्ध नहीं हुआ। फिर भी साहित्यिक भाषा के रूप में वैदिक भाषा के एक सरल, सज्जित तथा सुबोध्य रूप की अपेक्षा थी। फलतः लौकिक संस्कृत का अभ्युदय हुआ।

वैदिक और लौकिक संस्कृत के जो भेदमूलक तथ्य उपस्थित किये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत का सरलीकृत रूप है। वैदिक संस्कृत में जहाँ रूपों की बहुलता और वैकल्पिकता की प्रचुरता थी, लौकिक संस्कृत में उनका लोप या सरलीकरण हुआ। वैदिक भाषा से सम्बन्ध जन-समुदाय के वंशजों ने इस नूतन भाषा को अपना लिया। यह उन आर्यों की साहित्यिक भाषा बन गयी, जो भारतवर्ष में दूर-दूर तक फैले हुए थे।

उत्तर की या उत्तर-पश्चिम की जन-भाषा सम्भवतः लौकिक संस्कृत का मुख्य आधार रही हो। फलतः भाषा की शुद्धि, स्तर आदि की दृष्टि से उत्तर का वैशिष्ट्य माना जाता है। कहा गया है—उत्तर दिशा का भाषा-प्रयोग अधिक वैदुष्य-पूर्ण है। भाषा या वाणी की शिक्षा लेने के लिए लोग उत्तर को जाते हैं। अथवा जो विद्वान् उत्तर से आते हैं, जिज्ञासु जन उनसे वाणी के सम्बन्ध में श्रवण करते हैं।

उत्तर के लोगों द्वारा वाणी के शुद्ध प्रयोग करने की जो चर्चा की गयी है; वह सम्राट् अशोक के उत्तर-पश्चिमी शिलालेखों से भी प्रकट होती है। एक समय था, काश्मीर संस्कृत विद्या के सर्वप्रधान केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित था। संस्कृत-वाङ्मय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का वहाँ प्रणयन हुआ। उपर्युक्त निरूपण इससे समर्थित होता है।

मध्यवर्ती रूप

वैदिक और लौकिक संस्कृत की भेद-रेखाओं का जो विवरण उपस्थित किया गया है, उस प्रकार की भिन्नता दोनों भाषाओं के मध्य एक ही बार में नहीं हो पाई थी। क्रमशः वैसा होता गया, जिसकी परिणति लौकिक संस्कृत के व्याकरण-नियन्त्रित, परिनिष्ठित रूप में हुई। इस परिवर्तन-क्रम के तीन स्तर माने जा सकते हैं। भारतीय आर्य-भाषा या

यह भी ज्ञातव्य है कि तब से नाम-प्रधान शैली क्रिया-प्रधान शैली का स्थान लेने लग गयी थी। एक ही बात को विभिन्न प्रकार से यथावत् रूप में व्यक्त कर सकने की संस्कृत की अपनी अनुपम विशेषता तो इससे सिद्ध होती ही है।

दर्शन, तर्क और भाष्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में क्रिया-प्रधान शैली का विशेष विकास हुआ। इतिहास, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थ नाम-प्रधान शैली में लिखे गये। गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन-रचित भाष्य, मीमांसासूत्रों पर जैमिनि द्वारा रचित शाबर-भाष्य, श्रौत सूत्रों के अन्यान्य भाष्यों में नाम-प्रधान शैली का व्यवहार हुआ है। यहां रचना में सरलता और सजीवता है। पर, आगे चलकर नव्य न्याय के युग तक पहुंचते-पहुंचते यह शैली बहुत कठिन तथा दुरूह हो गयी। क्रियाओं का प्रयोग बहुत कम हो गया। विभक्तियों में भी प्रायः प्रथमा और पंचमी का ही अधिक प्रयोग होने लगा। जैसे—इयं पृथिवी, गन्धवत्वात्, अयमग्निः, धूमवत्वात् इत्यादि। कहने का आशय यह है कि विचाराभिव्यक्ति का माध्यम विशेषण और भाव-वाचक संज्ञाएं ही रह गयीं। अव्ययों का प्रयोग भी लुप्त जैसा हो गया।

संस्कृत के पंडित आज भी विशेषतः नैयायिक विद्वान् शास्त्रार्थ में इसी शैली का उपयोग करते हैं। पाण्डित्य तो इसमें अवश्य ही है, पर, लोकोपयोगिता नहीं है; क्योंकि इसमें भाषा की सहजता के स्थान पर पाण्डित्य-प्रदर्शन के निमित्त सर्वथा कृत्रिमता दृष्टिगोचर होती है।

संस्कृत का विशाल वाङ्मय

वैदिक और लौकिक संस्कृत के बीच के काल की दो महान् रचनाएं हैं—रामायण और महाभारत। ये ऐतिहासिक महाकाव्य कहे जाते हैं। रघुवंश, कुमारसम्भव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तररामचरित, अनर्घराघव जैसे अनेकानेक महत्वपूर्ण काव्यों और नाटकों के ये ही उपजीव्य रहे हैं। इनकी भाषा लौकिक संस्कृत के काफी सदृश है, पर शब्दों के प्राचीन रूप, शैली की सरलता, आत्मनेपद तथा परस्मैपद की विभक्तियों के विशेष भेद के बिना धातुओं के रूपों का स्वतन्त्र प्रयोग आदि अनेक ऐसे पहलू भी हैं, जिनके कारण इनकी भाषा वैदिक संस्कृत के भी निकट है। भाषा की दृष्टि से दोनों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। दोनों ग्रन्थ तत्कालीन भारतीय संस्कृति, लोक-जीवन, सामाजिक परम्पराओं और नीतियों के सजीव चित्र उपस्थित करते हैं।

इतिहास, आख्यान, पुराण जैसे शब्द वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं। वैदिक साहित्य में पुरुरवा व उर्वशी तथा शुनः शेप आदि के कथानक प्राप्त हैं, जो मानव की इतिवृत्तात्मक सर्जन की अभिरुचि के सूचक हैं।

इतिहास की एक विशेष व्याख्या प्राचीन काल से स्वीकृत है। उसके अनुसार जिसमें

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश ग्रथित हो, जो पूर्व-वृत्तों और कथाओं से युक्त हो, वह इतिहास कहा जाता है।[1] रामायण और महाभारत इस कसौटी पर खर उतरते हैं। इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् जैसी उक्तियों से प्रकट है कि इतिहास और पुराण; वैदिक ज्ञान का उपबृंहण (संवर्द्धन) करने वाले माने गये।

रामायण—मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन के माध्यम से इस महाकाव्य में आदर्श शासन, कर्तव्य-निष्ठा, न्याय, सदाचार, नीति, सहृदयता, करुणा, त्याग, सेवा, समर्पण, स्नेह तथा आदर्श गृही-जीवन का एक मोहक चित्र उपस्थित किया गया है। इसके रचयिता वाल्मीकि थे। एक व्याध द्वारा आह्लाद एवं क्रिया-रत क्रौंच के मार डाले जाने पर क्रौंची के मर्मान्तक विलाप को सुनकर वाल्मीकि का हृदय द्रवित हो उठता है और उनका शोक श्लोक बन जाता है—शोकः श्लोकत्वमागतः।[2] सहसा उनके मुंह से शब्द निकल पड़ते हैं :

> मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।[3]

ये शोक-प्रसूत शब्द सहज भाव से अनुष्टुप् छन्द का रूप लिये आते हैं।

महाभारत अनेक कवियों की लेखिनी से निःसृत अनेक काव्य-कृतियों का एक विराट विश्व-कोश है, रामायण वैसी रचना नहीं है। यह सारा काव्य प्रायः एक ही मनीषी द्वारा प्रणीत हुआ है। विश्वास किया जाता है कि वैदिक साहित्य के बाद मानव कवि का रचा हुआ यह प्रथम काव्य है। यही कारण है, इसके रचनाकार वाल्मीकि आदि कवि हैं और यह उनका आदि-काव्य। विद्वानों द्वारा किये गये परीक्षण, समीक्षण और पर्यालोचन से यह सिद्ध हुआ है कि निःसन्देह अलंकृत काव्य विधा के ग्रन्थों में यह सबसे पहला ग्रन्थ है। इसमें कवित्व का प्रशस्त प्रस्फुटन हुआ है। शैली की सुकुमारता, सरल एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग, अलंकारों का सहज समावेश, सभी रसों का सम्यक् परिपाक, चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता आदि मौलिक विशेषताएं हैं। कहा जाता है कि विश्व के समग्र वाङ्मय में इस प्रकार का सर्वाङ्गीण काव्य-ग्रन्थ कम है।

रामायण के प्रणयन के सम्बन्ध में स्वयं वाल्मीकि ने लिखा है :

—

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान् पंच षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥[1]

—ऋषि ने रामायण में २४ हजार श्लोकों की रचना की तथा उसे पांचसौ सर्गों और छः काण्डों में विभक्त किया।

वर्तमान में प्राप्त रामायण में चौबीस हजार से कुछ अधिक श्लोक हैं। सर्गों की संख्या ६४५ है। इससे यह स्पष्ट है कि रामायण की मूल सामग्री कुछ इधर-उधर अवश्य हुई है। कुछ प्रक्षिप्त अंश जुड़े हैं, कुछ सर्ग लुप्त हो गये हैं, कुछ नये आ गये हैं; अतः प्राप्त रामायण को अक्षरशः वाल्मीकि-रचित तो नहीं माना जा सकता, पर, उसका बहुत अधिक भाग मौलिक है और कुछ ही भाग प्रक्षिप्त आ गये रूप में योजित है। निश्चय ही इसके कलेवर में उतना मिश्रण नहीं हुआ है, जितना महाभारत में। दोषपूर्ण छंटनी से सम्भव है, कुछ भाग छंट जाये, पर, अधिकांश भाग यथावत् रह सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों के रामायण के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं। प्रो० वेबर इसे बौद्ध ग्रन्थ दशरथ जातक और होमर के इलियड पर आधारित मानते हैं। प्रो० जैकोबी ऋग्वेद में प्राप्त इन्द्र और वृत्र की कथा से इसकी समानता स्थापित करते हैं। टालव्वायज़ ह्वीलर का मन्तव्य है कि १३ वीं सदी में विजयनगर-साम्राज्य के संस्थापकों द्वारा जो दक्षिण विजय किया गया, रामायण उस पर आधारित है। लैसेन ऐसा मानते हैं, आर्यों द्वारा दक्षिण भारत को विजय का जो प्रथम अभियान हुआ, रामायण उसकी कथात्मक अभिव्यंजना है। वस्तुतः ये मत एकांगी हैं, अपरिपक्व अध्ययन के द्योतक हैं। भारतीय विद्वानों ने इस विषय में बहुत लिखा है; अतः यहां विशेष ऊहापोह अपेक्षित नहीं है।

महाभारत—भारतः पंचमो वेदः कहकर महाभारत को रामायण से भी विशिष्ट स्थान दिया गया। भारत में वैदिक परम्परा में वेद-वाक्य से अधिक प्रामाणिक कोई भी वाक्य नहीं माना जाता। महाभारत को पंचम वेद कहकर भारतीय मानस ने इसे अपनी सर्वोच्च श्रद्धा अर्पित की। महाभारत की स्वयं की अपनी घोषणा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में इसमें जो प्रतिपादित हुआ है, अन्यत्र भी वही प्रकारान्तर से वर्णित हुआ है : यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्[2] जो महाभारत में नहीं है, वह कम-से-कम भारतवर्ष में तो और कहीं नहीं है।[3] यह केवल अतिरंजन नहीं माना जाना चाहिए। महाभारत के एक छोटे से अंश गीता का विश्व-साहित्य में जो स्थान है, उससे यह अनुमेय

1. रामायण, १, ४, २.
2. महाभारत, आदि पर्व, ६२-२६
3. यन्न भारते तन्न भारते

है। व्यासदेव ने आदि पर्व में स्वयं इसे इतिहास के नाम से अभिहित किया है : जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।[1] ऐसा लगता है, प्राक्तन समय में महाभारत इतिहास के रूप में स्वीकृत रहा होगा। व्यासदेव स्वयं इसे काव्य भी कहते हैं। ब्रह्मा को उद्दिष्ट कर उनका वचन है : कृतं मयेदं भगवन्! काव्यं परमपूजितम्। ब्रह्मा ने उत्तर में उनसे कहा : त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति।

आलंकारिक परम्परा के अनेकानेक महाकाव्यों के जन्मदाता इस महाभारत को सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य आनन्दवर्धन ने महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने महाभारत के बहुत-से सरस एवं भाव-स्निग्ध अंशों को स्थान-स्थान पर उद्धृत कर उनकी व्यंजनाओं का विश्लेषण किया और यह स्थापना की कि यद्यपि अन्यान्य रस भी यहाँ उपस्थित हैं, पर शान्त रस ही महाभारत का प्रधान रस है।

विश्व के ऐतिहासिक-साहित्य में गुण और विस्तार; दोनों ही अपेक्षाओं से महाभारत सबसे बड़ा महाग्रन्थ है। विद्वान् व्यास की होमर और दान्ते से तुलना करते हैं, परन्तु होमर के इलियड तथा ओडिसी; दोनों को मिलाकर भी देखा जाये, तो महाभारत उनसे कहीं आठ गुना विस्तृत सिद्ध होगा। इसमें अठारह पर्व हैं। शान्तिपर्व सबसे बड़ा है। एक ही पर्व में १४ सहस्र श्लोक हैं। हरिवंश को महाभारत का परिशिष्ट भाग या १९ वाँ पर्व माना जा सकता है। महाभारत में कौरवों तथा पाण्डवों और हरिवंश में कृष्ण तथा यादवों का क्रमबद्ध इतिहास का विस्तृत वर्णन है। हरिवंश को मिलाने पर महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। महाभारत निःसन्देह बहुत महत्त्व और भारवत्ता—अतिविशालता लिये हुए है। इसीलिए इसके नाम के निर्वचन में कहा गया है : महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।[2]

वस्तुतः महाभारत [illegible] विषयक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में बहुत कुछ अपने में समाविष्ट है। वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी विधि-विधान, कर्तव्य तथा धर्म और मोक्ष सम्बन्धी दार्शनिक विवेचनों से भरा है। [illegible] के प्राचीन [illegible] का [illegible] से उत्पन्न हुआ है। भाषा ओजस्वी तथा प्रवाहपूर्ण है। यद्यपि रामायण जैसा यहाँ [illegible] नहीं है, पर, उपमा तथा अलंकारों के बड़े सुन्दर प्रयोग स्थान-स्थान पर प्राप्त हैं [illegible] रचनाकार की [illegible] के परिचायक हैं। व्यासदेव की शैली के मुख्य गुण हैं—स्वाभाविकता और सरलता। इनके [illegible] के चरित्र में [illegible] और [illegible] बहुत [illegible]

१ महाभारत आदि पर्व, ६२. २२
२ महाभारत आदि पर्व १, ३००

सामग्री का मिलना।

१२ वें अध्याय में क्षत्रियों की उत्पत्ति का निरूपण है। आगे चल कर महाभारत में इतना जो मिलाया जाता रहा, उससे यह निकाल पाना बड़ा कठिन हो गया कि मूल व्यासदेव की यथार्थ रचना कितनी है और कौन-सी है। कौरवों और पाण्डवों की मृत्यु के पश्चात् व्यास ने इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया। इसे ग्रन्थ का प्रथम संस्करण कहा जा सकता है।

अर्जुन का पौत्र और अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित था। शृंगी ऋषि के शाप के कारण सर्प-दंश से उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र का नाम जनमेजय था। उसने समग्र सर्पों को नष्ट करने के लिए नाग-यज्ञ किया। कहा जाता है, महर्षि व्यास भी इस यज्ञ में उपस्थित हुए थे। जनमेजय ने उनसे प्रार्थना की कि उनके पूर्वजों—पाण्डवों तथा कौरवों के युद्ध का वर्णन कर सुनाएं। व्यासदेव ने स्वयं तो अपना जय महाकाव्य नहीं सुनाया, पर, अपने शिष्य वैशम्पायन को वैसा करने की आज्ञा दी। गुरु के आदेश से वैशम्पायन ने वैसा किया। वैशम्पायन उस समय सुनाते जाते थे। जनमेजय बीच-बीच में कुछ जिज्ञासाएं एवं प्रश्न करते जाते थे। वैशम्पायन उनका समाधान करते जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है, वैशम्पायन जो समाधान देते थे, वे व्यास-रचित महाभारत में नहीं थे। वैशम्पायन अपनी ओर से ऐसा करते थे या किसी दूसरे स्थान से उन्हें वे प्राप्त थे, यह ज्ञात नहीं है। व्यास के मूल भाग के साथ ये प्रश्नोत्तरात्मक अंश मिल गये या मिला दिये गये। इस प्रकार महाभारत का एक दूसरा संस्करण तैयार हो गया, जो पहले से विस्तृत था। वैशम्पायन के माध्यम से परिवर्धित इस संस्करण का नाम भारत संहिता पड़ा। आदि पर्व में इस सम्बन्ध में उल्लेख है :

> चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्,
> उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥[1]

उपाख्यानों को छोड़कर भारत संहिता में २४ सहस्र श्लोक हैं। इससे अनुमान होता है कि व्यास ने जब महाकाव्य की रचना की, उसमें २४ सहस्र से कम श्लोक रहे होंगे। सम्भवतः बहुत कम नहीं हो सकते। वैशम्पायन ने कुछ ही अंश जोड़ा होगा। कुछ ही समय बाद यह और पल्लवित हुआ। शौनक ऋषि ने नैमिषारण्य में बारह वर्ष तक चलने वाले यज्ञ का आयोजन किया। अनेक वेदपाठी विद्वान्, ऋषि-मुनि और [illegible] एकत्र हुए। उपस्थित ऋषियों में लोमहर्षण ऋषि के पुत्र सौति भी थे। [illegible] जनमेजय द्वारा किये गये नाग-यज्ञ में भी उपस्थित थे और उन्होंने वहां वैशम्पायन द्वारा [illegible] महाभारत के [illegible] सुना था। [illegible] यह [illegible] सुनाया। [illegible] ऋषियों ने बीच-बीच में [illegible]

१. महाभारत, आदि पर्व १.[illegible]

हुआ अथवा जहां जिज्ञासाएं की गईं, अपने विचार तथा भाव भी व्यक्त किये। इस प्रकार महाभारत का एक तीसरा संस्करण तैयार हो गया, जिसमें हरिवंश भी संयुक्त है। प्रारम्भ में भी सौति ने कुछ नया अंश जोड़ दिया। वह महाभारत की एक प्रकार से प्रस्तावना, प्राक्कथन या विषयानुक्रम कहा जा सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ का कलेवर एक लाख श्लोकों का हो गया। ग्रन्थ के भाग-विभाजन को भी सौति ने एक नया क्रम दिया। महाभारत मूलतः एक सौ पर्वों में विभक्त था। सौति ने विषयों का सूक्ष्मता से परिशीलन करते हुए इसे अठारह बड़े पर्वों में विभक्त किया। पर्वों को अध्यायों में बांटा। इस प्रकार महाभारत का अति विशाल और भारी कलेवर तैयार हो गया। महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते यह उक्ति सम्भवतः इस संस्करण की प्रस्तुति होने पर अस्तित्व में आई हो।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि महाभारत को इतना विशाल आकार क्यों दिया गया, जिससे मूल ही पहचान से बाहर हो जाए। मूल का अज्ञात हो जाना लाभ-प्रद नहीं कहा जा सकता। उससे भाषा की एकरूपता भी मिट जाती है। पर, यह सब हुआ। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। सम्भवतः एक विचार यह रहा होगा कि महाभारत ज्ञान-विज्ञान, आचार-शास्त्र तथा नीति-शास्त्र का एक प्रकार का विश्वकोश बन जाए; इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसमें उन सभी विषयों का समावेश किया जाता रहा होगा, जिनसे उक्त लक्ष्य की पूर्ति हो। तभी तो यदिहास्ति तत् सर्वत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् की उक्ति फलित हो सकती थी। एक और कारण भी रहा हो, समय पाकर मूल महाभारत का कुछ अंश नष्ट हो गया हो। उसे पूरा करने के लिए विद्वानों ने अनेक श्लोक, अध्याय आदि जोड़ दिये होंगे। कितना नष्ट हुआ, कितने से उसकी पूर्ति हो, इत्यादि वहां गौण हो गया हो, यह स्वाभाविक था। उस क्रम में अपेक्षित, अनपेक्षित बहुत सारे अंश जुड़ गये हों। इसका अच्छा परिणाम तो यह हुआ कि महाभारत को नीति-शास्त्र, कर्तव्य-शास्त्र, आचार-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान, दर्शन, धर्म इत्यादि सभी विषयों के ज्ञान-विज्ञान का विशाल विश्व-कोश बना डालने की योजना की बहुत सीमा तक पूर्ति हुई। पर, भाषा-तत्त्व की दृष्टि से एक अपूरणीय क्षति भी हुई। महाभारत की मूल भाषा इतने विशाल कलेवर में इस प्रकार समा गयी है कि उसे बहुत स्पष्ट रूप में संकीर्ण कर पाना वास्तव में कठिन हो गया है।

महाभारत के परिवर्द्धन में उल्लिखित घटनाओं के अनुसार तीनों संस्करणों के तैयार होने में बीच का व्यवधान बहुत लम्बा नहीं रहा; अतः भाषात्मक स्तर आदि में बहुत बड़ा भेद नहीं सोचा जाना चाहिए, पर, इसके साथ-ही-साथ परिवर्द्धन से सम्बद्ध जो घटना-क्रम व्याख्यात हुए हैं, वहीं तक यह क्रम समाप्त हो जाता, तब तक तो यह समुचित था, पर, ऐसा अनुमान है कि आगे भी यह क्रम चलता रहा, जिससे नवीन सामग्री का मिलना

रुका नहीं। विस्तृत विषय-वस्तु का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर यह भी विदित होता है कि श्रमण-संस्कृति के अहिंसा, निर्वेद, वैराग्य, तितिक्षा और अध्यात्म जैसे तत्त्व भी इसमें मिश्रित हो गये। संस्कृत-वाङ्मय में महाभारत का जो महत्त्व है, वह सदा अक्षुण्ण रहेगा। भाषा-तत्त्व, दर्शन तथा संस्कृति के तुलनात्मक एवं गवेषणात्मक परिशीलन की दृष्टि से उसमें पर्याप्त सामग्री भरी है।

रामायण और महाभारत के आधार पर तथा स्वतन्त्र रूप से आगे संस्कृत में जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ, विश्व के वाङ्मय में उसकी अनेक दृष्टियों से अप्रतिम विशेषताएं हैं। रामायण महाभारत काल से मुगल बादशाह शाहजहाँ के काल तक संस्कृत में विभिन्न विषयों पर उच्च कोटि के साहित्य-ग्रंथ रचे जाते रहने का एक अविश्रान्त स्रोत रहा है। एक सीमा तक, वर्तमान काल पर्यन्त उसकी गति अकुण्ठित अस्तित्व लिये हुए है।

क्या संस्कृत बोलचाल की भाषा थी?

संस्कृत का जन-साधारण के दैनन्दिन व्यवहार में प्रचलन था या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो प्रकार के अभिमत हैं। पाश्चात्य विद्वानों में हॉर्नेली, जार्ज ग्रियर्सन तथा वेबर आदि की मान्यता है कि संस्कृत का जन-साधारण द्वारा अपने पारस्परिक व्यवहार या बोलचाल में प्रयोग नहीं होता था। इसके विपरीत डा० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर तथा डा० पी० डी० गुणे आदि ने यह स्वीकार किया है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी। उन्होंने ऐसा न मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों के मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार दूर से आह्वान, अभिवादन, परिचय, वार्तालाप आदि से सम्बद्ध कतिपय ऐसे नियम व्याकरण में प्राप्त हैं, जो किसी बोलचाल की भाषा पर ही लागू हो सकते हैं। साहित्य में प्रयुक्त भाषा और बोलचाल में प्रयुक्त भाषा का किंचित् भेद वे अवश्य स्वीकार करते हैं; क्योंकि साहित्यिक भाषा मर्यादानुगत तथा नियमानुबद्ध अधिक होती है और उसी का बोलचाल का रूप अपेक्षाकृत कम नियन्त्रित और कम मर्यादित होता है। फिर भी उनमें परस्पर उतनी भिन्नता नहीं होती कि उन्हें दो कह सकें।

संस्कृत का जो रूप पाणिनि ने प्रतिष्ठित किया, ठीक उसी रूप में संस्कृत सर्वसाधारण में भाषित थी, ऐसा तो सम्भव नहीं लगता। उससे सम्बद्ध, सन्निकटस्थ या मिलते-जुलते प्रचलित भाषा के रूप को बोलचाल की संस्कृत मान लिया जाये, तब भले ही ऐसा हो। पर, ऐसा माना नहीं जा सकता। क्योंकि व्याकरण के नियमों से अप्रतिबद्ध और एक सीमा तक स्वच्छन्द भाषा को संस्कृत नहीं कहा जा सकता। ऐसा होने पर उसका संस्कृतत्व या संस्कारवत्ता स्थिर नहीं रह पाती। वास्तव में भाषा का साहित्य-प्रयुक्त रूप ही ऐसा हो सकता है, जो नियमों के नियन्त्रण में रह सके। बोलचाल के रूप में ऐसा रहने की

सम्भावना नहीं बनती। बोलचाल की भाषा सदा विकासोन्मुख होती है। भाषा के विकास को विकार भी कहा जाता है। उसका अर्थ भी भिन्न रूप लेता है, कुत्सित नहीं।

संस्कृत के स्वरूप-गठन में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शिष्ट भाषा रही है। वह वर्ग जो विशेषत: विद्या-निष्णात था, जब कभी परस्पर मिलता, इसका अवश्य प्रयोग करता रहा होगा। आज भी यदा-कदा ऐसा देखा जाता है, जब पण्डितवृन्द मिलते हैं, तो इसका पारस्परिक वार्तालाप में उपयोग करते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी ऐसा निर्देश प्राप्त होता है कि वैद्य जब परस्पर में वार्तालाप करें, तो वे संस्कृत का व्यवहार करें।

संस्कृत व्याकरण-परिष्कृत भाषा तो थी, पर, बोलचाल की भाषा से अत्यधिक दूर नहीं थी; अतः ऐसा सम्भव जान पड़ता है कि पुरातन युग में शिष्ट और विद्वद्वृन्द द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा को साधारण जनता सामान्यतः समझ तो लेती थी, पर, उसे बोल नहीं सकती थी। उसका सुदृढ़ प्रमाण उत्तरवर्ती काल के संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होता है। वहां विभिन्न पात्रों द्वारा भाषाओं के प्रयोग की एक विशेष व्यवस्था है। परिव्राजक, ब्राह्मण, राजा, न्यायाधीश, अमात्य, सेनापति आदि उच्च वर्ग के व्यक्तियों द्वारा नाटकों मे संस्कृत-भाषा का प्रयोग किया जाता है। स्त्री, शूद्र, किसान, मजदूर, दास, दासी, दुकानदार आदि दूसरी श्रेणी (साधारण या निम्न वर्ग आज की भाषा मे जिसे जन-साधारण या आम जनता कहा जा सकता है) के व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग करने का विधान है। जब एक भृत्य राजा से वार्तालाप करता है, तो वह राजा द्वारा संस्कृत में कथित बात को सुनकर उसका प्राकृत में उत्तर देता है। यदि वह राजा द्वारा संस्कृत में कथित बात को अच्छी तरह नहीं समझता, तो उसका उत्तर कैसे दे पाता? इससे निश्चय ही यह प्रकट होता है कि संस्कृत के काल में जन-साधारण के बोलचाल के उपयोग में जो भाषा आती थी, वह संस्कृत नहीं थी, संस्कृत के बहुत निकट अवश्य थी।

संस्कृत के जो नाटक कहलाते हैं, वास्तव में उनमें प्राकृत का भाग कम नहीं, प्रत्युत अधिक है। नाटक में संस्कृत बोलने वाले पात्रों की अपेक्षा प्राकृत बोलने वाले पात्र भी प्रायः अधिक मिलते हैं। उदाहरणार्थ, शूद्रक के मृच्छकटिक में तीस पात्र हैं, जिनमें केवल चार पात्र[1] संस्कृत बोलते हैं, बाकी के छब्बीस पात्र प्राकृत। कभी-कभी किन्हीं नाटकों में प्राकृत-भाषी पात्र बीच में किसी प्रसंग में थोड़ी-सी संस्कृत बोलते हुए भी दिखला दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, भास के चारुदत्त में नायक चारुदत्त की पत्नी कुलजा होने के कारण संस्कृत बोलती हुई भी दिखलाई गयी है, पर, साधारणतया वह प्राकृत ही बोलती है। नाटकों के इस क्रम से सहज ही यह अनुमान होता है कि सामान्यतया प्राकृतों का लोक-

१. नायक चारुदत्त, विट, आर्यक और ब्राह्मणजातीय तस्कर शर्विलक।

भाषाओं के रूप में [illegible] [illegible] [illegible] में नाटक का प्रयोग चलता था, पर, कालक्रम और [illegible]।

लोक-प्रयुक्त भाषाएं जीवित होती हैं। जीवित भाषा में एकरूपता नहीं होती। स्थान-भेद, जाति-भेद, व्यवसाय-भेद आदि ऐसे कारण हैं, जिनसे उनका रूप [illegible] परिवर्तित हो जाता है और वह भी भिन्न भिन्न प्रकार से। नाट्य शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने नाटक में भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा भिन्न भिन्न भाषाओं का उपयोग किया जाना चाहिए, इसका विस्तृत ब्यौरा दिया है। प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के हेतु उसकी चर्चा यहां अपेक्षित है। भरत ने [illegible] रूप में प्रस्तुत विषय में प्रस्तुत किया है[1] :—

पात्र	भाषा
भृत्य (नौकर), राजपुत्र, सेठ	अर्धमागधी
धूर्त	अवन्तिजा
हाथी, घोड़े, बकरे, ऊँट आदि के पोष-स्थान में बसने वाले लोग	आभीर अथवा शाबरी
खस, शकार, घोषक तथा इस प्रकार के अन्य व्यक्ति	शक देश की भाषा (शाकी)
पुल्कस	चाण्डाली
द्यूतकार, नगर-रक्षक, सुभट	दाक्षिणात्या
वनचर	द्रामडी
राजा के अन्तःपुर में सुरंग खोदने वालों का ध्यान रखने वाला, अश्व-रक्षक, आपद्-ग्रस्त नायक	मागधी
विदूषक प्रभृति	प्राच्या
उदीच्य	बाह्लिक
अङ्गारकार, आखेटक, काष्ठयन्त्रोपजीवी	शकार भाषा (शकारी) अथवा वनौकसी
नायिका, सखी	शौरसेनी

भाषाओं के ये जो अनेक नाम सूचित किये गये हैं, वे स्थान-भेद, वर्ण-भेद, व्यवसाय-भेद आदि पर आधृत प्राकृतों के अनेक रूप हैं। आज भी देखा जाता है, एक ही प्रदेश की भाषा

१. नाट्य शास्त्र, १७, ३१-५५

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, व्यवसायों, जातियों व वर्गों के लोगों द्वारा थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ बोली जाती है। एक ही नगर या गांव में ब्राह्मण जाति के लोगों के बोलने का कुछ अलग लहजा, थोड़ी-सी भिन्न शब्दावली आदि की विशेषता रहती है, जबकि व्यापारी समाज का बोलने का प्रकार कुछ अपनी विशेषताएं लिये रहता है। वही भाषा हरिजन जातियों में परस्पर बोली जाती है, तब उसमें उनकी अपनी विशेषता तथा औरों से भिन्नता रहती है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि नाटकों में लोक-भाषाओं के प्रयोग की जो इतनी विविधता निर्दिष्ट की गयी है, उससे यह सिद्ध होता है कि शिष्टजनों और सामान्य लोगों की भाषा में एक अन्तर था। शिष्टजन संस्कृत का प्रयोग करने में गौरव भी अनुभव करते रहे होंगे; क्योंकि संस्कृत को बहुत समय तक राज्याश्रय भी प्राप्त रहा। वैदिक आम्नाय में आस्था रखने वाले राजाओं ने इसे वेदों और धर्म-शास्त्रों की भाषा होने से पवित्र माना; फलतः उसे राज-भाषा का स्थान मिला। ताम्र-पत्रों, दान-पत्रों, प्रशस्ति-पत्रों आदि में इसी का प्रयोग चलता रहा। जहाँ भारतीय राजाओं ने अन्य देशों में अपने उपनिवेश तथा सम्बन्ध प्रतिष्ठापित किये, वहां के लिए भी सम्पर्क-भाषा संस्कृत ही रही। वहां की भाषाओं पर भी संस्कृत का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। यही कारण तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, अफगानिस्तान तथा पूर्वी द्वीप समूह आदि देशों की भाषाओं में संस्कृत के शब्द प्राप्त होते हैं।

शिष्टजन-प्रयोज्य भाषा होने के कारण संस्कृत में साहित्य-सर्जन की एक अविच्छिन्न परम्परा चलती रही। इसी का परिणाम है कि संस्कृत की अद्भुत प्रतिभाओं से इस भाषा का साहित्य प्रसूत हुआ, जो विश्व के समृद्धतम साहित्यों में गिना जाता है। संस्कृत ने कालिदास, माघ, भारवि और श्रीहर्ष जैसे कवि उत्पन्न किये, जिनकी विशेषताएं। भाव में अप्रतिम हैं।

पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ का यह विभाजन प्राकृत के भेदों पर विस्तार से प्रकाश डालता है।

प्राकृत के नाम-नामान्तर

प्राकृत के लिए पाइय, पाइल, पाउय, पाउड, पागद, पागत, पागय, पायअ, पागय, पायड जैसे अनेक नाम प्राप्त होते हैं। जैन अंग-साहित्य के तीसरे अंग स्थानांग सूत्र[1] में पागत शब्द व्यवहृत हुआ है। क्षमाश्रमण जिनभद्रगणिकृत विशेषावश्यक भाष्य[2] की टीका में आचार्य हेमचन्द्र ने पागय शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर द्वारा रचित कर्पूरमंजरी[3] नामक सट्टक में पाउअ शब्द आया है। वाक्पतिराज ने गउडवहो नामक प्राकृत-काव्य में पायय[4] शब्द का प्रयोग किया है। ये सभी शब्द प्राकृत के अर्थ में हैं। नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र[5] में प्राकृत के नाम से इस भाषा को अभिहित किया है।

प्राकृत का उत्पत्ति-स्रोत

भाषा-वैज्ञानिक साधारणतया ऐसा मानते आ रहे हैं कि आर्य भाषाओं के विकास-क्रम के अन्तर्गत वैदिक भाषा से संस्कृत का विकास हुआ और संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। इसीलिए भाषा वैज्ञानिक इसका अस्तित्व संस्कृत-काल के पश्चात् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन अपेक्षित है।

वैयाकरणों की मान्यताएं

सुप्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत की परिभाषा करते हुए कहा है: "प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"—प्रकृति संस्कृत है; वहां होने वाली या उससे आने वाली भाषा प्राकृत है। मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व में प्राकृत का "प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतमुच्यते"—प्रकृति संस्कृत है, वहां होने वाली भाषा अर्थात् उससे निष्पन्न होने वाली भाषा प्राकृत कही जाती है, ऐसा लक्षण किया है। प्राकृत-चन्द्रिका में "प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्"—प्रकृति संस्कृत है, वहां होने से या उससे उद्भूत होने से यह भाषा प्राकृत कही गयी है, ऐसा उल्लेख किया गया है। नरसिंह ने

1. स्थानांगसूत्र, स्थान ७, सूत्र ३९३
2. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४६९
3. कर्पूर मंजरी, जवनिका १, श्लोक ८
4. गउडवहो, गा ...
5. नाट्यशास्त्र,

षड्भाषाचन्द्रिका में "प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता"—संस्कृत रूप प्रकृति का विकार—विकास प्राकृत माना गया है, ऐसा विवेचन किया है। प्राकृत संजीवनी में कहा गया है कि "प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः" —प्राकृत का मूल स्रोत सर्वथा संस्कृत ही है। नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् धनिक ने दशरूपक में "प्रकृतिः आगतं प्राकृतम्, प्रकृतिः संस्कृतम्"—जो प्रकृति से आगत है, वह प्राकृत है और प्रकृति संस्कृत है, ऐसा विश्लेषण किया है। सिंहदेवगणी ने वाग्भटालंकार की टीका में "प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्"—संस्कृत रूप प्रकृति से जो भाषा आई—उद्भूत हुई, वह प्राकृत है, ऐसी व्याख्या की है। काव्यादर्श के टीकाकार प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने लिखा है : "संस्कृतरूपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्"—संस्कृतरूप प्रकृति से उत्पन्नता के कारण यह भाषा प्राकृत नाम से अभिहित हुई है। नारायण ने रसिक-सर्वस्व में प्राकृत और अपभ्रंश के उद्भव की चर्चा करते हुए कहा है : "संस्कृतात् प्राकृतमिष्टम्,ततोऽपभ्रंशभाषणम्"—संस्कृत से प्राकृत और उससे अपभ्रंश अस्तित्व में आई।

प्राकृत के वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के कतिपय टीकाकारों के उपर्युक्त विचारों से सामान्यतः यह प्रकट होता है कि उन सब की प्रायः एक ही धारणा थी कि संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ है। सबसे पहले यह विमर्षणीय है कि संस्कृत का अर्थ ही संस्कार, परिमार्जन या संशोधन की हुई भाषा है, तब उससे प्राकृत जैसी किसी दूसरी भाषा का उद्भूत होना कैसे सम्भव हो सकता है ? या तो प्राकृत के उपर्युक्त वैयाकरणों और काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने भाषा-तत्त्व या भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सोचा नहीं था या उनके कहने का अभिप्राय कुछ अन्य था।

प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ जन-साधारण या स्वभाव होता है। जन-साधारण की भाषा या स्वाभाविक भाषा—वस्तुतः प्राकृत का ऐसा ही अर्थ होना चाहिए। अग्रिम प्रकरणों में की गयी कुछ विद्वानों के मतों की चर्चा से यह संगत प्रतीत होगा।

उपर्युक्त विद्वानों ने यदि वस्तुतः संस्कृत को प्राकृत का मूल स्रोत स्वीकार किया हो, इसी अर्थ में संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहा हो तो यह विचारणीय है। जैसा कि सिद्ध है, संस्कृत भाषा व्याकरण से सर्वथा नियमित एवं प्रतिबद्ध हो चुकी थी। ऐसा होने के अनन्तर भाषा का अपना स्वरूप तो यथावत् बना रहता है, पर, उसका विकास रुक जाता है। उससे किसी नई भाषा का प्रसूत होना सम्भव नहीं होता; क्योंकि वह स्वयं किसी बोलचाल की भाषा (जन-भाषा) के आधार पर संस्कार-युक्त रूप धारण करती है। आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वान्, जिनकी धार्मिक परम्परा में प्राकृत को जगत् की आदि भाषा तक कहा गया है, उसे संस्कृत से निःसृत मानें, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? आचार्य हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति के रूप में जो निरूपित किया है, उसका

एक विशेष आशय प्रतीत होता है। ये वैयाकरण तथा काव्यशास्त्रीय टीकाकार प्रायः प्राकृत-काल के परवर्ती हैं। इनका समय अपभ्रंशों के अनन्तर आधुनिक भाषाओं के उद्गम तथा विकास के निकट का है। तब प्राकृत का पठन-पाठन लगभग बन्द हो गया था। यहाँ तक कि प्राकृत को समझने के लिए संस्कृत-छाया से काम लेना पड़ता था। पुरातन भाषाओं के सीखने का माध्यम संस्कृत भाषा थी। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत यद्यपि लोक-भाषा का रूप कभी भी नहीं ले सकी, परन्तु, भारत की आर्य-भाषाओं के आदि-काल से लेकर अनेक शताब्दियों तक वह भारत में एक शिष्ट भाषा के रूप में प्रयुक्त रही। इस दृष्टि से उसकी व्याप्ति और महत्व क्षीण नहीं हुआ। तभी तो काल-क्रमवश जन-जन के लिए अपरिचित बनी प्राकृत जैसी भाषा को, जो कभी सर्वजन-प्रचलित भाषा थी, समझने के लिए संस्कृत जैसी शिष्ट भाषा का अवलम्बन लेना पड़ा। सम्भवतः प्राकृत-वैयाकरणों के मन पर इसी स्थिति का असर था। यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत का आधार संस्कृत बताया। यहां तक हुआ, जैन विद्वान्, जैन श्रमण, जिनका मौलिक वाङ्मय प्राकृत में रचित है, अपने आर्ष ग्रन्थों को समझने में संस्कृत छाया और टीका का सहयोग आवश्यक मानने लगे थे।

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ और विशेषतः ज्ञापनीय है। आचार्य हेमचन्द्र ने कोई स्वतन्त्र प्राकृत-व्याकरण नहीं लिखा। उन्होंने सिद्धहेमशब्दानुशासन के नाम से बृहत् संस्कृत-व्याकरण की रचना की।[1] उसके सात अध्यायों में संस्कृत-व्याकरण के समग्र विषयों का विवेचन है। आठवें अध्याय में प्राकृत-व्याकरण का वर्णन किया गया

१. आचार्य हेमचन्द्र की व्याकरण-रचना के सम्बन्ध में एक घटना है। गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह गुर्जरदेश को काश्मीर, काशी और मिथिला की तरह संस्कृत-विद्या का प्रशस्त पीठ देखना चाहता था। उसने अपने राज्य के विद्वानों से यह अनुरोध किया कि वे एक नूतन व्याकरण की रचना करें, जो अपनी कोटि की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति हो। सिद्धराज जयसिंह को विशेषतः यह प्रेरणा तब मिली, जब उसने अपने द्वारा जीते गये मालव देश के लूट के माल में आये एक ग्रन्थ-भण्डार की गवेषणा करवाई। उसमें धारा-धीश भोज द्वारा रचित एक व्याकरण-ग्रन्थ पर सिद्धराज की दृष्टि पड़ी, जिस (ग्रन्थ) की पण्डितों ने बड़ी प्रशंसा की। सिद्धराज को साहित्यिक स्पर्धा जगी। फलतः उसने विद्वानों से उक्त अनुरोध किया। सिद्धराज की राजसभा में आचार्य हेमचन्द्र का सर्वातिशायी स्थान था। वे अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे, अनेक विषयों के मार्मिक विद्वान् थे। प्रभावकचरित में इस प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

सर्वे सम्भूय विद्वान्सो, हेमचन्द्रं व्यलोकयन्।
महाभक्त्या राज्ञासावभ्यर्थ्य प्रार्थि (ततस्ततः)॥

एकरूपाऽपि हि भगवतोऽर्धमागधीभाषा वारिदविमुक्तवारिवद् आश्रयानुरूपतया परिणमति।"
इस तथ्य को और पुष्ट करने के लिए वे निम्नांकित पद्य भी वहीं उद्धृत करते हैं :

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यंचोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या में किये गये इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे संस्कृत को कृत्रिम भाषा मानते थे। प्राकृत उनकी दृष्टि में अकृत्रिम—स्वाभाविक या प्राकृतिक भाषा थी। अस्तु, इस विचारधारा में विश्वास रखने वाला मनीषी यह स्थापना कैसे कर सकता है कि प्राकृत संस्कृत से निकली है।

आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती महान् नैयायिक एवं कवि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी इस प्रकार उल्लेख किया है : अकृत्रिमस्वादुपदैर्जनं जिनेन्द्रः साक्षादिवपासि भाषितैः।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने इसी परम्परा का अनुसरण किया है। यहाँ तक कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों को भी यथावत् रूप में स्वीकार किया है।

सुप्रसिद्ध अलंकार शास्त्री नमि साधु ने महाकवि रुद्रट के काव्यालंकार पर अपने द्वारा रची गई वृत्ति में द्वितीय अध्याय के १२ वें श्लोक[2] की व्याख्या करते हुए जहाँ 'प्राकृत' शब्द आया है, विवेचन किया है : "सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। ......प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषा निबन्धभूतं वचनमुच्यते।"[3]

नमि साधु ने यह भी उल्लेख किया है कि जिस प्रकार बादल से गिरा हुआ पानी यद्यपि एक रूप होता है, पर, भूमि के भेद से वह अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार वह (प्राकृत भाषा) अनेक रूपों में परिणत हो जाती है।......यही पाणिनि आदि के व्याकरण के नियमों से संस्कार पाकर—सम्मार्जित होकर संस्कृत कहलाती है।[4]

नमि साधु उक्त विवेचन के सन्दर्भ में एक बात की और चर्चा करते हैं, जो बहुत महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं : मूल ग्रन्थकार आचार्य रुद्रट ने विवेचन-क्रम के मध्य प्राकृत का पहले तथा संस्कृत आदि का बाद में निर्देश किया है।[5] यह स्पष्ट है, इस प्रकार कहकर वे इस

१. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका; १।१८

२. प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

३. पाइअसद्दमहण्णवो, उपोद्घात, पृ० २४

४. ......मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव विभेदानाप्नोति। ......पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।

५. ......अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनुसंस्कृतादीनि।

स्पष्ट है, आचार्य सिद्धर्षि प्राकृत को दुर्विदग्ध लोगों के [illegible] से लिखित मानते हैं। प्राकृत उनकी दृष्टि में बालकों द्वारा भी समझे जा सकने योग्य है और ग्राह्य है। कोश के अनुसार 'दुर्विदग्ध' का अर्थ पण्डितम्मन्य या गर्वित है। [illegible] यह शब्द [illegible] अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। इसका प्रयोग [illegible] के [illegible] में हुआ है। यद्यपि आचार्य सिद्धर्षि का यह विश्वास था कि प्राकृत सर्वजनोपयोगी भाषा है, पर, वे यह भी जानते थे कि पाण्डित्याभिमानी जनों को प्राकृत में रचा ग्रन्थ रुचेगा नहीं। कारण स्पष्ट है, उनका समय (१० वीं, ११ वीं शती) उस प्रकार का था, जब प्राकृत का प्रयोग लगभग बन्द हो चुका था और तथाकथित विद्वज्जन प्राकृत की उपेक्षा करते हुए भी संस्कृत की ओर झुकने लगे थे। ऐसा करने में उनका यह आशय प्रतीत होता है कि उनकी रचना विद्वज्जनों में समादृत बने; क्योंकि प्राकृत में, जो Lingua franca का रूप लिये हुए थी, रचना करने में उन्हें गौरव का अनुभव होता था। दूसरी बात यह है कि प्राकृत को जो सर्वजनोपयोगी भाषा कहा जाता था, यह उसके अतीत की झलक थी। उस समय प्राकृत भी संस्कृत की तरह दुर्बोध हो गयी थी। दुर्बोध होते हुए भी संस्कृत के पठन-पाठन की परम्परा तब भी अक्षुण्ण थी। प्राकृत के लिए ऐसा नहीं था; अतः संस्कृत में रचना जितनों का कुछ अर्थ हो सकता था, अब की प्राकृत में लिखना उतना भी सार्थक नहीं था। ऐसे कुछ कारण थे, कुछ स्थितियाँ थीं, जिनसे प्राकृत भाषा वास्तव में लोक-जीवन से इतनी दूर चली गई कि उसे गृहीत करने के लिए संस्कृत का माध्यम अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक हो गया।

संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति बताने में वैयाकरण जिस प्रवाह में बहे हैं, उस स्थिति की एक झलक हमें आचार्य सिद्धर्षि की उपर्युक्त उक्ति में दृष्टिगत होती है। यही प्रवाह आगे इतना वृद्धिगत हुआ कि लोगों में यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि संस्कृत प्राकृत का मूल उद्गम है।

पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ ने प्राकृत की प्रकृति के सम्बन्ध में उक्त आचार्यों के विचारों का समीक्षण और पर्यालोचन करने के अनन्तर प्राकृत की जो व्युत्पत्ति की है, वह पठनीय है। उन्होंने लिखा है— "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अथवा "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्।"[2] यह वास्तव में संगत प्रतीत होती है।

प्राकृत के देश्य शब्द : एक विचार

प्राकृत में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, प्राकृत वैयाकरणों ने उन्हें तीन भागों में बांटा है :

---

१. ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।

—भर्तृहरिकृतनीतिशतक, ३

२. पाइयसद्दमहण्णवो; प्रथम संस्करण का उपोद्घात, पृ० २३

(१) तत्सम, (२) तद्भव, (३) देश्य (देशी)।

तत्सम—[1] तत् यहाँ संस्कृत के लिए प्रयुक्त है। जो शब्द संस्कृत और प्राकृत में एक-जैसे प्रयुक्त होते हैं, वे तत्सम कहे गये हैं। जैसे—रस, वारि, भार, सार, फल, परिमल, नवल, विमल, जल, नीर, धवल, हरिण, आगम, ईहा, गण, गज, तिमिर, तोरण, तरल; सरल, हरण, भरण, करण, चरण आदि।

तद्भव—वर्णों के समीकरण, लोप, आगम, परिवर्तन आदि द्वारा जो शब्द संस्कृत शब्दों से उत्पन्न हुए माने जाते हैं, वे तद्भव[2] कहे जाते हैं। जैसे—धर्म>धम्म, कर्म>कम्म, पक्ष>पक्ख, ब्राह्मण>बम्हण, क्षत्रिय>खत्तिअ, ध्यान>झाण, दृष्टि>दिट्ठि, रक्षति>रक्खइ, पृच्छति>पुच्छइ, अस्ति>अत्थि, नास्ति—णत्थि; इत्यादि।

देश्य (देशी)—प्राकृत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है, जो न संस्कृत-शब्दों के सदृश है और न उनसे उद्भूत जैसा प्रतीत होता है। वैयाकरणों ने उन शब्दों को देश्य कहा है। उनके उद्गम की संगति कहीं से भी नहीं जुड़ती। जैसे—उअ=पश्य, मुंड=शूकर, तोमरी=लता, खुप्पइ=निमज्जति, हुत्त=अभिमुख, फुंटा=केशबन्ध, चिट्ट=पुत्र, डाल=शाखा, टंका=जंघा, घपण=गृह, झडप्प=शीघ्र, धुक्कइ=भ्रमति, कन्दोट्ट=कुमुद, थड=स्तूप, विच्छड्ड=समूह।

देश्य शब्दों पर कुछ विचार अपेक्षित है। इससे प्राकृत की उत्पत्ति को समझने में सहायता मिलेगी, जो एक सीमा तक अब भी विवादास्पद बनी हुई है। यदि प्राकृत संस्कृत से

---

१. प्राकृत में जो तत्सम शब्द प्रचलित हैं, वे संस्कृत से गृहीत नहीं हैं। वे उस पुरातन लोक-भाषा या प्रथम स्तर की प्राकृत के हैं, जिससे वैदिक संस्कृत तथा द्वितीय स्तर की प्राकृतों का विकास हुआ। अतएव इन उत्तरवर्ती भाषाओं में समान रूप से वे शब्द प्रयुक्त होते रहे। वैदिक संस्कृत से वे शब्द लौकिक संस्कृत में आये।

२. प्रथम स्तर की प्राकृत से उत्तरवर्ती प्राकृतों में आये हुए पूर्वोक्त शब्दों में एक बात और घटित हुई। अनेक शब्द, जो ज्यों-के-त्यों बने रहे, तत्सम कहलाये। पर, प्राकृतें तो जीवित भाषाएं थीं। कुछ शब्दों के रूप उनमें परिवर्तित होते गये। यद्यपि वे शब्द संस्कृत और प्राकृत में प्रथम स्तर की प्राकृत से समान रूप में आये थे, पर, व्याकरण से नियमित और प्रतिबद्ध होने के कारण संस्कृत में वे शब्द ज्यों-के-त्यों बने रहे। प्राकृत में वैसा रहना सम्भव नहीं था। वे ही परिवर्तित रूप वाले शब्द तद्भव कहलाये, अतः तद्भव का अभिप्राय, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, यह नहीं है कि वे संस्कृत शब्दों से निकले हैं।

उच्चुक्कइ इति सुपूर्वकस्य बुक्क भाषणे इत्यस्य। एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वा-देशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति तथा च—वज्जरितो कथितः, वज्जरिऊण कथयित्वा, वज्जरणं कथनम्, वज्जरन्तो कथयन्, वज्जरिअव्वं-कथयितव्यमिति रूपसहस्राणि सिद्ध्यन्ति। संस्कृत धातुवच्च प्रत्ययलोपागमविधिः।

दुःखे णिव्वरः ॥४।४॥ दुःखविषयस्य कथेर्णिव्वर इत्यादेशो वा भवति। णिव्वरइ—दुःखं कथयतीत्यर्थः। दुःखविषयक कथ् धातु को (विकल्प से) णिव्वर आदेश होता है। जैसे—णिव्वरइ—दुःख का कथन करता है।

पिबेःपिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः ॥ ४।११। पिबतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति। पिब् को (विकल्प से) पिज्ज, डल्ल पट्ट तथा घोट्ट; ये चार आदेश होते हैं। जैसे—पिबति—पिज्जइ, डल्लइ, पट्टइ, घोट्टइ।

निद्रातेरोहीरोंघौ ॥४।१२॥ निपूर्वस्य द्रातेः ओहीर उंघ इत्यादेशो वा भवतः। नि पूर्वक द्राति को (विकल्प से) ओहीर और उंघ आदेश होते हैं। जैसे—निद्राति—ओहीरइ, उंघइ।

वैयाकरणों ने आदेशों द्वारा देशी शब्दों और क्रियाओं को संस्कृत के सांचे में ढालने का जो प्रयत्न किया, वह वस्तुतः कष्ट कल्पना थी, जिसे समीचीन नहीं कहा जा सकता।

आचार्य हेमचन्द्र के सोदाहरण पूर्व उद्धृत सूत्रों से दो तथ्य प्रकाश में आते है। एक यह है कि अन्य प्राकृत-वैयाकरणों की तरह वे भी आदेशों के रूप में उसी प्रकार की कष्ट कल्पना के प्रवाह में बह गये। दूसरा यह है कि हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के प्रणयन, उद्देश्य, कथन—प्रकार आदि पर पिछले पृष्ठों में जो चर्चा की गयी है, उसी सन्दर्भ को यहां जोड़ा जा सकता है अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र संस्कृत के पुल से प्राकृत के तट पर पहुंचाना चाहते थे; इसलिए देशी शब्दों के आधार, व्युत्पत्ति, स्रोत आदि कुछ भी न प्राप्त होने पर भी उन्हें व्याकरण को परिपूर्णता देने की दृष्टि से आवश्यक लगा है कि देशी शब्दों और धातुओं को भी क्यों छोड़ा जाए? उनके लिए कुछ जोड़-तोड़ की जा सकती है। सम्भवतः इसी का परिणाम आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निरूपित आदेश हैं।

व्याकरण के चतुर्थ पाद के दूसरे सूत्र में आचार्य हेमचन्द्र कथ् धातु के स्थान पर होने वाले आदेशों का उल्लेख कर एक अन्य संकेत करते हैं। यद्यपि दूसरे (सम्भवतः उनसे पूर्ववर्ती) वैयाकरणों ने इनको देशी (रूपों) में गिना है, पर, वे (हेमचन्द्र) धात्वादेशपूर्वक इन्हें विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था कर रहे हैं। आचार्य हेमचन्द्र के इस कथन से यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती वैयाकरण अनेक देशी शब्दों और धातुओं को देशी (रूपों) में पढ़ देते थे। वे सभी देशी रूपों को सिद्ध करने का प्रयास नहीं करते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने तो कथ् धातु के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले दस देशी क्रिया रूपों को उपस्थित कर दिग्दर्शन

मात्र कराया है। अन्य भी ऐसे अनेक देशी रूप रहे होंगे, जिन्हें पुरावर्ती वैयाकरण देशी में गिनाते रहे हों। यह वस्तुस्थिति थी। संस्कृत के ढांचे में प्राकृत को सम्पूर्णतः ढालने के अभिप्रेत से चला यह आदेशमूलक क्रम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से समुचित नहीं था। बलात् व्याकरण के सांचे में उतारने से भाषा के वास्तविक स्वरूप को समझने में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। पर, क्या किया जाता, युग का मोड़ ही सम्भवतः वैसा था।

संस्कृत-नाटकों पर दृष्टिपात करने से इस तथ्य पर और प्रकाश पड़ता है। प्रसंगोपात्ततया जैसी कि चर्चा की गयी है, संस्कृत-प्राकृत-रचित नाटकों में सम्भ्रान्त या उच्च कुलोत्पन्न पुरुष पात्र संस्कृत में बोलते हैं तथा साधारण पात्र (महिला, बालक, भृत्य आदि) प्राकृत में बोलते हैं। नाटकों की यह भाषा-सम्बन्धी परम्परा प्राकृत की जन-भाषात्मकता की द्योतक है। यहां ज्ञातव्य यह है कि इन (उत्तरवर्ती काल में रचित) नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर प्रतीत होता है कि सोचा संस्कृत में गया है और उस (सोची हुई शब्दावली) का प्राकृत में अनुवाद मात्र कर दिया गया है। आश्चर्य तब होता है, जब नाटकों के कई प्रकाशनों में यहां तक देखा जाता है कि प्राकृत भाग की संस्कृत-छाया तो मोटे टाइप में दी गयी है और मूल प्राकृत छोटे टाइप में। अभिप्राय स्पष्ट है, प्राकृत को सर्वथा गौण समझा गया। मुख्य पठनीय भाग तो उनके अनुसार संस्कृत-छाया है।

नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें स्वाभाविक कम प्रतीत होती हैं, कृत्रिम अधिक। प्राकृतों को नाटकों में रखना नाट्यशास्त्रीय परम्परा का निर्वाह मात्र रह गया। सारांश यह है कि जहां साहित्य-सर्जन का प्रसंग उपस्थित होता, सर्जक का ध्यान सीधा संस्कृत की ओर जाता।

देश्य शब्दों का उद्गम

देश्य भाषाओं के उद्गम-स्रोत के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है। उनमें से कइयों का सोचना है, आर्यों का पहला समुदाय, जो पंचनद व सरस्वती-दृषद्वती की घाटी से होता हुआ मध्यदेश में आबाद हो चुका था, जब बाद में आने वाले आर्यों के दूसरे दल द्वारा वहां से खदेड़ दिया गया, तब वह मध्यदेश के चारों ओर बस गया। दूसरा समूह मुख्यतः पंचनद होता हुआ मध्यदेश में रहा, जहां वैदिक वाङ्मय की सृष्टि हुई।

जो आर्य मध्यदेश के चारों ओर के भूभाग में रहते थे, उनका वाग्व्यवहार अपनी प्रादेशिक प्राकृतों में चलता था। प्रदेश-भेद से भाषा में भिन्नता हो ही जाती है। इसलिए मध्यदेश में रहने वाले आर्यों की प्राकृत से मध्यदेश से बाहर रहने वाले आर्यों की प्राकृतें किन्हीं अंशों में मिलती थीं, किन्हीं अंशों में नहीं। मध्यदेश के आर्यों द्वारा बोली जाने वाली प्राकृत छन्दस् के अधिक निकट रही होगी; क्योंकि छन्दस् उसी भूभाग की

या उनके आस-पास की किसी प्रचलित लोक-भाषा का परिनिष्ठित रूप थी। मध्यदेश के बाहर की लोक-भाषाएं या प्राकृतें अपने प्रादेशिक भेद तथा वैदिक परम्परा से असंलग्नता के कारण छन्दस् से अपेक्षाकृत दूर थीं। प्राकृत-साहित्य में जो देश्य शब्द गृहीत हुए हैं, उनका स्रोत सम्भवतः ये ही मध्यदेश के बाहर की प्रादेशिक भाषाएं हैं। इन लोक-भाषाओं का कोई भी प्राक्तन या तत्कालीन रूप वैदिक भाषा का आधार या उद्गम-स्रोत नहीं था; अतः इनसे आये हुए शब्दों के, जो देश्य नाम से अभिहित किये गये, अनुरूप संस्कृत में शब्द नहीं मिलते।

देश भाषा : व्यापकता

देशी भाषा या देशभाषा बहुत प्राचीन नाम है। प्राचीन काल में विभिन्न प्रदेशों की लोक-भाषाएं या प्राकृतें देशी भाषा या देशभाषा के नाम से प्रचलित थीं। महाभारत में स्कन्द के सैनिकों और पार्षदों के वर्णन के प्रसंग में उल्लेख है "वे सैनिक तथा पार्षद विविध प्रकार के चर्म अपने देह पर लपेटे हुए थे। वे अनेक भाषाभाषी थे। देशभाषाओं में कुशल थे तथा परस्पर अपने को स्वामी कहते थे।"[1]

नाट्य शास्त्र में इसी प्रकार देश भाषाओं के सम्बन्ध में चर्चा है। वहां उल्लेख है। "अब मैं देशभाषाओं के विकल्पों का विवेचन करूंगा अथवा देशभाषाओं का प्रयोग करने वालों को स्वेच्छया वैसा कर लेना चाहिए।"[2]

कामसूत्र में भी लिखा है : "लोक में वही बहुमत या बहुसमादृत होता है, जो गोष्ठियों में न तो अधिक संस्कृत में और न अधिक देशभाषा में कथा कहता है।"[3]

जैन वाङ्मय में अनेक स्थानों पर देशी भाषा-सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है : "तब वह मेघ-

---

१. नाना-चर्माभिराच्छन्ना नानाभाषाश्च भारत।
कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः॥
—महाभारत, शल्यपर्व, ४५, १०३

२. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्।
अथवाच्छन्दतः कार्या देशभाषाप्रयोक्तृभिः॥
—नाट्यशास्त्र, १७, २४-२६

३. नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्॥
—कामसूत्र, १.४.५०

कुमार............अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में प्रवीण हुआ।"[1]

ज्ञातृधर्मकथासूत्र का एक दूसरा प्रसंग है : "वहां चम्पा नगरी में देवदत्ता नामक गणिका निवास करती थी। वह धन-सम्पन्न..........तथा अठारह देशी भाषाओं में निपुण थी।"[2]

जैन वाङ्मय के और भी अनेक प्रसंग हैं। जैसे"........वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक.......अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में विशारद था।"[3]

"........दृढ़प्रतिज्ञ बालक.......अठारह देशी भाषाओं में चतुर था।"[4]

"वहां वाणिज्यग्राम में कामोद्धता नामक वेश्या थी, जो.......अठारह देशी भाषाओं में कुशल थी।"[5]

इन प्रसंगों से यह अनुमित होता है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जो लोकजनीन भाषाएं या पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ के शब्दों में प्रथम स्तर की प्राकृतें, जिन्हें सर जार्ज ग्रियर्सन ने Primary Prakrits कहा है, प्रचलित थीं, उन्हें देवभाषा या देशीभाषा के नाम से अभिहित किया गया है। इस सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि प्राकृत भाषाओं में जो देशी शब्द और धातुएं प्रचलित हैं, वे वास्तव में द्रविड़-परिवार तथा आग्नेय-परिवार से आई हैं, जो अनार्य भाषा-परिवार हैं; क्योंकि आर्यों के भारत आने से पूर्व यहां मुख्यतः द्रविड़-परिवार तथा आग्नेय-परिवार की भाषाएं बोलने वाले लोग बसते थे। आर्यों द्वारा भारत की भूमि ज्यों-ज्यों अधिकृत की जाती रही, वे (अनार्य)

---

१. तते णं से मेहेकुमारे .... अट्ठारसविहिप्पगारदेसी भासाविसारए.......होत्था।
—ज्ञातृधर्मकथा सूत्र, अ० १

२. तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ अड्ढा........अट्ठारसदेसीभासा विसारया।
—ज्ञातृधर्मकथा सूत्र, ३८.९२

३. तए णं दढपइण्णे दारए........अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासा विसारए।
—राजप्रश्नीय सूत्र, पत्र १४८

४. तए णं दढपइण्णे दारए ..अट्ठारसदेसीभासाविसारए।
—औपपातिक सूत्र, अवतरण १०९

५. तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया णामं गणिया होत्था........अट्ठारसदेसीभासाविसारया।
—विपाक सूत्र, पत्र २१.२२

ऐसा अनुमान है कि आदिवासियों की विभिन्न जातियों को उन्होंने वर्णित किया हो। महाभारतकार उन भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों का विस्तृत वर्णन कर देने के बाद उन्हें देश-भाषाओं में कुशल बतलाते हैं।

आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक सम्पर्क तथा संघर्ष से प्रादेशिक भाषाओं ने एक विशेष रूप लिया हो। सम्भवतः उन्हें ही यहाँ देश-भाषा से संज्ञित किया गया हो।

पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ द्रविड़-परिवार तथा आग्नेय-परिवार की तमिल, कन्नड़, मुण्डा आदि भाषाओं से देशी शब्दों के आने पर सन्देह करते हैं। उनके कथन का अभिप्राय है कि ऐसा तभी स्वीकार्य होता, यदि अनार्य भाषाओं में भी इन देशी शब्दों तथा धातुओं का प्रयोग प्राप्त होता। सम्भवतः ऐसा नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात और सोचने की है कि ये देशी शब्द अनार्य भाषाओं से ज्यों-के-त्यों प्रादेशिक (मुख्यतः मध्यदेश के चतुःपार्श्ववर्ती) प्राकृतों में आ गये, ऐसा न मान कर यदि इस प्रकार माना जाए कि अनार्य भाषाओं तथा उन विभिन्न प्रादेशिक प्राकृतों के सम्पर्क से कुछ ऐसे नये शब्द निष्पन्न हो गये, जिनका कलेवर सम्पूर्णतः न अनार्य-भाषाओं पर आधृत था और न प्राकृतों पर ही। उन देशी शब्दों के ध्वन्यात्मक, संघटनात्मक स्वरूप के विषय में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। देशी शब्दों, देश-भाषाओं या देशी भाषाओं के परिपार्श्व में इतने विस्तार में जाने का एक ही अभिप्राय था कि प्राकृत के उद्भव और विकास पर कुछ और प्रकाश पड़े; क्योंकि यह विषय आज भी सन्दिग्धता की कोटि से मुक्त नहीं हुआ है।

वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत का सादृश्य

प्राकृतों अर्थात् साहित्यिक प्राकृतों का विकास बोलचाल की जन-भाषाओं, दूसरे शब्दों में असाहित्यिक प्राकृतों से हुआ, ठीक वैसे ही जैसे वैदिक भाषा या छन्दस् का। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत में कुछ ऐसा सादृश्य, खोज करने पर प्राप्त होता है, जैसा प्राकृत और लौकिक संस्कृत में नहीं है। उदाहरणार्थ, संस्कृत ऋकार के बदले प्राकृत में अकार[1], आकार[2], इकार[3] तथा उकार[4] होता है। ऋकार के स्थान में उकार की प्रवृत्ति

१. ऋतोत् ॥ ८ । १ । १२६
आदेर्ऋकारस्य अत्वं भवति। —सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

२. आत्कृशा-मृदुक मृदुत्वे वा ॥ ८ । १ । १२७
एषु आदेर्ऋत आद् वा भवति। —वही

३. इत्कृपादौ ॥ ८ । १ । १२८
कृपा इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत इत्वं भवति। —वही

४. उदृत्वादौ ॥ ८ । १ । १३१
ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उद्भवति। —वही

वैदिक वाङ्मय में भी प्राप्त होती है। जैसे, ऋग्वेद १. ४६. ४ में कृत के स्थान पर कुठ का प्रयोग है। अन्य भी इस प्रकार के प्रयोग प्राप्य हैं।

प्राकृत में अन्त्य व्यंजन का सर्वत्र लोप[1] होता है। जैसे—यावत् = जाव, तावत् = ताव, यशस् = जसो। तमस् = तमो। वैदिक साहित्य में यत्र तत्र ऐसी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जैसे—पश्चात् के लिए पश्चा (अथर्ववेद संहिता १०.४.११), उच्चात् के लिए उच्चा (तैत्तिरीय संहिता २.३.१४), नीचात् के लिए नीचा (तैत्तिरीय संहिता ४ ५.११)।

प्राकृत में संयुक्त य्, र्, व्, श्, ष्, स् का लोप हो जाता है और इन लुप्त अक्षरों के पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ[2] हो जाता है। जैसे—पश्यति = पासइ, कश्यपः = कासवो, आवश्यकम् = आवासयं, श्यामा = सामा, विश्राम्यति = वीसमइ, विश्रामः = विसामो, मिश्रम् = मीसं, संस्पर्शः = संफासो, प्रगल्भ = पगल्भ, दुर्लभ = दूलह। वैदिक भाषा में भी इस कोटि के प्रयोग प्राप्त होते हैं। जैसे—अप्रगल्भ = अपगल्भ (तैत्तिरीय संहिता ४.५.६१), त्र्यच = त्रिच (शतपथ ब्राह्मण १.३.३.३३), दुर्लभ = दूलभ (ऋग्वेद ४ ९.८) दुर्णाश = दूणाश (शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य ३.४३)।

प्राकृत में संयुक्त वर्णों के पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व[3] हो जाता है। जैसे, ताम्रम् = तम्बं, विरहाग्निः = विरहग्गी, आस्यं = अस्सं, मुनीन्द्रः = मुणिन्दो, तीर्थम् = तित्थं, चूर्णः = चुण्णो; इत्यादि। वैदिक संस्कृत में भी ऐसी प्रवृत्ति प्राप्त होती है। जैसे—रोदसीप्रा = रोदसिप्रा (ऋग्वेद १०.८८.१०), अमात्र = अमत्र (ऋग्वेद ३.३६.४)।

प्राकृत में संस्कृत द के बदले अनेक स्थानों पर ड[4] होता है। जैसे—दशनम् = डसणं, दष्टः = डट्ठो, दग्धः = डड्ढो, दोला = डोला, दण्ड = डण्डो, दरः = डरो, दाहः = डाहो, दम्भ = डम्भो, दर्भः = डब्भो, कदनम् = कडणं, दोहदः = डोहलो। वैदिक संस्कृत में भी यत्र-तत्र इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे—दुर्दभ = दूडभ (वाजसनेय

---

१. अन्त्यव्यंजनस्य। ८। १। ११
शब्दानां यद् अन्त्यव्यंजनं तस्य लुग् भवति।　　—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

२. लुप्त य - र - व - श - ष - सां दीर्घः॥ ८। १। ४३
प्राकृतलक्षणवशाल्लुप्ता याद्या उपरि अधो वा येषां शकारषकारसकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो भवति।　　—वही

३. ह्रस्वः संयोगे॥ ८। १। ८४
दीर्घस्य यथादर्शनं संयोगे परे ह्रस्वो भवति।　　—वही

४. दशन - दष्ट - दग्ध - दोला - दण्ड - दर - दाह - दम्भ - दर्भ - कदन - दोहदे दो वा डः॥ ८। १। २१७
एषु दस्य डो वा भवति।　　—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

संहिता ३.३६), पुरोदास = पुरोडाश (शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य ३. ४४)।

प्राकृत में संस्कृत के ख, घ, थ तथा भ की तरह ध का भी ह[1] होता है। जैसे—साधुः = साहू, वधिरः = बहिरो, बाधते = बाहइ, इन्द्रधनुः = इन्दहणू, सभा = सहा। वैदिक वाङ्मय में भी ऐसा प्राप्त होता है। जैसे—प्रतिसंधाय = प्रतिसंहाय (गोपथ ब्राह्मण २. ४)

प्राकृत (मागधी को छोड़ कर प्रायः सभी प्राकृतों) में अकारान्त पुंलिंग शब्दों के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ[2] होता है। जैसे—मानुषः = माणसो, धर्मः = धम्मो। एतत् तथा तत् सर्वनाम में भी विकल्प[3] से ऐसा होता है। जैसे—सः = सो, एषः = एसो। वैदिक संस्कृत में भी कहीं-कहीं प्रथमा एकवचन में ओ दृष्टिगोचर होता है। जैसे—संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद संहिता १०.१९०.२) सो चित् (ऋग्वेद संहिता १. १९१. १० - ११)।

संस्कृत अकारान्त शब्दों में ङसि[1] (पंचमी) विभक्ति में जो देवात्, नरात्, धर्मात् आदि रूप बनते हैं, उनमें अन्त्य त् के स्थान पर प्राकृत में दोः[3] आदेश होते हैं। उनमें एक त् का लोप भी है। लोप के प्रसंग को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि पंचमी

---

१. ख - घ - थ - ध - भाम् ॥ ८ । १ । १८७
स्वरात्परेषामसंयुक्तानामनादिभूतानां ख घ थ ध भ इत्येतेषां वर्णानां प्रायो हो भवति।
—वही

२. अतः सेर्डोः ॥ ८ । ३ । २ ।
अकारान्तान्नाम्नः परस्य स्यादेः सेः स्थाने डो भवति। — वही

३. वैतत्तदः । ८ । ३ । ३
एतत्तदोरकारात्परस्य स्यादेः सेर्डो भवति। —वही

४. स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्।
—अष्टाध्यायी ४ । १ । २
सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। टा भ्यां भिस् इति तृतीया। ङे भ्यां भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्यां भ्यस् इति पंचमी। ङस् ओस आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी।

५. ङसेस् त्तो - दो - दु - हि - हिन्तो - लुकः ॥ ३ । १ । ८
अतः परस्य ङसेः त्तो दो दु हि हिन्तो लुक् इत्येते षडादेशा भवन्ति। जैसे—वत्सात् = वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो वच्छा।

विभक्ति में एकवचन में (अकारान्त शब्दों में) आ प्रत्यय होता है। जैसे—देवात् = देवा, नरात् = णरा, धर्मात् = धम्मा; आदि। वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार के कतिपय पंचम्यन्त रूप प्राप्त होते हैं। जैसे—उच्चात् = उच्चा, नीचात् = नीचा, पश्चात् = पश्चा।

प्राकृत में पंचमी विभक्ति बहुवचन में भिस्[1] के स्थान पर हि आदि होते हैं। जैसे—देवेहिः आदि। वैदिक संस्कृत में भी इसके अनुरूप देवेभिः, ज्येष्ठेभिः; गम्भीरेभिः आदि रूप प्राप्त होते है।

प्राकृत में एकवचन और बहुवचन ही होते हैं, द्विवचन नहीं होता। वैदिक संस्कृत में वचन तो तीन हैं, पर इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूपों का प्रयोग हुआ है। जैसे—इन्द्रावरुणौ = इन्द्रावरुणाः, मित्रावरुणौ = मित्रावरुणाः, नरौ = नरा, सुरथौ = सुरथाः, रथितमौ = रथितमाः।

वर्तमान युग के प्राकृत के महान् जर्मन वैयाकरण डा॰ पिशल ने विशाल ग्रन्थ Comparative grammar of the Prakrit Language में संस्कृत से प्राकृत के उद्गम[2] का खण्डन करते हुए प्राकृत तथा वैदिक भाषा के सादृश्य के द्योतक कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

प्राकृत भाषा	वैदिक भाषा
सण	त्वन
स्त्रीलिंग षष्ठी के एकवचन का रूप 'आए'	आयै
तृतीया बहुवचन का रूप एहि	एभिः
बोहि (आज्ञावाचक)	बोधि
ता, जा, एत्थ	तात्, यात्, इत्था
अम्हे	अस्मे
बन्धुहि	बन्धुभिः

१. भिसो हि हिँ हिं ॥ ३ । १ ।७
अतः परस्य भिसः स्थाने केवलः सानुनासिकः, सानुस्वारश्च हिर्भवति।
—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

2. ......This sanskrit was not the basis of the Prakrit dialects, which indeed dialect, which, on political or religions grounds, was rained to the states of a literary medium. But the difficulty is that it does not seem useful that all the Prakrit dialects sprang out from one and the same source. At least they could not have

मदि	
त्रिव	[illegible]
पिशु	[illegible]
[illegible]	[illegible]
	[illegible]

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्राकृतों का उद्भव वैदिक भाषा-काल के समवर्ती किन्हीं बोलचाल की भाषाओं या बोलियों से हुआ, जैसे कि उन्हीं में से किसी बोली के आधार पर वैदिक भाषा अस्तित्व में आई।

प्राकृत के प्रकार

प्राकृतें जीवित भाषाएं थीं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोले जाने के कारण स्वभावतः उनके रूपों में भिन्नता आई। उन (बोलचाल की भाषाओं या बोलियों) के आधार पर जो साहित्यिक प्राकृतें विकसित हुईं; उनमें भिन्नता रहना स्वाभाविक था। इस प्रकार प्रादेशिक या भौगोलिक आधार पर प्राकृतों के कई भेद हुए। उनके नाम प्रायः प्रदेश-विशेष के आधार पर रखे गये।

आचार्य भरत[1] ने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों का वर्णन करते हुए मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या नाम से प्राकृत के सात भेदों की चर्चा की है। प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में सबसे प्राचीन प्राकृतप्रकाश[2] के प्रणेता वररुचि ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची; इन भेदों का वर्णन किया है। चण्ड[3] ने मागधी को मागधिका और पैशाची को पैशाचिकी के नाम से उल्लिखित किया है।

developed out of Sanskrit, as is generally held by Indian Scholars and Hobber, Lassen, Bhandarkar and Jacoby. All the Prakrit languages have a series of comman grammatical and lexical characteristics with the vedic language and suchare significantly missing from Sanskrit.

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥ —नाट्यशास्त्र; १७-१८

२. प्राकृतप्रकाश, १०. १-२, ११. १, १२. ३२

पैशाचिकायां रणयोर्लनौ।
मागधिकायां रसयोर्लशौ॥

—प्राकृत-लक्षण ३, ३८-३९

छठी शती के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री दण्डी ने काव्यादर्श[1] में प्राकृतों की भी चर्चा की है। उन्होंने महाराष्ट्री (महाराष्ट्राश्रया), शौरसेनी, गौड़ी और लाटी; इन चार प्राकृतों का उल्लेख किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने वररुचि द्वारा वर्णित चार भाषाओं के अतिरिक्त आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश; इन तीनों को प्राकृत भेदों में और बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी को आर्ष कहा है।

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज और नरसिंह आदि वैयाकरणों ने आचार्य हेमचन्द्र के विभाजन के अनुरूप ही प्राकृत-भेदों का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल इतना-सा है, इनमें त्रिविक्रम के अतिरिक्त किसी ने भी आर्ष का विवेचन नहीं किया है। वस्तुत: जैन परम्परा के आचार्य होने के नाते हेमचन्द्र का, अर्द्धमागधी (जो जैन आगमों की भाषा है) के प्रति विशेष आदरपूर्णभाव था, अतएव उन्होंने इसे आर्ष[2] नाम से अभिहित किया।

मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व में प्राकृत को सोलह भेदोपभेदों में विभक्त किया है। उन्होंने प्राकृत को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच; इन चार भागों में बांटा है। इन चारों का विभाजन इस प्रकार है :

१. भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी।

२. विभाषा—शाकारी, चाण्डाली, शबरी आभीरिका और टाक्की।

३ अपभ्रंश—नागर, व्राचड़ तथा उपनागर।

४. पैशाच—कैकय, शौरसेन एवं पांचाल।

नाट्यशास्त्र में विभाषा के सम्बन्ध में उल्लेख है कि शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्रोत्पन्न तथा वनेचर की भाषा द्रमिल कही जाती है।

मार्कण्डेय ने भाषा, विभाषा आदि के वर्णन के प्रसंग में प्राकृत-चन्द्रिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें आठ भाषाओं, छः विभाषाओं, ग्यारह पिशाच-भाषाओं तथा सत्ताईस अपभ्रंशों के सम्बन्ध में चर्चा की है। इनमें महाराष्ट्री, आवन्ती, शौरसेनी, अर्द्ध-

---

१. महाराष्ट्राश्रयां भाषां, प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां, सेतुबन्धादि यन्मयम्॥
शौरसेनी च गौड़ी च, लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं, व्यवहारेषु सन्निधिम्॥ —काव्यादर्श, १।३४-३५

२. ऋषीणामिदमार्षम्।

पृ'खला इसकी परिचायक है। आर्यों के भारत में आगमन, प्रसार आदि के सन्दर्भ में विभिन्न प्रसंगों में अपेक्षित चर्चा की गयी है। उससे प्रकाश में कुछ चिन्तन अपेक्षित है।

भारत में आने वाले आर्य पश्चिम में टिके, मध्यदेश में टिके, कुछ पूर्व में भी धकेले दिये गये। पर सम्भवतः मगध तक उनका पहुंचना नहीं हुआ होगा। हुआ होगा तो बहुत कम। ऐसा प्रतीत होता है कि कोशल और काशी से बहुत आगे सम्भवतः वे नहीं बढ़े। मगध आदि भारत के पूर्वीय प्रदेशों में वैदिक युग के आदिकाल में यज्ञ-याग-प्रधान वैदिक संस्कृति के चिह्न नहीं प्राप्त होते। ऐसा अनुमान है कि वैदिक संस्कृति मगध प्रभृति पूर्वी प्रदेशों में बहुत बाद में पहुंची, भगवान् महावीर तथा बुद्ध से सम्भवतः कुछ शताब्दियों पूर्व।

वेदमूलक आर्य-संस्कृति के पहुंचने के पूर्व मगध आर्यों की दृष्टि में निन्द्य था। निरुक्तकार यास्क ने मगध को अनार्यों का देश कहा है। ऋग्वेद में कीकट शब्द आया है, जिसे उत्तर-कालीन साहित्य में मगध का समानार्थक कहा गया है। ब्राह्मण-काल के साहित्य में भी कुछ ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रकट है कि तब तक पश्चिम के आर्यों का मगध के साथ अस्पृश्यता का-सा व्यवहार रहा था। शतपथ ब्राह्मण में पूर्व में बसने वालों को आसुरी प्रकृति का कहा गया है। आर्य सम्भवतः अनार्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, जिसमें निम्नता या घृणा का भाव था।

पहले दल में भारत में आये मध्यदेश में बसे आर्य जब दूसरे दल में आये आर्यों द्वारा मध्यदेश से भगा दिये गये और वे मध्यदेश के चारों ओर, विशेषतः पूर्व की ओर बस गये, तो उनका भगानेवाले (बाद में दूसरे दल के रूप में आये हुए) आर्यों से वैचारिक दुराव रहा हो, यह बहुत सम्भाव्य है। उनका वहां के मूल निवासियों से मेलजोल बढ़ा हो, इसकी भी सहज ही कल्पना की जा सकती है। मेलजोल के दायरे का विस्तार वैवाहिक सम्बन्धों में भी हुआ हो, इस प्रकार एक मिश्रित नूतन अस्तित्व में आया हो, जो सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से पश्चिम के आर्यों से दूर रहा हो। वैदिक वाङ्मय में प्राप्त व्रात्य शब्द सम्भवतः इन्हीं पूर्व में बसे आर्यों का द्योतक है, जो सामाजिक दृष्टि से पूर्व में बसने वाले मूल निवासियों से सम्बद्ध हो चुके थे। व्रात्य शब्द की विद्वानों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है। उनमें से एक व्याख्या यह है कि जो लोग यज्ञ-यागादि में विश्वास न कर व्रतधारी यायावर सन्यासियों में श्रद्धा रखते थे, व्रात्य कहे जाते थे। व्रात्यों के लिए वैदिक परम्परा में शुद्धि की एक व्यवस्था है। यदि वे शुद्ध होना चाहते, तो उन्हें प्रायश्चित्तस्वरूप शुद्ध्यर्थ यज्ञ करना पड़ता। व्रात्य-स्तोम में उसका वर्णन है। उस यज्ञ के करने के अनन्तर वे बहिर्भूत आर्य वर्ण-व्यवस्था में स्वीकार कर लिये जाते थे।

भगवान् महावीर और बुद्ध से कुछ शताब्दियां पूर्व पश्चिम या मध्यदेश से वे आर्य, जो

रूप का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक था ही, सम्भ्रान्त कुलों और राज-परिवारों तक पर इसका प्रभाव पड़ा। महावीर और बुद्ध के समकालीन कुछ और भी धर्माचार्य थे, जो अपने आपको तीर्थंकर कहते थे। पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुध कच्चायन तथा संजयवेलट्ठिपुत्त आदि उनमें मुख्य थे। बौद्ध वाङ्मय में उन्हें अक्रियावाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद तथा विक्षेपवाद के प्रवर्तक कहा गया है। यद्यपि आचार-विचार में उनमें भेद अवश्य था, पर, वे सबके सब श्रमण-संस्कृति के अन्तर्गत माने गये हैं। ब्राह्मण-संस्कृति यज्ञ-प्रधान थी और श्रमण-संस्कृति त्याग-वैराग्य और संयम-प्रधान। श्रमण शब्द की विद्वानों ने कई प्रकार से व्याख्या की है। कुछ विद्वानों ने इसे श्रम, शम और सम पर आधृत माना है। फलतः तपश्चर्या का उद्यम स्वीकार, जातिगत जन्मगत उच्चत्व का बहिष्कार तथा निर्वेद का पोषण; इन पर इसमें अधिक बल दिया जाता रहा है। श्रमण-परम्परा के अन्तर्वर्ती ये सभी आचार्य याज्ञिक तथा कर्मकाण्ड-बहुल संस्कृति के विरोधी थे। यह एक ऐसी पृष्ठभूमि थी, जो प्राकृतों के विकास और व्यापक प्रसार का आधार बनी। भगवान् महावीर और बुद्ध ने लोक-भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। सम्भव है, उपर्युक्त दूसरे धर्माचार्यों ने भी लोक-भाषा में ही अपने उपदेश दिये होंगे। उनका कोई साहित्य आज प्राप्त नहीं है।

महावीर और बुद्ध द्वारा लोक-भाषा का माध्यम स्वीकार किये जाने के मुख्यतः दो कारण सम्भव हैं। एक तो यह हो सकता है, उन्हें आर्यक्षेत्र में व्याप्त और व्याप्यमान याज्ञिक व कर्मकाण्डी परम्परा के प्रतिकूल अपने विचार 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' जन-जन को सीधे पहुंचाने थे, जो लोक-भाषा द्वारा ही सम्भव था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संस्कृत के प्रति भाषात्मक उच्चता कि वा पवित्रता का भाव था, जो याज्ञिक परम्परा और कर्म-काण्ड के पुरस्कर्ता पुरोहितों की भाषा थी। उसका स्वीकार उन्हें संकीर्णतापूर्ण लगा होगा, जो जन-मानस को देखते यथार्थ था।

प्राकृतों को अपने उपदेश के माध्यम के रूप में महावीर और बुद्ध द्वारा अपना लिये जाने पर उन्हें (प्राकृतों को) विशेष वेग तथा बल प्राप्त हुआ। उनके समय में मगध (दक्षिण बिहार) एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। उत्तर बिहार में वज्जिसंघ के कतिपय गणराज्य स्थापित हो चुके थे और कोशल के तराई के भाग में भी ऐसी ही स्थिति थी। महावीर वज्जिसंघ के अन्तर्वर्ती लिच्छवि गणराज्य के थे और बुद्ध कौशल के अन्तर्वर्ती मल्लगणराज्य के। यहां से प्राकृतों के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का काल गतिशील होता है। तब तक प्राकृत (मागधी) मगध-साम्राज्य, जो मगध के चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ था, में राज-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्राकृतों का उत्कर्ष

केवल पूर्वीय भूभाग तक ही सीमित नहीं रहा। वह पश्चिम में भी फैलने लगा। लोग प्राकृतों को अपनाने लगे। उनके प्रयोग का क्षेत्र बढ़ने लगा। बोलचाल में तो वहाँ (पश्चिम) भी प्राकृतें पहले से थीं ही, उस समय वे धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्याय लोक-जनीन विषयों में भी साहित्यिक माध्यम का रूप प्राप्त करने लगीं। वैदिक संस्कृति के पुरस्कर्ता और संस्कृत के पोषक लोगों को इसमें अपने उत्कर्ष का विलय आशंकित होने लगा। फलतः प्राकृत के प्रयोग की उत्तरोत्तर संवर्द्धनशील व्यापकता की संस्कृत पर एक विशेष प्रतिक्रिया हुई। तब तक मुख्यतः संस्कृत का प्रयोग पौरोहित्य, कर्मकाण्ड, याज्ञिक विधि-विधान तथा धार्मिक संस्कार आदि से सम्बद्ध विषयों तक ही सीमित था। उस समय उसमें अनेक लोकजनीन विषयों पर लोकनीति, अर्थनीति, राजनीति, सदाचार, समाज-व्यवस्था, लोक-रंजन; प्रभृति जीवन के विविध अंगों का संस्पर्श करने वाले साहित्य की सृष्टि होने लगी। प्राकृत में यह सब चल रहा था। लोक-जीवन में रची-पची होने के कारण लोक-चिन्तन का माध्यम यही भाषा थी; अतः उस समय संस्कृत में जो लोक-साहित्य का सृजन हुआ, उसमें चिन्तन-धारा प्राकृत की है और भाषा का आवरण संस्कृत का। उदाहरण के रूप में महाभारत का नाम लिया जा सकता है। महाभारत समय-समय पर उत्तरोत्तर सवर्द्धित होता रहा है। उसमें श्रमण-संस्कृति और जीवन-दर्शन के जो अनेक पक्ष चर्चित हुए हैं, वे सब इसी स्थिति के परिणाम हैं। भाषा-वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अन्वेष्टाओं के लिए गवेषणा का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

एतन्मूलक (संस्कृत) साहित्य प्राकृत-भाषी जन-समुदाय में भी प्रवेश पाने लगा। इस क्रम के बीच प्रयुज्यमान भाषा (संस्कृत) के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ। यद्यपि संस्कृत व्याकरण से इतनी कसी हुई भाषा है कि उसमें शब्दों और धातुओं के रूपों में विशेष परिवर्तन का अवकाश नहीं है, पर, फिर भी जब कोई भाषा अन्य भाषा-भाषियों के प्रयोग में आने योग्य बनने लगती है या प्रयोग में आने लगती है, तो उसमें स्वरूपात्मक या संघटनात्मक दृष्टि से कुछ ऐसा समाविष्ट होने लगता है, जो उन अन्य भाषा-भाषियों के लिए सरलता तथा अनुकूलता लाने वाली होती है। उसमें सादृश्यमूलक शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगता है। उसका शब्द-कोष भी समृद्धि पाने लगता है। शब्दों के अर्थों में भी यत्र-तत्र परिवर्तन हो जाता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है, वे नये-नये अर्थ ग्रहण करने लगते हैं। विकल्प और अपवाद कम हो जाते हैं। साथ-ही-साथ यह घटित होता है, जब अन्य भाषा-भाषी किसी शिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगते हैं, तो उनकी अपनी भाषाओं पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

यह सब कुछ होते हुए भी भगवान् महावीर और बुद्ध के अभियान के उत्तरोत्तर गतिशील

और अभिवृद्धिशील होने वाले थे। कारण, संस्कृत वाङ्मय में सरलता और लोकग्राह्यता ग्रहण करने पर भी प्राकृतों का स्थान नहीं ले सकी। अतएव तदुपरान्त संस्कृत में जो साहित्य प्रणीत हुआ, वह विशेषतः विद्वद्भोग्य रहा, उसकी लोक-भोग्यता कम होती गयी। लम्बे-लम्बे समास, दुरूह सन्धि-प्रयोग, शब्दालंकार का आडम्बर, क्लिष्टतापूर्ण पद-रचना और वाक्य-रचना से साहित्य कठिन और क्लिष्ट होता गया। साधारण पाठकों की पहुंच उस तक कैसे होती?

उपर्युक्त विविध परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्राकृत भाषा के विभिन्न पहलुओं पर अग्रिम अध्यायों में विमर्श करना मुख्य अभिप्रेत है।

मध्य भारतीय आर्य भाषा-काल या प्राकृत-काल का समय ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती से ईस्वी सन् के आरम्भ तक का माना गया है। इसमें पालि और शिलालेखी प्राकृतें भी गयी हैं। जिस भाषा में भगवान् बुद्ध की वाणी त्रिपिटक के रूप में अवशिष्ट है, जिसमें तत्परक बहुसंख्यक विशाल वाङ्मय बौद्ध भिक्षुओं और मनीषियों द्वारा प्रणीत हुआ, वह भाषा पालि के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु, भाषा के लिए पालि शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है। पिटक-साहित्य में उसकी भाषा के लिए पालि का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ। लगभग १४ वीं शती के अनन्तर इस शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में आरम्भ हुआ।

पालि शब्द का इतिहास

आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पांचवीं ईसवी शती) ने विसुद्धिमग्ग और अट्ठकथाओं में पहले-पहल पालि शब्द का भगवान् बुद्ध के वचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयोग किया। दीघनिकाय की अट्ठकथा सुमङ्गलविलासिनी की सामञ्ञफलसुत्त, वण्णना, धम्मसंगणि की *अट्ठकथा अट्ठसालिनी तथा पुग्गलपञ्ञत्ति अट्ठकथा* में भी उन्होंने पालि शब्द का इस अभिप्राय से व्यवहार किया है। आचार्य बुद्धघोष पालि का प्रयोग त्रिपिटक के पाठ के अर्थ में भी करते हैं। मूल त्रिपिटक या त्रिपिटक-पाठ कोई भिन्न नहीं है, केवल कथन-प्रकार का अन्तर है। जहाँ आचार्य बुद्धघोष को त्रिपिटक के पाठान्तर को संकेतित करना अपेक्षित हुआ, वहाँ उन्होंने पाठ के लिए पालि शब्द का व्यवहार किया है। उदाहरणार्थ, सुमंगल विलासिनी के सामञ्ञफलसुत्तवण्णना में महच्चराजानुभावेन पद आया है। आचार्य बुद्धघोष ने इसका अर्थ महता राजानुभावेन किया है। 'महच्च' के स्थान पर महच्चा पाठ भी है, *ऐसा सूचित करने के लिए महच्चा इति पि पालि अर्थात्* महच्चा ऐसा पाठ भी है, इस प्रकार उल्लेख किया गया है।

चौथी शताब्दी में लंका में दीपवंस ग्रन्थ लिखा गया। यह आचार्य बुद्धघोष से कुछ ही समय पहले की रचना है। वहाँ पालि शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में हुआ है। आचार्य बुद्धघोष के पश्चात् लंका में बौद्ध आचार्य और लेखक उपर्युक्त दोनों अर्थों में, जो वस्तुतः एक ही हैं, पालि का प्रयोग करते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, पाँचवीं-छठी शती में हुए धर्मपाल ने खुद्दकनिकाय के कतिपय ग्रन्थों की अट्ठकथा के रूप [illegible]
की। उसमें [illegible] अर्थ में पालि शब्द का [illegible] किया [illegible]

वे सर्वथा अप्रयुक्त मानते है । यदि पालि शब्द का अर्थ पंक्ति होता, तो उस अवस्था में उदान-पालि जैसे प्रयोगों में उदान-पंक्ति ऐसा अर्थ करने से कोई संगत आशय नहीं निकलता । व्याकरण की दृष्टि से एक पहलू पर वे और प्रकाश डालते हैं कि पालि शब्द पंक्तिवाची होता, तो उसका बहुवचन में प्रयोग मिलना चाहिए था । पर, ऐसा नहीं मिलता ।

डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस प्रसंग में लिखा है—"भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं, उनमें से प्रथम के उत्तर में आंशिक रूप में कहा जा सकता है कि त्रिपिटक की अलिखित अवस्था में 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पंक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेख-बद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पंक्ति ही पालि कहलाई जाने लगी होगी ।"[1]

पंक्ति शब्द के आशय के सम्बन्ध में डा० उपाध्याय जो कल्पना करते हैं, वह विमर्श्य प्रतीत होती है । अलिखित ग्रन्थ अर्थात् मौखिक परम्परा में अवस्थित शास्त्र-विशेष का विभाजन गाथाओं, श्लोकों, पदों आदि में होता है, पंक्तियों में नहीं । पंक्ति में अक्षरों के परिमाण की कोई इयत्ता नहीं होती । पत्र का जितना विस्तार होता है, उसके अनुरूप छोटी या बड़ी पंक्ति होती है ।

भिक्षु जगदीश काश्यप

भिक्षु जगदीश काश्यप ने पालि-महाव्याकरण में पालि का व्योत्पत्तिक विश्लेषण करते हुए इसे 'परियाय' शब्द से जोड़ा है । परियाय शब्द का त्रिपिटक में अनेक बार प्रयोग हुआ है—अकेले भी और 'धम्म' शब्द के साथ भी । भिक्षु जगदीश काश्यप ने अनेक संदर्भों से यह स्पष्ट किया है कि परियाय शब्द का प्रयोग बुद्ध के उपदेश या वचन के अर्थ में हुआ है । परियाय शब्द ही आगे चलकर पलियाय के रूप में परिवर्तित हो गया । अशोक के भाब्रू शिलालेख में पलियाय शब्द व्यवहृत हुआ है । वहां अशोक का मगध के भिक्षुओं को उद्दिष्ट कर सन्देश है—"भन्ते ! ये धम्मपलियाय हैं । मैं चाहता हूं कि सभी भिक्षु तथा भिक्षुणियां, उपासक तथा उपासिकाएं इन्हें सुनें, धारण करें ।"[2]

पलियाय शब्द का पूर्वार्द्ध 'पलि', जो उपसर्ग प्रतीत होता है, का प्रथम अक्षर 'प' 'पा' के रूप में परिवर्तित हो गया । इस प्रकार पलियाय का पालियाय बन गया । संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से उसका उत्तरार्द्ध लुप्त हो गया और पूर्वार्द्ध मात्र पालि बचा रह गया । उसका प्रयोग मूल त्रिपिटक के अर्थ में बद्धमूल हो गया ।

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ७, ८

२. इमानि भन्ते धम्मपलियायानि—एतानि भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयु चा । हेवं मेव उपासका चा उपासिका चा ।

भिक्षु सिद्धार्थ

भिक्षु सिद्धार्थ ने पालि शब्द का सम्बन्ध पाठ शब्द से बताया है। उनका मन्तव्य है कि वैदिक परम्परा में पाठ शब्द का विशेष महत्त्व रहा है। वस्तुतः संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ के रूप में वेदों के पाठ की एक वैज्ञानिक परम्परा थी। भिक्षु सिद्धार्थ का प्रतिपादन है कि बुद्ध के समय में भी वेद-पाठी ब्राह्मणों में पाठ शब्द का प्रचलन था। बुद्ध के धर्म-संघ में जहाँ क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रविष्ट हुए, वहाँ अनेक ब्राह्मण भी उसमें सम्मिलित हुए। किसी भी जाति या वर्ग में एक संस्कार होता है, जो धार्मिक आस्था के बदलने के बाद भी बदल नहीं पाता। बौद्ध धर्म में दीक्षित ब्राह्मण जिस प्रकार वेद-वाक्यों के लिए पाठ शब्द का प्रयोग करते रहे थे, बुद्ध-वचनों के लिए भी उन्होंने पाठ शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

बुद्ध के लिए जहाँ उनके श्रद्धालु अन्तेवासियों और अनुयायियों द्वारा और अनेक विशेषण दिये गये, वहाँ उनके लिए वेदज्ञ, वेदान्तज्ञ जैसे विशेषण भी प्राप्त होते हैं। ये विशेषण बहुत सम्भव है, ब्राह्मण-परम्परा से आने वाले अन्तेवासियों ने श्रद्धाभिभूत होकर प्रयुक्त किये हों। अन्य भी ऐसे शब्दों को भिक्षु सिद्धार्थ ने प्रस्तुत किया है, जो मूलतः वैदिक परम्परा से सम्बद्ध थे, पर, बाद में नये स्वरूप के साथ बौद्ध संघ में स्वीकृत हो गये। उदाहरणार्थ, संहिता, तन्त्र और प्रवचन वैदिक परम्परा के शब्द हैं। बौद्ध संघ में संहिता के स्थान पर संहित, तन्त्र के स्थान पर तन्ति और प्रवचन के स्थान पर पावचन हो गया। ऐसी स्थिति में पाठ शब्द भी यदि बौद्ध संस्करण प्राप्त कर ले, उसे असम्भव नहीं कहा जा सकता। पालि-व्याकरण का नियम है कि सभी मूर्द्धन्य व्यंजन (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) पालि में ळ हो जाते हैं। भिक्षु सिद्धार्थ का कहना है कि इसी नियम के अनुसार पाठ का पाळ् हो गया। वही आगे चलकर पाळि के रूप में परिवर्तित हो गया। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो ऐसा होना असम्भव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पालि और प्राकृत में अन्त्य-स्वर-परिवर्तन का क्रम देखा जाता है। पालि शब्द में जो ल् व्यंजन है, वह अन्तःस्थ ल् नहीं है, अपितु वैदिक भाषा में व्यवहृत मूर्द्धन्य ळ् ध्वनि के समकक्ष है। आधुनिक भाषाओं में से कुछ में यह ध्वनि लुप्त हो गयी। कुछ में इसका 'ड' के रूप में विकास हो गया। सूक्ष्मता में न जा कर ळ् और ल् के उच्चारण में भेद किये जाने की स्थिति न रही, वहाँ मिथ्या सादृश्य के आधार पर पालि शब्द को पाळि के साथ मिला दिया गया। ऐसा होने पर पाळि के स्थान पर पालि शब्द का बुद्ध वचन के लिए व्यवहार चल पड़ा।

भिक्षु सिद्धार्थ ने पालि के विकास का जो इतिहास और क्रम प्रस्तुत किया है, भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से उसमें औचित्य है। जिस प्रकार भिक्षु जगदीश काश्यप का मत ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी नियमों पर खरा उतरता है, उसी प्रकार भिक्षु सिद्धार्थ का मत भी ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुरूप प्रतीत होता है। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने भिक्षु सिद्धार्थ के मत को निरर्थकता बताते हुए लिखा है—"उन्होंने पाठ शब्द का विकृत रूप पाळ बताया है और फिर उससे पाळि या पालि शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिए यह आवश्यक है कि पाळ शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर पाळि शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नहीं दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी 'इति पि पाठो' ही बुद्धघोषोक्त वचन है।[1]

डा० उपाध्याय ने भिक्षु सिद्धार्थ के मत की जो आलोचना की है, वह यथार्थ है। केवल व्याकरण के आधार पर किसी शब्द को सिद्ध कर देने मात्र से कोई प्रयोजन फलित नहीं होता। शब्द के एक विशेष रूप के किसी विशेष अर्थ के साथ जुड़ने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रामाण्य की नितान्त आवश्यकता होती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पाठ शब्द से पाळि या पालि बनाने में पाळ शब्द का क्रम लोप में रहा हो, पर, हो सकता है कि वह प्रयोग में न आया हो। आया भी हो तो सम्भवतः बहुत ही कम आया हो और काल के लम्बे व्यवधान के बिना पाळ (पालि) शब्द चल पड़ा हो, वही विशेषतः प्रयुक्त होने लगा हो। पर, ये केवल सम्भावनाएं ही हैं। वास्तव में भिक्षु सिद्धार्थ का मत कम स्वाभाविक प्रतीत होता है।

डा० मैक्सवेलसेर

जर्मन विद्वान् डा० मैक्सवेलसेर ने लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व पालि के सम्बन्ध में अपना नया अभिमत व्यक्त किया था। उन्होंने पालि का आधार पाटलि माना। उनके अनुसार पाटलि के बदले पाडलि भी माना जा सकता है, उनका प्रतिपादन है कि पाटलिपुत्र (पटना क्षेत्र) की भाषा का नाम पाटलि रहा हो। संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से बीच के ट को लुप्त कर 'पालि' बना दिया गया हो। पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य का केन्द्र था, राजगृह के पश्चात् राजधानी थी; इसलिए वहां की भाषा राजभाषा या केन्द्रीय भाषा के रूप में मान्य हो सकती थी।

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६

की ? वहाँ एक उत्तर है कि त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर उनकी रक्षा की। साथ-ही-साथ दूसरा उत्तर है कि बौद्ध धर्म के परम भक्त और उपासक लंकानरेश वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक को लेख-बद्ध कर उनकी रक्षा की। पालि बुद्ध-वचन भी है और पालि पंक्ति भी है। त्रिपिटक के संरक्षण के रूप में पालि बुद्ध-वचन है और उनकी लेख-बद्धता की अपेक्षा से पालि पंक्ति है।

अभिधानदीपिकाकार ने पालि शब्द का जो निर्वचन किया है, वह उनके इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक बहुत महत्व की बात यहां छूट गयी है। परियाय शब्द पर अभिधान-दीपिकाकार ने कोई विशेष चर्चा नहीं की। उन्होंने वहाँ केवल उसका पर्याय वाची "बुद्ध-वचन" शब्द ही दे दिया है। ऐसा हो सकता है कि पालि शब्द का निर्वचन करते समय परियाय और पालि की भाषा वैज्ञानिक संगति की ओर उनका ध्यान न गया हो।

भाषा के अर्थ में पालि के प्रयोग के सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में पूर्व विहित चर्चा से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग १४वीं शती तक कहीं भी उस भाषा के अर्थ में नहीं किया गया, जिसमें बुद्ध-वचन है। स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि भाषा के लिए यह शब्द किस प्रकार प्रयोग में आने लगा। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऐसा मत व्यक्त किया है—"पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय पालि'। बाद में तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं पालि शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य उस भाषा से लिया जाता है, जिसमें स्थविर-वाद बौद्ध धर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है।"[1]

डा० उपाध्याय ने जो क्रम प्रस्तुत किया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का जो प्रयोग बौद्ध साहित्य में होने लगा था, वह एक आधार है, जो पालि के वर्तमान अर्थ को संगति प्रदान करता है। डा० उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का अर्थ था, बुद्ध के वचनों की भाषा। यह बात सम्भावित प्रतीत होती है कि आगे चल कर भाषा शब्द सहज ही हट गया हो और मात्र 'पालि' शब्द बच पाया हो।

पालि की आधारभूत भाषा

पालि की आधारभूत भाषा कौन सी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जिस

---

[1] पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०

भाषा में त्रिपिटक लिखा गया, उसके लिए मागधी, मगध भाषा, मागधा निरुक्ति तथा मागधिक भाषा जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से यह व्यक्त होता है कि वह भाषा मगध देश मे बोली जाने वाली थी। लंका की परम्परा भी उसे मगध की भाषा मानती है। उसके अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमे सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया। कच्चान व्याकरण में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहां उसे संसार की मूल भाषा[1] और वह भाषा कहा गया है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने भाषण किया। आचार्य बुद्धघोष ने भी ऐसा ही माना है। समन्त-पासादिका में उन्होंने लिखा है कि सम्यक् सम्बुद्ध (भगवान् बुद्ध, के द्वारा प्रयुक्त भाषा मागधी ही है। अपने धर्म से सम्बद्ध भाषा के प्रति व्यक्ति का अनुराग सहज ही बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों मे वह आसंग या आसक्ति की सीमा मे चला जाता है। फलतः व्यक्ति वस्तुपरकता के स्थान पर प्रशंसि की भाषा में बोलने लगता है। बुद्धघोष विद्वान् होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आचार्य भी थे, इसीलिए बहु-मानवश यहां तक लिख देते हैं कि मागधी सब प्राणियों की मूल भाषा या आदि भाषा है। संसार की आदि भाषा के सन्दर्भ में यह चर्चा की जा चुकी है।

लंका की परम्परा

लंका मे आज भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो भाषा पालि कहलाती है, वह भगवान् बुद्ध के समय में मगध में बोली जाती थी। लंका की परम्परा मे भगवान् बुद्ध के त्रिपिटकात्मक वचनों की भाषा को तो मागधी कहा ही गया है, बारहवीं-तेरहवीं शती में रचित अट्ठकथाओं तक की भाषा को भी वह मागधी कहने मे तुष्टि और गरिमा का अनुभव करती है।

तेरहवीं शती का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, चूलवग्ग। वह महावंस का परिवर्धित संस्करण है। उसका एक प्रसंग[2] है। रेवत स्थविर ने आचार्य बुद्धघोष से कहा कि लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी में अनुवाद करो। उसी प्रसंग में आगे लिखा गया है कि आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के आदेश के अनुसार ऐसा ही किया। वहां लिखा गया है कि सभी सिंहली अट्ठकथाओं का मूल भाषा मागधी मे परिवर्तन कर दिया गया। इससे कुछ पूर्व १२ वीं शती मे मोग्गलान ने पालि-व्याकरण की रचना की। वहां उन्होंने प्रारम्भ में कहा है कि वे मागधी का शब्द-लक्षण या व्याकरण वर्णित करेंगे।

ब्रह्मदेश की परम्परा

पिटक और तदुपजीवी वाङ्मय की भाषा के सम्बन्ध में सिंहली परम्परा का ही प्रायः

---

१. सा मागधी मूल भासा······सम्बुद्धा चापि भासरे।

२. चूलवग्ग परिच्छेद ३७, गाथा २२९-२३०

की ? वहाँ एक उत्तर है कि त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर उनकी रक्षा की। साथ-ही-साथ दूसरा उत्तर है कि बौद्ध धर्म के परम भक्त और उपासक लंकाधीश वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक को लेख-बद्ध कर उनकी रक्षा की। पालि बुद्ध-वचन भी है और पालि पंक्ति भी है। त्रिपिटक के संरक्षण के रूप में पालि बुद्ध-वचन है और उसकी लेख-बद्धता की अपेक्षा से पालि पंक्ति है।

अभिधानदीपिकाकार ने पालि शब्द का जो निर्वचन किया है, वह उसके इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक बहुत महत्त्व की बात यहाँ छूट गयी है। परियाय शब्द पर अभिधान-दीपिकाकार ने कोई विशेष चर्चा नहीं की। उन्होंने वहाँ केवल उसका पर्याय-वाची "बुद्ध-वचन" शब्द ही दे दिया है। ऐसा हो सकता है कि पालि शब्द का निर्वचन करते समय परियाय और पालि की भाषा वैज्ञानिक संगति की ओर उनका ध्यान न गया हो।

भाषा के अर्थ में पालि के प्रयोग के सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में पूर्व विहित चर्चा से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग १४वीं शती तक कहीं भी उस भाषा के अर्थ में नहीं किया गया, जिसमें बुद्ध-वचन है। स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि भाषा के लिए यह शब्द किस प्रकार प्रयोग में आने लगा। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऐसा मत व्यक्त किया है—"पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय पालि'। बाद में तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं पालि शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य उस भाषा से लिया जाता है, जिसमें स्थविर-वाद बौद्ध धर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है।"[1]

डा० उपाध्याय ने जो क्रम प्रस्तुत किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का जो प्रयोग बौद्ध साहित्य में होने लगा था, वह एक आधार है, जो पालि के वर्तमान अर्थ को संगति प्रदान करता है। डा० उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का अर्थ था, बुद्ध के वचनों की भाषा। यह बात सम्भावित प्रतीत होती है कि आगे चल कर भाषा शब्द सहज ही हट गया हो और मात्र 'पालि' शब्द बच पाया हो।

पालि की आधारभूत भाषा

पालि की आधारभूत भाषा कौन सी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जिन

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०

भाषा में त्रिपिटक लिखा गया, उसके लिए मागधी, मगध भाषा, मागधा निरुक्ति तथा मागधिक भाषा जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से यह व्यक्त होता है कि वह भाषा मगध देश में बोली जाने वाली थी। लंका की परम्परा भी उसे मगध की भाषा मानती है। उसके अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया। कच्चान व्याकरण में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहां उसे संसार की मूल भाषा[1] और वह भाषा कहा गया है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने भाषण किया। आचार्य बुद्धघोष ने भी ऐसा ही माना है। समन्त-पासादिका में उन्होंने लिखा है कि सम्यक् सम्बुद्ध (भगवान् बुद्ध, के द्वारा प्रयुक्त भाषा मागधी ही है। अपने धर्म से सम्बद्ध भाषा के प्रति व्यक्ति का अनुराग सहज ही बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में वह आवेग या आसक्ति की सीमा में चला जाता है। फलतः व्यक्ति वस्तुपरकता के स्थान पर प्रशस्ति की भाषा में बोलने लगता है। बुद्धघोष विद्वान् होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आचार्य भी थे, इसीलिए बहु-मानवश यहाँ तक लिख देते हैं कि मागधी सब प्राणियों की मूल भाषा या आदि भाषा है। संसार की आदि भाषा के सन्दर्भ में यह चर्चा की जा चुकी है।

लंका की परम्परा

लंका में आज भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो भाषा पालि कहलाती है, वह भगवान् बुद्ध के समय में मगध में बोली जाती थी। लंका की परम्परा में भगवान् बुद्ध के त्रिपिटकात्मक वचनों की भाषा को तो मागधी कहा ही गया है, बारहवीं-तेरहवीं शती में रचित अट्ठकथाओं तक की भाषा को भी वह मागधी कहने में तुष्टि और गरिमा का अनुभव करती है।

तेरहवीं शती का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, चूलवंश। वह महावंश का परिवर्द्धित संस्करण है। उसका एक प्रसंग[2] है। रेवत स्थविर ने आचार्य बुद्धघोष से कहा कि लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी में अनुवाद करो। उसी प्रसंग में आगे लिखा गया है कि आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के आदेश के अनुसार ऐसा ही किया। वहाँ लिखा गया है कि सभी सिंहली अट्ठकथाओं का मूल भाषा मागधी में परिवर्तन कर दिया गया। इससे कुछ पूर्व १२ वीं शती में मोग्गल्लान ने पालि-व्याकरण की रचना की। वहाँ उन्होंने प्रारम्भ में कहा है कि वे मागधी का शब्द-लक्षण या व्याकरण वर्णित करेंगे।

ब्रह्मदेश की परम्परा

पिटक और तदुपजीवी वाङ्मय की भाषा के सम्बन्ध में सिंहली परम्परा का ही प्रायः

---

१. सा मागधी मूल भासा......सम्बुद्धा चापि भासरे।

२. चूलवंश परिच्छेद ३७, गाथा २२९-२३०

की ? वहां एक उत्तर है कि त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर उनकी रक्षा की। साथ-ही-साथ दूसरा उत्तर है कि बौद्ध धर्म के परम भक्त और उपासक लंकानरेश वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक को लेख-बद्ध कर उनकी रक्षा की। पालि बुद्ध-वचन भी है और पालि पंक्ति भी है। त्रिपिटक के संकलन के रूप में पालि बुद्ध-वचन है और उनकी लेख-बद्धता की अपेक्षा से पालि पंक्ति है।

अभिधानप्पदीपिकाकार ने पालि शब्द का जो निर्वचन किया है, वह उसके इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक बहुत महत्त्व की बात वहां छूट गयी है। परियाय शब्द पर अभिधान-दीपिकाकार ने कोई विशेष चर्चा नहीं की। उन्होंने वहां केवल उसका पर्यायवाची "बुद्ध-वचन" शब्द ही दे दिया है। ऐसा हो सकता है कि पालि शब्द का निर्वचन करते समय परियाय और पालि की भाषा वैज्ञानिक संगति की ओर उनका ध्यान न गया हो।

भाषा के अर्थ में पालि के प्रयोग के सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में पूर्व विहित चर्चा से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग १४वीं शती तक कहीं भी उस भाषा के अर्थ में नहीं किया गया, जिसमें बुद्ध-वचन है। स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि भाषा के लिए यह शब्द किस प्रकार प्रयोग में आने लगा। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऐसा मत व्यक्त किया है—"पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय पालि'। बाद में त्रिपिटक की भाषा को बोधित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' ऐसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं पालि शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। अब 'पालि' से तात्पर्य उस भाषा से लिया जाता है, जिसमें स्थविर-वाद बौद्ध धर्म का त्रिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है।"[1]

डा० उपाध्याय ने जो मत प्रस्तुत किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। तन्ति भाषा व पालि-भाषा का जो प्रयोग बौद्ध साहित्य में होने लगा था, वह एक आधार है, जो पालि के वर्तमान अर्थ का स्पष्ट संकेत करता है। डा० उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, तन्ति-भाषा व पालि-भाषा का अर्थ था, बुद्ध के वचनों की भाषा। यह बात सम्भावित प्रतीत होती है कि आगे चल कर भाषा शब्द सहज ही हट गया हो और मात्र 'पालि' शब्द बच रहा हो।

[illegible]

पालि की [illegible] भाषा कौन सी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। [illegible]

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०

भाषा में त्रिपिटक लिखा गया, उसके लिए मागधी, मगध भाषा, मागधा निरुक्ति तथा मागधिक भाषा जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से यह व्यक्त होता है कि वह भाषा मगध देश में बोली जाने वाली थी। लंका की परम्परा भी उसे मगध की भाषा मानती है। उसके अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया। कच्चान व्याकरण में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहाँ उसे संसार की मूल भाषा[1] और वह भाषा कहा गया है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने भाषण किया। आचार्य बुद्धघोष ने भी ऐसा ही माना है। समन्त-पासादिका में उन्होंने लिखा है कि सम्यक् सम्बुद्ध (भगवान् बुद्ध, के द्वारा प्रयुक्त भाषा मागधी ही है। अपने धर्म से सम्बद्ध भाषा के प्रति व्यक्ति का अनुराग सहज ही बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में वह आसंग या आसक्ति की सीमा में चला जाता है। फलतः व्यक्ति वस्तुपरकता के स्थान पर प्रशस्ति की भाषा में बोलने लगता है। बुद्धघोष विद्वान् होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आचार्य भी थे, इसीलिए बहु-मानवश यहाँ तक लिख देते हैं कि मागधी सब प्राणियों की मूल भाषा या आदि भाषा है। संसार की आदि भाषा के सन्दर्भ में यह चर्चा की जा चुकी है।

लंका की परम्परा

लंका में आज भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो भाषा पालि कहलाती है, वह भगवान् बुद्ध के समय में मगध में बोली जाती थी। लंका की परम्परा में भगवान् बुद्ध के त्रिपिटकात्मक वचनों की भाषा को तो मागधी कहा ही गया है, बारहवीं-तेरहवीं शती में रचित अट्ठकथाओं तक की भाषा को भी वह मागधी कहने में तुष्टि और गरिमा का अनुभव करती है।

तेरहवीं शती का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, चूलवंस। यह महावंश का परिवर्द्धित संस्करण है। उसका एक प्रसंग[2] है। रेवत स्थविर ने आचार्य बुद्धघोष से कहा कि लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी में अनुवाद करो। उसी प्रसंग में आगे लिखा गया है कि आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के आदेश के अनुसार ऐसा ही किया। वहाँ लिखा गया है कि सभी सिंहली अट्ठकथाओं का मूल भाषा मागधी में परिवर्तन कर दिया गया। इससे कुछ पूर्व १२ वीं शती में मोग्गल्लान ने पालि-व्याकरण की रचना की। वहाँ उन्होंने प्रारम्भ में कहा है कि वे मागधी का शब्द-लक्षण या व्याकरण वर्णित करेंगे।

ब्रह्मदेश की परम्परा

पिटक और तदुपजीवी वाङ्मय की भाषा के सम्बन्ध में सिंहली परम्परा का ही प्राय

---

१. सा मागधी मूल भासा ········· सम्बुद्धा चापि भासरे।

२. चूलवंस परिच्छेद ३७, गाथा २२९-२३०

की ? वहाँ एक उत्तर है कि त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर उनकी रक्षा की। साथ-ही-साथ दूसरा उत्तर है कि बौद्ध धर्म के परम भक्त और उन्नायक लंकानरेश वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक को लेख-बद्ध कर उनकी रक्षा की। पालि बुद्ध-वचन भी है और पालि पंक्ति भी है। त्रिपिटक के संकलन के रूप में पालि बुद्ध-वचन है और उनकी लेख-बद्धता की अपेक्षा से पालि पंक्ति है।

अभिधानदीपिकाकार ने पालि शब्द का जो निर्वचन किया है, वह उसके इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक बहुत महत्व की बात वहां छूट गयी है। परियाय शब्द पर अभिधान-दीपिकाकार ने कोई विशेष चर्चा नहीं की। उन्होंने वहां केवल उसका पर्यायवाची "बुद्ध-वचन" शब्द ही दे दिया है। ऐसा हो सकता है कि पालि शब्द का निर्वचन करते समय परियाय और पालि की भाषा वैज्ञानिक संगति की ओर उनका ध्यान न गया हो।

भाषा के अर्थ में पालि के प्रयोग के सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में पूर्व विहित चर्चा से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग १४वीं शती तक कहीं भी उस भाषा के अर्थ में नहीं किया गया, जिसमें बुद्ध-वचन है। स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि भाषा के लिए यह शब्द किस प्रकार प्रयोग में आने लगा। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऐसा मत व्यक्त किया है—"पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय पालि'। बाद में तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं पालि शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य उस भाषा से लिया जाता है, जिसमें स्थविरवाद बौद्ध धर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है।"[1]

डा० उपाध्याय ने जो क्रम प्रस्तुत किया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का जो प्रयोग बौद्ध साहित्य में होने लगा था, वह एक आधार है, जो पालि के वर्तमान अर्थ को संगति प्रदान करता है। डा० उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का अर्थ था, बुद्ध के वचनों की भाषा। यह बात सम्भावित प्रतीत होती है कि आगे चल कर भाषा शब्द सहज ही हट गया हो और मात्र 'पालि' शब्द बच पाया हो।

पालि की आधारभूत भाषा

पालि की आधारभूत भाषा कौन सी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जिन

[1] पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०

भाषा में त्रिपिटक लिखा गया, उसके लिए मागधी, मगध भाषा, मागधा निरुक्ति तथा मागधिक भाषा जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से यह व्यक्त होता है कि वह भाषा मगध देश में बोली जाने वाली थी। लंका की परम्परा भी उसे मगध की भाषा मानती है। उसके अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया। कच्चान व्याकरण में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहां उसे संसार की मूल भाषा[1] और वह भाषा कहा गया है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने भाषण किया। आचार्य बुद्धघोष ने भी ऐसा ही माना है। समन्त-पासादिका में उन्होंने लिखा है कि सम्यक् सम्बुद्ध (भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त भाषा मागधी ही है। अपने धर्म से सम्बद्ध भाषा के प्रति व्यक्ति का अनुराग सहज ही बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में वह आसंग या आसक्ति की सीमा में चला जाता है। फलतः व्यक्ति वस्तुपरकता के स्थान पर प्रशंसित की भाषा में बोलने लगता है। बुद्धघोष विद्वान् होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आचार्य भी थे, इसीलिए *बहु-मानवश यहां तक लिख देते हैं कि मागधी सब प्राणियों की मूल भाषा या आदि भाषा* है। संसार की आदि भाषा के सन्दर्भ में यह चर्चा की जा चुकी है।

लंका की परम्परा

लंका में आज भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो भाषा पालि कहलाती है, वह भगवान् बुद्ध के समय में मगध में बोली जाती थी। लंका की परम्परा में भगवान् बुद्ध के त्रिपिटक-कारमक वचनों की भाषा को तो मागधी कहा ही गया है, बारहवीं-तेरहवीं शती में रचित अट्ठकथाओं तक की भाषा को भी वह मागधी कहने में तुष्टि और गरिमा का अनुभव करती है।

तेरहवीं शती का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, चूलवंश। वह महावंस का परिवर्द्धित संस्करण है। उसका एक प्रसंग[2] है। रेवत स्थविर ने आचार्य बुद्धघोष से कहा कि लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी में अनुवाद करो। उसी प्रसंग में आगे लिखा गया है कि आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के आदेश के अनुसार ऐसा ही किया। वहां लिखा गया है कि सभी सिंहली अट्ठकथाओं का मूल भाषा मागधी में परिवर्तन कर दिया गया। इसमें कुछ पूर्व १२ वीं शती में मोग्गल्लान ने पालि-व्याकरण की रचना की। वहाँ उन्होंने प्रारम्भ में कहा है कि वे मागधी का शब्द-लक्षण या व्याकरण वर्णित करेंगे।

ब्रह्मदेश की परम्परा

पिटक और तदुपजीवी वाङ्मय की भाषा के सम्बन्ध में सिंहली परम्परा का ही प्रायः

---

१. सा मागधी मूल भासा ...... सम्बुद्धा चापि भासरे।

२. चूलवंस परिच्छेद ३७, गाथा २२९-२३०

की ? यहाँ एक उत्तर है कि त्रिपिटक के रूप में उसका संकलन कर उसकी रक्षा की। साथ-ही-साथ दूसरा उत्तर है कि बौद्ध धर्म के परम भक्त और उपासक सिंहलनरेश वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक को लेख-बद्ध कर उसकी रक्षा की। पालि बुद्ध-वचन भी है और पालि पंक्ति भी है। त्रिपिटक के संकलन के रूप में पालि बुद्ध-वचन है और उसकी लेख-बद्धता की अपेक्षा से पालि पंक्ति है।

अभिधानदीपिकाकार ने पालि शब्द का जो निर्वचन किया है, वह उसके इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक बहुत महत्व की बात वहाँ छूट गयी है। परियाय शब्द पर अभिधान-दीपिकाकार ने कोई विशेष चर्चा नहीं की। उन्होंने वहाँ केवल उसका पर्यायवाची "बुद्ध-वचन" शब्द ही दे दिया है। ऐसा हो सकता है कि पालि शब्द का निर्वचन करते समय परियाय और पालि की भाषा वैज्ञानिक संगति की ओर उनका ध्यान न गया हो।

भाषा के अर्थ में पालि के प्रयोग के सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में पूर्व विहित चर्चा से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग १४वीं शती तक कहीं भी उस भाषा के अर्थ में नहीं किया गया, जिसमें बुद्ध-वचन है। स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि भाषा के लिए यह शब्द किस प्रकार प्रयोग में आने लगा। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऐसा मत व्यक्त किया है—"पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय पालि'। बाद में तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं पालि शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य उस भाषा से लिया जाता है, जिसमें स्थविरवाद बौद्ध धर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है।"[1]

डा० उपाध्याय ने जो क्रम प्रस्तुत किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का जो प्रयोग बौद्ध साहित्य में होने लगा था, वह एक आधार है, जो पालि के वर्तमान अर्थ को संगति प्रदान करता है। डा० उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, तन्ति-भाषा या पालि-भाषा का अर्थ था, बुद्ध के वचनों की भाषा। यह बात सम्भावित प्रतीत होती है कि आगे चल कर भाषा शब्द सहज ही हट गया हो और मात्र 'पालि' शब्द बच पाया हो।

पालि की आधारभूत भाषा

पालि की आधारभूत भाषा कौन सी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जिन

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०

भाषा में त्रिपिटक लिखा गया, उसके लिए मागधी, मगध भाषा, मागधा निरुक्ति तथा मागधिक भाषा जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से यह व्यक्त होता है कि वह भाषा मगध देश में बोली जाने वाली थी। लंका की परम्परा भी उसे मगध की भाषा मानती है। उसके अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया। कच्चान व्याकरण में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहां उसे संसार की मूल भाषा[1] और वह भाषा कहा गया है, जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने भाषण किया। आचार्य बुद्धघोष ने भी ऐसा ही माना है। समन्त-पासादिका में उन्होंने लिखा है कि सम्यक् सम्बुद्ध (भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त भाषा मागधी ही है। अपने धर्म से सम्बद्ध भाषा के प्रति व्यक्ति का अनुराग सहज ही बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में यह आसंग या आसक्ति की सीमा में चला जाता है। फलतः व्यक्ति वस्तुपरकता के स्थान पर प्रशस्ति की भाषा में बोलने लगता है। बुद्धघोष विद्वान् होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के आचार्य भी थे, इसीलिए *बहु-मानवश यहां तक लिख देते हैं कि मागधी सब प्राणियों की मूल भाषा या आदि भाषा* है। संसार की आदि भाषा के सन्दर्भ में यह चर्चा की जा चुकी है।

लंका की परम्परा

लंका में आज भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो भाषा पालि कहलाती है, वह भगवान् बुद्ध के समय में मगध में बोली जाती थी। लंका की परम्परा में भगवान् बुद्ध के त्रिपिटकात्मक वचनों की भाषा को तो मागधी कहा ही गया है, बारहवीं-तेरहवीं शती में रचित अट्ठकथाओं तक की भाषा को भी वह मागधी कहने में तुष्टि और गरिमा का अनुभव करती है।

तेरहवीं शती का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, चूलवंश। यह महावंस का परिवर्द्धित संस्करण है। उसका एक प्रसंग[2] है। रेवत स्थविर ने आचार्य बुद्धघोष से कहा कि लंका जाकर *सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी में अनुवाद करो।* उसी प्रसंग में आगे लिखा गया है कि आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के आदेश के अनुसार ऐसा ही किया। वहां लिखा गया है कि सभी सिंहली अट्ठकथाओं का मूल भाषा मागधी में परिवर्तन कर दिया गया। इससे कुछ पूर्व १२ वीं शती में मोग्गलान ने पालि-व्याकरण की रचना की। वहां उन्होंने प्रारम्भ में कहा है कि वे मागधी का शब्द-लक्षण या व्याकरण वर्णित करेंगे।

ब्रह्मदेश की परम्परा

पिटक और तदुपजीवी वाङ्मय की भाषा के सम्बन्ध में सिंहली परम्परा का ही प्रायः

---

१. *सा मागधी मूल भासा"......सम्बुद्धा चापि भासरे।*

२. चूलवंश परिच्छेद ३७, गाथा २२९-२३०

कलिंग-भाषा और पालि

एक मत इस प्रकार है, जो पालि को कलिंग देश की भाषा के आधार पर विकसित मानता है। इस मत के उद्भावक डा० ओल्डन बर्ग[1] हैं। उनके कहने का तात्पर्य है कि लंका के निकटवर्ती होने के कारण कलिंग से ही लंका में बौद्ध धर्म का संचार शताब्दियों तक होता रहा। उनके अनुसार तब जो कलिंग की भाषा थी, वही कुछ विकसित और परिवर्तित होकर पालि के रूप में अस्तित्व में आई और बौद्ध धर्म के माध्यम के रूप में लंका पहुँची। डा० ओल्डन बर्ग ने दूसरी बात यह कही है कि कलिंग में खण्डगिरि (हाथी गुम्फा) में खारवेल का जो शिलालेख है, उसकी भाषा पालि के बहुत निकट है। खारवेल का लेख कलिंग की तत्कालीन भाषा में हो, यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है।

लंका में धर्म-प्रचार के लिए सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा गये; यह ऐतिहासिकों द्वारा प्रायः स्वीकृत तथ्य है। डा० ओल्डन बर्ग इसे प्रामाणिक नहीं मानते। वे कलिंगवासियों द्वारा ही लंका में बौद्ध धर्म के प्रचारित होने को प्रामाणिकता की कोटि में लेते हैं। उनके अनुसार कई शताब्दियों तक कलिंगवासियों का लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न रहा।

ई० मुलर

डा० ओल्डन बर्ग की तरह ई० मुलर का भी मत है कि कलिंग ही पालि के उद्भव का देश है। उनकी मान्यता है कि कलिंग से ही सबसे पहले (भारतीय) लंका में आकर बसे और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

समीक्षा

पालि का आधारभूत भाषा के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों के उल्लेख के अनुसार सिंहली परम्परा मागधी भाषा को पालि का जो आधार मानती है, उससे कतिपय विद्वान् सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार मागधी किसी भी तरह पालि का आधार नहीं है। प्रो० रायस डेविड्स का मत सिंहली परम्परा से एक अपेक्षा से मेल खाता है। प्रो० रायस डेविड्स का कहना है कि भगवान् बुद्ध कौशल में उत्पन्न हुए। उन्होंने मुख्यतः मगध में विहार किया। कौशल देश में उत्पन्न होने के कारण उनकी मातृ-भाषा कौशल की बोली थी। उनका विहार और धर्म-प्रचार मगध रहा; अतः वहाँ के जन-जन को समझाने के लिए मागधी से भी उनका सम्बन्ध जुड़ता है। मातृ-भाषा के नाते एक निष्कर्ष यह निकलता है कि वे कौशल की भाषा

---

१. विनयपिटक डा० ओल्डन बर्ग द्वारा सम्पादित, जिल्द १, भूमिका पृ० १-२६

में बोले हों। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि उन्हें मगध की जनता को समझाना था; अतः बहुत सम्भव है कि उन्होंने कोशल और मगध की भाषा के मिश्रित रूप का व्यवहार किया हो।

प्रो० रायस डेविड्स ने इस सन्दर्भ में कहा है कि अशोक के शिलालेखों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह ई० पू० छठी-सातवीं शती में कोशल प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा का विकसित रूप है। इसके परिपार्श्व में प्रो० रायस डेविड्स ने यह भी सम्भावना की है कि अशोक के समय में कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा (Standard Language) ही मगध-साम्राज्य की राष्ट्र-भाषा (राज-भाषा) रही हो।

डा० विण्टरनित्ज[1] ने प्रो० रायस डेविड्स के इस मत पर शंका करते हुए कहा है कि ई० पू० छठी-सातवीं शती में कोशल-प्रदेश की भाषा का क्या रूप था, इसकी आज जानकारी ही क्या है? जानकारी के बिना उसे पालि का मूल किस आधार पर माना जा सकता है। प्रो० रायस डेविड्स की कल्पना के असंगत लगने का एक दूसरा कारण यह भी है कि मगध-साम्राज्य अपने युग का सुप्रतिष्ठित साम्राज्य था। वह अपनी राज-भाषा के लिए किसी पड़ोसी प्रदेश की भाषा को स्वीकार करे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? अशोक के समय में मगध-साम्राज्य उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचा हुआ था। ऐसी स्थिति में अधिक समीचीन यही प्रतीत होता है कि उस समय मगध में जो भाषा थी, उसे ही राज-भाषा का गौरव प्राप्त हुआ हो। इतना अवश्य है कि जब किसी केन्द्रीय राज्य में कई दूसरे प्रदेश सम्मिलित हो जाते हैं, तो जो राज-भाषा बनती है, उसका मुख्य आधार तो एक ही बोली होती है, पर, अन्यान्य प्रदेशों की बोलियों के लिये भी उसमें स्थान रहता है। कोई राज-भाषा या केन्द्रीय भाषा सर्वसम्मत, सर्वग्राह्य तथा सर्वोपयोगी तभी हो सकती है; इसलिए कोशल प्रदेश की बोली को पालि का आधार मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार वेस्टर गार्ड, कुहन, फ्रैंक और स्टैन कोनो के मत एक-एक अपेक्षा को लिये हुए हैं। उनमें सर्वांगीणता नहीं है। विन्ध्य प्रदेश की भाषा को पालि का आधार मानना लगभग वैसा ही है, जैसा कोशल की भाषा को पालि का आधार मानना। इन विभिन्न मतों के परिपार्श्व में पालि की कुछ ऐसी विशेषताएं या उसके कुछ ऐसे विशेष लक्षण प्रतीत होते हैं, जिनमें विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं के साथ उसको सम्बन्ध जोड़ने के आधार मिल जाते हैं। इसका आशय यह हुआ कि किसी एक बोली को मुख्य आधार के रूप में गृहीत करने पर भी उसे अन्तर्प्रान्तीय रूप लेने के लिए आस-पास के प्रदेशों की अनेक बोलियों की विशेषताओं को यथासम्भव स्वीकार कर लेना पड़ा।

1. History of Indian Liteature, vol. II, P. 605

फ्रैंक ने एक बात और कही है, जो बड़ी विचित्र प्रतीत होती है। उनके अनुसार आज जिसे पालि कहा जाता है, जिसमें त्रिपिटक और तदनुवर्ती साहित्य रचा हुआ है, वह भाषा साहित्यिक पालि है। बुद्धदेव के समय में भारतवर्ष में बोली जाने वाली आर्य-भाषाओं को फ्रैंक ने पालि कहा है। फ्रैंक का यह मत समीचीन और युक्ति-संगत नहीं लगता। भगवान् बुद्ध के समय भारतवर्ष में जो आर्य भाषाएं दैनन्दिन व्यवहार में प्रचलित थीं, उनके विषय में नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपने-अपने प्रदेशों के नामों के अनुरूप भिन्न-भिन्न नाम वाली प्राकृतों के रूप में सुविदित हैं ही। उन सबके लिए पालि जैसा एक नाम कल्पित करना सर्वथा असंगत लगता है। त्रिपिटक की भाषा के लिए पालि शब्द के साथ साहित्यिक शब्द जोड़ना भ्रामक जैसा है।

डा० ओल्डन वर्ग और ई० मुल्लर पालि को कलिंग से सिंहल पहुँचने का उल्लेख करते हैं, वह भी केवल कल्पना मात्र प्रतीत होता है। यदि सिंहल की भाषाओं के साथ भारत के पूर्वी प्रदेश तथा पश्चिमी प्रदेश की भाषाओं की तुलना की जाए, तो सिंहल की भाषाओं का पूर्वी भाषाओं के साथ नहीं, प्रत्युत पश्चिमी भाषाओं के साथ नैकट्य प्रतीत होता है।

पालि के मूल आधार के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा तरह-तरह से ऊहापोह किया गया है। मागधी को पालि का आधार मानने में विभिन्न विद्वानों के अपने विशेष चिन्तन हैं। भिक्षु सिद्धार्थ, भिक्षु जगदीश काश्यप, जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विण्टरनित्ज, ग्रियर्सन तथा गायगर आदि विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मागधी को पालि का स्रोत स्वीकार किया है।

जेम्स एल्विस तथा चाइल्डर्स का यह मानना है कि बुद्ध के समय भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सोलह प्रादेशिक बोलियां प्रचलित थीं। उनमें जो बोली मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का माध्यम उसी को बनाया। विंडिश के भी लगभग ये ही विचार हैं। विण्टरनित्ज ने भी इसी विचार को प्रश्रय दिया है। उनके मत में थोड़ा-सा भेद अवश्य है। उनका कथन है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी। साहित्यिक भाषा का विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के मिश्रण से होता है। विण्टरनित्ज इतना अवश्य मानते हैं कि उन प्रादेशिक बोलियों में, जिनके समन्वय से पालि अस्तित्व में आई, प्राचीन मागधी का मुख्य स्थान था।[1]

सर जार्ज ग्रियर्सन ने सामान्यतः मागधी को पालि का आधार तो माना है, पर, उन्होंने पालि में उस समय की पश्चिमी बोलियों का प्रभाव देखते हुए कहा है कि पालि

1. History of Indian Literature, Vol. II, P. 13

का आधार विशुद्ध मागधी नहीं है। उसका आधार कोई पश्चिमी बोली है। ग्रियर्सन की कल्पना और आगे बढ़ती है। वे कहते हैं कि पालि का आधार मागधी का वह रूप है, जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में प्रचलित था। उनके अनुसार उसी में त्रिपिटक का संकलन वहीं सम्पन्न हुआ।[1]

डा० कीथ ने 'दी होम ऑफ पालि' शीर्षक निबन्ध में इसका खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा के माध्यम के रूप में पालि के प्रयुक्त होने के सम्बन्ध में ग्रियर्सन या किसी दूसरे विद्वान् ने ऐसी कोई युक्ति नहीं दी है, जो काटी न जा सके। त्रिपिटक के वहाँ संकलित किये जाने के बारे में भी कोई प्रामाणिक आधार या युक्ति उन्होंने प्रस्तुत नहीं की है।[2]

वस्तुतः मगध और तक्षशिला के मध्य बहुत अधिक व्यवधान है। मगध से चल कर तक्षशिला पहुँचने तक बीच में अनेक प्रादेशिक बोलियाँ आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में मागधी का कोई रूप तक्षशिला जैसे दूर पश्चिम के स्थान में प्रयुक्त रहा हो, ऐसा सम्भाव्य नहीं लगता। त्रिपिटक के तक्षशिला में संकलित होने का आधार भी सर्वथा अनुपलब्ध है।

जर्मन विद्वान् डा० गायगर ने प्रस्तुत प्रसंग पर जो मत उपस्थित किया है, वह काफी खोज पूर्ण और विचारणीय है। उनकी मान्यता है कि मागधी किसी प्रदेश-विशेष या जनपद-विशेष की बोली जाने वाली एक ऐसी भाषा थी, जो अन्तर्प्रान्तीय रूप लिये हुए थी। वह भगवान् बुद्ध के युग के पूर्व से ही विकासोन्मुख थी। एक अन्तर्प्रान्तीय या सामान्य भाषा (Common Language) के विविध प्रदेशों में बोले जाने में थोड़ी भिन्नता तो सहज हो ही जाती है, पर, उसकी मौलिक एकता विच्छिन्न नहीं होती। भगवान् बुद्ध ने इसी भाषा को अपने प्रवचन के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। जिस अन्तर-प्रान्तीय भाषा की चर्चा की जा रही है, यह स्वाभाविक था कि उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों के तत्त्व विद्यमान रहें। बुद्ध मगध के नहीं थे, परन्तु, उनके जीवन का अधिकांश कार्य भी वहीं सम्पादित हुआ; अतः यह स्वाभाविक था कि उनकी भाषा मगध की बोली से प्रभावित हो। साररूप में डा० गायगर का मत यह है कि पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, पर, मागधी पर आश्रित एक सामान्य लोक-भाषा थी, जिसमें बुद्ध ने अपना सन्देश प्रसारित किया।

---

1. R. G. Bhandarkar Commemoration, Volume, P. 117-123
 ('दी होम ऑफ लिटरेरी पालि' शीर्षक डा० ग्रियर्सन का लेख)
2. Budhistic Studies, Edited by Dr. Law, P. 739

मागधी के जो लक्षण वैयाकरणों ने निरूपित किये हैं, उनके अनुसार क्या पालि को मागधी पर आधारित माना जा सकता है अथवा मागधी का कोई दूसरा रूप, जिसका स्पष्ट दर्शन प्राप्त नहीं है, उसका आधार रहा हो। इस सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार आवश्यक है। भाषा पहले बनती है और व्याकरण उसके अनन्तर। मागधी के व्याकरण के साथ भी यह लागू है। व्याकरण किसी भाषा को नियमित, मर्यादित तथा तत्समकक्ष अन्य भाषाओं से पृथक् करने का उपक्रम है। यही कारण है कि पश्चाद्वर्ती व्याकरणों द्वारा भाषा के पूर्ववर्ती रूप को पकड़ा नहीं जा सकता। व्याकरण से बन्ध जाने के पश्चात् भाषा की प्रवाहशीलता—जीवितता व्याहत हो जाती है। प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी का जो विश्लेषण किया है, उसके साथ त्रिपिटक और तदुपजीवी साहित्य की भाषा मेल नहीं खाती। कतिपय अभिलेखों तथा नाटकों में मागधी का जो प्रयोग हुआ है, उनके साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पालि उससे निश्चय ही भिन्न है। कारण यह है कि अभिलेखों, नाटकों और प्राकृत-व्याकरणों का अस्तित्व पालि के बाद का है।

मागधी की मुख्य विशेषताएं

मागधी में 'र' के स्थान पर 'ल' होता है और 'स' के स्थान पर 'श'।[1] पुल्लिंग अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति एक वचन में अ के स्थान पर ए होता है[2] अथवा पुल्लिंग प्रथमा एकवचन का रूप एकारान्त होता है। शूद्रक-कृत मृच्छकटिक का निम्नांकित श्लोक मागधी के लक्षणों का परिचायक है :

कि याशि धावशि पलाअशि पक्खलन्ती, वाशु पशीद ण मलिश्शशि चिट्ठ दाव।
कामेण डज्झदि हु मे हडके तवश्शी, अंगाललाशिपडिदे इअ मंशखण्डे॥
(किं यासि धावसि पलायसे प्रस्खलन्ती, वासु प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत्।
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि, अंगारराशिपतितमिव मांसखण्डम्॥)

---

१. रसोर्लशौ ॥ ८।४।२८८
मागध्यां रेफस्य दन्त्यसकारस्य च स्थाने यथासंख्यं लकारस्तालव्यशकारश्च भवति।
—सिद्धहेमशब्दानुशासनम्

२. अत एत् सौ पुंसि मागध्याम् ॥ ८।४।२८७
मागध्यां अकारस्य सौ परे एकारो भवति पुंसि पुंलिङ्गे।
—सिद्धहेमशब्दानुशासनम्

पालि में रकार यथावत् बना रहता है। कभी-कभी अनियमित रूप में उसका लकार में परिवर्तन हो जाता है। यह सर्वव्यापी नियम नहीं है, कादाचित्क है। उदाहरणार्थ, संस्कृत का तरुण शब्द पालि में तलुण के रूप में भी प्रयुक्त होता है और तरुण के रूप में भी। पालि में स (दन्त्य) श (तालव्य) में परिवर्तित होता ही नहीं। मागधी में तालव्य श की बहुलता है। उसमें दन्त्य स की तरह मूर्धन्य ष भी तालव्य बन जाता है। जैसे, पुरुषः=पुलिशे, सः=शे। पुल्लिंग की तरह अकारान्त नपुंसक लिंग शब्दों में भी प्रथमा विभक्ति के एक वचन में एकारान्त रूप बनते हैं। पालि में न पुल्लिंग में और न नपुंसक लिंग में ही यह नियम लागू होता है। वहाँ पुल्लिंग में ओकारान्त और नपुंसक लिंग में अनुस्वारान्त रूप होते हैं। *कहीं-कहीं कादाचित्कतया एकारान्त रूप भी देखे* जाते हैं, पर, वैसी नियम-बद्धता वहाँ भी नहीं है। इसका कारण यह है कि पालि और प्राकृतें संस्कृत की तरह व्याकरण के जटिल और कठोर नियमों में प्रतिबद्ध नहीं हैं; अतः यत्र-तत्र ऐसा भी कुछ हो जाता है, जो व्याकरण के नियमों से संगत नहीं है। पर, उसे क्षम्य और सह्य माना जाता है।

केवल मगध प्रदेश तक ही सीमित रहने वाली बोली पालि का एक मात्र आधार नहीं हो सकती। पालि उस मिली-जुली टकसाली भाषा या अन्तर प्रान्तीय (Inter Provincial) भाषा पर ही आधारित मानी जा सकती है, जो मध्यमण्डल या मध्यदेश की भाषा थी। मध्यदेश का स्वरूप साधारणतया सम्भवतः यह रहा होगा—पश्चिम में जनपद अर्थात् आज के हरियाणा के पश्चिमी भाग से लेकर पूर्व में मगध अर्थात् दक्षिण बिहार, उत्तर में श्रावस्ती (*सेंट महेट—उत्तरप्रदेश*) से लेकर दक्षिण में अवन्ती (*उज्जैन या मालव के क्षेत्र*) तक विस्तृत भूभाग। इतने विशाल क्षेत्र में वह भाषा, जो सामान्य भिन्नता के साथ सर्वत्र समान रूप से काम में आए, किसी एक ही प्रदेश से सम्बद्ध नहीं हो सकती। इतना हो सकता है कि राजनीति या शासन की दृष्टि से जो केन्द्र-स्थान हो, उस क्षेत्र की भाषा की वहाँ मुख्यता रहे। उस युग में मगध राजनैतिक दृष्टि से समग्र उत्तर भारत का केन्द्र था। *यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व ऐसा सम्राट् मगध में नहीं हुआ, जिसका आधिपत्य समग्र* उत्तर भारत में अव्याहत रूप में प्रसृत हो सका हो, फिर भी मगध में अनेक ऐसे शासक होते रहे हैं, जिनका मगध के समीपवर्ती आस-पास के प्रदेशों पर आधिपत्य रहा था। यदि आधिपत्य नहीं रहा, तो उनका प्रभाव तो अवश्य ही था; अतः सारे मध्यमण्डल की *समन्वित या सम्मिश्रित भाषा पर मगध की बोली का प्रभाव रहना असंगत नहीं दीखता।* केन्द्रीय प्राधान्य को द्योतित करने की दृष्टि से उसका मागधी नाम प्रचलित रहा है, यह सहजतया सम्भव प्रतीत होता है।

अर्द्ध मागधी और पालि

प्राकृत के भेदों में एक भेद अर्द्ध मागधी है। वह जैनों के अंग-साहित्य की भाषा है।

इस पर विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्याय में किया जायेगा। पालि के सन्दर्भ में जो पर्यवेक्ष्य है, उससे सम्बद्ध विचार किया जा रहा है।

अर्द्धमागधी का सामान्यतया यह अर्थ है कि वह भाषा, जो शौरसेनी और मागधी भाषाएं बोले जाने वाले क्षेत्र के बीच के भाग में बोली जाती थी। दूसरा फलित यह होता है, अर्द्धमागधी वह भाषा है, जिसमें मागधी और शौरसेनी दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है। अर्द्ध मागधी का अर्थ एक दूसरे प्रकार से भी किया जाता है। तदनुसार वह भाषा, जिसमें मागधी के आधे लक्षण मिलते हों, अर्द्धमागधी है। मागधी के मुख्यतः तीन लक्षण हैं। उसमें मूर्धन्य ष और दन्त्य स के बदले तालव्य श तथा र के स्थान पर ल का प्रयोग होता है। अकारान्त पुंलिंग शब्दों के कर्त्ता कारक एक वचन में ए प्रत्यय प्रयुक्त होता है। अर्द्धमागधी में तालव्य श का प्रयोग बिलकुल नहीं होता। र के स्थान में ल का प्रयोग कभी-कभी होता है। अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ए प्रत्यय का प्रयोग अधिकांशतः होता है। इस प्रकार मागधी के आधे लक्षण इसमें मिलते हैं। इसकी कारक-रचना में दूसरी विशेषता यह पाई जाती है कि अधिकरण या सप्तमी विभक्ति में ए और म्मि के अतिरिक्त अंसि प्रत्यय भी प्राप्त होता है। जैसे, वणे, वणम्मि, वणंसि। दशवैकालिक सूत्र के निम्नांकित उदाहरण से यह स्पष्ट होता है :

> लूहवित्ति सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिया।
> आसुरत्तं न गच्छेज्जा सोच्चाणं जिणसासणं॥
> (रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः अल्पेच्छः सुभरः स्यात्।
> आसुरत्वं न गच्छेत् श्रुत्वा जिनशासनम् ॥)

लूडर्स का मत है कि प्राचीन अर्द्धमागधी पालि का मूल आधार है। उनके अनुसार त्रिपिटक साहित्य अर्द्धमागधी भाषा में लिखा गया। तत्पश्चात् उसका पालि में रूपान्तरण हुआ। लूडर्स पालि को पश्चिमी बोली पर आश्रित मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि इस समय त्रिपिटक में जो पालि का स्वरूप प्राप्त है, उसमें मागधी का जो यत्किंचित् दर्शन होता है, वह प्राचीन अर्द्धमागधी के अवशिष्ट अंशों के चले आने से है। पालि में रूपान्तरण करते समय ये अंश बचे रह गये।[1]

कीथ ने लूडर्स का खण्डन किया है।[2] उनके कथन का अभिप्राय है कि आगे चलकर अर्द्धमागधी का विकास जिस साहित्यिक अर्द्धमागधी प्राकृत में हुआ, वह लूडर्स द्वारा परिकल्पित प्राचीन अर्द्धमागधी थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

---

1. Budhistic Studies, P. 734
2. I bid; P. 734

लूडर्स ने प्राचीन अर्द्धमागधी के रूप में जिस भाषा का अंकन किया है, वास्तव में उसका अपना स्वतन्त्र रूप प्राप्त नहीं है। लूडर्स ने अशोक के शिलालेखों तथा अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों के आधार पर प्राचीन अर्द्धमागधी की कल्पना की है। पर, ये आधार उचित नहीं कहे जा सकते; क्योंकि ये पश्चाद्वर्ती हैं। अशोक के शिलालेखों के सम्बन्ध में आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी। फ्रांस के विद्वान् सिलवां लेवी का भी इसी प्रकार का मत है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पालि त्रिपिटक भगवान् बुद्ध के मौलिक वचन नहीं है।

वास्तव में पालि के सम्बन्ध में विद्वानों में जो मतानैक्य या सन्देहात्मकता रही, उसका मुख्य आधार पालि के रूप की बहुविध विशेषताएं है। बुद्ध ने ऐसी भाषा में उपदेश दिया, जो नाम से तो मागधी कहलाती थी, जिसका मुख्य आधार मगध प्रदेश की बोली था, पर, पश्चिम प्रदेश की अन्यान्य बोलियों का मिश्रण भी उसमें था। इस पहलू पर कुछ दूसरी अपेक्षाओं से भी चिन्तन आवश्यक है। साथ-ही-साथ भगवान् बुद्ध के युग, उनका विहरण-क्षेत्र, शिष्य-सम्पदा, परिस्थितियां, आदि के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत विषय के परिशीलन किये जाने पर कुछ और प्रकाश मिल सके।

बुद्ध-युग : पारिपार्श्विक स्थितियां

भगवान् बुद्ध कुरु जनपद से मगध और विन्ध्य से हिमालय तक अर्थात् इनके मध्यवर्ती अनेक प्रदेशों, जनपदों, क्षेत्रों में विहार करते रहे थे। बौद्ध वाङ्मय में 'मज्झिमेसु' 'पदेसु' के नाम से इस भूभाग का उल्लेख हुआ है। यह भी सर्वविदित है कि भगवान् बुद्ध का धर्म-संघ जातीय उच्चता तथा नीचता के भाव से परे था। उनके धर्म संघ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; सभी जातियों के लोग बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होते रहे थे। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों और वर्गों के लोग भगवान् बुद्ध के संघ में थे, उसी प्रकार विभिन्न प्रदेशों के लोग भी थे। बुद्ध के उपदेश मौखिक थे। उनके जीवन-काल में नहीं, प्रत्युत उनके परिनिर्वाण के दो तीन सदियों के बीच उनके उपदेश संकलित हुए। उनका लेखन तो और विलम्ब से हुआ। अर्थात् ई० पूर्व पहली शताब्दी में वे लंका में लिखे गये। काल की इतनी लम्बी अवधि में उनके रूप में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्धन क्या सम्भव नहीं है?

डा० गायगर ने विशेष बलपूर्वक यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है, कि भाषा तथा विषय; दोनों की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक भगवान् के मूल वचन हैं। विनयपिटक के चुल्लवग्ग में एक कथा है। दो ब्राह्मण भिक्षु थे। एक का नाम यमेलु और दूसरे का तेकुल था।

वे वैदिक परम्परा से आये थे। बौद्ध भिक्षु हो जाने पर भी उनके मन पर, कुछ कुछ वैदिक संस्कार थे। वे देखते हैं कि नाना जातियों और गोत्रों के भिक्षु भगवान् बुद्ध के वचनों को अपनी-अपनी भाषा में रख कर दूषित कर रहे हैं। वहाँ चुल्लवग्ग में "सकाय निरुत्तिया बुद्ध-वचनं दूसेन्ति" इन शब्दों का प्रयोग है। वे ब्राह्मण भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास आते हैं और उनसे निवेदन करते हैं—"भगवन्! अच्छा हो, हम आपके वचनों को छन्दस् में रूपान्तरित कर दें।"[1]

भगवान् बुद्ध ने उन्हें कहा—"नहीं। ऐसा करना अपराध होगा।" तदनन्तर उन्होंने भिक्षुओं को विध्यात्मक भाषा में आदेश देते हुए कहा—"भिक्षुओ! मैं अपनी भाषा में बुद्ध-वचन का परिज्ञान करने की अनुज्ञा देता हूँ।"[2]

प्राक्तन संस्कारवश ब्राह्मण-भिक्षुओं का लोक भाषाओं के प्रति कुछ अरुचि का भाव था। प्राचीन परम्परा और प्रवृत्तिवश जिस छन्दस् को वे परम पवित्र मानते आ रहे थे, सहसा उसके प्रति उनका आदर सर्वथा मिट जाए, यह सम्भव नहीं था। तभी तो उन्होंने भगवान् बुद्ध के समक्ष उक्त प्रस्ताव रखा था।

आचार्य बुद्धघोष ने "छन्दसो आरोपेमाति" का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है : "वेदं विय सक्कटभासाय वाचनामग्गं आरोपेम" अर्थात् वेद की तरह संस्कृत भाषा में आरोपित—रूपान्तरित कर दें। आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ जो 'सक्कट भासा' पद का प्रयोग किया है, उसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं—सत्कृत भाषा तथा संस्कृत भाषा।

डा० विमलाचरण लॉ ने केवल संस्कृत भाषा अर्थ को स्वीकार किया है और आचार्य बुद्धघोष की आलोचना की है। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने डा० लॉ के विचार की समीक्षा करते हुए लिखा है : 'संस्कृत शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है। छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्यभाषा का द्योतक है, जिसमें संहिताएं लिखी गयी हैं। भगवान् बुद्ध को यही अर्थ अभिप्रेत हो सकता था। स्वयं त्रिपिटक में "सावित्ती छन्दसो मुखं" जैसे प्रयोगों में छन्दस् शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआ है; अतः यहाँ भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था, जिसके विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है।"[3]

डा० उपाध्याय सकाय-निरुत्तिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "भगवान् बुद्ध की चारों वर्णों की शुद्धि और उसके विषय में उनकी आचार्य-मुष्टि (रहस्य-भावना)

---

१. हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति।

२. अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं।

३. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २४

न होने के कारण हम यह तो स्वाभाविक ही मान सकते हैं कि नाना प्रदेशों से आये हुए भिक्षु अपनी अपनी बोलियों में ही बुद्ध-वचनों को समझने का प्रयत्न करते होंगे।"[1]

बुद्ध ने भिक्षुओं को 'सकाय निरुत्तिया' का जो आदेश दिया, इस सम्बन्ध में डा० गायगर का अर्थ एक भिन्न दिशा में जाता है। उन्होंने बताया है कि भगवान् बुद्ध की अनुज्ञा में जो 'सकाय निरुत्तिया' शब्द आया है, उसका अन्वय 'भिक्खवे' के साथ नहीं, बुद्ध-वचन के साथ है। सकाय निरुत्तिया का अन्वय भिक्खवे के साथ होता है, तो अर्थ की सगति के लिए वो (तुमको) पद आना चाहिए था। तभी उसका अर्थ भिक्षुओं की अपनी-अपनी भाषा हो सकता था। पर मूल-पाठ के साथ 'वो' शब्द नहीं आया है; अतः यह सहज ही सिद्ध होता है कि व्याकरण के अनुसार 'सकाय निरुत्तिया' शब्द बुद्ध-वचन से सम्बद्ध होगा। तदनुसार उक्त वाक्य का अर्थ यह होगा कि "भिक्षुओ! बुद्ध-वचन को उसकी—बुद्ध-वचन की भाषा में सीखने की मैं अनुज्ञा देता हूं।" इसका निष्कर्ष यह हुआ कि बुद्ध-वचन को मागधी भाषा में ही सीखने की बुद्धदेव ने आज्ञा दी।[2]

आचार्य बुद्धघोष ने 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या इसी प्रकार की है: "यहां स का निरुत्ति—स्वका निरुक्ति—स्वकीय भाषा से सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा के व्यवहार का तात्पर्य है।"[3]

डा० गायगर ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि बुद्ध-वचनों को मौलिक एवं प्रामाणिक रूप में अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने की उस समय बहुत तत्परता थी और यह सम्भव है कि बाद में भी उसका अनुसरण होता रहा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि न तो भगवान् बुद्ध का ही और न भिक्षुओं का ही मन्तव्य इस प्रकार का हो सकता था कि वे (भिन्न-भिन्न प्रदेशों के भिक्षु) भिन्न-भिन्न भाषाओं में बुद्ध-वचन अधिगत करें। डा० गायगर ने 'सकायनिरुत्तिया' की अपनी-अपनी भाषापरक व्याख्या को अनुचित ठहराने का प्रयत्न किया है।[4]

भिक्षु सिद्धार्थ ने भी आचार्य बुद्धघोष और डा० गायगर के मत का अनुसरण किया है। उन्होंने लिखा है कि जब भगवान् बुद्ध ने संस्कृत जैसी परिमार्जित और समादृत भाषा में अपने उपदेशों को रखे जाने की स्वीकृति नहीं दी, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपने उपदेशों को साधारण बोलचाल की भाषा में रखे जाने की अनुज्ञा देते। उनके अनुसार

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २२
2. Pali Literature & Language P. 6-7
३. एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मा सम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो।
4. Pali Literature and Languages, P. 7

वे वैदिक परम्परा से आते थे। बौद्ध भिक्षु हो जाने पर भी उनके मन पर, कुछ-कुछ वैदिक संस्कार थे। वे देखते हैं कि नाना जातियों और गोत्रों के भिक्षु भगवान् बुद्ध के वचनों को अपनी-अपनी भाषा में रख कर दूषित कर रहे हैं। वहाँ चुल्लवग्ग में "सकाय निरुत्तिया बुद्ध-वचनं दूसेन्ति" इन शब्दों का प्रयोग है। तब ब्राह्मण भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास आते हैं और उनसे निवेदन करते हैं—"भन्ते ! अच्छा हो, हम आपके वचनों को छन्दस् में रूपान्तरित कर दें।"[1]

भगवान् बुद्ध ने उन्हें कहा—"नहीं। ऐसा करना अपराध होगा।" तदनन्तर उन्होंने भिक्षुओं को विज्ञप्त्यात्मक भाषा में आदेश देते हुए कहा—"भिक्षुओ ! मैं अपनी भाषा में बुद्ध-वचन का परिज्ञान करने की अनुज्ञा देता हूँ।"[2]

प्राक्तन संस्कारवश ब्राह्मण-भिक्षुओं का लोक भाषाओं के प्रति कुछ अरुचि का भाव था। प्राचीन परम्परा और प्रकृतिवश जिस छन्दस् को वे परम पवित्र मानते आ रहे थे, सहसा उसके प्रति उनका आदर सर्वथा मिट जाए, यह सम्भव नहीं था। तभी तो उन्होंने भगवान् बुद्ध के समक्ष उक्त प्रस्ताव रखा था।

आचार्य बुद्धघोष ने "छन्दसो आरोपेमाति" का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है: "वेदं विय सक्कटभासाय वाचनामग्गं आरोपेम" अर्थात् वेद की तरह संस्कृत भाषा में आरोपित —रूपान्तरित कर दें। आचार्य बुद्धघोष ने यहां जो 'सक्कट भासा' पद का प्रयोग किया है, उसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं—सत्कृत भाषा तथा संस्कृत भाषा।

डा० विमलाचरण लॉ ने केवल संस्कृत भाषा अर्थ को स्वीकार किया है और आचार्य बुद्धघोष की आलोचना की है। डा० भरतसिंह उपाध्याय ने डा० लॉ के विचार की समीक्षा करते हुए लिखा है: "संस्कृत शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है। छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्यभाषा का द्योतक है, जिसमें संहिताएं लिखी गयी हैं। भगवान् बुद्ध को यही अर्थ अभिप्रेत हो सकता था। स्वयं त्रिपिटक में "सावित्ती छन्दसो मुखं" जैसे प्रयोगों में छन्दस् शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआ है; अतः यहां भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था, जिसके विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है।"[3]

डा० उपाध्याय सकाय-निरुत्तिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं: "भगवान् बुद्ध की चारों वर्णों की शुद्धि और उसके विषय में उनकी आचार्य-मुष्टि (रहस्य-भावना)

१. हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति।
२. अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं।
३. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २४

बुद्ध वचन का परिज्ञान करने हेतु किसी एक भाषा का ही अवलम्बन उपयुक्त रहा होगा। भविष्य में यह सम्भावना तो हो ही सकती है कि विभिन्न प्रदेश के भिक्षुओं द्वारा परिज्ञात या गृहीत किये गये बुद्ध-वचन के पाठ में कुछ अन्तर पड़ जाए। पर, ऐसा हो पाना कम व्यवहार्य प्रतीत होता है। यदि बुद्ध-वचन को इस प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओं या बोलियों में सीखे जाने की स्थिति होती, तो उसमें एक रूपात्मकतापरक समन्वय कभी सम्भव नहीं था।

पालि-ध्वनियों की विशेषता

संस्कृत की ध्वनियों से तुलना करने पर पालि-ध्वनियों की कई विशेषताएं ज्ञात होती हैं। पालि में ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ; इन पांच स्वरों का प्रयोग नहीं पाया जाता। प्राकृत में भी ऐसा ही है। पालि में ऋ स्वर अ, इ, उ में से किसी एक में परिवर्तित हो जाता है। प्राकृत में भी ऐसी ही प्रवृत्ति प्राप्त है। पालि में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ के रूप में दो नये स्वर और प्राप्त हैं। प्राकृत में भी ऐसा ही है। पालि में विसर्ग का व्यवहार नहीं होता। प्राकृत में भी विसर्ग प्रयुक्त नहीं है। मूर्द्धन्य ष् और तालव्य श् पालि में प्रयुक्त नहीं होते। मागधी के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों में भी मूर्द्धन्य ष् और तालव्य श् व्यवहृत नहीं होते।

पालि में ळ व्यंजन का प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृत में भी ळ का प्रयोग मिलता है, पर, लौकिक संस्कृत में यह प्रयुक्त नहीं होता। प्राकृत में इसका प्रयोग रहा है। यहां यह ज्ञातव्य है कि मिथ्या सादृश्य के कारण कहीं-कहीं ल के स्थान पर भी ळ का प्रयोग हो जाता है। पालि में ह् स्वतन्त्र रूप में प्राण-ध्वनि व्यञ्जन माना गया है, किन्तु, यदि वह य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त हो, तो उसके उच्चारण में एक विशेष प्रकार का अन्तर आ जाता है। पालि-व्याकरणों में इस प्रकार के ह को ओरस (उरस् = हृदय से उत्पन्न) कहा गया है।

ध्वनि-परिवर्तन

पालि में अ, इ, उ, ए, तथा ओ; ये ह्रस्व स्वर विद्यमान रहते है। प्रायः सभी प्राकृतों में भी ऐसा है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के मुखम् शब्द का पालि रूप मुखं और प्राकृत रूप मुहं होता है। यहां ह्रस्व दोनों जगह विद्यमान है। इसी प्रकार संस्कृत का प्रिय शब्द पालि में पिय और प्राकृत में भी पिय होता है।

संस्कृत में यदि यकार संयुक्त व्यंजन पहले हो, तो पालि में कहीं-कहीं उसका ए हो जाता है। जैसे, शय्या शब्द का पालि रूप सेय्या होगा और प्राकृत-रूप सेज्जा।

जो तात्त्विक उपदेश सम्बन्धी अनुक्रमणिकाओं को धारण करने वाले थे, उन्हें मातृकाधर कहा जाता था। अनुक्रमणिकाओं को ही मातृकाएं कहा जाता था। आगे चल कर अभिधम्मपिटक का विकास उनसे ही हुआ। महावग्ग, चुल्लवग्ग, दीघ-निकाय तथा अंगुत्तर-निकाय आदि में एतत्सम्बन्धी उल्लेख हैं।

एक प्रश्न स्वाभाविक है कि त्रिपिटक में जो बुद्ध-वचन आज प्राप्त हैं, क्या वे भगवान् बुद्ध द्वारा दिये गये समस्त उपदेश हैं ? त्रिपिटक का भी स्वयं का ऐसा दावा नहीं है कि भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा, वह सबका सब उनमें संगृहीत है। अनेक ऐसे भी वचन हो सकते हैं, जो तथागत के मुख से उच्चरित हुए, पर, कण्ठस्थ नहीं रखे जा सके हों। इसके साथ-साथ यह भी समीक्षणीय है कि त्रिपिटक में जो कुछ है, क्या वह अक्षरशः बुद्ध-वचन ही है। त्रिपिटक के लेखन से पूर्व हुए उनके संकलन पर कुछ विचार अपेक्षित है, जिससे ये तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जायेंगे।

त्रिपिटक का संकलन

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन मास बाद राजगृह में वेभार पर्वत के उत्तरी पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुफा में बौद्ध भिक्षुओं की सभा हुई, जिसका उद्देश्य बुद्ध-वचनों का संगान-संकलन या संग्रह था। बुद्ध के परिनिर्वाण के केवल तीन मास बाद ही ऐसा क्यों आवश्यक प्रतीत हुआ कि बुद्ध के वचन संगृहीत किये जाएं ? बुद्ध एक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के भावे थे। उन्होंने अपने भिक्षु-संघ में उसी प्रकार की व्यवस्था की। उन्होंने कोई उत्तराधिकारी घोषित नहीं किया और न अपने संघ के भिक्षुओं को किसी उत्तराधिकारी के निर्वाचन के लिए आदिष्ट ही किया। धर्म-संघ पर व्यक्ति-विशेष के शासन में सम्भवतः उनकी आस्था न रही हो। उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म और विनय ही भिक्षु-संघ की शासन-व्यवस्था का आधार रहे, इस प्रकार का उनका आशय था।

एक प्रसंग है, गोपक मोग्गल्लान ने आनन्द से प्रश्न किया—"भद्र आनन्द ! क्या कोई ऐसा भिक्षु है, जिसे तथागत ने यह कहते हुए कि मेरे निर्वाण के अनन्तर यह तुम लोगों का आधार होगा, इसका तुम सहारा लोगे, मनोनीत किया ?"

आनन्द का उत्तर था—"कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जिसे पूर्णत्व प्राप्त, स्वयंबोधित भगवान् ने यह कहते हुए कि मेरे निर्वाण के अनन्तर यह तुम लोगों का सहारा होगा, जिसका अवलम्बन तुम लोग ले सकें, मनोनीत किया।"

गोपक मोग्गल्लान ने पुनः पूछा—"पर, क्या आनन्द ! ऐसा कोई भिक्षु है, जिसे संघ ने चुना हो और अनेक वृद्ध भिक्षुओं द्वारा जिनके सम्बन्ध में यह कहते हुए व्यक्त किया

गया हो कि तथागत के निर्वाण के अनन्तर यह हमारा सहारा होगा, जिसका तुम अवलम्बन ले सकते हो।"

आनन्द ने कहा—"ऐसा कोई भी श्रमण-ब्राह्मण नहीं है, जिसे संघ ने माना हो……और जिसका अवलम्बन हम ले सकते हैं।"[1]

भगवान् बुद्ध के अनन्तर विधिवत् उत्ताधिकारी के रूप में किसी भी व्यक्ति का मनोनयन नहीं हुआ, जो भिक्षु-संघ के संचालन का आधिकारिक रूप से कार्य कर सके। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए; इस सम्बन्ध में भिक्षु-संघ के लिए कोई आधार था तो केवल बुद्ध-वचन ही।

भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे। उनके अन्तेवासी उन्हें सुनते थे, जन-समुदाय भी सुनता था। अन्तेवासियों का सम्भवतः यह प्रयत्न रहता था कि वे वचन उनकी स्मृति में रह सकें; इसलिए वे सम्भवतः इस ओर विशेष जागरूक भी रहते रहे होंगे। वस्तुतः भिक्षुओं का जीवन ध्यान और साधना का जीवन था। बुद्ध-वचनों को वे स्मरण तो रखते थे, पर उनका इससे भी अधिक प्रयास उन्हें जीवन में उतारने की ओर था।

भौतिक काया से जब भगवान् बुद्ध नहीं रहे, तो दायित्वशील भिक्षुओं को सहसा यह चिन्ता हुई कि तथागत के वचन स्थिर रहने चाहिए। उनके जीवन-काल में तो वे आश्वस्त थे कि जब भी कोई शंका, विचिकित्सा होगी, भगवान् से समाधान पा लेंगे, किन्तु उनके अनन्तर अब तो उनके पास केवल भगवान् के वचन ही आधार थे, जिनसे वे समाधान पा सकते थे। वे जानते थे कि मनुष्य में अनेक दुर्बलताएं हैं। अवसर पाते ही वे उभर उठती हैं और मानव के सत्त्व को दबा लेती हैं, उसे पथ-भ्रष्ट कर डालती हैं। बड़ी सावधानी, तत्परता तथा विवेक के साथ मन का नियमन करना होता है। इन्हीं सब कारणों से भिक्षुओं को यह आवश्यक लगा कि बुद्ध के वचनों का संगायन (संगान) किया जाए। भिक्षुओं को यह भी चिन्ता थी कि भगवान् के वचनों की धरोहर को अब तक तो वे सहेजे हुए हैं, आगे कौन सहेजेगा ?

मानवीय दुर्बलता की जो चर्चा की गयी है, वह कल्पना नहीं है, यथार्थ है। इस सम्बन्ध में दीघ निकाय का एक प्रसंग विशेषतः मननीय है। भगवान् बुद्ध के अनुपाधि-शेषनिर्वाण धातु में प्रविष्ट हो जाने को सात दिन भी नहीं हुए थे, भिक्षुओं के शोक के आंसू भी नहीं सूख पाये थे कि सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्षु को यह कहते हुए सुना गया—'आयुष्मान्

1. The Middle Length Saying. Vol. III, P. 59-60

भिक्षुओ ! बहुत हुआ। मत शोक मत करो। परिदेवन—विलाप मत करो। हम उस महाश्रमण से सुमुक्त हो गये। हम सदा उपद्रुत—पीड़ित किए जाते थे—यह तुम्हारे लिए करणीय-विधेय है, यह नहीं करणीय—अविधेय है। अब हम लोगों की जो इच्छा होगी, हम करेंगे। जो इच्छा नहीं होगी नहीं करेंगे।

एक वृद्ध भिक्षु के ये वचन कितने व्यंग्यपूर्ण आशय व्यक्त करते हैं। वास्तविकता यह है कि जब कोई अभियान या आन्दोलन गतिमान हो जाता है, तो उसमें ऐसे लोग भी सम्मिलित होने लगते हैं, जिनमें उसके प्रति सच्ची निष्ठा या आस्था तो नहीं होती, पर, जो उसमें अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं, सुविधायें भोगना चाहते हैं। यदि इस प्रकार के अवसरवादी लोग बढ़ जाते हैं, तो वह अभियान टूटने लगता है। उससे होने वाले जन-कल्याण का पथ अवरुद्ध होने लगता है। ऐसा लगता है, भगवान् बुद्ध के धर्म संघ में ऐसे लोग भी प्रविष्ट हो चुके थे। वृद्ध भिक्षु सुभद्र तो खुल कर सामने आया, पर, न जाने और भी ऐसे कितने ही होंगे। ऐसी कुछ स्थितियां थीं, जिनसे विचार और आचार के धनी भिक्षु चिन्तित हो उठे थे। चुल्लवग्ग में इस सन्दर्भ में आर्य महाकाश्यप की अन्तर्वेदना का बड़े मार्मिक शब्दों में उल्लेख हुआ है। आर्य महाकाश्यप के मुख से कहलाया गया है—"आज हमारे समक्ष अधर्म दीप्त हो रहा है। धर्म प्रतिबाधित हो रहा है। अविनय दीपता जा रहा है और विनय प्रतिबाधित होता जा रहा है। आयुष्मन् भिक्षुओ ! हम धर्म और विनय का संगान करें।"[2]

संगान का आशय

बुद्ध के वचनों के संग्रह या संकलन में जो संगान या संगीति शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका सम्भवतः एक विशेष अभिप्रेत रहा है। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अन्तर प्रान्तीय

---

१. अलं आवुसो। मा सोचित्थ। मा परिदेवित्थ। सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन। उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम।

—महापरिनिब्बाण सुत्त, (दीघ० २। ३), विनय-पिटक चुल्लवग्ग पंचसतिक खन्धक।

२. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति
अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति
हन्द मयं आवुसो ! धम्मं च विनयं च संगायाम।
—विनय-पिटक; चुल्ल-वग्ग

मागधी में अपना उपदेश दिया; अतः जिन भिक्षुओं ने उसे सुना, स्मृति में रखा। उसमें विशेष भिन्नता की आशंका तो नहीं की जानी चाहिए, फिर भी वे भिक्षु भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी थे, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में धर्म सन्देश को प्रसृत करने के हेतु विहार करते थे; अतः उन-उन प्रदेशों की तथा अपनी बोली का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। मौलिक तथ्यों के सम्बन्ध में भेद नहीं हो सका, पर, वचनों के कलेवर या शाब्दिक स्वरूप में कुछ-न कुछ भेद अवश्य पड़ा होगा। ऐसी स्थिति में विभिन्न विशेषज्ञ स्मृतिधर भिक्षुओं को जैसा-जैसा स्मरण था, उसका अनुमेलन कर, एक सर्वसम्मत स्वरूप स्वीकार करके उसका सामूहिक रूप में उच्चारण, सस्वर या लयपूर्वक पाठ किया गया होगा। उसे संगान या संगीति इसलिए कहा गया होगा। वैदिक परम्परा में स्वर और लय पूर्वक वेद-पाठ का एक विशेष क्रम था ही। साम गान आदि शब्द इसके द्योतक हैं। ऐसा अनुमान है कि बुद्ध वचन के स्वरूप-समन्वय या पाठ निर्णय के सन्दर्भ में एक साथ सम स्वर से उच्चारित किये जाने के कारण सम्भवतः संगान या संगीति शब्द का प्रयोग बौद्ध परम्परा में चल पड़ा हो। संगान—सम्यक् गान, संगीति—सम्यक् गीति का ऐसा अभिप्राय भी हो सकता है कि तन्मयता पूर्वक ओतप्रोत भाव से बुद्ध-वचनों का उच्चारण किया गया होगा। यह पदमात्र और अर्थमात्र दोनों के लिए लागू हो सकता है।

प्रथम संगीति

प्रथम संगीति या भिक्षुओं की पहली परिषद् भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। बुद्ध का परिनिर्वाण वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था। तदनुसार यह परिषद् सम्भवतः भाद्र मास में होनी चाहिए। सभी विनयधर एवं धम्मधर भिक्षुओं को आमन्त्रित किया गया। बौद्ध वाङ्मय के अनुसार इसमें पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे; अतः इसे पंच-शतिका के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसकी अध्यक्षता आर्य महाकाश्यप ने की। भगवान् बुद्ध के निकटतम अन्तेवासी आनन्द भी इसमें उपस्थित थे। बौद्ध परम्परा में आनन्द के लिए 'धम्मधर' विशेषण प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि आनन्द धम्म (धर्म) के विशिष्टतम ज्ञाता थे। विनय के मर्मज्ञ महास्थविर उपालि भी इस परिषद् में उपस्थित थे। उपालि के लिए बौद्ध वाङ्मय में 'विनयधर' विशेषण का प्रयोग हुआ है। विनय बौद्ध परम्परा का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ मुख्यतः आचार-नियम है। इसी प्रकार धम्म का पारिभाषिक अर्थ धार्मिक सिद्धान्त है। उपालि बौद्ध आचार के मर्म वेत्ता थे।

आर्य महाकाश्यप ने आनन्द से धर्म के सम्बन्ध में तथा उपालि से विनय के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये, जिनका उन्होंने जैसा भगवान् से सुना था, उत्तर दिया। आर्य महाकाश्यप के द्वारा ही सम्भवतः धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम अर्थात् धर्म और विनय का संगान करें, इसके

समक्ष प्रस्ताव आया। भिक्षुओं ने धर्म और विनय का संगान किया। इसका यह अ
प्रतीत होता है कि आनन्द और उपालि ने जो उत्तर दिये, अन्यान्य स्मृतिमान् और मे
भिक्षुओं ने अपनी स्मृति के आधार पर उनका समर्थन किया होगा। कुछ परिष्कार, परिव
परिवर्द्धन आदि भी सुझाये गये होंगे। फिर तुलनात्मक और समन्वयात्मक रूप में उ
कथनों पर विचार करते हुए धम्म और विनय का स्वरूप निश्चित किया गया होगा। उ
स्वीकृत पाठ का समवेत स्वर से उच्चारण किया होगा। यही सुत्त-पिटक और विनय-पि
का एक प्रकार से पहला संकलन है।

प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता

बौद्ध परम्परा में इस संगीति की प्रामाणिकता निर्बाध है। चुल्लवग्ग (विनय-पिटक
दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका (विनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठकथा)
निदानकथा, महाबोधिवंस, महावस्तु और तिब्बती दुल्व में इस परिषद् का वर्णन है। यद्य
वर्णन में थोड़ी-बहुत भिन्नता अवश्य है, पर, मूल स्थिति में अन्तर नहीं है। सभा बुला
जाने के उद्देश्यों में पृथक्-पृथक् वर्णनों में कुछ-कुछ अन्तर है, जिसका विशेष महत्व नहीं है
किसी ने वृद्ध भिक्षु सुभद्र के दुर्भाषित पर विशेष जोर दिया है, किसी ने इसका उल्लेख भ
नहीं किया है और किसी ने कोई दूसरे साधारण कारण उपस्थित किये हैं।

धम्म और विनय के स्वरूप-निर्धारण में इसके अतिरिक्त किस-किस का कितना योगदान
था, इस विषय पर भी विद्वानों में मत-भेद है। चुल्लवग्ग में इस सम्बन्ध में जो वर्णन है,
उसके अनुसार समग्र कार्य आर्य महाकाश्यप, आनन्द और उपालि द्वारा ही सम्पादित हुआ।
दीपवंस में जो वर्णन है, उसके अनुसार कतिपय अन्य भिक्षुओं का भी विशेष योगदान रहा।
उन भिक्षुओं में अनिरुद्ध, वंगीश, पूर्ण, कात्यायन और कोट्ठित आदि मुख्य थे। वस्तुतः इस
संगीति में मुख्य भाग आर्य महाकाश्यप, आनन्द और उपालि का तो था ही, अन्य स्मृति-
मान् भिक्षु भी सहायक बने; तभी तो इसने संगान का रूप लिया। अन्यथा संगान नहीं
कहा जाता, केवल आर्य महाकाश्यप, आनन्द और उपालि द्वारा किया गया बुद्ध-वचन का
आवर्तन मात्र होता।

बुद्धघोष का अभिमत

प्रथम संगीति में धम्म (सुत्त) और विनय का संगान हुआ। इस समय प्राप्त सुत्त-
पिटक और विनय-पिटक में वह कहाँ तक यथावत् रूप में है, इस पर आगे विचार किया
जाएगा। अभिधम्म के संगान की प्रथम संगीति के सन्दर्भ में कहीं चर्चा नहीं मिलती।

इससे सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अभिधम्म का संकलन प्रथम संगीति के अनन्तर हुआ ? बौद्ध परम्परा ऐसा नहीं मानती। वह तीनों पिटकों की रचना में काल-भेद स्वीकार नहीं करती। वह उनका साथ-ही-साथ रचा जाना या संकलित किया जाना मानती है। आचार्य बुद्धघोष ने तो स्पष्ट लिखा है—"इस प्रकार पंचशतिक संगीति के समय में समग्र बुद्ध-वचन का विनय-पिटक, सुत्त-पिटक, अभिधम्मपिटक तथा चौरासी हजार धर्म स्कन्धों के रूप में विभाजन कर, व्यवस्थापन कर संगान किया गया।"[1]

आचार्य बुद्धघोष ने सुमंगलविलासिनी तथा समन्तपासादिका की निदान कथा में भी अभिधम्म-पिटक के विषयों का संकेत करते हुए प्रथम संगीति के अवसर पर ही उसके आकलित होने का उल्लेख किया है।[2]

सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग, जो वर्षों तक भारत में रहे, नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य भी रहे,ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है।

त्रिपिटक का जो रूप राजगृह की परिषद् मे निर्धारित हुआ, अक्षरशः वह वर्तमान त्रिपिटक में सुरक्षित है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान त्रिपिटक मूलतः उसी पर आधारित है।

त्रिपिटक की प्रामाणिकता के सन्दर्भ मे चुल्लवग्ग का एक प्रसंग है। जिस समय राजगृह के वैभार पर्वत पर यह संगीति हुई, पुराण नामक एक भिक्षु उधर विहार करता हुआ आ निकला। उससे कहा गया, वह भी संगीति में भाग ले। उसने उत्तर दिया—"स्थविरों ने धम्म और विनय का सुन्दर रूप में संगान किया है। किन्तु, जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुंह से श्रवण किया है, ग्रहण किया है, वैसा ही आचरण करूंगा।"[3]

कुछ विद्वानों ने इस घटना को लेकर राजगृह में हुई परिषद् की प्रामाणिकता मे सन्देह किया है। उनका सोचना है कि पुराण की इस उक्ति में राजगृह की परिषद् में भिक्षुओं

१. एवमेतं सब्बं पि बुद्धवचनं पंचसतिकसंगीतिकाले संगायन्तेन इदं विनयपिटकं, इदं सुत्तन्त-पिटकं, इदं अभिधम्मपिटकं, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानी ति इमं पभेदं ववत्थपेत्वा व संगीतं।

—अट्ठसालिनी, पृ० २३ (पूना संस्करण, १९४२)

२. ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि विभंगञ्च, कथावत्थुञ्च पुग्गलं, धातु-यमक-पट्ठानं, अभिधम्मोति वुच्चतीति। एवं संवण्णितं सुखुमञाणगोचरं, तन्तिं संगायित्वा इदं अभिधम्म-पिटकं नामाति वत्वा पञ्च अरहन्तसतानि सज्झायमकंसु।

३. विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, बुद्धचर्या, पृ० ५५२

द्वारा संगान किये गये धम्म और विनय के प्रति [illegible] का भाव है। [illegible] भिक्षु संघ इससे [illegible] भी न [illegible]। [illegible] थॉमस [illegible] की दृष्टि से भिक्षु संघ के लिए यह घटना खतरनाक थी। उन्होंने इसे संघ के लिए खतरे की घंटी बताया है।[1]

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने इसी स्थिति का [illegible] करते हुए कहा है : "पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त-साधना का भाव उसमें अधिक प्रबल था, जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान-भावना में, जो उसे शास्ता के उपदेश वचनों से मिली थी, किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आने देना चाहता था। दूसरों ने बुद्ध-मुख से जो कुछ सुना है, वह सब ठीक रहे, सत्य रहे। किन्तु, पुराण को तो अपना जीवन-यापन उसी से करना है, जो उसने आवश्यकता को देखते हुए स्वयं भगवान् से उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो पुराण की उक्ति में राजगृह की सभा में संगायन किये हुए बुद्ध-वचनों की अप्रामाणिकता की ओर संकेत है और न यह भिक्षु-संघ के लिए खतरे की घंटी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु संघ ने कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया, यह उसकी एक विशेषता है। धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया, उसके ही दर्शन पालि सुत्त और विनय पिटकों में मिलते हैं, यद्यपि उनके साथ कुछ और भी मिल गया है।"[2]

डा० उपाध्याय जैसा कि लिखते हैं, यह बिलकुल सही है कि स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु-संघ में किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। पर, भिक्षु पुराण के "किन्तु, जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुख से सुना है, मुख से ग्रहण किया है, मैं तो वैसा ही धारण करूंगा;" इन शब्दों पर कुछ गहराई से सोचना होगा। इन शब्दों में यदि संगीति या परिषद् में संगान किये गये बुद्ध-वचनों के प्रति विरोध का भाव नहीं है, तो समर्थन का भाव भी नहीं है। "मैं तो वैसे ही धारण करूंगा;" इन शब्दों द्वारा जो विरोध इहरा भिक्षु पुराण प्रकट करता है, उससे उसका उक्त संगीति के प्रति उपेक्षा-भाव या अरुचि-भाव भी व्यक्त होता है। भिक्षु सिद्धार्थ एकान्त साधक, ध्यानी जो कुछ भी हो सकता है, पर, जहाँ बुद्ध के वचन संकलित किये जा रहे हों, वहाँ आहूत किये जाने पर भी उपस्थित न होना और जैसा स्वयं सुना है, उसके अनुसार चलते रहने का दृढ़ निश्चय व्यक्त करना, जहाँ उसकी अपनी निष्ठा का परिचायक है, वहाँ संगीति के प्रति अनादर नहीं तो उपेक्षा का भाव तो है ही।

१. This was a danger signal for the Church.
—Budhistic Studies, Edited by Dr. Law, P. 44

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६१

संगीति के समसामयिक कुछ ऐसे भिक्षु भी रहे होंगे, जिनकी दृष्टि में इसका बहुत अधिक महत्व नहीं था। वे जो कुछ तथागत से सुन चुके थे, उतने से परितुष्ट थे। बुद्ध-वचनों के चिर-स्थायित्व और उससे सम्भावित लोक-कल्याण की चिन्ता उन्हें नहीं थी। और नहीं तो कम-से-कम इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि महान् करुणाशील बुद्ध के महाकरुणा के सिद्धान्त का परिपोषण तो इससे नहीं होता। साथ-ही-साथ बौद्ध संघ के लिए इतना महत्वपूर्ण कार्य हो रहा था, उसके प्रति सर्वथा उदासीनता का भाव क्या यह व्यक्त नहीं करता कि जो बहुत प्रसिद्ध भिक्षु थे, उन्होंने ही इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया हो। समग्र भिक्षु संघ की सम्मति सम्भवतः नहीं प्राप्त की गयी हो। जो भी हो, संगीति की प्रामाणिकता पर इससे कोई आंच नहीं आती।

दूसरी संगीति

बुद्ध-वचन प्रथम संगीति में संगृहीत कर लिये गये, यद्यपि उनका रूप मौखिक ही था। तदनुसार भिक्षु संघ चलता रहा। लगभग एक शताब्दी के पश्चात् पुनः एक प्रसंग बना, जिससे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि बुद्ध-वचन का पुनः संगान किया जाए। चुल्ल वग्ग में इस सम्बन्ध में स्पष्टतया सौ[1] वर्ष का उल्लेख है। हुएनत्सांग की गणना के अनुसार यह समय एक सौ दस वर्ष का था। द्वितीय संगीति का आयोजन वैशाली के वालुकाराम नामक स्थान में किया गया। इसमें सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। इसलिए इसे सप्तशतिका भी कहा जाता है।

परिषद् के बुलाये जाने का कारण विनय—आचार से सम्बद्ध कुछ विषयों को स्पष्ट करना था, जो विवादग्रस्त हो चुके थे। वैशाली के भिक्षुओं पर आरोप था कि वे दस आचारों में बौद्ध विनय के विरुद्ध प्रवृत्ति करते हैं। वे दस आचार थे :

१. सिंगिलोण-कप्प (शृंगि-लवण-कल्प)—सींग में नमक लेकर चलना।

२. द्वंगुल-कप्प (द्व्यंगुल-कल्प)—दो अंगुल छाया ढल जाने पर मध्याह्न के बाद भी भोजन कर लेना।

३. गामन्तर-कप्प (ग्रामान्तर-कल्प)—ग्रामान्तर से अर्थात् किसी एक गाँव से दूसरे गाँव में जाकर एक ही दिन में पुनः भोजन कर लेना।

४. आवास-कप्प (आवास-कल्प)—एक ही सीमा में स्थित बहुत से आवासों में उपोसथ करना।

५. अनुमति-कप्प (अनुमति-कल्प)—कार्य करने के बाद अनुमति लेना।

---

१. वालुकारामविहारे अकासि।

६. अविहित कल्प (आचीर्ण कल्प)—अपने आचार्य या उपाध्याय द्वारा आचरित किसी कार्य को अपने लिए कल्प विहित बना लेना।

७. अमथित-कल्प (अमथित कल्प)—भोजनोपरान्त ऐसे दूध का पान करना, जो दही बनने की प्रक्रिया में था, पर, जो अभी दही नहीं बना था और दूध का गुण भी नहीं रहा था।

८. जलोगी-पान—ताड़ी पीना।

९. अदसक-निसीदन (अदशक-निषीदन)—ऐसे आसन का प्रयोग करना, जिसके किनारे पर मगजी नहीं लगी हुई हो।

१०. जातरूप-रजत—सोने और रजत ग्रहण करना।

वैशाली के भिक्षु इन दश के आचरण में दोष नहीं मानते थे। इसे लेकर भिक्षुओं में दो दल हो गये—पाचीनक (प्राचीनक) और पावेय्यक (प्रातीचीनक) अर्थात् पूर्व के भिक्षु तथा पश्चिम के भिक्षु। पूर्व के भिक्षु वैशाली के भिक्षुओं के पक्ष में थे तथा पश्चिम के भिक्षु वैशाली के भिक्षुओं के उक्त आचरणों को आलोच्य तथा सदोष मानते थे। वैशाली की परिषद् इन्हीं विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिए हुई। यह परिषद् आठ महीने तक चली। निष्कर्ष यह रहा कि इस परिषद् ने वैशाली के भिक्षुओं के उक्त आचरण को विनय के प्रतिकूल घोषित किया।

वर्तमान में विनयपिटक जिस रूप में प्राप्त है, उससे उक्त दश आचार, जिनके सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए वैशाली में दूसरी संगीति का आयोजन हुआ था, बुद्ध के मन्तव्यों के विपरीत बतलाये गये हैं। इससे क्या यह सम्भावना नहीं बनती कि विनय-पिटक का जो संस्करण आज प्राप्त है, वह वैशाली की संगीति के पश्चात् विनय का जो रूप निश्चित हुआ, के आधार पर निर्मित हुआ। उससे पूर्व, हो सकता है, विनयपिटक का रूप कुछ भिन्न रहा हो। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार प्रभृति विद्वानों ने इस सन्दर्भ में इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की संगीति के पूर्व का नहीं हो सकता।[1]

वैशाली की संगीति से पूर्व यदि त्रिपिटक का कोई दूसरा स्वरूप होता और उसमें वे दश आचार, जो उस संगीति में बुद्ध-वचन के प्रतिकूल ठहराये गये, अनिषिद्ध होते, तो फिर विवाद ही कैसे उठता? वैशाली के भिक्षुओं के पास तब एक आधार होता, जिससे उनका आचार सहज ही समर्थित माना जाता। पश्चिमी प्रदेश के भिक्षुओं को उनके आचार को दूषित बताने का साहस ही कैसे होता और आठ महीनों के लम्बे विचार-विमर्श के बाद ऐसा

१. Budhist Studies, Edited by Dr. Law, P. 62

निर्णय करने की स्थिति हो कैसे आती कि वैशाली के भिक्षुओं का आचार दूषणीय है। आठ महीनों के शास्त्र-मन्थन तथा ऊहापोह के पश्चात् एक निर्णय होता है, तो यह मानना होगा कि उसके पीछे बहुत सुदृढ़ आधार अवश्य रहा होगा। वह आधार विनय-सम्बन्धी बुद्ध-वचनों के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? यह संशयास्पद नहीं लगता कि वैशाली की संगीति से पहले विनय का प्रायः वही रूप रहा हो, जो आज विनय-पिटक में है। गौणरूपेण परिष्करण, परिमार्जन, परिवर्तन आदि को छोड़ दिया जाये, जिस पर आगे विचार किया जायेगा, वैशाली की संगीति से पूर्व के और वर्तमान के विनयपिटक में कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। पर, इसके साथ यह विचारणीय है कि यदि वैशाली की संगीति से पूर्ववर्ती विनयपिटक में उक्त दस आचारों का वर्जन था या उनका समर्थन नहीं था, तो फिर पूर्वी प्रदेश के भिक्षुओं को उनका समर्थन करने के लिए कौन-सा आधार प्राप्त था?

शताब्दियों तक पिटक अलिखित रहे। मौखिक रूप में उनका पठन-पाठन चलता रहा। मौखिकता के साथ एक आशंका भी बनी रहती है। यथार्थ धर्म-निष्ठा से विचलित होकर यदि कोई अपने किसी अविहित आचरण को समर्थित करना चाहे, तो शब्दावली को उलट-पुलट करने, उसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन का अवकाश वह निकाल लेता है। वैशाली के भिक्षुओं और उनके समर्थक भिक्षुओं के साथ भी कोई ऐसी ही स्थिति रही हो। वैशाली पूर्व भारत का राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्र था। जब पश्चिम प्रदेश के भिक्षुओं ने वैशाली के भिक्षुओं का विरोध किया, तो मानवीय दुर्बलतावश पूर्व प्रदेश के भिक्षुओं में प्रादेशिकता का भाव उभर आया हो। यद्यपि ये बहुत छोटी बातें हैं। भिक्षु के पवित्र जीवन के साथ इनका मेल नहीं हो सकता, पर, भिक्षु भी साधारण जन-समाज से ही गये थे, उनमें भी यह सब सम्भावित था। स्वर्ण-रजत रखने, ताड़ी पीने, खान-पान में लोलुप बनने की छूट भगवान् बुद्ध के शासन में कैसे सम्भव हो सकती थी? ऐसा अनुमान करना सत्य से परे नहीं लगता कि वैशाली के भिक्षुओं में निःसन्देह कुछ दुर्बलताएं पनपी हों और उन्होंने इन सदोष कार्यों को भी निर्दोष प्रमाणित करने का आग्रह रखा हो।

नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि

वैशाली के भिक्षु और उनके समर्थक पूर्व के भिक्षु वैशाली की परिषद् में पराजित हुए। उनके मन्तव्य बुद्ध-वचनों के प्रतिकूल घोषित किये गये। इसके दो परिणाम सामने आये। पहला था—विनय का जो स्वरूप था, वह स्पष्ट हुआ, अविकृत रूप में वह पुनर्गठित हुआ। दूसरा परिणाम निकला—जो भिक्षु पराजित हुए, वे संगीति के निर्णय के सामने नहीं झुके। उन्होंने उसका बहिष्कार किया और एक नयी महा-संगीति आयोजित की। उसमें नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि की, जिन्हें उन्होंने वास्तविक कहा। अपमानित भिक्षुओं की उत्तेजना का

यह फल निकला। दीपवंस में इस महासंगीति की बड़े कड़े शब्दों में आलोचना की गयी है। वहाँ लिखा है : "महासंगीति आयोजित करने वाले भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध के शासन को विपरीत बना डाला। उन्होंने मूल संघ में भेद पैदा करके एक दूसरा ही संघ खड़ा कर दिया। उन्होंने धर्म के यथार्थ आशय को भेद डाला। उन्होंने दूसरे ही सुत्तों का संग्रह किया, दूसरे ही अर्थ किये। पांच निकायों के यथार्थ आशय और धर्म-प्ररूपण को उन्होंने भेद डाला।"[१]

सब कुछ हुआ तो सही, पर, स्थायी नहीं बन पाया। पालि त्रिपिटक के समक्ष उसकी कोई प्रामाणिकता स्थापित नहीं हो सकी। फलतः आगे चल कर उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं रह पाया।

वैशाली की संगीति में विवादास्पद विषयों पर निर्णय हो जाने के पश्चात् प्रथम संगीति की तरह भिक्षुओं ने महास्थविर रेवत के नेतृत्व में धम्म का संगान और संकलन किया। आचार्य बुद्धघोष ने जिस प्रकार प्रथम संगीति के समय बुद्ध-वचन के संगान, तीन पिटकों में विभाजन आदि का उल्लेख किया है, उसी प्रकार द्वितीय संगीति के समय बुद्ध-वचन के अनुसंगान का उल्लेख किया है। संगान और अनुसंगान शब्दों के प्रयोग से आचार्य बुद्धघोष ने त्रिपिटक की एकात्मकता की ओर इङ्गित किया है।

तीसरी संगीति

बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास पाता गया। अशोक द्वारा दिये गये राज्याश्रय के कारण उसकी आशातीत वृद्धि हुई। पर, साथ-ही-साथ एक बुराई यह भी आई कि अशोक जैसे धर्मानुरागी सम्राट् से बौद्ध-धर्म-संघ और भिक्षुओं को प्राप्य दान, सुविधा, सत्कार आदि के कारण अनेक स्वार्थी लोग जो विचारों से बौद्ध नहीं थे, उसमें प्रविष्ट होने गये। इस प्रकार धर्म का स्वरूप विकृत होने लगा। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म भिन्न भिन्न अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। तब यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि संगीति आयोजित की जाए, धम्म और विनय का पुनः संगान हो, जिससे जो अनधिकारी धम्म संघ में घुस आये हैं, उनका संघ से निष्कासन किया जा सके। फलतः सम्राट् अशोक के शासन-काल में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्रस्थ अशोकाराम में

१. महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं।
   भिन्दित्वा मूलसंघ अञ्ञं अकंसु संघं॥
   अञ्ञत्र सङ्गहितं सुत्तं अञ्ञत्र अकरिंसु ते।
   अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पंचसु॥
   —दीपवंस, ५. ३२-३८

तृतीय संगीति का आयोजन किया गया। अठारह सम्प्रदायों में थेरवादी (स्थविरवादी) या विभज्यवादी मुख्य (सम्प्रदाय) था। बौद्ध धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि वही सम्प्रदाय है, ऐसा उसका दावा था। तृतीय संगीति का अन्तिम निर्णय भी उसी के पक्ष में रहा अर्थात् वही बौद्ध धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि घोषित किया गया।

थेर या स्थविर का शब्दार्थ वृद्ध होता है। वृद्ध केवल अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है; ज्ञान, तत्व-दर्शन और आचार-ज्येष्ठता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। बुद्ध के प्रथम शिष्यों को स्थविर शब्द से अभिहित किया गया है। भगवान् बुद्ध के मन्तव्यों के सम्बन्ध में उन्हीं का मत प्रामाणिक माना जाता है। स्थविर भिक्षुओं की विभज्यवाद में आस्था थी; अतः वे विभज्यवादी भी कहलाते थे। विभज्यवाद से तात्पर्य उस दर्शन से है, जो प्रत्येक पदार्थ का विभाजन कर अर्थात् उसके संदश को सत् और असंदश को असत् बतला कर वस्तु-सत्य का निरूपण करे। विशेष गहराई में जाएं, तो विभज्यवाद का एक सूक्ष्म तात्विक अर्थ भी है। इसके अनुसार समस्त मानसिक और भौतिक अवस्थाओं का स्कन्ध, आयतन और धातु आदि में विभाजन कर विश्लेषण किया जाता है।

दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका में इस संगीति का उल्लेख प्राप्त होता है। महायानी बौद्ध साहित्य में इस संगीति का उल्लेख नहीं है और न ह्वेनत्सांग ने ही इसके विषय में कुछ विवरण दिया है। अशोक के किसी भी शिलालेख में इस संगीति की चर्चा नहीं है। ऐसी स्थिति में मिनयेफ, कीथ, मैक्स वेलेसर, बार्थ, फ्रैंक तथा सिल्वालेवी जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता में शंका की है, जबकि प्रो॰ रायस डेविड्स, श्रीमती रायस डेविड्स, विण्टरनित्ज एवं गायगर आदि विद्वानों ने इस परिषद् की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता स्वीकार की है।

अनुल्लेख का कारण

अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में अठारह सम्प्रदाय इतिहास में आ चुके थे। सम्भव है, अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों ने इस संगीति को केवल स्थविरवादी या विभज्यवादी सम्प्रदाय की संगीति मानकर इसे समस्त बौद्धों की संगीति नहीं माना हो; इसलिए इसका उल्लेख न किया हो। सम्राट् अशोक की विद्यमानता में यह संगीति हुई और अशोक द्वारा कहीं भी इसका उल्लेख न कराया जाना भी आश्चर्यजनक-सा लगता है। पर, यहाँ यह भी सम्भव है कि स्वयं सम्राट् अशोक का लगाव स्थविरवाद से था। अशोक नहीं चाहता होगा कि उसके समर्थन को महत्व मिले। वह अपने को उस संगीति से सर्वदा निर्लिप्त रखना चाहता होगा, ताकि उसके द्वारा (संगीति) जो निर्णय हो, वह राज-प्रभावित न माना जाए। अशोक बौद्ध-धर्म का सर्व-सम्मत यथार्थ स्वरूप उद्घोषित करवाना चाहता

होगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस संगीति के आयोक्ता तथा अ मोग्गलिपुत्त तिस्स, जो अपने समय के बहुत बड़े विद्वान्, तत्त्व-द्रष्टा और परम ज्ञा को ही इसका सारा श्रेय प्राप्त हो, इस दृष्टि से भी अशोक ने अपने को तटस्थ रखा हो उसे तटस्थता में अधिक लाभ प्रतीत हुआ होगा। जो भी हो, संगीति की ऐतिहासि इन कारणों से बाधित नहीं होती।

संगीति के निर्णय

अनेक प्रदेशों के बहुश्रुत भिक्षुओं ने इसमें भाग लिया। यह संगीति नौ मास चलती रही। इसमें बहुत गहराई और सूक्ष्मता से बुद्ध-वचन के यथार्थ स्वरूप के प्रत का प्रयत्न रहा होगा। नौ महीनों के ऊहापोह और विचार-विमर्श के अनन्तर कुछ मह पूर्ण निर्णय इसमें किये गये। तदनुसार स्थविरवाद के अतिरिक्त जो सतरह अन्य सम्प्रदाय उन्हें मिथ्यावादी घोषित किया गया। थेरवादी या विभज्यवादी सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म सच्चा प्रतिनिधि माना गया। बुद्ध-वचनों का अन्तिम रूप से स्वरूप-निश्चय किया गया मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थु नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें सतरह सम्प्रदायों खण्डन या निराकरण किया गया है, जिन्हें इस संगीति के फल-स्वरूप मिथ्यावादी घो किया गया था। कथावत्थु को अभिधम्मपिटक में स्थान दिया गया।

अभिधम्म : परम्परा

कथावत्थु का अभिधम्मपिटक में समावेश कर दिये जाने से यह शंका उत्पन्न हो स्वाभाविक है कि [illegible] में लम्बा समय लगा होगा। आचार्य बुद्धघोष [illegible] ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि आर्य महाकाश्यप के सभापतित्व में सम्पन्न प्रथ संगीति में ही इसका विनय और धम्म के साथ संगान किया गया था। इसमें सूक्ष्म दार्शनि का दार्शनिक विवेचन है। भगवान् बुद्ध का समय इस प्रकार का था, जब सदाचार, [illegible] तथा धर्म के सर्वजनगम्य सिद्धान्तों के प्रचार की आवश्यकता थी। इससे व्यापक लोक-कल्याण सन्निहित था। बौद्ध परम्परा में दार्शनिक विकास का युग आगे चल कर आता है। [illegible] ऐसा मानना अधिक संगत जान पड़ता है कि अंशतः अभिधम्म की विषय-वस्तु प्रथम संगीति में चर्चित हुई होगी और विनय तथा धम्म के साथ उसका भी सम्पूर्ण न सही, कुछ अंश में अवश्य अस्तित्व न रहा होगा। उसके संवर्द्धन, संयोजन आदि का क्रम भी चलता रहा होगा। कथावत्थु का उसमें समाविष्ट किया जाना ऐसे अनुमान के लिए आधार देता है।

तृतीय संगीति का एक महत्वपूर्ण फलित

तृतीय संगीति में एक महत्वपूर्ण निर्णय यह किया गया कि [illegible] धर्म [illegible] के लिए दूर-दूर के [illegible] और देशों में [illegible]।

बोलियाँ एक क्षेत्र विशेष तक सीमित होती हैं; अतः अन्तर्प्रान्तीय दृष्ट्या एक ही भा[षा]भाषी दो भिन्न प्रदेशों के व्यक्तियों के लिए यह सहज ही सम्भव नहीं होता कि वे उन भि[न्न] क्षेत्रों की बोलियों को ठीक-ठीक समझ सकें। इसी दृष्टि-बिन्दु के सन्दर्भ में तथागत काल का समीक्षण करना होगा।

भगवान् बुद्ध की भाषा मगध की शिष्ट भाषा थी। निःसन्देह वे अपने युग के ए[क] क्रान्तिकारी महापुरुष थे। बोधि-लाभ के अनन्तर 'बहुजन हिताय बहुजनसुखाय' का अभिप्रेत लिये उनका सन्देश लगभग समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गया था। अनेक प्रदे[शों] के पुरुष-स्त्रियां उनके संघ में प्रव्रजित हुए। उनकी अपनी-अपनी बोलियां थीं। सम्भवत[ः] कार्य-क्षेत्र भी उनको भिन्न-भिन्न मिले होंगे। यह भी हो सकता है, जो भिक्षु जिन-जिन प्रदेशों से आये थे, अधिकांशतः उन-उन प्रदेशों में धर्म-प्रचार का कार्य उन्हें सौंपा गया होगा। वहां जिन लोगों में उन्होंने तथागत का सन्देश प्रसारित किया, सम्भव है, उसको भलीभांति हृदयंगम कराने के लिए उन्होंने उन-उन प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों को अंशतः ही सही, किसी-न-किसी रूप में व्यवहृत किया होगा। भिक्षुओं को अपनी ओर से उपदेश नहीं देना था, उन्हें तथागत के वचनों से जन-जन को अवगत कराना था; अत[ः] उन वचनों का शाब्दिक रूप उन्हें उन-उन प्रदेशों के साधारण जनों द्वारा समझी जा सकने योग्य शैली में प्रस्तुत करना पड़ा होगा। सारांश यह है, भिक्षुओं ने बुद्ध-वचन स्मृतिगत तो किया उसी शब्दावली में, जिसमें स्वयं तथागत ने भाषित किया था, पर, उसके रूप में मौलिकता तो नहीं, परन्तु, शाब्दिक आदि दृष्टि से गौणतया परिवर्तन की यत्किंचित् स्थिति अवश्य आई होगी। संगीतियों की लम्बी कालावधि से यह ध्वनित होता है कि विभिन्न प्रदेशों से आने वाले भिक्षुओं की स्मृति में बुद्ध-वचन के जो पाठ थे, उन्हें तुलनात्मक रूप में निखारा जाता रहा होगा। भेदों के अपाकरण के लिए एक सर्वसम्मत पाठ स्वीकृत किया जाता रहा होगा। इसका प्रयोजन हुआ कि बुद्ध वचनों के स्वरूप में परिष्कार आता गया, [illegible] उनकी मौलिकता नहीं मिटी। परिष्कार और संस्कार तो होता गया, पर, बुद्ध-वचन में कोई बड़ा परिवर्तन वैसा नहीं हुआ। बुद्ध ने जिस शिष्ट मागधी (भाषा) को उपदेशों का माध्यम बनाया था, वह भी आस पास की प्रादेशिक बोलियों का एक सम्मिश्रित [illegible] लिये हुए थी।

[illegible] के लगभग एक शती के अनन्तर जो दूसरी संगीति वैशाली के वालुकाराम में हुई, [illegible] समय का अन्तर रहा। ऐसा प्रतीत होता है, राजगृह में संपन्न [illegible] के [illegible] पिटक का रूप इस सौ वर्षों में प्रादेशिक अनुकूलता के कारण इतना [illegible] हो गया, [illegible] ऐसा हुआ होगा कि [illegible] के [illegible] भिक्षुओं को इतनी लम्बी अवधि तक

चिन्तन-मनन तथा ऊहापोह करना पड़ा होगा। यद्यपि इस संगीति के आयोजित करने का मुख्य कारण वैशाली के भिक्षुओं के आचार से सम्बद्ध था। पर, यदि केवल आचार-निर्णय ही एकमात्र उद्देश्य होता, तो हरकोई सोच सकता है, आठ मास कैसे लगते? संगीति में सम्मिलित सातसौ भिक्षुओं को वैशालिक भिक्षुओं के आचार पर निर्णय देना तो था ही, साथ-ही-साथ उससे भी गुरुतर कार्य, जो उनके लिए करणीय था, वह था, त्रिपिटक के पाठ का समन्वय और परिष्कार, जो उन्होंने बड़ी लगन से किया।

बौद्ध धर्म का वह उत्कर्ष-काल था। समय बीतने के साथ-साथ बौद्ध धर्म की अभिवृद्धि होती गयी। भिक्षुओं की विहार-यात्राएं और दूर-दूर होने लगीं। बुद्ध-वचनों का घोष व्यापक रूप में मुखरित होने लगा। पर, धीरे-धीरे वही सब कुछ होता गया, जो पिछली संगीति के पश्चात् हुआ था। परिणामतः तीसरी संगीति में मिथ्यावादियों के निराकरण और निष्कासन का कार्य तो हुआ ही, पाठ-परिष्कार का ऐतिहासिक कार्य भी सम्पन्न हुआ। नौ महीनों का लम्बा समय लगने का यही रहस्य है।

तीन संगीतियों की समीक्षा के पश्चात् एक दूसरे मोड़ पर आते हैं। राजकुमार महेन्द्र शैशव से ही उज्जयिनी में रहे थे। पिता सम्राट् अशोक की भावना का आदर करते हुए वे भिक्षु-संघ में दीक्षित हो जाते हैं और तथागत के धर्मदूत के रूप में सिंहल जाते हैं। महेन्द्र मगध-नरेश के पुत्र थे, पर, उज्जयिनी में रहने के कारण उनकी भाषा मागधी नहीं थी। उज्जयिनी की बोलचाल की भाषा—प्राकृत, जो अनिवार्य रूप से पश्चिमी प्रभाव लिये हुए थी, उनकी मातृ-भाषा थी। महेन्द्र त्रिपिटक साथ में लेते गये। क्या यह सम्भावित नहीं हो सकता कि महेन्द्र के माध्यम से लंका पहुंचने वाले त्रिपिटक पर उज्जयिनी की भाषा का कुछ भी प्रभाव न रहा हो?

अनेक स्थितियों में से गुजरते हुए त्रिपिटक लंका पहुंचते हैं और वहां भी लम्बे समय तक उनका मौखिक पठन-पाठन ही चलता है। पर, लंका पहुंचने के पश्चात् उनके स्वरूप में अन्तर आने की स्थितियां सम्भवतः उत्पन्न नहीं होतीं। उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में पहुंचने पर त्रिपिटक की शब्दावली में न चाहते हुए भी जो रूपान्तरण की स्थिति पैदा हो जाती थी, वह लंका में नहीं रही। महेन्द्र द्वारा त्रिपिटक के लंका पहुंचने और लंका-नरेश वट्टगामणि अभय के शासन-काल में उनके लिपि-बद्ध होने के बीच दो संगीतियां हुईं, पर, सम्भवतः वे परम्परा-निर्वाह मात्र के लिए हुई हों। उनका महत्त्व केवल नाम मात्र का था। त्रिपिटक के सन्दर्भ में विशेष कुछ करणीय नहीं था, जो उन संगीतियों में किया जाता। तथागत ने अपने उपदेशों में जिस मागधी को ग्रहण किया, वह उपलब्ध त्रिपिटक में क्या यथावत् रूप में विद्यमान रह सकी है, निश्चित रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। विचार, वचन-

प्रकार और अधिकांशतः शब्दावली की भी मौलिकता उनमें सुरक्षित है, ऐसा कहना सन्देहास्पद नहीं है।

त्रिपिटक वाङ्मय : संक्षिप्त परिचय

सुत्त-पिटक

सुत्त-पिटक पालि-त्रिपिटक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। बुद्ध द्वारा धर्म का यथावत् रूप में परिचय कराना सुत्त-पिटक का मुख्य विषय है। महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ-निकाय २, ३) में भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था—"आनन्द! मैंने जो धर्म और विनय उपदिष्ट किये हैं, ज्ञापित किये हैं, मेरे अनन्तर (मेरे निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात्) वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।" सुत्त-पिटक निस्सन्देह भगवान् बुद्ध द्वारा प्रज्ञप्त धर्म का प्रतिपादन करने वाला अनुपम वाङ्मय है।

सुत्त का संस्कृत रूपान्तर सूत्र भी होता है और सूक्त भी। संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में पालि सुत्तों के प्रतिरूप सूत्र कहे गये हैं। सुत्त का अर्थ सूत्र, सूत या धागा होता है। पिटक का अर्थ पिटारी है। पिटक का एक अर्थ परम्परा भी है। आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी की निदान-कथा में इन दोनों अर्थों की ओर संकेत किया है। मज्झिम-निकाय के चंकी[1]-सुत्त तथा सन्दक[2]-सुत्त में पिटक शब्द-परम्परा या ग्रन्थ-परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसे ध्यान में रखते हुए सुत्त का पिटक 'अर्थात् सूत्र (धागे) रूपी बुद्ध-वचनों की परम्परा' ऐसा अर्थ किया जा सकता है। जिस प्रकार सूत के गोले को उधेड़ने पर आगे-से-आगे खुलता जाता है, उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक में आगे-से-आगे उद्घाटित होते जाते हैं।

आचार्य असंग ने (चतुर्थ शती) महायान-सूत्रालंकार में 'सूचनात् सूत्रम्' अर्थात् विषय-वस्तु को सूचित करने के कारण सूत्र संज्ञा होती है; ऐसी व्याख्या दी है। आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी में 'अत्थानं सूचनतो—सुत्त' ति अक्खातं' अर्थात् अर्थों के सूचन से यह (सुत्त) सूत्र शब्द से आख्यात हुआ है, ऐसा विवेचन किया है।

वैदिक परम्परा में सूत्र शब्द का प्रचुरता से प्रयोग होता रहा है। शब्द कल्पद्रुमकार ने सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"जिसमें कम अक्षर हों, जो असन्दिग्ध हो, सारयुक्त हो, जिसका विश्वजनीन उपयोग हो, जो विस्तार रहित हो, निर्दोष हो; सूत्रज्ञ उसे सूत्र

१. मज्झिम-निकाय, २, ५, ५

२. वही, २, ३, ६

कहते हैं।[1]

विस्तृत अर्थ को संक्षेप में कहने के अभिप्राय से वैदिक परम्परा में सूत्रात्मक शैली का प्रवर्तन हुआ। पालि-वाङ्मय में जो सुत्त—सूत्र शब्द चलता है, वह इस अर्थ में नहीं है। वहां बहुत विस्तार है, जो सूत्र शब्द के उपर्युक्त अर्थ के प्रतिरूप है।

सुत्त-पिटक : वर्णित विषय

सुत्त-पिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेश-वचन हैं। बुद्ध के कुछ मुख्य शिष्यों के उपदेश भी उसमें संकलित हैं, जो बुद्ध-वचनों पर आधारित थे। बुद्ध-उपदेश के अतिरिक्त वहां ई० पू० पांचवीं-छठी शताब्दी के भारत के समाज एवं लोक-जीवन का जीता-जागता चित्र भी प्राप्त होता है। बुद्ध के समसामयिक धर्म - प्रवर्तकों, श्रमणों, परिव्राजकों और उनके सिद्धान्तों के विषय में प्रासंगिक रूप में इसमें विशद प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन जन-समुदाय की रुचि, व्यवसाय, विद्या, कला, विज्ञान, राजनीति, ग्राम, नगर, जनपद, लोगों का रहन-सहन, खेती, व्यापार, सामाजिक रीतियां, समाज में स्त्रियों का स्थान, दास-दासियों और नौकरों की अवस्था प्रभृति अनेक उपयोगी विषय चर्चित हुए हैं। रचना गद्य-पद्य-मिश्रित है।

सुत्त-पिटक के पांच बड़े-बड़े विभाग हैं, जो निकाय कहलाते हैं। वे हैं : (१) दीघ-निकाय, (२) मज्झिम-निकाय, (३) संयुत्त-निकाय (४) अंगुत्तर-निकाय (५) खुद्दक-निकाय।

दीघ-निकाय : लम्बे-लम्बे उपदेशों का संग्रह है। तीन वर्गों के अन्तर्गत निम्नांकित चौतीस सुत्त (सूत्र) हैं जो इस प्रकार हैं :

(क) सीलक्खन्ध-वग्ग

१. ब्रह्मजाल-सुत्त	८. कस्सपसीहनाद-सुत्त
२. सामञ्ञफल-सुत्त	९. पोट्ठपाद-सुत्त
३. अम्बट्ठ-सुत्त	१०. सुभ-सुत्त
४. सोणदण्ड सुत्त	११. केवट्ट (केवद्ध)-सुत्त
५. कूटदन्त-सुत्त	१२. लोहिच्च-सुत्त
६. महालि-सुत्त	१३. तेविज्ज-सुत्त
७. जालिय-सुत्त	

१. स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं, सारवद्विश्वतो मुखम् ।

(ख) महावग्ग

१४. महापदान-सुत्त
१५. महानिदान-सुत्त
१६. महापरिनिब्बाण (न)-सुत्त
१७. महासुदस्सन-सुत्त
१८. जनवसभ-सुत्त
१९. महागोविन्द-सुत्त
२०. महासमय-सुत्त
२१. सक्कपञ्ह-सुत्त
२२. महासतिपट्ठान-सुत्त
२३. पायासिराजञ्ञ-सुत्त (पायासि-सुत्त)

(ग) पाटिक-वग्ग

२४. पाटिक-सुत्त (पाथिक-सुत्त)
२५. उदुम्बरिकसीहनाद-सुत्त(उदुम्बरिक-सुत्त)
२६. चक्कवत्तिसीहनाद-सुत्त (चक्कवत्ति-सुत्त)
२७. अग्गञ्ञ सुत्त
२८. सम्पसादनी (नि) य-सुत्त
२९. पासादिक-सुत्त
३०. लक्खण-सुत्त
३१. सिं (सि) गालोवाद-सुत्त
३२. आटानाटिय-सुत्त
३३. संगीतिपरियाय-सुत्त (संगीति-सुत्त)
३४. दसुत्तर-सुत्त

सीलक्खन्ध-वग्ग के अन्तर्गत संख्या एक पर सूचित ब्रह्मजालसुत्त में बुद्ध के समसामयिक बासठ दार्शनिक मतों का उल्लेख है, जो भारतीय दर्शन और इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सीलक्खन्ध वग्ग में संख्या तीन पर निर्दिष्ट सामञ्ञफल-सुत्त में बुद्ध के समसामयिक धर्म-प्रवर्तकों का वर्णन है, जो अपने को तीर्थङ्कर कहते थे। उनके नाम हैं : पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बल, पकुधकच्चायन, निगण्ठनातपुत्त तथा संजय बेलट्ठिपुत्त।

मज्झिमनिकाय : चार आर्य सत्य, ध्यान, समाधि, कर्म आत्मवाद के दोष, निर्वाण आदि विषयों का विशद विवेचन किया गया है। यह पन्द्रह वर्गों के अन्तर्गत एक सौ बावन सुत्तन्तों में विभक्त है।

(क) मूलपरियाय-वग्ग

१. मूलपरियाय सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव सुत्त
५. अनंगण-सुत्त
६. आकंखेय्य-सुत्त
७. वत्थूपम-सुत्त
८ सल्लेख-सुत्त
९ सम्मादिट्ठि-सुत्त
१० सतिपट्ठान-सुत्त

(ख) सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सुत्त
१२. महासीहनाद-सुत्त
१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त
१५. अनुमान-सुत्त
१६. चेतोखिल-सुत्त
१७. वनपत्थ-सुत्त
१८. मधुपिण्डिक-सुत्त
१९. द्वेधावितक्क-सुत्त
२०. वितक्कसंठान-सुत्त

(ग) ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त
२२. अलगद्दूपम-सुत्त
२३. वम्मिक-सुत्त
२४. रथविनीत-सुत्त
२५. निवाप-सुत्त
२६. अरियपरियेसन-सुत्त (पासरासि-सुत्त)
२७. चूलहत्थिपदोपम सुत्त
२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त
२९. महासारोपम-सुत्त
३०. चूलसारोपम-सुत्त

(घ) महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिङ्ग-सुत्त
३२. महागोसिङ्ग-सुत्त
३३. महागोपालक-सुत्त
३४. चूलगोपालक-सुत्त
३५. चूलसच्चक-सुत्त
३६. महासच्चक-सुत्त
३७. चूलतण्हासंखय-सुत्त
३८. महातण्हासंखय-सुत्त
३९. महाअस्सपुर-सुत्त
४०. चूलअस्सपुर-सुत्त

(ङ) चूलयमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त
४२. वेरञ्जक-सुत्त
४३. महावेदल्ल-सुत्त
४४. चूलवेदल्ल-सुत्त
४५. चूलधम्मसमादान-सुत्त
४६. महाधम्मसमादान-सुत्त
४७. वीमंसक-सुत्त
४८. कोसम्बिय-सुत्त
४९. ब्रह्मनिमन्तनिक-सुत्त
५०. मारतज्जनिय-सुत्त

(च) गहपति-वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त
५२. अट्ठकनागर-सुत्त
५३. सेख-सुत्त
५४. पोतलिय-सुत्त

५५. जीवक-सुत्त
५६. उपालि-सुत्त
५७. कुक्कुरवतिक-सुत्त
५८. अभयराजकुमार-सुत्त
५९. बहुवेदनीय-सुत्त
६०. अपण्णक-सुत्त

(छ) भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिकराहुलोवाद-सुत्त
६२. महाराहुलोवाद-सुत्त
६३. चूलमालुंक्य-सुत्त
६४. महामालुंक्य-सुत्त
६५. भद्दालि-सुत्त
६६. लटुकिकोपम-सुत्त
६७. चातुम-सुत्त
६८. नलकपान-सुत्त
६९. गुलिस्सानि-सुत्त (गोलियानि-सुत्त)
७०. कीटागिरि-सुत्त

(ज) परिब्बाजक-वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त
७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त
७३. महावच्छगोत्त-सुत्त
७४. दीघनख-सुत्त
७५. मागन्दिय-सुत्त
७६. सन्दक-सुत्त
७७. महासकुलुदायि-सुत्त
७८. समणमण्डिका-सुत्त
७९. चूलसकुलुदायि-सुत्त
८०. वेखनस (स्स)-सुत्त

(झ) राज-वग्ग

८१. घटि (टी) कार-सुत्त
८२. रट्ठपाल-सुत्त
८३. मखादेव-सुत्त
८४. मधुर-सुत्त
८५. बोधिराजकुमार-सुत्त
८६. अंगुलिमाल-सुत्त
८७. पियजातिक-सुत्त
८८. बाहितिक (य)-सुत्त
८९. धम्मचेतिय-सुत्त
९०. कण्णकत्थल-सुत्त

(ट) ब्राह्मण-वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त
९२. सेल-सुत्त
९३. अस्सलायन-सुत्त
९४. घोटमुख-सुत्त
९५. चंकी-सुत्त
९६. एसुकारी-सुत्त
९७. धानञ्जानि-सुत्त
९८. वासेट्ठ-सुत्त
९९. सुभ-सुत्त
१००. संगारव-सुत्त

(ठ) देवदह-वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त
१०२. पञ्चत्तय-सुत्त
१०३. किन्ति-सुत्त
१०४. सामगाम-सुत्त
१०५. सुनक्खत-सुत्त
१०६. आनेञ्जसप्पाय-सुत्त (आणञ्जसप्पाय-सुत्त या आवञ्जसप्पाय-सुत्त)
१०७. गणकमोग्गलान-सुत्त
१०८. गोपकमोग्गलान-सुत्त
१०९. महापुण्णम-सुत्त
११०. चूलपुण्णम-सुत्त

(ड) अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त
११२. छब्बिसोधन-सुत्त
११३. सप्पुरिस-सुत्त
११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त
११५. बहुधातुक-सुत्त
११६. इसिगिलि-सुत्त
११७. महाचत्तारीसक-सुत्त
११८. आनापानसति-सुत्त
११९. कायगतासति-सुत्त
१२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त

(ढ) सुञ्ञता-वग्ग

१२१. चूलसुञ्ञता-सुत्त
१२२. महासुञ्ञता-सुत्त
१२३. अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त
१२४. बक्कुल-सुत्त
१२५. दन्तभूमि-सुत्त
१२६. भूमिज-सुत्त
१२७. अनुरुद्ध-सुत्त
१२८. उपक्किलेस-सुत्त
१२९. बालपंडित-सुत्त
१३०. देवदूत-सुत्त

(ण) विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त
१३२. आनन्दभद्देकरत्त-सुत्त
१३३. महाकच्चानभद्देकरत्त-सुत्त
१३४. लोमसकंगिय-सुत्त
१३५. चूलकम्मविभंग-सुत्त
१३६. महाकम्मविभंग-सुत्त
१३७. सळायतनविभंग-सुत्त
१३८. उद्देसविभंग-सुत्त
१३९. अरणविभंग-सुत्त
१४०. धातुविभंग-सुत्त
१४१. सच्चविभंग-सुत्त
१४२. दक्खिणाविभंग-सुत्त

(त) सळायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त
१४४. छन्नोवाद-सुत्त

भागों में विभक्त है।

सुत्त-विभंग में दोषों का वर्णन है। उन नियमों के उल्लंघनों का भी वर्णन है, जिन्हें भिक्षु प्रत्येक महीने की अमावास्या और पूर्णिमा (उपोसथ के दिन) को दुहराते थे। इन्हें पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) भी कहा जाता है। प्रातिमोक्ष के दो भाग हैं—भिक्षु प्रातिमोक्ष और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष। भिक्षु प्रातिमोक्ष में भिक्षुओं द्वारा और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष में भिक्षुणियों द्वारा होने वाले नियमोल्लंघन का वर्णन है। प्रातिमोक्ष का पाठ करते समय जैसे-जैसे अपराधों का विवरण आता, उस सभा में उपस्थित प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी से यह आशा की जाती थी कि यदि उसने वैसा अपराध किया है, तो वह अपने स्थान पर उठ कर उसे स्वीकार करे। ऐसा करने के पीछे यह भाव था कि भविष्य में वह वैसा दोष न करे।

भिक्षु-जीवन में प्रातिमोक्ष का बड़ा महत्व है। महावग्ग में इसके सम्बन्ध में कहा गया है : "प्रातिमोक्ष कुशल-धर्मों का आदि है, मुख है, प्रमुख है। यही कारण है कि वह प्रातिमोक्ष कहलाता है।"[1]

एक प्राचीन टीकाकार ने प्रातिमोक्ष का बड़े सुन्दर शब्दों में विश्लेषण करते हुए लिखा है : "जो उस (प्रातिमोक्ष) को रक्षा करता है, उसके नियमों का परिपालन करता है, वह (प्रातिमोक्ष) उसे अपाय—असद्गति आदि दुःखों से छुटकारा दिलाता है, मुक्त करता है, इसलिए वह प्रातिमोक्ष कहलाता है।"[2]

खन्धक महावग्ग और चुल्लवग्ग; दो भागों में विभक्त है। भिक्षुओं का संघीय जीवन कैसा होना चाहिए, उन्हें किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, आदि का महावग्ग में वर्णन है। सुत्त विभंग अधिकांशतः निषेधात्मक शैली में लिखा गया है, जबकि महावग्ग उसका विधेयात्मक रूप है। महावग्ग में भगवान् बुद्ध के सम्बोधि लाभ से लेकर प्रथम संघ के संस्थापन तक का विवरण भी बड़े सुन्दर रूप में दिया गया है। महावग्ग का यह अंश ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। उपसम्पदा, वर्षावास, प्रातिमोक्ष, प्रवारणा, चीवर रंगना आदि से सम्बद्ध विधि-क्रम और नियमों आदि का भी इसमें विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

चुल्ल-वग्ग एक प्रकार से महावग्ग का परिपूरक है। इसमें भिक्षु के लिए उसके दैनन्दिन जीवन में क्या विहित है, क्या अविहित है, उसे कैसे चलना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए;

---

१. पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खं ति।
—गोपक मोग्गल्लान सुत्त, मज्झिमनिकाय, ३ । १ । ८

२. यो तं पाटिरक्खति तं मोक्खेति मोचेति अपायकादिदुक्खेहि तस्मा पाटिमोक्खं ति वुच्चति।
—A Comparative Study of Pratimoksha, P. 4, by Pachova.

आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी और सुमंगलविलासिनी में अभिधम्म का अर्थ 'उच्चतम धम्म या विशेष धम्म' किया है। उसके अनुसार 'अभिधम्म' शब्द में स्थित 'अभि' उपसर्ग अतिरेक या विशेष का वाचक है।

महायान सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य असंग[1] *ने अभिधम्म की व्युत्पत्ति चार प्रकार* से की है। उन्होंने अभि उपसर्ग का पहला अर्थ 'अभिमुखतः' करते हुए सत्य, बोधि, सुख, निर्वाण आदि के अभिमुख उपदेश करने के कारण इसे अभिधम्म बताया है। अभि का दूसरा अर्थ 'आभीक्ष्ण्यात्' करते हुए उन्होंने धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने या भेद-प्रभेद दिखलाते हुए विश्लेषण करने के कारण इसे अभिधम्म कहा है। उनके अनुसार अभि का तीसरा अर्थ 'अभिभवात्' भी हो सकता है। अन्य मतों या विरोधी सिद्धान्तों का अभिभव—खण्डन—निराकरण करने के कारण यह अभिधम्म है। अभि का चौथा अर्थ उन्होंने 'अभिगतितः' दिखलाते हुए इसे मूलतः सुत्त पिटक के ही सिद्धान्तों का अभिगमन—अनुगमन करने के कारण अभिधम्म बताया है।

तथागत ने जिस धर्म का सन्देश दिया, तत्त्वतः वह एक है। अन्तर केवल निरूपण का है। सुत्त-पिटक में वह उपदेश की भाषा में है, विनय-पिटक में अनुशासन, नियमन और संयमन के रूप में है तथा अभिधम्म पिटक में तत्व के रूप में। इसका कारण केवल अधिकार-भेद है। सुत्त सब के लिए हैं; क्योंकि वह अविचित शिक्षा के रूप में है, वह व्यवहार-देशना है। अभिधम्म में भी वे ही तत्त्व हैं, पर, वे प्राज्ञों की दृष्टि से हैं; अतएव वहाँ उनका रूप अधिप्रज्ञ शिक्षा का हो गया है। वह परमार्थ-देशना है। सुत्त सबके लिए सुज्ञेय है; क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन सीधे रूप में आकलित हैं। अभिधम्म में बुद्ध के मन्तव्यों का सूक्ष्म और तात्त्विक दृष्टिकोण से बहुत प्रकार से वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया गया है; अतः वह तत्त्व-दर्शन के गम्भीर अध्येताओं का विषय है।

अभिधम्म : रचना

बौद्ध परम्परा में यह स्वीकृत है कि धम्म और विनय की तरह अभिधम्म का भी प्रवचन संगीति में सगान हुआ था। यह भी उतना ही प्राचीन है, जितने सुत्त और विनय। *आचार्य बुद्धघोष इस सम्बन्ध में आश्वस्त हैं कि बुद्ध के काल में सुत्त और विनय की तरह* अभिधम्म भी विद्यमान था। ऐसा माना जाता है कि 'धम्मकथिक' शब्द आभिधर्मिक भिक्षु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

पाटलिपुत्र में सम्पन्न तृतीय संगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने उस समय प्रचलित मिथ्या-

---

1. महायान सूत्रालङ्कार, ११. १

वादों के निराकरण के निमित्त 'कथावत्थु' की रचना की, जिसे अभिधम्म में सम्मिलित कर लिया गया। यह स्पष्ट है कि यह बाद की रचना है। अभिधम्म में इसके सम्मिलित कर लिये जाने से यह अनुमान करने का आधार प्राप्त होता है कि अभिधम्म की रचना व स्वरूप-गठन सुत्त और विनय के अनन्तर समय-समय पर संयोजित होकर पूर्ण हुआ। पर, स्थविर परम्परा को यह किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार कथावत्थु की रूपरेखा भगवान् बुद्ध, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे; अतः भविष्य में होने वाले मिथ्या मतवादों को जानते हुए उनके निराकरण के लिए पहले ही निश्चित कर गये। आचार्य बुद्धघोष ने इस तथ्य को बलपूर्वक समर्थित करने का प्रयत्न किया है। अट्ठसालिनी की निदान कथा में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि मधुपिण्डक-सुत्त आदि भगवान् बुद्ध के शिष्यों द्वारा उप-दिष्ट हैं, पर, बुद्ध द्वारा अनुमोदित होने के कारण वे बुद्ध-वचन ही कहलाते हैं। उसी प्रकार कथावत्थु को अभिधम्म पिटक का ही ग्रन्थ माना जा सकता है।

परम्परा के प्रति विशेष आदर या बहुमान के कारण यह अर्थवाद या प्रशस्ति की भाषा है। यदि प्रथम संगीति के अवसर पर अभिधम्म का स्वरूप अस्तित्व में आया हुआ होता, तो सुत्त और विनय के साथ उसकी अवश्य चर्चा रहती। चुल्लवग्ग[1] में जहां प्रथम संगीति में बुद्ध-वचन के संगान का प्रसंग आया है, वहां धम्म (सुत्त) और विनय के ही संगान का उल्लेख है, अभिधम्म का नहीं। वैशाली में आयोजित द्वितीय संगीति के अवसर पर अभिधम्म के सम्बन्ध में स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों का विवाद, स्थविरवादियों द्वारा उसे साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास, दूसरे सम्प्रदायवालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का विरोध, ऐसी जो स्थितियां बनी, उनसे यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि प्रथम संगीति के अनन्तर अभिधम्म का स्वरूप-निर्माण होने लगा होगा। प्रथम संगीति के अवसर तक अभिधम्म का अस्तित्व किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। उससे पहले मातिकाओं (मातृकाओं) का वर्णन प्राप्त होता है। मातृकाएं वर्गीकरण, विश्लेषण आदि विविध रूपों में थीं। ऐसा सम्भव लगता है कि अभिधम्म-पिटक का गठन इन मातृकाओं के आधार पर हुआ। तीसरी संगीति के अनन्तर भिक्षु महेन्द्र जब लंका जाते हैं, तो विनय-धम्म (सुत्त) के साथ अभिधम्म भी वहां ले जाते हैं। ऐसा लगता है, तब तक अभिधम्म-पिटक का सम्पूर्णतः स्वरूप-निर्धारण हो चुका था। लंका में आने के बाद उसमें किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन हुआ हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। अभिधम्म का लेखन-कार्य विनय और सुत्त के साथ-साथ ही लंका-नरेश वट्टगामणि अभय के समय में ही सम्पन्न हुआ।

---

१. विनयपिटक

अभिधम्म का स्थान

स्थविरवादी या थेरवादी सम्प्रदाय में अभिधम्म-पिटक का उतना ही महत्व है, जितना सुत्त-पिटक और विनय-पिटक का। बर्मा में अभिधम्म-पिटक का बहुत व्यापक अध्ययन हुआ है। लंका में भी अभिधम्म का अत्यधिक आदर रहा है। 'महावंश' के अनुसार लंका के राजा आदरपूर्वक अभिधम्म का श्रवण करते रहे हैं और कतिपय राजा तो ऐसे हुए हैं, जिन्होंने स्वयं अभिधम्म का उपदेश भी किया है। दसवीं शताब्दी में हुए राजा काश्यप प्रथम ने समस्त अभिधम्म पिटक स्वर्ण-पत्रों पर उत्कीर्ण करवाया। इतना ही नहीं, अभिधम्म के प्रमुख ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' को तो उसने मूल्यवान् रत्नों से खचित करवाया। राजा विजय-बाहु प्रथम (१०५९-१११४ ईस्वी) अभिधम्म-पिटक का बहुत बड़ा विद्वान् था। उसने धम्मसंगणि को सिंहली भाषा में अनूदित किया।

अभिधम्म के प्रति जहाँ एक ओर इतना आदर रहा, दूसरी ओर स्थविर-सम्प्रदाय से भिन्न अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में इसकी प्रमाणिकता स्वीकृत नहीं है। बहुत पहले से स्थविर-वादियों में भी ऐसे भिक्षुओं के एक वर्ग की सूचना प्राप्त होती है, जिसके अनुसार अभिधम्म प्रामाणिक बुद्ध-वचन नहीं था। उस वर्ग का सुत्तपिटक में ही सर्वाधिक विश्वास था। अट्ठसालिनी में दो भिक्षुओं के वार्तालाप का एक प्रसंग बहुत मननीय है। वह वार्तालाप है: "भन्ते! आप इतनी लम्बी पंक्ति उद्धृत कर रहे हैं, मानो सुमेरु को ही फेंक देना चाह रहे हों। भन्ते! यह किसकी पंक्ति है?"

"आयुष्मन्! यह अभिधम्म की पंक्ति है।"

"भन्ते! आप अभिधम्म की पंक्ति को क्यों उद्धृत करते हैं? क्या यह समुचित नहीं कि आप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्हीं और पंक्तियों को उद्धृत करें।"

"आयुष्मन्! अभिधम्म का उपदेश किसका है?"

"निश्चय ही वह बुद्ध-भाषित नहीं है।"

उपर्युक्त विश्लेषण और ऊहापोह के आधार पर ऐसा मानना अनौचित्य की सीमा में नहीं आ सकता कि प्रणयन या स्वरूप निर्धारण के समय की अपेक्षा से अभिधम्म सुत्त और विनय से निश्चय ही परवर्ती है।

अभिधम्म के ग्रन्थ

पालि अभिधम्म के निम्नांकित ग्रन्थ हैं:

१. धम्मसंगणि　　२. विभंग

आर्या[1] छन्द का पर्याय है। पर, बौद्ध और जैन साहित्य में तत्त्ववेत्ताओं के पद्य मात्र को, चाहे वह किसी भी छन्द में हो, गाथा शब्द से संज्ञित करने की परम्परा है। बुद्ध-वचनों के इस (गाथात्मक) विभाग में धम्मपद आदि ग्रन्थ हैं, जो पद्यबद्ध हैं।

५. उदान—सौमनस्य पूर्ण अवस्था में तथागत के मुंह से ज्ञानमय गाथाओं के रूप में जो उद्गार निकले, जो भावात्मकता और प्रीत्यात्मकता से संयुक्त हैं, वे उदान कहे गये हैं।

६. इतिवुत्तक—संस्कृत रूप 'इत्युक्तम्' अर्थात् ऐसा कहा गया है। 'वुत्तं हेतं भगवता'—भगवान् द्वारा ऐसा कहा गया; इससे आरम्भ होने वाले बुद्ध-वचन 'इतिवुत्तक' में आते हैं।

७. जातक—जात या जातक का अर्थ जन्मा हुआ होता है। बुद्ध के पूर्व जन्म की घटनाएं जातकों में संग्रहित हैं। जातकों के अतिरिक्त वे त्रिपिटक में अन्यत्र भी प्राप्त होती हैं।

८. अब्भुत धम्म—योगजन्य विभूतियों, अलौकिक, आश्चर्यजनक या अद्भुत विभूतियों तथा वैसी अद्भुत वस्तुओं का वर्णन।

९. वेदल्ल—आन्तरिक उल्लास और तुष्टि प्राप्त कर प्रश्न पूछे जाते हैं, उस सन्दर्भ में जो प्रश्न और उत्तर के रूप में उपदेश हैं, वे वेदल्ल संज्ञक हैं। चुल्लवेदल्ल-सुत्तन्त, महावेदल्ल-सुत्तन्त, सम्मादिट्ठिसुत्तन्त, सक्कपञ्ह-सुत्तन्त आदि इसके उदाहरण हैं।

नौ अंगों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह विभाजन केवल शैली या कथन-प्रकार के आधार पर है। इसके अनुसार एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अंश कई अंगों के नमूने हो सकते हैं। यह विभाजन केवल इतना-सा ज्ञापित करता है कि इस-इस प्रकार से भगवान् बुद्ध के उपदेश हैं, जो पिटक वाङ्मय में भिन्न-भिन्न स्थलों पर संगृहीत हैं।

आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थ अभिसमयालंकार की टीका में बुद्ध-वचन के बारह अंगों की चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं :

१. सूत्र	२. गेय	३. व्याकरण
४. गाथा	५. उदान	६. अवदान
७. इतिवृत्तक	८. निदान	९. वैपुल्य

---

१. यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या ॥

१०. जातक   ११. उपदेश   १२. अद्भुत धर्म[1]

एक और वर्गीकरण भी है, जिसके अनुसार बुद्ध वचन चौरासी हजार धर्म-स्कन्धों में विभक्त है।

ये विस्तारपूर्ण वर्गीकरण या विभाजन बौद्धों की विस्तीर्ण-विश्लेषण-प्रियता के द्योतक हैं। वस्तुतः अध्ययन-क्रम आदि में तीन पिटक तथा उनके उपविभाग ही व्यवहृत हैं।

बहुविध विभाजन : परम्परा

तीन पिटक, पाँच निकाय, नौ अंग तथा चौरासी हजार स्कन्धों के रूप में बुद्ध-वचनों का यह विभाजन-क्रम कब से है, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। तीनों पिटकों का संकेत स्वयं पिटकों में भी प्राप्त है। भाब्रू अभिलेख में सम्राट् अशोक द्वारा बुद्ध धम्म पलियायों या धर्मपर्यायों का इस आशय से उल्लेख करवाया गया है कि सभी भिक्षु और भिक्षुणियाँ, उपासक तथा उपासिकाएं उनका सदा श्रवण करें, पालन करें। उस शिलालेख में बुद्ध-वचनों के भिन्न-भिन्न अंशों का उल्लेख है, वे कहीं-कहीं शब्दशः और अधिकांशतया अर्थतः उन विभागों से कुछ-कुछ जुड़ते हैं।[2] कौन-कौन धम्म (धम्म-पलियाय) किन-किन विभागों में आता है, इस पर विद्वानों ने अच्छा प्रकाश डाला है। विस्तारभय से उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

अशोक के भाब्रू अभिलेख से यह प्रकट होता है कि ई० पूर्व तीसरी शती में त्रिपिटक अपने वर्गीकरण या विभाजन के नामों के साथ प्रायः इसी रूप में विद्यमान थे; जैसा वे आज हैं। सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के लिए तो सुनिश्चित रूप में ऐसा माना ही जा सकता है।

भाब्रू-अभिलेख के अतिरिक्त उसके पश्चाद्वर्ती सांची और भरहुत (ई० पूर्व दूसरी शती)

---

१. सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्॥
उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः।
—अभिसमयालङ्कार, पृ० ३५, बड़ौदा संस्करण

२. ....इमानि भंते ! धंमपलियायानि विनयसमुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते, उपतिसपसिने ए चा लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य बुधेन भासिते। एतानि भंते धंमपलियायानि इछामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालयेयु चा। हेवं मेवा उपासका चा उपासिका चा। एतानि भंते ! इमं लिखापयामि अभिपेतं मे आनंतु ति।

के स्तूप-लेखों में पंचनेकायिक, सुतन्तिक और पेटकी आदि शब्द आये हैं। पंचनेकायिक पांच निकायों के, सुतन्तिक सुत्त-पिटक के और पेटकी पिटकों के ज्ञाता के अर्थ में प्रयुक्त हैं। वहां जातकों के कुछ ऐसे दृश्य भी दिखलाये गये हैं, जिनसे पिटकों और निकायों के रूप में बुद्ध वचन के विभाजन की प्रामाणिकता सूचित होती है।

विद्वानों का अभिमत है कि इन अभिलेखों के युग से पहले बुद्ध-वचन का तीन पिटकों और पांच निकायों के रूप में आज की तरह विभाजन निश्चित हो गया था।[1] इन अभिलेखों के अनन्तर मिलिन्द पञ्हों, बुद्धघोष की अट्ठकथाएं, दीपवंस, महावंस आदि में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है।

चौरासी हजार धर्म-ग्रन्थों के रूप में बुद्ध-वचन के विभाजन का जो एक स्वरूप और चर्चित हुआ है, वह भी बहुत प्राचीन मालूम होता है। थेरगाथा में आनन्द ने कहा कि मुझे चौरासी हजार उपदेशों का ज्ञान है। उनमें से बयासी हजार मैंने भगवान् बुद्ध से और दो हजार धम्म से सीखे हैं। आचार्य बुद्धघोष द्वारा समन्तपासादिका में किये गये उल्लेख के अनुसार प्रथम संगीति में इन (चौरासी हजार धर्म-स्कन्धों) का संगान हुआ था।[2]

महावंस का इस सम्बन्ध में एक प्रसंग है, "सम्राट् (अशोक) ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा—"भगवान् बुद्ध द्वारा दिये हुए उपदेश कितने हैं?" स्थविर ने उत्तर दिया—"धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट) हैं।" सम्राट् ने कहा—"मैं प्रत्येक के लिए विहार बनवाकर उन सबकी पूजा करूंगा।"[3] तदनन्तर सम्राट् ने चौरासी हजार नगरों में विहार बनवाने आरम्भ किये। बौद्ध परम्परा में सम्राट् अशोक द्वारा चौरासी हजार विहार बनवाये जाने की बहुत प्रसिद्धि है।

●

१. Buddhist India, Royas Devids, P. 167

२. समन्तपासादिका, प्रथम जिल्द, पृ० २९

३. महावंस, ५. ७९. ८०

भारत के इतिहास में अशोक का नाम एक ऐसे महान् सम्राट् के रूप में स्मरण किया जाता है, जिसने शस्त्र-बल से ही नहीं, मैत्री, करुणा और सेवा के आदर्शों द्वारा भी बहुत बड़ी विजय—सफलता प्राप्त की। सम्राट् अशोक बौद्ध धर्म का महान् सेवी तो था ही, वह अन्य धर्मों का भी सम्मान करता था। प्राणि-मात्र के हित में उसे आस्था थी। उस ओर वह जीवन-भर प्रयत्नशील भी रहा।

अशोक के जीवन, धर्म, व्यवहार, नीति, शासन और व्यवस्था के सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रमाण उसके शिलालेख हैं। उसने विशेषतः अपने साम्राज्य के सीमा-स्थानों तथा जन-संख्या-बहुल अन्तर्वर्ती भागों में ये अभिलेख उत्कीर्ण करवाये।

शिलालेखों का भाषा : महत्व

भारत की प्राचीन भाषा के विश्लेषण तथा अनुसन्धान के सन्दर्भ में, इन लेखों का बहुत महत्व है। जिस भाषा में ये लेख लिखे गये हैं, वह अशोक के साम्राज्य में अर्थात् लगभग ई० पूर्व तीसरी शती में उत्तर भारत में प्रचलित भाषा का एक साहित्यिक या शिष्ट रूप प्रस्तुत करती है। उत्तर भारत से यहाँ विन्ध्य के उत्तर में स्थित पश्चिम, मध्य और पूर्व भारत से आशय है। इन अभिलेखों की भाषा के सम्बन्ध में पहले विद्वानों का ऐसा अभिमत रहा कि ये पालि भाषा में लिखे हुए हैं। इस सम्बन्ध में उत्तरोत्तर अनुसन्धान एवं गवेषणा चलती रही और अन्ततः विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये अभिलेख वास्तव में प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं, जो उस समय यत्किंचित् प्रादेशिक भेद के साथ समग्र उत्तर भारत में फैली हुई थी।

शिलालेखों का वर्गीकरण

प्राकृत भाषा के लिपि-बद्ध प्राप्त होने वाले ये अभिलेख सबसे प्राचीन उदाहरण हैं। ये तीन रूपों में मिलते हैं। इनमें से कुछ चट्टानों पर, कुछ गुफाओं की दीवारों पर तथा कुछ स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक और पश्चिम में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) से लेकर बिहार और उड़ीसा तक फैले हुए हैं। समयापेक्षया ये अभिलेख आठ समूहों में बाँटे जा सकते हैं।

१. दो लघु शिलालेख

ई० पूर्व २५८ या २५७ के लगभग इनका लेखन हुआ । इनमें से प्रथम शिलालेख कर्नाटक के सिद्दपुर, जतिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में रूपनाथ तथा दतिया जिले में गुर्जरा ग्राम के निकट, बिहार के शाहाबाद जिले में सहसराम, राजस्थान के जयपुर जिले में बैराठ तथा आन्ध्र में मास्की, गविमथ, पाल्कीगुंड व इरागुड़ी में प्राप्त होता है । सम्भवतः अशोक के राज्य-काल के तेरहवें वर्ष में इसका लेखन हुआ। इस (प्रथम लघु) शिलालेख का अर्थ लगाने में विद्वानों को जितनी कठिनता का सामना करना पड़ा, वैसा और किसी लेख के सम्बन्ध में नहीं हुआ । सम्राट् अशोक के व्यक्तिगत जीवन का कुछ वृत्तान्त इस शिलालेख से ज्ञात होता है; अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसका विशेष महत्व है ।

द्वितीय लघु शिलालेख केवल उत्तरी कर्नाटक के सिद्दपुर, जतिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि; इन तीन स्थानों में प्राप्त होता है । इसमें अशोक द्वारा धर्म के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन किया गया है ।

२. भाब्रू शिलालेख

ई० पूर्व २५७ के लगभग उसका लेखन हुआ । यह जयपुर (राजस्थान) जिले के अन्तर्गत बैराठ नामक स्थान में एक पहाड़ी की चट्टान पर प्राप्त हुआ था । कहा जाता है कि बैराठ वही स्थान है, जो महाभारत-काल में मत्स्य देशाधिपति महाराज विराट की राजधानी था, जहां पांडवों ने एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत किया था । बौद्ध धर्म के इतिहास में इस शिलालेख का बहुत महत्व है । इसमें सम्राट् अशोक के बौद्ध धर्म और संघ की शरण ग्रहण करने का वर्णन है । साथ-ही-साथ बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के उन सात स्थलों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें सम्राट् अशोक इस योग्य मानता था कि भिक्षु और भिक्षुणियां तथा उपासक व उपासिकाएं उनका अनुशीलन करें, उन पर विशेष ध्यान दें । वे सातों स्थल बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में यथावत् रूप में प्राप्त हैं । ऐसा अनुमान किया जाता है कि अशोक ने जब यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया, तब वह सम्भवतः बैराठ स्थित किसी संघाराम में प्रवास करता था ।

३. चतुर्दश शिलालेख

ई० पूर्व २५७ या २५६ के आस-पास ये शिलालेख लिखवाये गये थे । ये आठ भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. शाहबाजगढ़ी (पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व में स्थित)

२. मानसेरा (जिला हजारा—पाकिस्तान)

३. कालसी (मंसूरी से लगभग १५ मील पश्चिम की ओर स्थित जिला देहरादून, उत्तरप्रदेश)

४. गिरनार (जूनागढ़ के समीप, गुजरात)

५. सोपारा (जिला थाना, महाराष्ट्र)

६. धौली (जिला कटक, उड़ीसा)

७. जौगड़ (गंजाम, तमिलनाडु)

८. इरागुड़ी (आन्ध्र)

धर्म, नीति, मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा, सार्वजनिक कार्य, राजा के कर्तव्य, राजा की महानता के आधार, प्रादेशिक अधिकारियों के कर्तव्य, जन-साधारण से सम्पर्क, धार्मिक सहिष्णुता, वास्तविक कीर्ति, वास्तविक दान, कलिंग-विजय, उसके कारण, युद्ध के प्रति घृणा, भेरी-घोष के स्थान पर धर्म- घोष द्वारा देशों की विजय प्रभृति विषयों पर इन शिलालेखों में अशोक के विचार, आदेश आदि उल्लिखित हैं।

४. दो कलिंग - शिलालेख

ई० पूर्व २५६ में इनका लेखन हुआ था। ये लेख धौली और जौगड़ में प्राप्त हुए हैं। इन दोनों लेखों का सम्बन्ध नव-विजित कलिंग देश के शासन से है। इनमें सम्राट् अशोक द्वारा अपने अधिकारियों को दिये गये उन आदेशों का उल्लेख है, जिनमें कलिंग देश और उसकी सीमा पर बसने वाली जंगली जातियों पर किस प्रकार शासन किया जाना चाहिए। ये लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः ये दोनों लेख धौली और जौगड़ के चतुर्दश शिलालेखों के परिशिष्ट के समान हैं। चतुर्दश शिलालेखों के लिखे जाने के पश्चात् ये उनमें जोड़े गये थे।

५. तीन गुहा-लेख

गया (बिहार) की समीपवर्ती बराबर की पहाड़ियों में ये प्राप्त हुए हैं। ये लेख अशोक के राज्य-काल के १३वें और २०वें वर्ष अर्थात् ई० पूर्व २५७ और २५० में उत्कीर्ण करवाये गये थे। इनमें उल्लेख किया गया है कि राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्याभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् ये गुफाएं आजीवकों को प्रदान कीं। बुद्ध और महावीर के समय में श्रमण-परम्परा के अन्तर्गत आजीवक भी एक सम्प्रदाय था। उसके भिक्षु निर्वस्त्र रहते थे। मंखलि गोशाल उस सम्प्रदाय के अधिनायक थे। सम्राट् अशोक स्वयं बौद्ध था, पर, अन्य

सम्प्रदायों के प्रति भी उसका आदर था। धार्मिक सहिष्णुता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अतिरिक्त आजीवक-सम्प्रदाय के प्रति सम्राट् अशोक के आकर्षण का एक और कारण भी सम्भावित जान पड़ता है। महावंश सतिका में उल्लेख है कि अशोक की माता धर्मा थी। वह मौर्यवंशोत्पन्न थी। वह बिन्दुसार की अग्रमहिषी या पटरानी थी। उसका पितृ-कुल आजीवक-सम्प्रदाय का अनुयायी था। उनके धर्माचार्य का नाम जनसेन था। यह रानी भी अपनी पैतृक परम्परा के अनुसार आजीवक-सम्प्रदाय में श्रद्धा रखती थी। डा० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है कि सम्भवतः इसी कारण अशोक का आजीवकों के प्रति झुकाव रहा हो। दिव्यावदान में अशोक की माता का नाम सुभद्रांगी लिखा है। उसे एक ब्राह्मण-कन्या बतलाया है। जो भी हो, अशोक द्वारा आजीवकों को गुफा-दान किये जाने के प्रसंग का उसकी माता के आजीवक-सम्प्रदाय की अनुयायिनी होने से जोड़ा जाना अधिक संगत नहीं लगता। सप्तम स्तम्भ लेख में अशोक द्वारा सत्व पासंडा मे पूजिता जो कहा गया है, वह उसकी सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रति उदारतापूर्ण नीति और आदर का स्पष्ट परिचायक है।

६. तराई के दो स्तम्भ-लेख

नेपाल की तराई में रुम्मिनदेई तथा निग्लीव या निग्लीवा नामक गांव में ये लेख प्राप्त हुए हैं। इनका समय ई० पू० २५० माना जाता है। यद्यपि कलेवर में ये लेख बहुत छोटे हैं, पर, कई ऐसे कारण हैं, जिनसे इनका महत्व बढ़ जाता है। इन लेखों से निश्चित रूप से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा की थी। रुम्मिनदेई के लेख से लुम्बिनी वन का पता चल जाता है, जहां तथागत ने जन्म ग्रहण किया था। बौद्ध इतिहास में इस स्थान का विशेष महत्व है। निग्लीव का लेख यह प्रकट करता है कि सम्राट् अशोक की भक्ति गौतम बुद्ध के प्रति तो थी ही, पूर्व काल के बुद्धों के प्रति भी थी। साथ-ही-साथ ये लेख व्यक्त करते हैं कि नेपाल की तराई तक अशोक की साम्राज्य-सीमा थी।

७. छः स्तम्भ-लेख

ई० पू० २४३ से २४२ इनका समय माना जाता है। ये लेख टोपारा (हरियाना में अम्बाला के निकट), मेरठ (उत्तर प्रदेश), कौशाम्बी (इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश), रामपुरवा (चम्पारन, बिहार), लौरिया (अरराज, बिहार), लौरिया (नन्दनगढ़, बिहार) तथा बाखरा (बिहार) से प्राप्त हुए हैं।

टोपारा और मेरठ स्थित स्तम्भों को फिरोज शाह दिल्ली उठवा लाया था, जो अब वहीं हैं। कौशाम्बी के लेख वाला स्तम्भ इस समय इलाहाबाद के किले में है। [illegible]

कौशाम्बी से इलाहाबाद लाया गया। लगभग तीस वर्ष तक राज्य करने के बाद सम्राट् अशोक ने अपने जीवन के अन्तिम भाग में ये स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण करवाये थे। जिन विषयों का चतुर्दश शिलालेखों में उल्लेख किया गया है, प्रायः उन्हीं का इन स्तम्भ लेखों में शब्दान्तर से वर्णन है। (एक प्रकार से ये चतुर्दश शिलालेखों के परिशिष्ट कहे जा सकते हैं)। इन स्तम्भ-लेखों में उन उपायों तथा व्यवस्थाओं का उल्लेख है, जिन्हें अशोक ने अपने सुदीर्घ शासन-काल में धर्म-प्रसार के हेतु व्यवहृत किया था। इन लेखों में अशोक की धार्मिक नीति, नैतिक आदर्श, राज्याधिकारियों के कर्तव्य, अहिंसा की सार्वजनीन तथा व्यापक क्रिया-न्विति के निमित्त वर्ष के अन्तर्गत कुछ दिनों के लिए विभिन्न पशुओं का वध न करने के सम्बन्ध में आदेश आदि महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

८. लघु स्तम्भ-लेख

ऐसा समझा जाता है कि इनका उत्कीर्णन ई० पूर्व २४८ से ई० पू० २३२ के मध्य हुआ। ये सारनाथ (वाराणसी के समीप, उत्तर प्रदेश) में प्राप्त हुए हैं। कौशाम्बी का स्तम्भ-लेख उसी स्तम्भ पर खुदा हुआ है, जो इलाहाबाद के किले में स्थित है।

तीनों स्तम्भ-लेखों में कहा गया है कि जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेंगे, उन्हें संघ से पृथक् कर दिया जायेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् अशोक के समय बौद्ध धर्म-संघ में बढ़ते जा रहे वैमनस्य, विद्वेष या फूट को रोकने के लिए जो सभा हुई थी, उसमें किये गये निश्चयों को प्रसारित करने की दृष्टि से ये लेख लिखवाये गये। सम्राट् अशोक धर्म-संघ की फूट को रोकने के लिए कितना चिन्तित और जागरूक था, इससे यह प्रकट होता है।

इलाहाबाद के किले में स्थित स्तम्भ पर एक लेख और है, जो रानी के लेख के नाम से प्रसिद्ध है। अशोक की द्वितीय-पत्नी का नाम कारुवाकी था, जो राजकुमार तीवर की माता थी। इस लेख में रानी कारुवाकी की दानशीलता का उल्लेख है।

अशोक के शिलालेखों का यह संक्षिप्त परिचय है। प्रस्तुत प्रयोजन शिला-लेखों की भाषा का विश्लेषण है। इसलिए यह आवश्यक है कि पहले उनका स्थान-भेद तथा भाषा-भेद की दृष्टि से विभाजन किया जाये। इस अपेक्षा से ये शिलालेख उत्तर-पश्चिम, पश्चिम, पूर्व, पूर्व-दक्षिण, मध्य देश और दक्षिण; स्थूल रूप से इन छः भागों में बांटे जा [illegible] । अशोक ने ये लेख अपनी राज-भाषा में लिखवाये। उसकी [illegible] में थी। उसकी राज-भाषा पूर्वीय प्राकृत थी। राज-भाषा [illegible] शिष्टर- की ओर झुकी [illegible] दूसरे [illegible] से, कु [illegible] परिभाषित होती है; [illegible] में

की राज-भाषा उससे कुछ भिन्न, कुछ परिनिष्ठित रूप लिये हुए थी। यद्यपि राज-भाषा का क्षेत्र समस्त राज्य होता है। राज्य-सम्बन्धी कार्यों में उसका उपयोग सर्वत्र होता है। बोल-चाल में प्रादेशिक भेदों के अनुसार उसमें कुछ-कुछ भिन्नता रहती है। सम्राट् अशोक ने जो शिलालेख लिखवाये, वहाँ उनका दृष्टिकोण था कि जहाँ-जहाँ राज-भाषा को लोग समझ सकते हों, वहाँ उसी में आदेशों व विचारों का उत्कीर्णन हो; ताकि जन-जन उन शिक्षाओं तथा भावनाओं से अवगत हो सके।

अशोक के वे शिलालेख, जो पूर्व भारत में हैं, उसी भाषा में हैं, जिसका उसके राज्य-कार्य में प्रचलन था। मध्यदेश में भी उस भाषा को समझने में असुविधा नहीं थी। बोल-चाल में वहाँ कुछ नगण्य भिन्नता अवश्य थी। इस प्रकार गंगा-यमुना की घाटियों से लेकर महानदी तक के शिलालेखों की भाषा लगभग समान है। जहाँ-तहाँ कुछ भेद है, पर, वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

अशोक का राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। उसमें ऐसे भाग भी थे, जहाँ अशोक की राज-भाषा अर्थात् पूर्व की भाषा लोगों द्वारा सुगमता से नहीं समझी जा सकती थी। वहाँ की भाषा भिन्न थी। ऐसे स्थानों पर जो शिलालेख लिखवाये गये, इस बात का ध्यान रखा गया कि उनमें वैसी भाषा का प्रयोग किया जाए, जिसे वहाँ के निवासी जन-साधारण सरलतापूर्वक हृदयंगम कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि उन-उन स्थानों की प्रादेशिक बोलियों से शिलालेखों की भाषा अत्यधिक प्रभावित हुई। यह तथ्य उत्तर-पश्चिम के शाहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के शिलालेखों से स्पष्ट है। वहाँ की तथा पूर्व व अन्य स्थानों के शिलालेखों की भाषा में सूक्ष्म दृष्ट्या रहे हुए अन्तर की विवेचना आगे की जायेगी।

गिरनार सौराष्ट्र (गुजरात) में स्थित है। वहाँ की बोलचाल की भाषा पूर्व की भाषा से अपेक्षाकृत भिन्न थी। गिरनार के शिलालेख की भाषा पूर्व के शिलालेखों की भाषा से कुछ भिन्न होना स्वाभाविक ही है। उस पर मध्यदेश की बोलचाल की भाषा का कुछ प्रभाव अवश्य है, जो उसमें प्रयुक्त भाषा से स्पष्ट है।

दक्षिण-आर्य-भाषा-परिवार की भाषाओं के बाहर का क्षेत्र है। अशोक के समय में भी वहाँ लगभग उसी प्रकार द्रविड़-परिवार की भाषाओं का प्रचलन था, जैसा आज है। इतना अवश्य है, वे द्रविड़ परिवारीय भाषाएं आज की (द्रविड़-परिवारीय) भाषाओं की पूर्वजा थीं। भाषा-परिवारीय भिन्नता के कारण ही दक्षिण के शिलालेखों की भाषा स्थानीय भाषा से अप्रभावित रही। वहाँ के लेखों की भाषा में पूर्व की भाषा से जो थोड़ी-बहुत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह पश्चिम का प्रभाव है। यही कारण है कि दक्षिण के शिला-लेखों की बैराठ, सांची और रूपनाथ के लेखों से यत्किंचित् समानता दृष्टिगत होती है।

उन (दक्षिण के) शिलालेखों में भाषा की दृष्टि से और कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

शिलालेखों की भाषा : तुलनात्मक विवेचन

अशोक के शिलालेखों में चतुर्दश शिलालेख भौगोलिक दृष्टि से ऐसे भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित हैं, जो एक-दूसरे से बहुत दूर हैं, उदाहरणार्थ, शाहबाज़गढ़ी जहाँ दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित है, वहाँ धौली दूर पूर्व-दक्षिण में। इसी प्रकार कालसी जहाँ हिमाद्रि के अंचल में उत्तर में स्थित है, वहाँ जौगड़ दूर दक्षिणापथ में।

चतुर्दश शिलालेखों की भाषा में स्थूलदृष्ट्या तीन रूप प्राप्त होते हैं — उत्तर-पश्चिम का, पूर्व व मध्य देश का तथा पश्चिम का। शाहबाज़गढ़ी और मानसेरा के शिलालेख एक विशेष भाषा-रूप को लिये हुए हैं, जो ईरान आदि पश्चिम के देशों में प्रचलित आर्य-परिवारीय भाषाओं से प्रभावित और संस्कृत के अधिक निकट है। गिरनार का शिलालेख पश्चिम भारत की भाषा से विशेष प्रभावित है। इनके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों की भाषा इनसे कुछ भिन्न रूप लिये हुए है, जो अशोक की राज-भाषा के निकट का रूप है।

शाहबाज़गढ़ी और मानसेरा के अभिलेख जिस भू-भाग में स्थित हैं, सम्भवतः सम्राट् अशोक के साम्राज्य की वह उत्तर-पश्चिमी सीमा थी। वह प्राकृतों का युग था। इस उत्तर-पश्चिमी भू-भाग में कोई एक प्राकृत प्रचलित थी, जो पूर्व की प्राकृत से अपेक्षाकृत विशेष भिन्न थी। कहीं की भी जन-भाषा पार्श्ववर्ती देशों या प्रदेशों की भाषा से सदा प्रभावित रहती है। क्योंकि उसे बोलने वाले लोगों का सम्बन्ध, व्यवहार पास-पड़ोस के लोगों से नित्य प्रति रहता है। इसीलिए उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा पर पश्चिम देश की भाषा का प्रभाव स्वाभाविक था। वह चीनी तुर्किस्तान के अन्तर्गत निय नामक स्थान पर मिले अभिलेखों की प्राकृत से, जिसे निय प्राकृत कहा जाता है तथा खोतान में मिले प्राकृत-धम्मपद की भाषा के अधिक निकट है।

अशोक के अभिलेखों की भाषा के सम्बन्ध में परिपूर्ण विवरण या विश्लेषण तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें बहुत कुछ गवेषणीय है, पर जितना जो कहा जा सकता है, तदनुसार अभिलेखों की भाषा के सम्बन्ध में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

१. उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में ऋकार का विकास रि और र के रूप में दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है। जैसे, शाहबाज़गढ़ी के अभिलेखों में मृगः का म्रुगो[1] तथा म

---

१. मृगो सो पि च म्रुगो नो ध्रुवं।

अभिलेखों में म्रिगे[1] रूप प्राप्त होता है। कहीं-कहीं ऋकार रकार में भी परिवर्तित हुआ है।

गिरनार के अभिलेख में म्रुगो या म्रिगे के स्थान पर मगो[2] रूप प्राप्त होता है। इससे प्रकट है कि उस ओर ऋकार का विकास अकार में होने की प्रवृत्ति थी।

कालसी और जौगड़ के अभिलेखों में मृगः के लिए मिगे[3] रूप प्राप्त होता है। ये अभिलेख प्रायः पूर्व की भाषा के अनुरूप हैं। पूर्व में ऋ का विकास इ में होने की प्रवृत्ति रही है।

शाहबाजगढ़ी के अभिलेखों में रकार के प्रभाव से उसका अनुगामी तालव्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण के रूप में परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। जैसे, वृद्धेषु के लिए वहां वुढेषु[4] प्रयोग है, जब कि मानसेरा के अभिलेखों में वृद्धेषु के लिए वुध्रेषु[5] प्रयुक्त हुआ है।

सभी शिलालेखों में तालव्य वर्णों के मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तित होने की नियामकता नहीं दिखाई देती। उदाहरणार्थ, द्वितीय शिलालेख में औषधानि के लिए गिरनार में ओसुढानि कालसी में ओसुधानि, जौगड में ओसधानि, शाहबाजगढी में ओषुढानि तथा मानसेरा में ओषढिनि का प्रयोग हुआ है।[6] चतुर्थ शिलालेख में वर्धितः के लिए सर्वत्र वढितो या वढि

---

१. ......एके म्रिगे से पि चु म्रिगे नो ध्रुवं।
   (एकः मृगः सः अपि च मृगः न ध्रुवः।)
   —प्रथम शिलालेख

२. ......एके मिगे से पि च मिगे नो ध्रुवे।

३. एके मिगे से पि चु मिगे नो ध्रुवं।

४. वुढेषु हिद सुखये ध्रमयुतस अपलिबोधे वपट............

५. वुध्रेषु हिदं सुखये ध्रमयुत अपलिबोधये वियपुट............
   (...वृद्धेषु हितसुखाय धर्मयुक्तस्य अपरिबाधाय व्यापृताः ...)
   —पंचम शिलालेख

६. गिरनार—ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च ......।
   कालसी—ओसधानि मुनिसोपगानि चा......।
   जौगड—ओसधानि यानि मुनिसोपगानि......
   शाहबाजगढ़ी—ओषुढानि मनुशोपकानि पशोपकानि ......।
   मानसेरा—ओषढिनि ......
   (औषधानि मनुष्योपगानि च...... ।)

प्रयुक्त हुआ है।[1]

उत्तर-पश्चिमी शिलालेखों में तालव्य श मूर्धन्य ष तथा दन्त्य स प्रायः यथावत् रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे, दोषं, समजस, प्रिय-द्रशि,[2] अनुदिवस, प्रणशतसहस्रनि, अरभिशिसु[3], पशोपकानि, नस्ति, सव्र[4] आदि।

शाहबाजगढ़ी के अभिलेख में इसका अपवाद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, द्वितीय शिलालेख में मनुष्य-चिकित्सा के लिए मनुशचिकिस तथा मनुष्योपगानि के लिए मनुशोपकानि[5] रूप प्राप्त होते हैं।

शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों में र् के स्थान परिवर्तन के सम्बन्ध में एक विशेष क्रम दिखाई देता है। रेफ अपने से पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती वर्ण में मिल जाता है।

---

१. गिरनार—अतिक्रांतं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो....।
कालसी—अतिकंतं अंतलं बहुनि वाससतानि वढिते व पानालंभे......।
धौली—अतिकंतं अंतलं बहुनि वाससतानि वढिते व पानालंभे......।
जौगड़—अतिकंतं अंतलं बहुनि वाससतानि वढिते व पानालंभे......।
शाहबाजगढ़ी—अतिक्रतं अंतरं बहुनि वषशतानि वढितो व प्रणरंभो....।
मानसेरा—अतिक्रतं अंतरं बहुनि वष-शनि वढिते व प्रणरंभे......।
(अतिक्रान्तमन्तरं बहूनि वर्षशतानि वर्धित एव प्राणारम्भः....।)

२. बहुकंहि दोषं समजस देवन प्रियो प्रियद्रशि रय दखति।
(बहुकान् हि दोषान् समाजस्य देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा पश्यति।)
—प्रथम शिलालेख

३. ....अनुदिवसो बहुनि प्रणशतसहस्रनि अरभिशिसु....।
(....अनुदिवसं बहूनि प्राणशतसहस्राणि आलप्सत....)
—प्रथम शिलालेख

४. ....पशोपकानि च यत्र-यत्र नस्ति सवत्र हरोपित च....।
(....पशुपगानि च यत्र यत्र न सन्ति सर्वत्र हारितानि च....।)
—द्वितीय शिलालेख

५. ....प्रियद्रशिस रञो दुवि चिकिस किट मनुशचिकिस पशुचिकिस च
ओषुढनि मनुशोपकानि ....।
(प्रियदर्शिनः राज्ञः चिकित्से कृते मनुष्यचिकित्सा च पशुचिकि
मनुष्योपगानि......।)

जैसे, धर्म-लिपि के लिये ध्रमदिपि[1], सर्वत्र[2] के लिए सव्रत्र तथा प्रियदर्शिन: के लिए प्रिय-द्रशिस[3] प्रभृति रूप पाये जाते हैं। रकार के स्थान-परिवर्तन की ऐसी प्रवृत्ति अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होती।

जिन संयुक्त व्यञ्जनों के अन्त में यकार होता है, उन (यकार) का लोप हो जाता है। यह प्रवृत्ति उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, वहाँ कल्याण के लिए कलण[4] तथा कर्तव्य के लिए कटव[5] आया है। यकार-लोप की यह स्थिति अधिकांशतः शाहबाजगढ़ी के अभिलेखों में प्राप्त होती है। मानसेरा के अभिलेखों में इससे भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे, बारहवें और पहले शिलालेख में शाहबाजगढ़ी में जहाँ कल्याण के लिए कलण और कर्तव्य के लिए कटव आया है, मानसेरा में क्रमशः[6] और कटविय[7] का प्रयोग हुआ है।

उत्तर-पश्चिमी अभिलेखों में जिन व्यंजनों में र मिला रहा होता है, वे व्यंजन प्रायः

---

१. (अ) यं ध्रमदिपि देवन प्रियस—रञो लिखपितु।
(इयं धर्मलिपि: देवानां प्रियेण राज्ञा लेखिता।)
—प्रथम शिलालेख

२. सव्रत्र विजिते देवनं प्रियस प्रियद्रशिस ये च अंत……।
(सर्वत्र विजिते देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन:……ये च अन्ता:…… ।)
—द्वितीय शिलालेख

३. पुर महनसि देवनं प्रियसस प्रिअद्रशिस रञो……।
(पुरा महानसे देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन: राज्ञ: ……)
—प्रथम शिलालेख

४. एवं हि देवनं प्रियस इछ किति सव्र प्रषंड बहुश्रुत च कलण वतश्रो…… ।
(एवं हि देवानां प्रियस्य इच्छा किमिति सर्वपाषण्डा: बहुश्रुता: च कल्याणवन्त:…… ।)
—द्वादश शिलालेख

५. हिद नो किचि जिवे आरभित प्रयुहोतविये। नो पि च समज कटव।
(इह न कश्चिद् जीव: आलभ्य प्रहोतव्य:। नापि च समाज: कर्तव्य:।)
—प्रथम शिलालेख

६. एवं हि देवनं प्रियस इछ किति सव्र पषड बहुश्रुत च कयण तविये…… ।

७. हिद नो कि चि जिवे आरभित प्रयुहोतविये नोपि च समज कटविय।

यथावत् बने रहते हैं। जैसे, प्रज[1], ब्रमण, श्रमण[2] इत्यादि। कहीं-कहीं अपवाद स्वरूप (द्वयर्थ के लिए) विपट[3] जैसे रूप भी मिलते हैं।

जिन संयुक्त व्यंजनों में ल् मिला रहता है, उनमें ल् का प्रायः लोप हो जाता है। विशेषतः यह प्रवृत्ति उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में प्राप्त होती है। अन्य शिलालेखों में ऐसा नहीं पाया जाता। इसके अनुसार कल्प के लिए कप[4] तथा अल्प के लिए अप[5] जैसे प्रयोग प्राप्त होते हैं।

पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में क्ष के लिए छ का प्रयोग पाया जाता है। जैसे, मोछये[6], छमितविय, छमनये[7]।

---

१. ...सर्वं च मे प्रज अनुवटतु।
(...तथा च मे प्रजा अनुवर्तन्ताम्)
—पंचम शिलालेख

२ (क) मित्रसंस्तुत ञतिकनं च ब्रमणश्रमणनं...।
(मित्रसंस्तुत ज्ञातीनां च ब्राह्मणश्रमणानां...।)
—तृतीय शिलालेख

(ख) तत्र हि वसंति ब्रमण व श्रमण व...।
(तत्र हि वसन्ति ब्राह्मणा वा श्रमणा वा... ।)
—त्रयोदश शिलालेख

३. त्रयोदश शिलालेख

४. ...इमं अवकप ध्रमे शिले च तिस्तिति ध्रमं अनुशशिशंति।
(इदं यावत् कल्पं धर्मे शीले च तिष्ठन्तः धर्ममनुशासिष्यन्ति।)
—चतुर्थ शिलालेख (शाह०)

५. अपवयत अपभंडत सधु।
(अल्पव्ययता अल्पभाण्डता साधु।)
—तृतीय शिलालेख

६ मोछये इयं अनुबधं... ।
(...मोक्षाय च एवमनुबन्धं... ।)
—पंचम शिलालेख

७ (क) यो पि च अपकरेय ति छमितवियमते वो देवनं प्रियस यं शको।
(योऽपि च अपकरोति क्षन्तव्यमत एव देवानां प्रियस्य यः शक्यः
(ख) इछति हि देवनं प्रियो सत्रभुतन अछति...।
(इच्छति हि देवानां प्रियः सर्वभूतानामक्षतिं...)
—त्रयोदश शिलालेख

उत्तर-पश्चिम के अतिरिक्त क्ष के लिए ख के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रायः सभी शिलालेखों में प्राप्त होती है। कहीं-कहीं उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में भी क्ष के लिए ख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के दशम शिलालेख में क्षुद्रकेण के लिए खुद्रकेन[1] का प्रयोग हुआ है।

उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में ज्ञ के लिए प्रायः ञ् का प्रयोग हुआ है। जैसे, रञो[2], तिकनं[3]।

अन्यान्य शिलालेखों में ञ् और न्: दोनों प्रकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में भी न् आया है, पर, बहुत कम। उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में न्य के लिए भी प्रायः ञ् का प्रयोग हुआ है। जैसे अञ्नि[4], अञे[5] इत्यादि। मानसेरा में क्वचित् न्य के लिए ण[6] भी प्राप्त होता है। अन्यान्य अभिलेखों में प्रायः न्य के स्थान पर न प्राप्त होता है। गिरनार में भी मिलता है।

---

१. दुकरं तु खो एवे खुद्रकेन वग्रेन उसटेन व ...... ।
(दुष्करं तु खलु एतत् क्षुद्रकेण वर्गेण उच्छ्रिता ...... ।)
—शाहबाजगढ़ी, दशम शिलालेख

२. अयं ध्रमदिपि देवन प्रिअस रञो लिखपितु।
(इयं धर्मलिपिः देवानां प्रियेण राज्ञा लेखिता)
—शाहबाजगढ़ी, प्रथम शिलालेख

३. मित्रसंस्तुतञतिकनं श्रमणब्रमणनं दनं प्रणनं अनरंभो।
(....मित्रसंस्तुतज्ञातिकानां श्रमणब्राह्मणानां दानं प्राणानामनालंभः)
—शाहबाजगढ़ी, एकादश शिलालेख

४. अञनि च दिव्रनि रुपनि ध्रशयितु जनस।
(........ अन्यानि च दिव्यानि रूपाणि दर्शयित्वा जनस्य।)
—शाहबाजगढ़ी, चतुर्थ शिलालेख

५. एवे अञे च बहुविधे ध्रमचरणे वढिते।
(एतत् अन्यत् च बहुविधं धर्मचरणं वर्धितम्।)
—मानसेरा, चतुर्थ शिलालेख

६. इमये ध्रमनुशस्तिये यथं अणये पि क्रमने।
(अस्यै धर्मानुशिष्ट्यै यथा अन्यस्मै अपि कर्मणे।)
—मानसेरा, तृतीय शिलालेख

पश्चिमोत्तर के अभिलेखों में दन्त्य और मूर्धन्य वर्णों की नियतता दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे, चतुर्थ शिलालेख (शाहबाजगढ़ी) में तिष्ठति के लिये तिस्तिति और श्रेष्ठम् के लिए स्रेठं[1], प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् एक ही स्थान पर दन्त्य और मूर्धन्य दोनों प्राप्त होते हैं।

उत्तर-पश्चिम के अभिलेखों में कुछ प्रयोग ऐसे मिलते है, जिनमें र का लोप दृष्टिगोचर होता है। जैसे, षष्ठ शिलालेख में कृतम् के लिए किटं[2] रूप प्राप्त होता है। वास्तव में इन शिलालेखों की प्रयोग-परम्परा के अनुसार कृत का क्रिट होना चाहिए; जैसा कि पूर्वोल्लेख हुआ है, ऋकार का विकास इन शिलालेखों में रि, र और कहीं-कहीं र के रूप में देखा जाता है। पूर्व के शिलालेखों में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं है। वहां ऋकार, इकार उकार या अकार में परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में क्रिट के स्थान पर किट जैसे प्रयोग (अर्थात् रकार का लोप) की प्रवृत्ति पूर्व से आई हुई प्रतीत होती है।

उत्तर-पश्चिम के अभिलेखों में आकार को अकार में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैसे, चिकित्सा के लिए चिकिस[3], यथा के लिए यथ[4] तथा

---

१. ध्रमे शिले च तिस्तिति ध्रमं अनुशशिशंति। एत हि स्रेठं क्रमं यं ध्रमनुशस्तं ध्रम-चरणं पि च।
(.......धर्मे शीले च तिष्ठन्तः धर्ममनुशासिष्यन्ति। एतत् हि श्रेष्ठं कर्म यत् धर्मानु-शासनम्)
—शाहबाजगढ़ी, चतुर्थ शिलालेख

२. तं मय एवं किटं सवं कलं.........।)
(तद् मया एवं कृतं सर्वं कालं.........।)
—शाहबाजगढ़ी, षष्ठ शिलालेख

३. प्रियद्रशिस रञो दुवि चिकिस किट मनुशचिकिस पशुचिकिस च।
(प्रियदर्शिनः राज्ञः द्वि चिकित्से कृते मनुष्यचिकित्सा च पशुचिकित्सा च।)
—शाहबाजगढ़ी, द्वितीय शिलालेख

४. ...दुमिय ध्रमनुशस्ति वध च वे सि ध्रमये।
(—धर्मे धर्मानुशिष्टिः यथा जनयेत् अपि धर्मे।)
—शाहबाजगढ़ी, तृतीय शिलालेख

शाहबाजगढ़ी मे षु और मानसेरा मे षु आया है ।[1] धौली और जौगड़ में जो ष प्रयुक्त हुआ है, उसका कोई कारण दिखाई नहीं देता । सम्भवतः लिपि-दोष से ऐसा हुआ हो । धौली और जौगड़ के शिलालेख मे, जैसा कि टिप्पणी मे उद्धृत किया गया है, जनों या जने के बदले मुनिसा का प्रयोग हुआ है, जो मनुष्य का प्राकृत रूप है । इन शिलालेखों में तु के प्रसंग में ही प्रायः त के लिए ष का प्रयोग मिलता है, अन्यत्र नहीं । पर, चतुर्थ शिलालेख में कालसी और धौली में तिष्ठन्तः के लिए चिठ्ठितु[2] का प्रयोग हुआ है । शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों में लिपि के लिए प्रायः दिपि[3] शब्द का प्रयोग हुआ है । अन्यत्र प्रायः सभी स्थलों पर लिपि या लिपी शब्द आया है ।

---

१. जनो तु का उचावचछंदो उचावचरागो । —गिरनार
जने षु उचावुचाछंदे उचावुचलागे । —कालसी
मुनिसा ष उचावुचछंदा उचावुचलाग । —धौली
मुनिसा ष उचवुचछंदा उचावुचलागा । —जौगड़
जनो षु उचवुचछंदो उचवुचरगो । —शाहबाजगढ़ी
जने षु उचवुचछंदे उचवुचरगे । —मानसेरा
(जन : तु उच्चावचच्छन्दः उच्चावचरागः ।)

२ धंमसि सिलसि चा चिठ्ठितु धंमं अनुसासिसंति । —कालसी
धमसि सीलसि च चिठ्ठितु धंमं अनुसासिसति । —धौली
(धर्मे शीले च तिष्ठन्तः धर्ममनुशासिष्यन्ति ।)

३. (क) (अ) य ध्रमदिपि देवन प्रियस......रञो लिखपितु ।
—शाहबाजगढ़ी, प्रथम शिलालेख
अयि ध्रमदिपि (दे) वन (प्रि) येन (प्रिय) द्र (शिन) रज (लि) खपित ।
—मानसेरा
(इयं धर्मलिपि : देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता ।)
(ख) एतवे अथ्रे अयं ध्रमदिपि दिपिस्त ....
एतये अथ्रे अयि ध्रमदिपि लिखित... ....
—मानसेरा
(एतस्मै अर्थाय इयं धर्मलिपिः लिखिता ......।)
(ग अयो ध्रमदिपि देवनं प्रियेन प्रियशिन रञो दिपपितो ।
—शाहबाजगढ़ी, चतुर्थ शिलालेख
(इयं धर्मलिपि देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता ।)

इन अभिलेखों में सप्तमी विभक्ति के लिए म्हि, सि और ए; तीनों प्रत्यय प्राप्त होते हैं। गिरनार में म्हि, कालसी, धौली आदि में सि तथा शाहबाजगढ़ी और मानसेरा में ए का प्रयोग प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, चतुर्थ शिलालेख में सप्तमी के शीले रूप के लिए गिरनार में सीलम्हि[1], कालसी में सिलसि[2], धौली में सीलसि[3], शाहबाजगढ़ी[4] तथा मानसेरा[5] में शिले रूप प्राप्त होते हैं।

अभिलेखों की भाषा : कुछ सामान्य तथ्य

पश्चिमोत्तर के शिलालेखों के अतिरिक्त प्रायः सभी शिलालेखों में तालव्य श, मूर्धन्य ष और दन्त्य स के स्थान पर दन्त्य सकार का ही प्रयोग हुआ है। कालसी के शिलालेख में तालव्य श और मूर्धन्य ष भी मिलता है। कालसी के प्रथम नौ शिलालेखों में तो तालव्य श और मूर्धन्य ष के स्थान पर दन्त्य स प्राप्त होता है, पर, उनके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों में अधिकांशतः मूर्धन्य ष तथा क्वचित् तालव्य श प्राप्त होता है।

प्रियदर्शी के लिए पियदसी, यशः के लिए यसो,[6] धर्म-शुश्रूषा के लिए धंमसुसुसा,

---

१. ....धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसति।
—गिरनार, चतुर्थ शिलालेख

२. धंमसि सिलसि चा चिठितु धंमं अनुसासिसंति। —कालसी

३. धंम (सि) सीलसि च (चिठि) तु धंमं अनुसासिसंति।
—धौली

४. ध्रमे शिले च तिस्तिति ध्रमं अनुशशिशंति।.........
—शाहबाजगढ़ी

५. ध्रमे शिले च तिस्तितु ध्रमं अनुशशिशंति।
—मानसेरा

(धर्मे शीले च तिष्ठन्तः धर्ममनुशासिष्यन्ति।)

६. देवानं पिये पियदसी लाजा यसो वा किति वा न महाथावहा मनति।
(देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा यशः वा कीर्ति वा न महार्थवहं मन्यते।)
—दशम शिलालेख

शुश्रूषताम् के लिए सुसुषातु[1] सर्वम् के लिए षवं[2], अपरिस्रवः के लिए अपलापवे, स्यात् इति के लिए वियातिति[3], एषाः के लिए ऐषे[4], उशाता के लिए उपुटेन[5], ईदृशम् के लिए हेदिसे, यादृशम् के लिए आदिसं[6], धर्मसंविभागः के लिए धमवविभागे, धर्मसम्बन्ध के लिए धमसबधे[7], दासभट (त) कम्हि, सम्यक् प्रतिपत्ति के लिए सम्यापटिपति, शुश्रूषा के लिए सुसुषा[8], संस्तु

---

१. धंमसुसुषा सुसुषातु मे ति धंमवतं वा अनुविधीयतुति ।
   (...... धर्मशुश्रूषां शुश्रूषतां मम इति धर्मव्रतमनुविधत्तामिति ।)

—दशम शिलालेख

२. ......त षवं पालतिकाये वा.......... ।
   (......तत् सर्वं पारत्रिकाय एव...... ...... ।)

—दशम शिलालेख

३. किति सकले अपपलावे वियातिति ।
   (किमिति सकलः अपरिस्रवः स्यात् इति ।

—दशम शिलालेख

४. एषे चु पलिसवे ए अपुने ।
   (एष तु परिस्रवः यत् अपुण्यम् ।)

—दशम शिलालेख

५. ....उपुटेन वा अनत अगेन पलकमेना षवं पलितिदितु ।
   (...... उशता वा अन्यत्र अग्र्यात् पराक्रमात् सर्वं परित्यज्य ।)

—दशम शिलालेख

६. नथि हेदिसे दाने आदिसं धंमदाने.......... ।
   (...... नास्ति ईदृशं दानं यादृशं धर्मदान........ ।)

—एकादश शिलालेख

७. धंमसंविभागे, धंमसंबधे.......... ।
   (......धर्मसंविभाग धर्मसम्बन्धः वा ।)

—एकादश शिलालेख

८. तत हेत हुवति—दासभटकम्हि सम्यापटिपति मातापितिसु सुसुसा........ ।
   (तत्र इदं भवति—दासभृतकेषु सम्यक् प्रतिपत्तिः, मातापित्रोः शुश्रूषा ।

—एकादश शिलालेख

के लिए संथुत[1], स्वामिना के लिए षवामिक्येन[2], सः के लिए शे[3], प्रसूते के लिए पशवति[4], पाषण्डान् के लिए पायंडनि[5], सारवृद्धि के लिए शालवढि, स्यात् के लिए शिया, सर्वपाषण्डानाम् के लिए शवपाशंडानं[6], तस्य के लिए तश[7], अप्रकरण के लिए अपकलनशि, तस्मिन् के लिए तशि, प्रकरण के लिए पकलनशि[8], साधु के लिए षाधु, अन्योन्यस्य के लिए

---

१. मितपंथुतनातिक्यानं समनबंभनान दाने ···।
   (···मित्रसंस्तुत ज्ञातिकानां श्रमणब्राह्मणानां दानं··· ··· ।)
   —एकादश शिलालेख

२. पितिना पि पुते पि भातिना पि षवामिक्येन पि·······।
   (पित्रापि पुत्रेणापि भ्रात्रापि स्वामिना पि···· ।)
   —एकादश शिलालेख

३. शे तथाकलंत हिदलोकिक्ये च आलधे होति ।
   (स तथा कुर्वन् एहलौकिकं च आराद्धा भवति ।
   —एकादश शिलालेख

४. ·······पलत च अनंत पुंन पशवति तेना धंमदानेना ।
   ·······परत्र च अनन्तं पुण्यं प्रसूते तेन धर्मदानेन ।)
   —एकादश शिलालेख

५. देवाना पिये पियदशि लाजा शवा पायंडनि·······।
   (देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा सर्वान् पाषण्डान्······· ।)
   —द्वादश शिलालेख

६. ·······अथा कित शालवढि शिया ति शवपाशंडानं······· ।
   (·······यथा किमिति सारवृद्धिः स्यात् सर्वपाषण्डानाम् ।)
   —द्वादश शिलालेख

७. तश चु इयं मुले अ वचगुति·······।
   (तस्य तु इदं मूलं या वचोगुप्ति········· ।)
   —द्वादश शिलालेख

८. ············किति त अतपाशंडे पुजा पलपाशंडगलहा व नो शया अपकलनशि । लहुका वा शिया तशि तशि पकलनशि ।
   (·· ···किमितिआत्मपाषण्डे पूजा परपाषण्डगर्हा वा न स्यात् अप्रकरणे । लघुता वा स्यात् तस्मिन् तस्मिन् प्रकरणे ।)
   —द्वादश शिलालेख

अंनमनता[1], शुश्रुषुः के लिए सुसुसु, शुश्रूषेरन् के लिए सुसुसेयु, देवानां प्रियस्य के लिए देवानं पियसा, अष्टवर्षाभिषिक्तस्य के लिए अठवसाभिसितसा[2], प्राणशतसहस्रं के लिए पानशतसहसे[3], लब्धेषु के लिए लधेसु[4], धर्मानुशिष्टिः के लिए धमानुसथि[5], च के लिए च, अनुशयः के लिए अनुसये[6], जनस्य के लिए जनसा[7], वसन्ति के लिए वसंति[8],

1. समवाये व साधु किति अंनमनता धंमं सुनेसु च सुसुसेयु चा ति। हेवं हि देवानं पियसा इछा..........।
   (समवायः एव साधुः, किमिति अन्योन्यस्य धर्मं शृणुयुः च शुश्रूषेरन् च इति। एवं देवानां प्रियस्य इच्छा........।

   —द्वादश शिलालेख

2. अठवसाभिसितसा देवानं पियस पियदसिने लाजिने........।
   (अष्टवर्षाभिषिक्तस्य देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः.....।)

   —त्रयोदश शिलालेख

3. दियढमाते पानसतसहसे ये तफा अपवुढे........।
   (द्व्यर्धमात्रं प्राणशतसहस्रं यत् ततः अपव्यूढं........।)

   —त्रयोदश शिलालेख

4. तता पछा अधुना लधेसु कलिंगेसु तिव्रे........।
   (ततः पश्चात् अधुना लब्धेषु कलिंगेषु तीव्रं.....।

   —त्रयोदश शिलालेख

5. धंमवाये धंमकामता धंमानुसथि चा देवानं पियसा.......।
   (धर्मपालनं धर्मकामता धर्मानुशिष्टिः च देवानां प्रियस्य.....।)

   —त्रयोदश शिलालेख

6. से अथि अनुसये देवानं पियसा विजिनितु कलिंग्यानि।
   (तत् अस्ति अनुशयः देवानां प्रियस्य विजित्य कलिंगान्।

   —त्रयोदश शिलालेख

7. तता वधे वा मलने वा अपवहे वा जनसा........।
   (........तत्र वधः वा मरणं वा अपवाहः वा जनस्य........।)

   —त्रयोदश शिलालेख

8. ....वसति बंमना व समना (वा) व........।
   ....वसन्ति ब्राह्मणाः वा श्रमणाः वा........।)

   —त्रयोदश शिलालेख

के लिए येसु[1], मित्रसंस्तुतसहायज्ञातिकेषु के लिए मितसंथुतसहायनातिकेषु, दासभृतकेषु के लिए दासभतकषि[2], तेषाम् के लिए तेषं,[3] स्नेहः के लिए सिनेहे, व्यसनं के लिए वियसने[4], श्रमणेषु के लिए समने,[5], मनुष्याणां के लिए मनुसानं, एकतरस्मिन् के लिए एकतलषि, प्रसादः के लिए पसादे[6], शतभागः के लिए सते भागे, सहस्रभागः के लिए सहसभागे[7], संयमम् के लिए सयमं, समचर्या के लिए समचलियं[8], अलिकसुन्दरः के लिए

१. .... येसु विहिता एष अगभुत सुसुसा.... .. ।
(.......येषु विहिता एषा अग्रभूतशुश्रूषा——।)
—त्रयोदश शिलालेख

२. मित्रसंथुतसहायमातिकेषु दासभतकषि सम्यापटिपति.... ....।
(........मित्रसंस्तुतसहायज्ञातिकेषु दासभृतकेषु सम्यक् प्रतिपत्ति.........।)
—त्रयोदश शिलालेख

३. तेषं तता होति उपघाते वा वधे वा........।
(तेषां तत्र भवति उपघातः वा वधः वा ....।)
—त्रयोदश शिलालेख

४. ....सिनेहे अविपहिने एतानं मितसंथुतसहायनातिक्य वियसने........ ।
........स्नेहः अविप्रहीणः एतेषां मित्रसंस्तुतसहायज्ञातिकाः व्यसनं ।)
—त्रयोदश शिलालेख

५. ....यता नथि इमे निकाया आनंता येनेव बंभने चा समने चा .... ।
(........यत्र न सन्ति इमे निकाया अनन्ताः, ब्राह्मणेषु च श्रमणेषु च....।
—त्रयोदश शिलालेख

६. ....यता नथि मनुसानं एकतलषि पि पासडषि नो नामपसादे .. ....।
(........यत्र नास्ति मनुष्याणामेकतरस्मिन् अपि पाषण्डे नाम प्रसादः.........।)
—त्रयोदश शिलालेख

७. तता सते भागे वा सहसभागे वा अज गुलुमते वा देवानं पियसा ।
(....ततः शतभागः वा सहस्रभागः वा गुरुमत एव देवानां प्रियस्य ।)
—त्रयोदश शिलालेख

८. ....सयम समचलियं मदव ति ।
(........संयमं समचर्या मार्दवमिति ।)
—त्रयोदश शिलालेख

महानसंहि[1], विजितंहि[2] आदि इसके उदाहरण हैं। इन अभिलेखों में सप्तमी एकवचन के लिए ए का प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। जैसे, विजिते[3], विजये[4] तथा प्रकरणे[5] आदि इसके उदाहरण हैं। शाहबाजगढ़ी तथा मानसेरा आदि स्थानों के अन्यान्य शिलालेखों में भी कहीं-कहीं सप्तमी एकवचन में एकार प्रयुक्त हुआ है; जैसे, ध्रमे, शिले[6] आदि। पर, ऐसा बहुत कम हुआ है।

चतुर्थी एकवचन के एतस्मै, अमुष्मै आदि रूप, जिनमें स्म या ष्म है, में भी इसकी

---

१. पुरा महानसंहि देवानं प्रियस प्रियदासिनो रा अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु।
(पुरा महानसे देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः अनुदिवसं बहूनि प्राणशतसहस्राणि आलप्सत्……।)

—गिरनार चतुर्दश शिलालेख के अन्तर्गत प्रथम शिलालेख

२. सर्वत विजितंहि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो…… ।)
(सर्वत्र विजिते देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः…… ।

—चतुर्दश शिलालेख के अन्तर्गत द्वितीय शिलालेख

३. सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु वासेसु अनुसंयानं नियातु……।
(सर्वत्र विजिते मम युक्ताः रज्जुकाः प्रादेशिकाः पंचसु पंचसु वर्षेसु अनुसंयानं निष्क्रमन्तु……।)

—चतुर्दश शिलालेख में तृतीय शिलालेख

४. सरसके एव विजये छाति च……… ।
(शरावर्जित: विजये क्षान्ति च………। ,

—चतुर्दश शिलालेख में त्रयोदश शिलालेख

५. लहुका व अस तम्हि तम्हि प्रकरणे ।
(लघुका वा स्यात् तस्मिन् तस्मिन् प्रकरणे)

—चतुर्दश शिलालेख में द्वादश शिलालेख

६. ……ध्रमचरणं ध्रमे शिले च तिस्तिन्ति ध्रमं अनुशशिशंति ।

—शाहबाजगढ़ी चतुर्दश शिलालेख में चतुर्थ शिलालेख

……ध्रमचरणं ध्रमे शिले च तिस्तितु ध्रमं अनुशशिशंति ।
(……धर्मचरणं धर्मे शीले च तिष्ठन्तः धर्ममनुशासिष्यन्ति ।)

एकवचन के स्मिन् की तरह क नहीं होता। एतस्मै के लिए एताय[1] व एताये[2] तथा अमुष्मै के लिए इमाय[3] का प्रयोग हुआ है। लेख में अस्माकम् के लिए हमा[4] तथा मया के लिए हमियाए[5] का प्रयोग हुआ है। इस आदेश - विधि[6] पर सूक्ष्मता से विचार किया जाना चाहिए।

---

१. एताय ठाय इयं सावने सावापिते।
   एतस्मै अर्थाय इदं श्रावणं श्रावितम्।
   —ब्रह्मगिरि का प्रथम लघु शिलालेख
   वहुका च एताय अथा······व्यापता धंममहामाता।
   (बहुकाः च एतस्मै अर्थाय व्यापृताः धर्ममहामात्राः······।)
   चतुर्दश शिलालेख में द्वादश शिलालेख, गिरनार

२. एताये अथाये इयं लिपि लिखित······।
   —धौली, दो कलिंग शिलालेख के अन्तर्गत प्रथम शिलालेख
   एताये च अठाये······।
   —जौगड़, दो कलिंग शिलालेखों के अन्तर्गत प्रथम शिलालेख
   (एतस्मै अर्थाय इयं लिपिः लिखिता······।)
   एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि······।)
   —सप्तम स्तम्भ लेख; टोपरा (दिल्ली)
   (एतस्मै अर्थाय धर्मश्रावणानि श्रावितानि······ ।)

३. यि इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा।
   (ये अमुष्मै अमुष्मै कालाय जंबूद्वीपे अमृषा देवाः अभूवन्, ते इदानीं मृषा कृताः।)
   —रूपनाथ का प्रथम लघु शिलालेख

४. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसीति गलवे च प्रसादे च।
   (विदितं वो भवन्ताः! यावत् अस्माकं बुद्धे धर्मे संघे इति गौरवं च प्रसादः च।)
   —भाब्रू शिलालेख

५. ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेवं संधमे चिलठितीके होसतीति······
   (यत् तु खलु भवन्ताः! मया दिश्यते एवं सद्धर्मः चिरस्थितिकः भविष्यति इति ······)
   —भाब्रू शिलालेख

१. शत्रुघ्नबोध:

घर या गुफा होता है। पिशेल का मन्तव्य है कि अशोक के लेख गुफाओं में भी है; अतः उनकी भाषा के लिए यही नाम संगत है। डा० गुणे के अनुसार यह संगत नहीं है। कतिपय अन्य विद्वानों ने इसे 'लाट विभाषा' नाम भी दिया है। लाट शब्द यष्टि शब्द का विकसित (यष्टि> लट्ठि> लाट) रूप है। अशोक के अनेक लेख लाटों पर उत्कीर्ण हैं; अतः उन विद्वानों ने इस नाम को उपयुक्त बतलाया है। कुछ विद्वानों ने इसे अशोकीय प्राकृत (Ashokan Prakritas) शब्द से संज्ञित किया है। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों की भाषा का कई प्रकार से नामकरण हुआ है, पर, वह शिलालेखी प्राकृत के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है और यह नाम अपेक्षाकृत अधिक संगत भी लगता है। क्योंकि यहां प्रयुक्त शिला शब्द पाषाण - खण्ड के अर्थ में न लिया जाकर उत्कोटिक सामान्य (Common) पाषाणीय लेखाधार के रूप में लिया जाए, यह अधिक समीचीन होगा।

अन्य प्राकृत-अभिलेख

अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त प्राकृत के कुछ और अभिलेख भी प्राप्त होते हैं। उनमें कुछ तो विस्तृत और कुछ केवल एक-एक पंक्ति के ही हैं। इनका समय ई० पूर्व ३०० से ४०० ई० तक का है। बड़े-छोटे ये सभी शिलालेख संख्या में लगभग दो हजार तक पहुँच जाते हैं। उनमें उत्तर बंगाल का महास्थान का शिलालेख (Mahasthan Stone Plaque Inscription) मध्यप्रदेश का जोगीमार गुफा लेख (Jogimara Cave Inscription) पश्चिमोत्तर बिहार का सोहगौरा ताम्रपत्र लेख (Sohgaura Copper Plate Inscription) ग्वालियर का बेसनगर स्तम्भ लेख (Besnagar Pillar Inscription) पश्चिमोत्तर भारत का खरोष्ठी लिपि में शिन्‌कोट कास्केट लेख (Shinkot Casket Inscription) उड़ीसा के सम्राट् खारवेल का हाथी गुम्फा लेख, उदयगिरि खण्ड गिरि के शिलालेख तथा पश्चिमी भारत के आन्ध्रवंशीय राजाओं के शिलालेख विशेष प्रसिद्ध हैं। आकार में भी बड़े हैं।

सिंहल के प्राकृत-अभिलेख

सिंहल में भी ई० पूर्व ३०० से १०० ई० तक के प्राकृत अभिलेख प्राप्त होते हैं। ये अभिलेख गुफाओं में तथा प्रस्तरों पर प्राप्त होते हैं। प्रस्तर-लेख प्रायः सरोवरों के तटों पर मिलते हैं, जिनमें मन्दिरों के निमित्त सरोवरों के दान का उल्लेख है।

भाषा का झुकाव

सिंहल में प्राप्त अभिलेखों की भाषा का झुकाव अधिकांश पूर्व और मध्य के शिलालेखों की ओर है। पर, उसकी अपनी भी कुछ विशेषताएं हैं। जैसे, प्रथमा विभक्ति एकवचन

के लिए मध्य व पूर्व में अधिकांशतः प्रयुक्त ए के लिए यहाँ इ का प्रयोग हुआ है।

सप्तमी विभक्ति एकवचन में यहाँ सि के लिए हि आया है। षष्ठी विभक्ति एकवचन में 'ह' का प्रयोग हुआ है, जैसे, अपभ्रंश में 'स' का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं मूर्धन्य ष तालव्य श में भी परिवर्तित हुआ मिलता है। गाइगर (Geiger) ने इन अभिलेखों की भाषा को सिंहली प्राकृत नाम दिया है।

अशोकीयेतर जिन अभिलेखों की चर्चा की गयी है, उनका ऐतिहासिक महत्व तो है ही, पर, विस्तार, भाषा-प्रयोग के वैविध्य-भाषा-तत्त्व के सन्दर्भ में पुष्कल सामग्री आदि अनेक दृष्टियों से अशोक के अभिलेखों का ही सर्वाधिक महत्व है।

●

भारत से बाहर प्राप्त प्राकृत-लेख

पालि-पिटक वाङ्मय तथा प्राकृत (अर्द्धमागधी)-जैन-आगम वाङ्मय की प्राचीनता और मुख्यता अनेक दृष्टियों से समपरायता लिये हुए है। क्रमागत रूप में उनके सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाना चाहिए, पर, यह अधिक उपयुक्त होगा कि भारत से बाहर प्राप्त प्राकृतों पर यहाँ विचार करें। अशोक के शिलालेखों—विशेषतः उत्तर-पश्चिमी शिलालेखों से उनकी विशेष निकटता है।

संक्रान्ति-काल

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (Middle Indo-Aryan Languages) का काल ई० पू० ५०० से १००० ई० तक माना गया है। इसे प्राकृत-काल कहा गया है। यह (प्राकृत - काल) भी तीन भागों में बांटा गया है—१. प्रथम प्राकृत (Early Middle Indo-Aryan) काल, २. द्वितीय प्राकृत (Middle Middle Indo-Aryan) काल तथा ३. तृतीय प्राकृत (Later Middle Indo-Aryan Language) काल। प्रथम प्राकृत काल का समय मध्यकालीन भारतीय आर्य - भाषा-काल के प्रारम्भ से अर्थात् ई० पू० ५०० से ई० सन् के प्रारम्भ तक माना जाता है। इस प्रथम काल में पालि और शिलालेखी प्राकृत को लिया गया है। द्वितीय प्राकृत-काल ईसवी सन् से ५०० ई० तक माना जाता है। इस काल की भाषा का नाम प्राकृत है। उसके अन्तर्गत अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि प्राकृतें आती हैं। तृतीय प्राकृत-काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है। यह अपभ्रंश के उद्भव, विकास और प्रसार का समय है।

एक दूसरा विभाजन

कुछ विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य-भाषा-काल के अन्तर्वर्ती विभाजन में एक भिन्न क्रम भी अपनाया है। उनके अनुसार प्रथम प्राकृत अर्थात् पालि और शिलालेखी प्राकृत का काल ई० पू० ७०० से ई० पू० २०० तक या पांच सौ वर्षों का है। द्वितीय प्राकृत-काल उनके मन्तव्यानुसार २०० ईसवी से ७०० ईसवी तक है। इस प्रकार ई० पू० २०० से २०० ई० तक का बीच का समय बच जाता है, जिसे संक्रान्ति-काल माना गया है।

इस संक्रान्ति-काल में वे प्राकृतें आती हैं, जो भारत से बाहर प्राप्त हुई हैं। बाहर से प्राप्त प्राकृत - सामग्री तीन रूपों में है—अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, धम्मपद की प्राकृत और निय प्राकृत।

अश्वघोष के नाटक : प्राकृतों का प्रयोग

अश्वघोष बौद्ध भिक्षु, दार्शनिक और कवि थे। उनका रचना-काल ईसा की प्रथम शती माना जाता है। उनके द्वारा रचित दो संस्कृत नाटकों की खण्डित प्रतियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० ल्यूडर्स (Luders) ने उनका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। उन नाटकों में कुछ पात्र प्राकृत बोलते हैं। उत्तरवर्ती नाटकों में प्राकृतों का जैसा प्रयोग, जो कृत्रिम अधिक है, स्वाभाविक कम, हुआ है। अश्वघोष के नाटकों में वैसा नहीं है। वहाँ प्रयुक्त प्राकृतें प्राचीन रूप लिये हुए हैं, जो स्वाभाविक है।

तीन प्राचीन प्राकृतें

प्रो० ल्यूडर्स ने अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों का विश्लेषण करते हुए जो बताया है, उसके अनुसार वहाँ तीन प्रकार की प्राकृतें प्रयुक्त हुई हैं : प्राचीन मागधी, प्राचीन शौरसेनी तथा प्राचीन अर्द्धमागधी। प्रो० ल्यूडर्स के अनुसार दुष्ट संज्ञक पात्र की भाषा प्राचीन मागधी, विदूषक तथा गणिका की भाषा प्राचीन शौरसेनी एवं गोमस-तापस की भाषा प्राचीन अर्द्धमागधी है। यहाँ प्रयुक्त भाषा अशोक के शिलालेखों से भी कुछ मेल खाती है।

प्राचीन मागधी

दुष्ट संज्ञक पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा के अनुशीलन से जो तथ्य उद्घाटित होते हैं, वे प्राचीन मागधी के स्वरूप के ज्ञापक हैं। वहाँ र् के स्थान पर ल् का प्रयोग हुआ है। तालव्य शकार के लिए तो श है ही, मूर्धन्य षकार और दन्त्य सकार के लिए तालव्य शकार का प्रयोग हुआ है। प्रथमा एकवचन में ए विभक्ति का प्रयोग है। अहम् के लिए अहकं आया है, जो आगे चलकर हगे बन गया है तथा षष्ठी विभक्ति एकवचन में 'हो' प्रत्यय व्यवहृत हुआ है। ये प्रयोग प्राचीन मागधी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं, जो प्राक्तन अभिलेखों में प्रयुक्त मागधी से तुलनीय है।

प्राचीन शौरसेनी

विदूषक तथा गणिका द्वारा प्रयुक्त प्राचीन शौरसेनी की विशेषताएं इस प्रकार हैं :— प्रथमा विभक्ति एकवचन में अः (सु) के लिए ओ प्राप्त होता है। ज्ञ और न्य के लिए वहाँ ञ का प्रयोग हुआ है। ऋ के लिये इ आया है। क्ष के लिए क्ख तथा क्ष के लिए क्ख

व्यवहृत हुआ है। भवान् के लिए भवां, खलु के लिए खु, कृत्वा के लिए करिय, त्वम् के लिए तुवब जैसे कुछ विशेष प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। त्वम् के लिये जो तुवब होता है, वह प्राचीन फारसी के तुवम् से, जो त्वम् के अर्थ में है, तुलनीय है।

कर्तृवाच्य में आत्मनेपदी धातु के साथ संयोजित होने वाले, वर्तमान कालवाची शानच् प्रत्यय से निष्पन्न रूप इस प्राचीन शौरसेनी में अपने प्राकृत-परिवेश में सुस्थिर हैं। भुञमानो, पाठ्यमानो आदि इसके उदाहरण हैं।

प्राकृत में आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी के रूप में धातुओं का विभेद प्रचलित नहीं है; अतः इस भाषा में प्राप्त होने वाले शानच् प्रत्ययान्त रूपों पर इस दृष्टि से चिन्तन की आवश्यकता नहीं है। शानच् प्रत्यय का प्रयोक्तव्य रूप आन है, जो शकार और चकार की इत्संज्ञा[1] होने से बचा रहता है।

प्राचीन अर्द्धमागधी

सोमल-तापस द्वारा प्रयुक्त प्राचीन अर्द्धमागधी की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं: मुख्यतः प्रथमा एकवचन की विभक्ति अः (सु) के लिए ओ प्राप्त होता है। जैन आगमों में तथा उत्तरवर्ती अर्द्धमागधी में प्रथमा एकवचन के लिए ओ तथा ए दोनों प्राप्त होते हैं। तालव्य शकार का प्रयोग यहां प्राप्त नहीं होता। यहां क, आक तथा इक प्रत्यय बहुलतया प्रयुक्त हैं। र के लिए यहां ल का प्रयोग हुआ है।

अस्पष्टता या अल्प-स्पष्टता

अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राचीन मागधी, प्राचीन शौरसेनी तथा प्राचीन अर्द्ध-मागधी की जो कतिपय विशेषताएं उल्लिखित की गई हैं, उनसे प्राचीन मागधी और प्राचीन शौरसेनी का स्वरूप जितना स्पष्ट लगता है, वैसा अर्द्धमागधी का नहीं। अर्द्धमागधी के सन्दर्भ में किये गए विवेचन से उसका स्वरूप कोई विशेष स्पष्ट तो नहीं प्रतीत होता, फिर भी अर्द्धमागधी की प्रकृति के कुछ संकेत वहां माने जा सकते हैं। संक्षेप में कहें तो केवल इतना-सा यहां गम्य है—र का ल होना मागधी से अर्द्धमागधी में आई हुई विशेषता है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। शकार के प्रयोग का अभाव कोई विशेष महत्व नहीं रखता; क्योंकि मागधी के अतिरिक्त प्रायः सभी प्राकृतों में केवल दन्त्य सकार का ही प्रयोग होता है।

---

१. तस्य लोपः ॥
　तस्येतो लोपः स्यात्।
　　　　—पाणिनीय अष्टाध्यायी, १।३।९

क्रमशः वत्स और संवत्सर का ही प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं अपवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं, पर, बहुत कम। सप्तमी विभक्ति का स्मिन् प्रत्यय स्मि रहता है। निय प्राकृत में स्म प्रायः म्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है; अतः सप्तमी विभक्ति एकवचन का स्मिन् प्रत्यय वहाँ म्मि मिलता है। प्राकृत धम्मपद स्म, स्व और स तीनों की विद्यमानता देखी जाती है। इससे पश्चिमोत्तर की भाषा की एक विशेष प्रवृत्ति झलकती है—वहाँ सप्तमी विभक्ति के लिए प्रयुज्यमान रूप में बहुत वैकल्पिकता थी।

सम्बन्धक भूत कृदन्त अर्थात् हिन्दी व्याकरण के अनुसार पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय त्वी वैदिक संस्कृत में बहुलतया प्रयुक्त रहा है। लौकिक संस्कृत में वैसा नहीं रहा। निय प्राकृत में यह त्वी प्रत्यय ति के रूप में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, वहाँ श्रुत्वा के लिए श्रुनिति और अपृष्ट्वा के लिए अपुछिति का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार धम्मपद में उपजित्वा के लिए उपजिति और परिवर्जयित्वा के लिए परिवजेति आया है।

हेत्वर्थ में अशोक के शिलालेखों में और निय प्राकृत में 'नये' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। अन्यत्र हेत्वर्थ में तवे का प्रयोग दृष्टिगत होता है। निय प्राकृत में तुमन् प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं, पर, बहुत कम। अशोक के पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में प्रथमा एकवचन में अ और ए दोनों प्रत्यय प्राप्त होते हैं। शाहबाजगढ़ी के अभिलेखों में ओ का और मानसेरा के अभिलेखों में ए का अधिक प्रयोग हुआ है। निय प्राकृत में भी ए का प्रचलन अधिक प्राप्त होता है। उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखों में ओ और ए दोनों का प्रयोग रहा है। सिन्धु नदी के पश्चिम में जो अभिलेख प्राप्त हुये हैं, वहाँ ए अधिक है तथा अन्य स्थानों पर ओ। प्राकृत धम्मपद में ए का प्रयोग प्रायः अनुपलब्ध है। ओ मिलता है और उ भी मिलता है। उ का मिलना आश्चर्यजनक है; क्योंकि उ उत्तरवर्ती काल की प्रवृत्ति है, विशेषतः अपभ्रंश-काल की। उ का समावेश अर्वाचीनता के प्रभाव का द्योतक कहा जा सकता है। पंचमी विभक्ति एकवचन में प्रयुक्त तसिल् प्रत्यय, जिसके इकार और लकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और तस् (तः) के रूप में बचा रहता है, के लिए भी निय प्राकृत में ए का प्रयोग प्राप्त होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस ए प्रत्यय का प्रयोग मागधी प्राकृत की अपनी एक विशेषता है।

निय प्राकृत में नामों (संज्ञाओं) के रूप प्रायः अकारान्त नामों के अनुसार होते हैं। नामों के अन्त में अ लगा कर ऐसा निर्देश किया गया है, जो उत्तरवर्ती अपभ्रंश की ओर ध्यान आकर्षित करता है। प्रथमा विभक्ति तथा द्वितीया विभक्ति में कोई अन्तर-भेद नहीं है। अपभ्रंश में भी ऐसा ही निर्देश है।

तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संक्रान्ति-कालीन प्राकृतों में, [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] की [illegible] प्रत्यक्ष है।

: ७ :

भारत में लिपि-कला का उद्भव और वि

(The Origin of Sc Its Developme

प्राकृत-अभिलेख : लिपियां

प्राकृत के जो प्राचीन अभिलेख प्राप्त हुये हैं, वे मुख्यत. ब्राह्मी लिपि में हैं। एक अन्य लिपि का भी उनमें प्रयोग हुआ है, जो खरोष्ठी के नाम से प्रसिद्ध है। अशोक के पश्चिमोत्तर शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं। कांगड़ा के दो ऐसे शिलालेख हैं, जिनमें खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग हुआ है और ब्राह्मी का भी। ऐसा अनुमान होता है कि वहां सम्भवत: इन दोनों लिपियों का व्यवहार रहा हो। आश्चर्य है, ब्राह्मी लिपि के क्षेत्र मथुरा का भी एक प्रसिद्ध शिलालेख खरोष्ठी लिपि में है। पटना में भी इस प्रकार का एक शिलालेख है। उन अभिलेखों की लिपियों के सन्दर्भ में भारत में लिपि-कला के उद्भव, विकास तथा विस्तार आदि पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक होगा।

ब्राह्मी लिपि

भारतवर्ष में प्रयुक्त लिपियों में ब्राह्मी लिपि सबसे प्राचीन है। जिस प्रकार भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न धर्मों में आस्था रखने वालों के अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों की भाषाओं के सम्बन्ध में आर्षता या अनादिता के सूचक मत हैं, उसी प्रकार उन सबका ब्राह्मी लिपि के सम्बन्ध में विचार है। यहाँ प्रशस्तिपरकता (Superlativeness) की मात्रा अधिक है, तथ्यपरकता कम। मानव की कुछ इस प्रकार की दुर्बलता है कि जिसे वह 'स्व' से जोड़ता है, उसे प्रशस्त भी बताना चाहता है।

वैदिक अभिमत

वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वालों का यह अभिमत है कि ब्राह्मी शब्द ब्रह्मा से निष्पन्न हुआ है। त्रिदेवों[1] में ब्रह्मा जगत् के स्रष्टा या विधाता हैं। जिस प्रकार जगत् की, *समस्त जागतिक पदार्थों की उन्होंने रचना की, लिपि का भी उन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ।* जगत् के साथ-साथ जन्मने वाली वह लिपि ब्राह्मी लिपि थी। ब्रह्मा द्वारा कृत लिपि-

१. ब्रह्मा=सर्जक, विष्णु=पालक, शिव=संहारक

रचना की उपादेयता का वर्णन करते हुए नारद-स्मृति[1] में लिखा है : "यदि ब्रह्मा लिखित या लेखन-कला, दूसरे शब्दों में लिपि रूप उत्तम नेत्र का सर्जन नहीं करते, तो इस जगत् की शुभ गति नहीं होती।"

ललितविस्तर में चर्चा

ललितविस्तर बौद्धों का प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रन्थ है। उसके दशम अध्याय में लिपियों की चर्चा है। वहां चौसठ लिपियों[2] का उल्लेख है, जिनमें ब्राह्मी पहली है।

६४ नामों में कतिपय ऐसे नाम हैं, जिनका आधार देश-विशेष, प्रदेश-विशेष या जाति-विशेष है। जैसे, अंग-लिपि, बंग-लिपि, मगध-लिपि, ब्रह्मवल्ली - लिपि, द्राविड़-लिपि, कनारि-लिपि, दक्षिण - लिपि, दरद-लिपि, खास्य-लिपि, चीन-लिपि, हूण-लिपि, देव-लिपि, नाग-लिपि, यक्ष-लिपि, गन्धर्व-लिपि, किन्नर-लिपि, महोरग-लिपि, असुर-लिपि, गरुड़-लिपि,

---

१. नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥

२. १. ब्राह्मी, २. खरोष्ठी, ३. पुष्करसारी, ४. अंग-लिपि, ५. बंग-लिपि, ६ मगध-लिपि, ७. मांगल्य-लिपि, ८. मनुष्य-लिपि, ९. अंगुलीय-लिपि, १०. शकार-लिपि, ११. ब्रह्मवल्ली-लिपि, १२. द्राविड़-लिपि, १३. कनारि-लिपि, १४. दक्षिण-लिपि, १५. उग्र-लिपि, १६. संख्या-लिपि, १७ अनुलोम-लिपि, १८. ऊर्ध्वधनुर्लिपि, १९. दरद-लिपि, २०. खास्य लिपि, २१. चीन-लिपि, २२. हूण-लिपि, २३. मध्याक्षर-विस्तर-लिपि, २४. पुष्प-लिपि, २५. देव-लिपि २६ नाग-लिपि, २७ यक्ष-लिपि, २८. गन्धर्व-लिपि, २९. किन्नर-लिपि, ३०. महोरग-लिपि, ३१. असुर-लिपि, ३२. गरुड़-लिपि, ३३. मृगचक्र-लिपि, ३४. चक्र-लिपि, ३५. वायुमरु-लिपि, ३६. भौमदेव-लिपि, ३७ अन्तरिक्षदेव-लिपि, ३८. उत्तरकुरुद्वीप-लिपि, ३९. अपरगोडादि-लिपि, ४०. पूर्वविदेह-लिपि, ४१. उत्क्षेप-लिपि, ४२. निक्षेप-लिपि, ४३. विक्षेप-लिपि, ४४ प्रक्षेप लिपि, ४५ सागर-लिपि, ४६. वज्र-लिपि, ४७. लेखप्रतिलेख-लिपि, ४८. अनुद्रुत-लिपि, ४९. शास्त्रावर्त-लिपि, ५०. गणनावर्त-लिपि, ५१. उत्क्षेपावर्त-लिपि ५२. विक्षेपावर्त-लिपि, ५३. पादलिखित-लिपि, ५४. द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित-लिपि, ५५. दशोत्तरपदसन्धिलिखित-लिपि, ५६. अध्याहारिणी-लिपि, ५७. सर्वरुतसंग्रहणी-लिपि, ५८. विद्यानुलोम-लिपि, ५९ विमिश्रित-लिपि, ६०. ऋषितपस्तप्ता लिपि, ६१. धरणीप्रेक्षण-लिपि, ६२. सर्वौषधिनिष्यन्द-लिपि, ६३ सर्वसारसंग्रहणी-लिपि, ६४. सर्वभूतरुद्ग्रहणी-लिपि।

—पृष्ठ १२५-१२६

उत्तरकुरुद्वीप-लिपि, अपरगोडादि-लिपि, पूर्व विदेह-लिपि ।

कुछ ऐसे नाम हैं, जो सम्भवतः वर्णों के आकार, लेखन-विधि या लेखन-वैशिष्ट्य से सम्बद्ध हैं । जैसे, अनुलोम-लिपि, चक्र-लिपि, उत्क्षेप-लिपि, प्रक्षेप-लिपि, लेख-प्रतिलेख-लिपि, पादलिखित-लिपि, द्विरुत्तर-सन्धिलिखित-लिपि, दशोत्तरपदसन्धिलिखित-लिपि, विमिश्रित-लिपि, इत्यादि ।

कुछ नाम ऐसे हैं, जो देवतास्तुतिमूलकता तथा विषयविशेष-प्रयोज्यता आदि से सम्बद्ध हैं । कुछ नाम अन्यान्य कारणों पर भी आधृत हो सकते हैं ।

जैन मान्यता

जैन ग्रन्थों में भी ब्राह्मी लिपि के विषय में विशेष रूप से उल्लेख है । जैन अंग-वाङ्मय के पंचम अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के प्रारम्भ में जहाँ अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु को नमन किया गया है, वहाँ ब्राह्मी लिपि को भी नमन करने का उल्लेख है ।[1] व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे अत्यन्त मान्य ग्रन्थ में ब्राह्मी लिपि का उल्लेख निःसन्देह उसकी प्राचीनता का द्योतक है ।

ऋषभ द्वारा लिपि-शिक्षण

लिपियों के उद्भव के सम्बन्ध में जैन पौराणिक साहित्य में उल्लेख है कि श्रामण्य अंगीकार करने से पूर्व आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभ ने जब वे राजा थे, सभी प्रकार की लोक-व्यवस्थाओं का प्रतिष्ठापन किया । विद्याओं, कलाओं आदि का भी शिक्षण दिया । कहा जाता है, ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुष-प्रयोज्य बहुत्तर कलाओं की शिक्षा दी और साथ ही परम-तत्त्व का ज्ञान भी दिया । पुत्र बाहुबली को प्राणि-लक्षण का ज्ञान, पुत्री ब्राह्मी[2] को अठारह लिपियों का ज्ञान और पुत्री सुन्दरी को गणित का शिक्षण दिया ।

विद्याओं तथा कलाओं को आत्मसात् करने वाले ऋषभ के पुत्रों और पुत्रियों ने जगत् में उनका प्रसार किया । ब्राह्मी द्वारा प्रसारित लिपियों में जो मुख्य लिपि थी, उसी के नाम से वह ब्राह्मी कहलाई ।

---

१. णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं । णमो बंभीए लिवीए ।

२. लेहं लिवी विहाणं, जिणेण बंभीए दाहिण करेण ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, पंचम भाग, पृ० १२८४

समवायांग सूत्र में उल्लिखित अठारह लिपियों में पहला नाम ब्राह्मी[1] लिपि का है। प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित अठारह लिपियों के नाम समवायांग सूत्र से पूरी तरह तो नहीं मिलते, पर, बहुलांश में सादृश्य है। उसमें भी पहला नाम ब्राह्मी[2] लिपि का है। विशेषावश्यक टीका[3] तथा कल्पसूत्र[4] में उल्लिखित अठारह लिपियों के नाम समवायांगसूत्र व प्रज्ञापना सूत्र में दिये गये नामों से भिन्न है। आश्चर्य है, दोनों में दी गयी लिपि नामावली में ब्राह्मी लिपि का नाम ही नहीं आया। इन दोनों सूचियों में जो नाम हैं, उनसे प्रतीत होता है कि ये नाम बहुत अर्वाचीन हैं, जब इस देश में ब्राह्मी का प्रयोग तो समाप्त हो ही गया था, महत्व भी समाप्त प्रायः हो गया था।

विशेषावश्यक की टीका में आये हुए नामों में यवनी, तुरुक्की, द्रविड़ी, सिंधवीय, मालवीनी, नागरी, लाट, पारसी आदि कुछ ऐसे हैं, जो देशों और प्रदेशों के आधार पर दिये हुए हैं। ऐसा लगता है, विशेषावश्यक के टीकाकार के समय भिन्न-भिन्न भू-भागों में जो भिन्न-भिन्न लिपियां प्रचलित थीं, सम्भवतः उन्हीं के आधार पर उनके नाम दे दिये गये।

---

१. १. ब्राह्मी, २. यावनी, ३. दोष उपरिका, ४. खरोष्ट्रिका, ५. खर-शाविका, ६. पहाराइया, ७. उच्चत्तरिका, ८. अक्षर पृष्ठिका, ९. भोगवतिका, १०. वेणकिया, ११. निह्नविका, १२. अंकलिपि, १३. गणितलिपि, १४ गन्धर्वलिपि, १५. आदर्श लिपि, १६. माहेश्वरी, १७. दामिलिपि, १८. बोलिंद लिपि

—समवायांग सूत्र, समवाय १८

२. १. ब्राह्मी, २. यावनी, ३. दोसापुरिया, ४. खरोष्ठी, ५. पुक्खरसारिया, ६. भोगवतिका (भोगवइया), ७. पहराइया ८. अन्तक्खरिया, ९. अक्खरपुट्ठिया, १०. वैनयिकी, ११. निह्नविकी, १२. अंकलिपि, १३. गणितलिपि, १४. गन्धर्वलिपि, १५. आयंसलिपि, १६. माहेश्वरी, १७. दोमि लिपि, १८. पोलिन्दी।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद १, सूत्र ३७

३. १. हंस, २. भूत, ३. यक्षी, ४. राक्षसी, ५. उड्डी, ६. यवनी, ७, तुरुक्की, ८. कीरी, ९. द्रविड़ी, १०. सिंधवीय, ११. मालवीनी, १२. नडि, १३. नागरी, १४. लाट, १५. पारसी, १६ अनिमित्ती, १७. चाणक्की, १८. मूलदेवी।

—पृ० ४६४

४. १. लाटी, २. चौडी ३. डाहाली, ४. कानडी, ५. गूजरी, ६. सोरठी, ७. मरहठी, ८. कोंकणी, ९. खुरासानी, १०. मागधी, ११. सिंहली, १२. हाड़ी, १३. कीड़ी, १४. हम्मीरी, १५. पारसी, १६. मसी, १७. मालवी, १८. महायोधी।

इन नामों में स्पष्ट रूप से यवनी, पारसी और तुरकी; तीन अभारतीय हैं। अन्य बहुत से नाम भारत के अन्तर्वर्ती प्रदेशों के आधार पर दिये हुए प्रतीत होते हैं, जिनकी भिन्न-भिन्न लिपियां ब्राह्मी से उद्भूत हुई। हंस आदि कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका स्पष्ट आधार दिखलाई नहीं पड़ता।

कल्पसूत्र में आये नामों में लाटी, चौड़ी[1], डाहाली, कानड़ी, गूजरी, सोरठी, मरहठी, कोंकणी, मागधी, हाड़ी, मालवी आदि नाम विशेषावश्यक के टीकाकार द्वारा प्रस्तुत अधिकांश नामों की तरह भारत के प्रदेशों के नामों पर आधृत लिपि-नाम हैं। उनके लिए उसी प्रकार कहा जा सकता है, जैसा विशेषावश्यक के टीकाकार द्वारा प्रस्तुत नामों के सम्बन्ध में कहा गया है। ब्राह्मी और खरोष्ठी पर अनेक लिपि-विज्ञान-वेत्ताओं ने अनुशीलन और अन्वेषण किया है। उनके भिन्न-भिन्न मत हैं। उन मतों की चर्चा, विश्लेषण तथा समीक्षा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि अब तक लिपि के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में जो सोचा गया है, उसकी कुछ चर्चा की जाए।

लिपि का उद्भव : कल्पना

आदि मानव का एक अबूझ उपक्रम

विद्वानों का मन्तव्य है कि आदिकालीन मानव विभिन्न देवताओं की पूजा में विश्वास करता था। टोनों-टोटकों में भी उसकी आस्था थी। तब तक उसकी तर्कणा-शक्ति विकसित नहीं हो पाई थी। पर, स्वभावतः वह कल्पनाशील तो था ही। अपने इष्ट देवता का प्रतीक या चित्र बनाने का उसमें भाव जगा हो। उसने उसे पूरा करने का कुछ प्रयत्न किया हो। कुछ आड़ी-टेढ़ी रेखाएं खींची हों। इसी प्रकार सौभाग्य और शुभ की प्राप्ति, दौर्भाग्य और अशुभ की निवृत्ति के हेतु कुछ जादू-मन्त्र, टोने-टोटके साधने के लिए भी उसके द्वारा कुछ ऐसा ही प्रयत्न चला हो। इस प्रकार रेखाएं खींचने, कुछ चिह्न बनाने के प्रयत्न का एक अन्य कारण भी सम्भावित है। अपने बर्तन-भाण्डे, घड़े आदि वस्तुएं जब कभी किसी समारोह आदि के अवसर पर या और किसी कारण से एकत्र रखी जाती हों, तब लगभग एक जैसी होने से वे परस्पर मिल न जाएं, बाद में अपनी-अपनी वस्तु की पहचान में कठिनाई न हो, इसके लिए भी हो सकता है, मानव ने कुछ चिह्न बनाये हों। यह उपक्रम, जिसके पीछे कोई गहरा चिन्तन नहीं था, तात्कालिक कम विकसित समाज के लोगों की एक भाव-प्रवण उत्प्रेरणा थी। यह क्रम चलता रहा। मानव अपने अभिलषित की एक कल्पित परिपूर्ति मानता रहा। यह एक सन्दर्भ है, जो लिपि-कला के उद्भव से सम्बद्ध ऊहापोह में उपयोगी है।

---

१. चौड़ी लिपि सम्भवतः चोल-राजाओं द्वारा शासित राज्य की लिपि रही हो।

समवायांग सूत्र में उल्लिखित अठारह लिपियों में पहला नाम ब्राह्मी[1] लिपि का प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित अठारह लिपियों के नाम समवायांग सूत्र से पूरी तरह तो नहीं मि पर, बहुलांश में सादृश्य है। उनमें भी पहला नाम ब्राह्मी[2] लिपि का है। विशेषाव टीका[3] तथा कल्पसूत्र[4] में उल्लिखित अठारह लिपियों के नाम समवायांगसूत्र व प्रज्ञापना में दिये गये नामों से भिन्न हैं। आश्चर्य है, दोनों में दी गयी लिपि नामावली में ब्रा लिपि का नाम ही नहीं आया। इन दोनों सूत्रों में जो नाम हैं, उनसे प्रतीत होता है ये नाम बहुत अर्वाचीन हैं, जब इस देश में ब्राह्मी का प्रयोग तो समाप्त हो ही गया था महत्व भी समाप्त प्रायः हो गया था।

विशेषावश्यक की टीका में आये हुए नामों में यवनी, तुरुक्की, द्रविड़ी, सिंधवीय मालवीनी, नागरी, लाट, पारसी आदि कुछ ऐसे हैं, जो देशों और प्रदेशों के आधार पर दिये हुए हैं। ऐसा लगता है, विशेषावश्यक के टीकाकार के समय जिन-जिन भू-भागों में जो भिन्न-भिन्न लिपियां प्रचलित थीं, सम्भवतः उन्हीं के आधार पर उनके नाम दे दिये गये।

---

१. १. ब्राह्मी, २. यावनी, ३. दोष उपरिका, ४. खरोष्टिका, ५. खर-शविका, ६. पहरातिगा, ७. उच्चत्तरिका, ८. अक्षर पृष्ठिका, ९. भोगवतिका, १०. वेणकिया, ११. निह्नविका, १२. अंकलिपि, १३. गणितलिपि, १४ गन्धर्वलिपि, १५. आदर्श लिपि, १६. माहेश्वरी, १७. दामिलिपि, १८. बोलिंद लिपि

—समवायांग सूत्र, समवाय १८

२. १. ब्राह्मी, २. यावनी, ३. दोसापुरिया, ४ खरोष्ठी, ५. पुक्खरसारिया, ६. भोगवतिका (भोगवइया), ७. पहराइया ८. अन्तक्खरिया, ९. अक्खरपुट्ठिया, १०. वेनयिकी, ११. निह्नविकी, १२. अंकलिपि, १३. गणितलिपि, १४. गन्धर्वलिपि, १५. आयंसलिपि, १६. माहेश्वरी, १७. दोमि लिपि, १८. पोलिन्दी।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद १, सूत्र ३७

३. १. हंस, २. भूत, ३. यक्षी, ४. राक्षसी, ५. उड्डी, ६. यवनी, ७. तुरुक्की, ८. कीरी, ९. द्रविड़ी, १०. सिंधवीय, ११. मालवीनी, १२. नडि, १३. नागरी, १४. लाट, १५. पारसी, १६ अनिमित्ती, १७. चाणक्की, १८. मूलदेवी।

—पृ० ४६४

४. १. लाटी, २. चौडी ३. डाहाली, ४. कानड़ी, ५. गूजरी, ६. सोरठी, ७. मरहठी, ८. कोंकणी, ९. खुरासानी, १०. मागधी, ११. सिंहली, १२. हाड़ी, १३. कीड़ी, १४. हम्मीरी, १५. पारसी, १६. मसी, १७. मालवी, १८. महायोधी।

व्यवहार-निर्वाह और भाव-स्थायित्व

तात्कालीन मानव भाषा का आविष्कार कर चुका था। सुनकर और बोलकर दूसरों के विचार जानने और ज्ञापित करने की क्षमता उस युग के मनुष्य को प्राप्त थी। उसका क्र चलता रहा। भाषा के अभाव में उसे व्यवहार में जो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, वह मिट गया था। पर, ज्यों-ज्यों विभिन्न लोगों के साथ उसके व्यवहार का क्षेत्र विस्तृत होता गया, उसे कठिनाइयां अनुभव होने लगीं। जिन किन्हीं के साथ उसका व्यवहार था, वे सब उसके सामने उपस्थित होते या होते रहते, तो उसे पारस्परिक व्यवहार निभाने में कठिनाई नहीं होती; क्योंकि स्वयं बोलकर अपने भाव ज्ञापित कर देता और उनके द्वारा बोलकर व्यक्त किये गये भाव ज्ञात कर लेता। पर, यह सम्भव नहीं था। इसलिए तत्कालीन मानव ऐसा कोई माध्यम खोजने के लिए बेचैन हो उठा हो, जिससे उसकी यह कठिनाई दूर हो सके।

अन्य कारण भी सम्भाव्य है। ज्यों-ज्यों मानव की बौद्धिक चेतना उद्बुद्ध होती गयी, वह चिन्तन तथा विचार के क्षेत्र में कुछ आगे बढ़ा। वैचारिक दृष्टि से विकसित होते मानव के मन में स्वभावतः यह भाव उठता है, वह अपने विचारों को स्थायित्व दे सके। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे ऐसा करने में तुष्टि प्राप्त होती है। साथ ही उसके विचारों से दूसरे लोग तभी लाभान्वित होते रह सकते हैं, जब दैहिक दृष्टि से उसकी विद्यमानता न रहे; अतः प्रबुद्धचेता मानव को भी यह लोभ थी कि उसे कोई ऐसा साधन या सहारा प्राप्त हो, जिससे उसका यह अभाव मिट जाये।

एक आधार

मानव अपनी मनोभावनाओं, एषणाओं और कामनाओं की परितुष्टि के लिए कुछ प्रतीकात्मक तथा चाहे बहुत अस्पष्ट ही क्यों न हो, चित्रात्मक आड़ी-टेढ़ी रेखाएं खींचने में प्रवृत्त हो चुका था। अपने भावों को मूर्त रूप देने के अभिलाषुक मानव का उस प्रयत्न की ओर झुकाव हुआ। उसे शान्ति मिली कि उसका वह उपक्रम उसके लिए आधार बन सकता है। वह उस ओर प्रवृत्त हुआ। अपनी भावनाओं को चित्रों या प्रतीकों के माध्यम से, चाहे वे अपूर्ण, अस्त-व्यस्त व अस्पष्ट जैसे रहे हों, प्रकट करने का उसमें उत्साह जगा। चित्र-लिपि के उद्भव की यह कहानी है। चित्रों या प्रतीकों को उद्दिष्ट कर जिस प्रकार खींची जाने वाली टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं ने लिपि-कला के आदि-स्रोत का काम किया, चित्र-कला का भी उन्हें ही मूल आधार माना जा सकता है।

अन्वेषकों और विद्वानों ने अब तक लिपि के सम्बन्ध में जो अध्ययन तथा गवेषणा की है, उसके अनुसार ईसा से लगभग चार सहस्राब्दियों पूर्व तक लिपि जैसा कोई व्यवस्थित

का अस्तित्व में नहीं आया। विद्वानों की मान्यता है कि इस प्रकार के माध्यम की खोज मानव ने ईसा से लगभग दस सहस्राब्दी पूर्व प्रारम्भ की थी। उसके छः सहस्राब्दियों के प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप लिपि अस्पष्ट और अव्यवस्थित ही सही, प्रादुर्भूत हुई, जो उत्तरोत्तर विकसित होती गयी।

चित्र-लिपि

चित्रों के माध्यम से अपने मनोभाव व्यक्त करने के उपक्रम को चित्र-लिपि की संज्ञा दी गयी। इस उपक्रम में प्रारम्भ के चित्र बहुत ही अपूर्ण और भद्दे रहे होंगे। उस समय के मानव का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित था; अतः मानव, मानव के साथी पशु, जीव-जन्तु, उसके द्वारा प्रयोज्य वनस्पतियां आदि के चित्र उसने बनाये होंगे। इस प्रयत्न में कुछ ऐसे टेढ़े-मेढ़े चित्र भी बन गये होंगे, जो कुछ-कुछ ज्यामितीय आकारों से मिलते-जुलते होंगे।

देववाद का युग था। पूजा, उपासना, तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड सम्पादित करने के हेतु देवी-देवताओं के चित्र भी बने होंगे। ऐसे चित्र पर्वतीय कन्दराओं, भित्तियों आदि पर बने होंगे। पत्थर, हड्डी, पशुओं के चर्म, वृक्षों की छाल, मिट्टी के बर्तन, हाथी-दांत आदि का भी इन चित्रों के हेतु उपयोग हुआ प्रतीत होता है।

अभिव्यंजना

अविकसित दशा से विकास की ओर गति करना मानव का स्वभाव है। आदि काल में मानव का अधिकतम सम्बन्ध स्थूल जगत् से था; अतः जिन प्राणियों, पदार्थों व वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ प्रकट करना होता, तो वह उन प्राणियों, पदार्थों तथा वस्तुओं के चित्र अंकित करने का प्रयत्न करता। जैसे, मनुष्य के लिए मनुष्य का चित्र, उसके अंगोपांगों के लिए उसके अंगोपांगों के चित्र, पशुओं के लिए पशुओं के चित्र, सूर्य-चन्द्र व तारों के लिए बड़-छोटे गोल आकार। सूर्य की रश्मियां द्योतित करने के लिए अपेक्षाकृत बड़े गोले से उसके चारों ओर निकलती हुई रेखाएं अंकित करना, ऐसा कुछ उपक्रम था। इस प्रकार उस युग में मानव को अपना कुछ बताने और दूसरों का समझ लेने में किंचित् सन्तोष प्राप्त हो जाता।

ऐसा प्रतीत होता है; चित्रात्मक आधार से मानव का कुछ समय काम चला होगा। एक तथ्य ज्ञातव्य है कि चित्र-लिपि केवल स्थूल वस्तु को व्यक्त करने मात्र की क्षमता के कारण अपरिपूर्ण थी। पर, इसमें सार्वजनीनता और सर्वदेशीयता अवश्य थी, क्योंकि स्थूल दृष्ट्या मनुष्य, पशु, पर्वत, नदी आदि प्रायः सर्वत्र सदृश होते हैं। उदाहरणार्थ, उनका आकार जो पश्चिम एशिया में बनता, वैसा ही अमेरिका के किसी देश में बनता और उसे उसी अर्थ में समझ भी लिया जाता, यद्यपि दोनों के बीच बहुत दूरी होती। इस तरह एक प्रकार से यह लिपि, चाहे जैसी ही सही, विश्वजनीन या अन्तर्राष्ट्रीय कही जा सकती है।

परिवर्तन भी पूर्ण सक्षम नहीं

चित्र-लिपि भावाभिव्यक्ति का एक माध्यम था, पर, बहुत सक्षम नहीं। स्थूल पदार्थों का बोध तो उससे हो जाता, पर, तद्गत या तत्सम्बद्ध भावों को व्यक्त करने का जब प्रसंग आता, तो मानव को कठिनता अनुभूत होती। चित्र में कुछ संयुक्त करने का एक प्रयत्न और हुआ। यदि एक प्यासी गाय को दिखाना है, तो दौड़ती हुई गाय और पास ही पानी दिखा दिया जाता। इसी प्रकार यदि दुर्भिक्ष का भाव व्यक्त करना होता, तो ऐसा मनुष्य दिखाया जाता, जो दुर्बल दीखता, जिसकी पसलियाँ निकली हुई होतीं। दुःख या विषाद का भाव व्यक्त करना होता, तो ऐसी आँखों का चित्र प्रस्तुत किया जाता, जिनसे आँसू ढल रहे हों। चलने का भाव दिखाना होता, तो केवल पैर दिखा दिये जाते, पर, इससे काम नहीं चला।

चीन में प्राचीन काल में चित्र-लिपि का प्रचलन था। वहाँ भी आन्तरिक भावों को व्यक्त करने हेतु कुछ इसी प्रकार का प्रयास हुआ। यदि वहाँ मैत्री का भाव व्यक्त करना होता, तो दो मिले हुए हाथों का चित्र बना दिया जाता। यदि सुनने का भाव व्यक्त करना होता, तो एक ऐसे मनुष्य का चित्र बना दिया जाता, जो दरवाजे के पास कान लगाये खड़ा हो।

मिस्र भी चीन की तरह प्राचीन काल से ही सभ्यता और कला-कौशल में उन्नत रहा है। वहाँ चित्र-लिपि का प्रचलन रहा। भावाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में वहाँ भी इसी प्रकार के प्रयास हुए, जो आवश्यकता के वास्तविक पूरक नहीं हो सके। उनसे एक सीमा तक काम तो चलता रहा, पर, विविध भावों की अभिव्यक्ति ऐसे उपायों से सम्भव नहीं हो सकी।

दूसरी विशेष कठिनता यह भी थी कि जाति-वाचक संज्ञाएं तो चित्रों द्वारा व्यक्त कर दी जातीं, जैसे, किसी मनुष्य का बोध कराना है, तो मनुष्य का चित्र बना दिया जाता पर, यदि किसी मनुष्य-विशेष—अमुक मनुष्य का बोध कराना हो तो कठिनाई थी। अर्थात् व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का कोई मार्ग नहीं था। अनेक नामों के अनेक व्यक्ति, उनके भिन्न-भिन्न रूप, कभी सम्भव नहीं थे, जो चित्रों द्वारा प्रकट किये जा सकते।

अकलात्मकता और चित्र : एक दुविधा

चाहे सुन्दर न सही, पर, चित्र बनाना भी तो एक कला है। वह सबसे सध सके, सम्भव नहीं; अतः उन लोगों को बड़ी असुविधा होती, जो चित्र बनाने में अक्षम थे; जो चित्र तो बना सकते थे, पर, अतिशीघ्र कोई अभिव्यक्ति करनी होती, तो शीघ्रता में चित्र बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता होती। चित्र और उनके योग द्वारा केवल वर्तमान का भाव व्यक्त होता, पर, अतीत तथा भविष्य की अभिव्यंजना के लिये कोई साधन नहीं था।

चित्र-लिपि के युग में इस प्रकार मानव येन-केन-प्रकारेण अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न

तो करता, पर, उसे सन्तोष नहीं था, अनेक कठिनाइयां थी। वह कुछ खोज में था, ताकि वह असन्तोष, वे कठिनाइयां मिट सकें।

प्रतीक-लिपि

चित्र-खींचने में असुविधा थी और साथ-ही-साथ अमनोनुकूल कालक्षेप भी था। सतत गतिशील मानव लम्बे समय तक कैसे सह पाता। शीघ्रातिशीघ्र भाव व्यक्त करने के लिये समय बचाने के लिए वह बहुत तत्परता से चित्र बनाता। चित्र ठीक नहीं बनते। विकृत चित्रों से भी कुछ काल तक वह काम चलाता रहा। लिखिनी की शीघ्रता के कारण चित्रों का उत्तरोत्तर घसीट रूप होता गया। तब पूरे चित्र के प्रतीक के रूप में कुछ रेखाओं का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, पहले पर्वत को दिखाना होता तो उसका एक रेखा-चित्र-सा बनाया जाता, उसकी चोटियां रेखाओं द्वारा विशेष रूप से दिखाई जातीं। पर, आगे चल कर वह सारा कुछ रेखाओं के रूप में ही बचा रहा। इस प्रकार चित्रों के स्थान पर प्रतीक-चिह्नों से काम चलने लगा। चित्र में समझने की दृष्टि से एक सुविधा थी। उसे देखते ही वस्तु समझ ली जाती। प्रतीक चिह्नों में वह नहीं रहा। उन्हें स्मरण रखना पड़ता, यह चिह्न अमुक वस्तु के लिए है और यह किसी अन्य के लिए। चित्रों में एक सीमा तक सहजता थी; अतः उन्हें समझाने में भिन्न-भिन्न देशों या स्थानों के लोगों को कठिनाई नहीं होती। रेखा-चिह्नों में वह बात नहीं रही। वहां जिस वस्तु के लिए, जिस भाव के लिए जो रेखा-चिह्न कल्पित कर लिये गये, उन चिह्नों को देखने मात्र से वैसा कुछ भान नहीं होता, जब तक उन चिह्नों से सम्बद्ध मान्यता को आत्मसात न कर लिया जाता। इस प्रकार चित्रों द्वारा तत्कालीन लिपि में जो सार्वजनीनता आई थी, वह नहीं रह पाई। भिन्न-भिन्न देशों के व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए एक ही समान रेखा-चिह्न स्वीकार किये हों, ऐसा भी सम्भव नहीं।

भाव-ध्वनिमूलक लिपि

वस्तु और भाव दोनों के लिए अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त प्रतीकात्मक लिपि में अगला विकास हुआ कि कुछ तो भावमूलक प्रतीक, जिनसे भावों के समझने में तत्कालीन मानव कुछ सुविधा अनुभव करता था, जो चित्रों के अतिशय या संकेतक रूप थे, विद्यमान रहे और कुछ प्रतीक भावों के परिवर्तन में ध्वनियों के साथ संयुक्त कर दिये गये। इस प्रकार मानव को लिपि-विकास के अभियान में कुछ सुविधा मिली। इस पद्धति को भाव-ध्वनिमूलक लिपि कहा जाता है।

ध्वनिमूलक-लिपि

प्रतीक-चिह्न भाव और ध्वनि; दोनों के लिए प्रयुक्त थे। दोनों में होने वाली दुविधा-

विश्व की लिपियाँ : दो वर्ग

विश्व की लिपियाँ अपने स्वरूप के आधार पर दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं। पहला वर्ग उन लिपियों का है, जिनमें चिह्न पृथक्-पृथक् वर्णों या अक्षरों के द्योतक नहीं हैं, एक समग्रात्मक ध्वनि के द्योतक हैं। दूसरा वर्ग उन लिपियों का है, जिनमें प्रयुक्त चिह्न आकार पृथक्-पृथक् वर्णों या अक्षरों के द्योतक हैं। भाषा-वैज्ञानिकों ने इस दृष्टि से इनका निम्नांकित रूप में वर्गीकरण किया है :

पहला वर्ग—मुख्य लिपियाँ :

१. क्यूनीफार्म
२. हीरोग्लाइफिक
३. क्रीट की लिपियाँ
४. सिन्धु घाटी की लिपि
५. हिट्टाइट लिपि
६. चीनी लिपि
७. प्राचीन मध्य अमेरिका तथा मैक्सिको की लिपियाँ

दूसरा वर्ग—मुख्य लिपियाँ :

१. दक्षिण सामी लिपि
२. हिब्रू लिपि
३. फिनिशियन लिपि
४. खरोष्ठी लिपि
५. आर्मेइक लिपि
६. अरबी लिपि
७. भारतीय लिपि
८. ग्रीक लिपि
९. लैटिन लिपि

ब्राह्मी की उत्पत्ति : मत

में उसका आविष्कार हुआ। दूसरे मत के अनुसार यह ई० पूर्व २७०० वर्ष में नि
हुई। पर, प्राचीनता मात्र कोई कारण नहीं है, जिससे संगत-असंगत सब कुछ उसके स
जोड़ दिया जाये। जहाँ लिपि-विश्लेषण और वर्णों का प्रश्न आता है, विद्वान् इस
की चर्चा तक नहीं करते।

उत्तरी सेमेटिक लिपि

भाषा-विज्ञान में सेमेटिक और हेमेटिक दो शब्द आते हैं, जो दो विशिष्ट भाषा-परिव
को व्यक्त करने के हेतु विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे सेमेटिक भाषा-परिवार, हेमेटि
भाषा-परिवार। सेमेटिक शब्द लिपि के साथ भी जुड़ा है।

कहा जाता है, हजरत नोह (नूह) के दो पुत्र थे। बड़े का नाम सेम और छोटे
हेम था। परम्परया सेम को दक्षिण-पश्चिम एशिया के निवासियों का आदि पुरुष मा
जाता है। उस भू-भाग में प्रमुख भाषा-परिवार सेम के नाम पर सेमेटिक कहलाय
भाषा की तरह वहाँ प्रयुक्त प्राचीन-लिपि के साथ भी यह विशेषण जुड़ा। सेमेटिक
हिन्दी में सामी अनुवाद किया गया है। सेमेटिक भाषा-परिवार के दक्षिणी क्षेत्र में
लिपि प्रयुक्त होती थी, उसे दक्षिणी सेमेटिक लिपि कहते हैं।

बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी का उद्‌
हुआ। उनमें बुलर का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। वेबर, बेनफे, वेस्टरगा
ह्विटनी, जोनसन, विलियम जोन्स आदि विद्वानों के अभिमत भी बहुत कम भेद के सा
लगभग इसी प्रकार के हैं। बुलर के मन्तव्यानुसार ईसवी सन् से लगभग आठ सौ वर्ष पू
सेमेटिक अक्षरों का भारत में प्रवेश हुआ।[1]

फिनिशियन और ब्राह्मी

उत्तरी सेमेटिक लिपि की एक मुख्य शाखा फिनिशियन थी। फिनिशिया (देश)
प्रचलित होने के कारण यह फिनिशियन कहलाई। प्राचीन काल में एशिया के उत्त
पश्चिम में स्थित भू-भाग (सीरिया) फिनिशिया कहा जाता था। फिनिशिया प्राचीन का
से ही शिक्षा, सभ्यता, कला-कौशल व व्यापार आदि में बहुत समुन्नत था। भारतीय लो
व्यापारार्थ फिनिशिया आते-जाते थे। उन विद्वानों के अनुसार तब तक भारत में लेख
कला का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था; अतः पारस्परिक व्यवहार में सुविधा रहे, इस हेतु उ
फिनिशियन लिपि का अक्षर सीखना आवश्यक लगा। उन्होंने वैसा किया। उनकी कठिना
दूर हो गयी। उन व्यापारियों के साथ वे फिनिशियन अक्षर भारत आये। वे अक्ष

---

1. Indian Palaeography, P. 17

ब्राह्मणों के द्वारा क्रमशः परिवर्तित, परिष्कृत और परिवर्द्धित होकर एक विशिष्ट
में परिणत हो गये। संस्कृत तथा प्राकृत के लिखने में सरलता से प्रयुक्त होने लगे
द्वारा नूतन रूप दिये जाने के कारण सम्भवतः इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा।
विद्वान् ब्राह्मी के फिनिशियन से निकलने के पक्ष में हैं।

नई स्थापना

डा० राजबली पाण्डेय ने एक नई स्थापना की है। उन्होंने फिनिशिया
मूलतः भारतीय बताया है। उनके अनुसार भारत से चल कर कुछ लोग फिनिशि
गये थे। वे जाते समय अपनी ब्राह्मी लिपि भी साथ लेते गये। वह लिपि वह
लिपियों और स्थितियों से प्रभावित होती हुई फिनिशियन के रूप में परिवर्तित हो
यही कारण है कि फिनिशियन और ब्राह्मी में सादृश्य प्राप्त होता है। डा० पा
ऋग्वेद ६-५१, १४; ६१, १ के प्रमाणों से इस तथ्य को सिद्ध करने का प्रयास किया

डा० पाण्डेय उच्चकोटि के विद्वान् हैं। तर्क और युक्ति से उन्होंने प्रस्तुत सन्दर्भ
नई स्थापना करने का प्रयत्न किया है, वह निःसन्देह लिपि-विज्ञान के क्षेत्र में एक दिशा-
है, पर, भारतवासी फिनिशिया गये, अपनी लिपि साथ ले गये, उनकी अर्थात् ब्राह्मी-
का ही विकास फिनिशियन लिपि है, इत्यादि तथ्य बहुत महत्त्व के हैं। उनके लिए
ठोस प्रमाण चाहिए, केवल शास्त्रीय प्रमाण पर्याप्त नहीं है।

दक्षिणी सेमेटिक और ब्राह्मी

कुछ विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि ब्राह्मी का विकास दक्षिणी सेमेटिक लिपि से
है। ऐसा मानने वालों में टेलर, सेस आदि के नाम मुख्य हैं।

कुछ विद्वान् ब्राह्मी-लिपि का उद्भव दक्षिणी सेमेटिक की शाखा अरबी लिपि से मान
हैं। पर, वस्तुतः दक्षिणी सेमेटिक लिपि और उसकी शाखा-लिपियों से ब्राह्मी का साद
नहीं है। अरबवासियों का भारतीयों के साथ पुराना सम्बन्ध रहा है केवल इस आधा
पर अरबी से ब्राह्मी के उद्भव की कल्पना करना संगत नहीं है। ऐतिहासिक साक्ष्य है
अरबवासियों और भारतीयों का सम्पर्क इतना पुराना नहीं है, जिससे ब्राह्मी लिपि के अर
लिपि से निकलने की कल्पना की जा सके, जो सम्राट् अशोक के समय एक समृद्ध लिपि थी।

डा० राइस डेविड्स

डा० राइस डेविड्स ने एक ऐसी लिपि की परिकल्पना की है, जो सेमेटिक अक्षरों
उद्भव के पूर्व ही मुक्ताकार शब्दों की घाटी में व्यवहृत थी। डा० राइस डेविड्स के अनुसार

ब्राह्मी का सीधा सम्बन्ध उस प्राक्तन लिपि से है, जो सेमेटिक लिपियों की भी जनयित्री थी। इस अभिमत के समक्ष बहुत से ऐसे स्पष्ट प्रश्न-चिह्न हैं, जो असमाधेय प्रतीत होते हैं; अतः इस पर ऊहापोह संगत नहीं लगता।

भारत : ब्राह्मी का उत्पत्ति-स्थान

कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् यह नहीं मानते कि ब्राह्मी किसी वैदेशिक लिपि से उद्भूत हुई। उनका मन्तव्य है कि ब्राह्मी का उत्पत्ति-स्थान भारतवर्ष है। एडवर्ड थामस, गोल्ड स्टूकर, राजेन्द्रलाल मित्र, लासेन, डासन, कनिंघम आदि के नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस विचारधारा के कतिपय विद्वानों के अनुसार प्राचीन काल में भारतवर्ष में आर्यभाषी जनता द्वारा किसी चित्र-लिपि का प्रयोग किया जाता था। सम्भवतः उसी से ब्राह्मी का प्रादुर्भाव हुआ।

बूलर ने इसका विरोध किया था। उनका कहना था कि भारत में जब कोई प्राचीन चित्र लिपि मिलती ही नहीं, तब यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्मी का चित्र-लिपि से विकास हुआ। जब बूलर ने यह मत व्यक्त किया था, तब तक मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा का उत्खनन नहीं हो पाया था। इस उत्खनन के परिणाम-स्वरूप ऐसे प्रश्न और शंकाएं स्वयं समाहित हो जाती हैं।

डा० चटर्जी का विचार

भारत के महान् भाषा-विज्ञानवेत्ता डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचार इस सन्दर्भ में अनेक दृष्टियों से मननीय हैं। उन्हें अविकल रूप में यहां उद्धृत किया जाता है : "भारत की जो लिपियां अभी तक पढ़ी जा सकी हैं, उनमें ब्राह्मी-लिपि सबसे प्राचीन है। यही भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित प्राचीनतम लिपि है। हमारी हिन्दू-सभ्यता का इतिहास बहुत प्राचीन है। पुराण ईसा पूर्व बहुत हजार वर्षों की बात बतलाते हैं, लेकिन भारतवर्ष में ई० पू० ३०० के पूर्व की आर्य-भाषा में रचित कोई लेख अभी तक नहीं मिला है और न पढ़ा हो गया है। मौर्य युग की ब्राह्मी-लिपि को ही वर्तमान क्षेत्र में आधुनिक भारतीय लिपियों में आदि-लिपि कहना पड़ता है। ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति के बारे में मतभेद है। अब तक करीब सभी समझते थे कि यह फिनिशीय अक्षरों (जो ई० पू० १००० के पहले ही सीरिया देश के Phoenicia फिनिशिया में प्रचलित सेमीय परिवार की फिनिशीय भाषा के आधार पर बने), से उत्पन्न हुई; या तो दक्षिण-अरब के रास्ते, नहीं तो ईरान की खाड़ी के रास्ते, द्राविड़ जाति के वणिकों की मार्फत ये अक्षर ई० पू० ८००-६०० के लगभग भारत में लाये गये और बाद में ब्राह्मणों के द्वारा परिवर्तित और परिवर्धित होकर इस अक्षरमाला

(ब्राह्मी) की सम्पूर्णता साधित हुई। कोई-कोई फिनिशीय अक्षरों से ब्राह्मी अक्षरों की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते थे। वे अनुमान करते थे कि भारतवर्ष की आर्यभाषी जनता द्वारा सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप से, किसी प्रकार की मौलिक चित्र-लिपि से, ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई है, सम्प्रति मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में मिली सैकड़ों मुद्रालिपियों से एक नया मत प्रतिपादित हो रहा है कि प्राग्-आर्य युग की चित्र-लिपि का विकास ही ब्राह्मी-लिपि है। जो कुछ भी हो, यह बात ठीक है कि ई० पू० १००० के लगभग, अशोक आदि मौर्य सम्राटों के काल में व्यवहृत हमारी प्राप्त ब्राह्मी-लिपि की प्रतिष्ठा का काल माना जा सकता है।"[1]

डा० चटर्जी ने कई विचारधाराओं का नवनीत उपस्थित करते हुए यहाँ जो संकेत किया है, प्रस्तुत प्रकरण के उपसंहार में समीक्षात्मक विवेचन के सन्दर्भ में वह उपयोगी होगा।

भारत में लिपि-कला

ऋग्वेद प्रभृति वेद

भारतीय वाङ्मय में प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय वाङ्मय ही नहीं, भारोपीय भाषा परिवार के समस्त उपलब्ध साहित्य में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका असाधारण महत्व है। ऋग्वेद में यत्र-तत्र इस प्रकार के संकेत ढूंढे जा सकते हैं, जो लेखन-परम्परा के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, एक प्रयोग है—'सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः'। यहाँ आठ कानों वाली हजार गौएं देने का उल्लेख है। अष्टकर्ण्य का अभिप्राय उन गौओं से है, जिनके कानों पर किसी कारण से, जो धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध हो सकता था अथवा किसी शुभ फल का द्योतक हो सकता था, आठ का अंक लिखा जाता रहा होगा। वैसी गौओं को अष्टकर्णी कहा जाता होगा। आठ का अंक लिखने का ज्ञान होने का स्पष्ट आशय यह है कि ऋग्वेद के काल में लेखन-परम्परा या लिपि-कला विकसित रूप में थी।

ऋग्वेद में गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दों के नाम प्राप्त होते हैं। छन्दों के नाम प्राप्त होने का अर्थ है, वर्णों या मात्राओं की एक निश्चित संख्या-बद्ध पंक्ति-सूचक रचना, जिससे लिपि-ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध होता है।

वाजसनेयी संहिता अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद संहिता में इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे लिपि के अस्तित्व का सूचन होता है। कृष्ण यजुर्वेद की काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय संहिता में कई छन्दों का उल्लेख है तथा उनके पादों के वर्णों की संख्या

---

१. भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं, पृ० १७०-७१

तक गिनाई गयी है। अथर्ववेद में भी इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं, जिनमें छन्दों की संख्या तक का उल्लेख है। वहां एक स्थान पर छन्दों की ग्यारह संख्याएं सूचित की गयी हैं।

उपनिषद् एवं ब्राह्मण ग्रन्थ

छान्दोग्योपनिषद् में अकार व ईकार, उकार एवं एकार संज्ञाओं तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण, स्वर, मात्रा व बल की चर्चा है। ऐतरेय ब्राह्मण में ओं को अकार, उकार तथा मकार के संयोग से निष्पन्न कहा है। शतपथ ब्राह्मण में एकवचन, बहुवचन, तीन लिंग आदि का विवेचन है। पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी ऐसी सूचनाएं प्राप्त होती हैं, जिनसे लेखन-कला का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ये ग्रन्थ निरुक्तकार यास्क और अष्टाध्यायी-कार पाणिनि से पूर्ववर्ती माने जाते हैं। इससे अनुमित होता है कि वैदिक काल, उपनिषद्-काल और ब्राह्मण-काल में भारतवर्ष में लिपि-कला प्रचलित थी।

तत्परक इतर वाङ्मय

रामायण और महाभारत बहुत प्राचीन माने जाते हैं। फिर भी उन्हें यदि उतना प्राचीन न माना जाये तो कम-से-कम ई० पू० ४००-५०० तक तो उनका अस्तित्व सम्पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। उनमें भी लिपि-कला सूचक उल्लेख हैं।

संस्कृत-व्याकरण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ अष्टाध्यायी है। उसके रचयिता पाणिनि थे। गोल्डस्टुकर ने अष्टाध्यायी का रचना-काल बुद्ध से पूर्व माना है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने उसका समय ई० पू० ४००-४३० स्वीकार किया है। उन्होंने पाणिनि-कालीन भारत नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय पर भी प्रकाश डाला है, जो पठनीय है। लिपि, लिपिकर, उन्हीं के परिवर्तित रूप लिवि, लिविकर आदि का अष्टाध्यायी में उल्लेख आया है। वहां यवनानी शब्द बनाने के सम्बन्ध में भी नियमोल्लेख है। वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलि ने यवनानी का तात्पर्य यवनों की लिपि बतलाया है। ग्रन्थ आदि शब्द भी वहां आये हैं। इन सबसे पाणिनि के समय में भारत में लिपि-ज्ञान था, यह सूचित होता है।

प्रो० मैक्समूलर ने पाणिनि का समय ई० पू० चार सौ वर्ष माना है। उन्होंने लिखा है कि अष्टाध्यायी में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है, जिससे लिपि-ज्ञान का अस्तित्व सूचित होता हो। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् इस सम्बन्ध में सब स्पष्ट हो गया है। वस्तुतः प्रो० मैक्समूलर की उक्त धारणा भ्रान्त थी। सम्भवतः अष्टाध्यायी का इस दृष्टिकोण से वे सूक्ष्म अनुशीलन न कर पाये हों।

भाषाओं में तमिल सबसे प्राचीन भाषा है। उनके कथन का सार है कि तमिल में कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग आदि वर्गों में केवल पहले और पांचवें वर्णों का ही उच्चारण होता है अर्थात् बीच के वर्णों की ध्वनियां तमिल में अनुच्चारित रहती हैं। ब्राह्मी में वर्गों के पांचों वर्ण हैं। यदि ब्राह्मी का उद्भव द्रविड़ों से होता, तो उसमें तमिल का अनुसरण अवश्यम्भावी था, जो नहीं मिलता।

डा० भोलानाथ तिवारी ने इसकी आलोचना करते हुए जो लिखा है, प्रस्तुत विषय में अत्यन्त उपयोगी है। वे लिखते हैं : "किसी ठोस आधार के अभाव में यह कहना तो सचमुच ही सम्भव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल आविष्कर्ता द्रविड़ ही थे, पर पाण्डेयजी के तर्क भी बहुत युक्तिसंगत नहीं दृष्टिगत होते। यह सम्भव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो, पर, यह भी बहुत से विद्वान् मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़ भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में सम्भवतः आर्यों ने वहां पहुंचकर उन्हें मार भगाया और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली।............पाण्डेयजी की दूसरी आपत्ति तमिल से ब्राह्मी में कम ध्वनि होने के सम्बन्ध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उसमें परिवर्द्धन कर लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत सम्भव है और यह भी असम्भव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय-समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण-लिपि से पूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्त्वतः असम्भव न होकर बहुत सम्भव तथा स्वाभाविक है।"[1]

क्या आर्य जाति के लोग वस्तुतः भारत से बाहर के थे ? क्या द्रविड़ जाति के लोग ही भारत के मूल निवासी थे ? क्या मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से उद्घाटित हजारों वर्ष पूर्व की संस्कृति द्रविड़ संस्कृति थी ? क्या वहां से प्राप्त चित्र-लिपि-मूलक कृतियाँ भारत के मूल निवासियों द्वारा प्रयुक्त किसी लेखन-क्रम की द्योतक है ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिन पर सूक्ष्म परिशीलन और गवेषणा की अब भी बहुत आवश्यकता है। यदि विद्वानों का अनवरत प्रयत्न रहा, तो हो सकता है, कुछ ऐसे नूतन तथ्य प्रकाश में आयें, जिनसे अब तक जो अनबूझ हैं, ऐसे प्रश्न समाधान पा सकें, नया आलोक प्रकट हो सके। इसके अतिरिक्त और क्या आशा की जा सकती है।

---

१ भाषा विज्ञान, पृ० ५०२

महामहोपाध्याय डा० ओझा

महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिपि-विद्या के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने भारत की प्राचीन लिपियों पर महत्त्वपूर्ण गवेषणा-कार्य किया। इस सम्बन्ध में प्राचीन लिपि-माला उनकी बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है। ब्राह्मी-लिपि के सम्बन्ध में डा० ओझा लिखते हैं : "जितने प्रमाण मिले हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उसके आरम्भिक विकास का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी-लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस वर्णक्रम ने यह भिन्न-भिन्न परिवर्तनों के बाद पाया। ...निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहाँ तक मिलते हैं, वहाँ तक ब्राह्मी-लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।"[1]

बहुत अन्वेषण-अनुशीलन के पश्चात् डा० ओझा ने जो निष्कर्ष निकाला, उसके अनुसार ब्राह्मी-लिपि और फिनिशियन लिपि का केवल एक ही अक्षर (ब्राह्मी का ज और फिनिशियन का ज़िन) मिलता है। इतने से आधार पर किन्हीं दो लिपियों की परस्पर सम्बद्धता या किसी एक को दूसरी का उद्गम मानना कैसे संगत हो सकता है? आधार बहुत साधारण तथा नगण्य और उस पर निर्णय इतना बड़ा, कैसे संगत हो सकता है। डा० ओझा निःसन्देह अपने विषय के अधिकारी विद्वान थे। उन्होंने इस विषय पर अनवरत काम किया। उनके निष्कर्ष उपेक्ष्य नहीं माने जा सकते। उन पर और चिन्तन तथा अनुशीलन किया जाना चाहिए।

अशोक के पूर्ववर्ती दो शिलालेख

सम्राट् अशोक के ही शिलालेख प्राचीन भारत में व्यवहृत लिपि के प्राचीनतम मुहत् प्रतीक हैं, पर, छोटे-छोटे दो शिलालेख और प्राप्त हुए हैं, जिनमें एक राजस्थान में अजमेर जिले के अन्तर्गत बड़ली (बर्ली) नामक गांव में है तथा दूसरा नेपाल की तराई में पिप्रावा नामक स्थान में। यद्यपि इनमें सामग्री बहुत कम है, पर, जो है, ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक के अभिलेखों से भी प्राचीन है; अतः प्राचीन लिपि के सन्दर्भ में उनके आधार पर कुछ और सोचने का, थोड़ा ही सही, अवकाश मिलता है।

डा० ओझा ने उनके सम्बन्ध में लिखा है : "पहला एक स्तम्भ पर खुदे हुए लेख का

---

१. प्राचीन लिपिमाला

टुकड़ा है जिसकी पहली पंक्ति में 'वीर (1) य भगव (त)' और दूसरी में 'चतुरासिति व (स) खुदा है। इस लेख का ८४ वां वर्ष जैनों के अन्तिम तीर्थंकर वीर (महावीर) के निर्वाण संवत् का ८४वां वर्ष होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो यह लेख ई० पू० ५२७ - ८८ = ४४३ का होगा। इसकी लिपि अशोक के लेखों से पहले की प्रतीत होती है। इसमें 'वीराय' का 'वी' अक्षर है। उक्त 'वी' में जो 'ई' की मात्रा का चिह्न है, वह न तो अशोक के लेखों में और न उनसे पीछे के किसी लेख में मिलता है, अतएव यह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिए, जिसका व्यवहार अशोक के समय तक मिट गया होगा और उसके स्थान में नया चिह्न व्यवहृत होने लग गया होगा। दूसरे अर्थात् पिप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिल कर उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव में यह बुद्ध के निर्वाण-काल अर्थात् ई० पू० ४८७ के कुछ ही पीछे का होना चाहिये। इन शिलालेखों से प्रकट है कि ई० पू० की पांचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात नहीं थी।''[1]

डा० ओझा ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनके सन्दर्भ में सिन्धु घाटी में मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में निकली चित्र-लिपि की ओर पुनः हमारा ध्यान जाता है। यद्यपि उस चित्र-लिपि का अब तक इतना विश्लेषण नहीं हो सका है, जिस पर कहा जा सके कि ब्राह्मी-लिपि उसी का विकसित रूप है, पर, इस प्रकार की सम्भावना तो बलवत्तर होती ही है।

उपसंहार

एक प्रश्न-चिह्न ?

विद्वानों द्वारा किये गए वैचारिक ऊहापोह और मत-स्थापन के वैविध्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत विषय पर निश्चित भाषा में कुछ कहा जा सके, यह सम्भव नहीं है। पर, कुछ पहलू हैं, जिन पर कुछ विचार करना है, जिनमें एक यह है, जो एक प्रश्न-चिह्न के रूप में विद्यमान है।

ब्राह्मी-लिपि के स्पष्ट प्राचीनतम उदाहरण अशोक के शिलालेखों के रूप में प्राप्त हैं। बड़ली (बर्ली) और पिप्रावा के जो छोटे छोटे अभिलेख मिले हैं, वे लिपि की दृष्टि से अधिक और स्पष्ट प्रकाशक नहीं हैं; अतः इस प्रकार कहना यथार्थ से दूर नहीं होगा कि अशोक के शिलालेखों से पूर्व का कोई ठोस — कालनिर्णय आधार नहीं है, जो ब्राह्मी-लिपि

1. प्राचीन लिपिमाला, पृ० २, ३

का सूचक हो। यदि ब्राह्मी-लिपि बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रचलित रही हो, तो फिर ऐसा क्यों है कि अशोक से पूर्व का कोई भी शिलालेख, गुहालेख, स्तम्भ लेख आदि नहीं मिलता, जो ब्राह्मी या और किसी लिपि का सूचक हो। इनके अतिरिक्त और भी कोई ऐसी वस्तु नहीं मिली, जिस पर कुछ लिखा हो।

धार्मिक ग्रन्थों के लिए तो कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में उन्हें कण्ठस्थ रखने की परम्परा थी, इसलिए वे लिपि बद्ध नहीं किये गये; क्योंकि वैसा करना आवश्यक नहीं समझा गया। ऐसी भी मान्यता रही हो कि शास्त्र-ज्ञान लेखन द्वारा सर्व-सुलभ हो जाने से कहीं अनाधिकारी के पास न चला जाये, इसलिए सम्भवतः शास्त्र-लेखन वर्जित रहा हो। पर, धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी अनेक स्थितियाँ सम्भाव्य थीं, जहाँ लिपि-प्रयोग हो सकता था। ताम्रपत्र, सुवर्णपत्र, रजतपत्र, सिक्के, मुद्राएं आदि कुछ भी तो नहीं मिलते। पुनः-पुनः यह प्रश्न उठता है, ऐसा कैसे हुआ?

एक कल्पना

भारतवर्ष में एक प्रवृत्ति रही है, बहुत बड़े विद्वान्, लेखक या साहित्यकार अपनी रचना में अपना नाम नहीं देते रहे हैं, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक क्षेत्र में एक दुःखद परिणाम देखा जा सकता है। उनके ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जो कर्ता और काल आदि की दृष्टि से सन्दिग्ध हैं। केवल कल्पना द्वारा अथवा इधर-उधर से बटोरे हुए अस्त-व्यस्त आधारों द्वारा रचयिता और रचना-काल का कुछ अनुमान बांधा जाता है। ऐसा करने के पीछे विद्वानों का अभिप्राय अपनी चर्चा से दूर रहना था; क्योंकि वे आत्म-प्रचार, आत्म-श्लाघा या लोकैषणा से सदा बचे रहना चाहते थे। केवल इतनी-सी उनकी भावना रहा करती, वे एक उत्कृष्ट तथा उपादेय कृति का सर्जन कर सकें।

इस सन्दर्भ में क्या यह कल्पना करना अतिरंजित होगा कि हो सकता है, विद्वानों के अनुसरण पर प्राचीन काल के सम्राटों, शासकों और विशिष्ट जनों की भी सम्भवतः यह प्रवृत्ति रही हो, वे उत्तमोत्तम कार्य तो करें, पर, ऐसा कोई मूर्त या स्थूल प्रतीक खड़ा न करें, जो उनकी प्रशस्ति और कीर्ति को उज्जीवित बनाये रख सके।

एक अन्य पहलू भी विचारणीय है, शिलालेख आदि केवल प्रशस्तिमूलक ही हों, ऐसा नहीं है। वे घटनामूलक, सत्प्रचारमूलक भी तो हो सकते थे। वैसा होने में क्या बाधा थी? प्रश्न यथार्थ की कोटि से बाहर का नहीं है, पर, वास्तविक समाधान पकड़ में नहीं आता।

डा० चटर्जी आदि विद्वानों के अनुसार लगभग एक हजार वर्ष ई० पू० ब्राह्मी अपने विकसित रूप में थी। डा० ओझा भी प्राचीन काल से ही इसकी परिपक्वता और व्यवहारो-पयोगिता की पुष्टि करते हैं।

ऋग्वेद के लिपि-सूचक संकेतों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि यदि विलम्बित से विलम्बित भी मानें तो ऋग्वेद का अन्तिम मण्डल ई० पू० १२०० से पश्चाद्वर्ती नहीं है, अन्य मण्डल तो और भी प्राचीन हैं। इस प्रकार ई० पू० १२०० से पहले ब्राह्मी-लिपि का अस्तित्व होना चाहिए।

एक ओर यह सब, दूसरी ओर अशोक के अभिलेखों के पूर्व वैसा कुछ न मिलना, जिससे लेखन सिद्ध हो, कुछ निराशा उत्पन्न करता है।

एक और कल्पना

कहीं ऐसा तो नहीं हुआ हो, ब्राह्मी का पूर्ववर्ती कोई रूप रहा हो, जो उतना समृद्ध और व्यवहार्य न हो, जिसका अभिलेखों में समीचीनता से प्रयोग हो सके। फिनिशिया आदि पश्चिम एशिया के देशों के लोगों के साथ भारतवासियों का व्यावसायिक प्रयोजन से जो सम्पर्क बढ़ा, तब यह स्वाभाविक था, एक-दूसरे की विशेषताओं का आदान-प्रदान हो। उस प्रसंग में भारतीयों ने अपनी लिपि को कुछ परिष्कृत किया हो। क्योंकि उन्हें वैसे वैदेशिक लोगों के साथ व्यवहार चलाना था, जिनकी अपनी लिपि थी। उस परिष्कार के परिणाम-स्वरूप उन (भारतीयों) की लिपि विकसित हुई हो। शताब्दियों की अवधि बीतने पर उसका और अधिक सम्मार्जन हुआ हो और वह शिलालेख आदि में प्रयोग-योग्य हो गयी हो।

भारत के पुरातन कला-कौशल की प्रशस्ति के पक्षपाती इस कल्पना पर अन्यथा भी सोच सकते हैं। सम्भवतः ऐसा भी उनके मन में आ सकता है, यह अधुनातन पाश्चात्य मनोवृत्ति का द्योतक है। किन्तु, प्रस्तुत प्रयोजन ऐसा नहीं है। जब तक कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं होता, उस तक पहुँचने के प्रयत्न में कल्पनाएं करनी ही होती हैं, जो अनेक प्रकार की हो सकती हैं; अतः प्रस्तुत उल्लेख केवल कल्पना मात्र है। विद्वज्जन इस पक्ष पर भी विचार करें।

केवल इतने मात्र से आज के अनुसन्धान-प्रधान युग में काम नहीं चल सकता कि हमारे ग्रन्थों में ब्राह्मी की प्रशस्ति प्राप्त है। वह प्राचीन काल से परम समृद्ध रही है। अनुसंधान और गवेषणा का पथ अवरोध नहीं सहता। वह सदा गतिशील रहता है। वह इयत्ता और इदंमित्थता के बद्ध बन्धन में जकड़ा नहीं रहता। वह नवनवोन्मेषशाली होता है; इसलिए केवल प्रशस्ति की भाषा (Superlative Language) में ही नहीं कहना होगा, न्याय और युक्ति द्वारा प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत करने होंगे। ब्राह्मी-लिपि के प्रसंग में इन्हीं कुछ कर्मनिष्ठाओं की मांग है। आशा है, अनुसन्धित्सु जन इसे पूरा करने में संलग्न होंगे। यह किसी एक का नहीं, सब का काम है। वे ज्यों-ज्यों गम्भीर परिशीलन और गवेषणा

मे आगे बढ़ेंगे और नूतन तथ्य प्रकाश में आयेंगे, ऐसी आशा करना अनुचित नहीं होगा।

ब्राह्मी से विभिन्न लिपियों का विकास

ब्राह्मी के अक्षर बहुत सरल थे। उनके लिखने में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा थी। उनमें मात्राओं की अनावश्यक बहुलता नहीं थी। अक्षरों की रचना ग्रीक या लैटिन कैपिटल लैटर्स (Capital Letters) जैसी थी। निम्नांकित अक्षरों के उदाहरण से यह भली-भाँति प्रकट होता है :

ब्राह्मी	देवनागरी	ब्राह्मी	देवनागरी
Ꭶ𐤊	अ	⊙	थ
∴	इ	⊃	द
L	उ	D	ध
◁	ए	⊥	न
Z	ओ	☐	ब
+	क	𐌢	म
d	च	⊥	य
ф	छ	ℓ/⋀	श
h	त	⌒	ह

व्यंजनों से मिलने वाले स्वरों के विशेष चिह्न व्यंजनों के मस्तक, पैर, शरीर आदि पर लगाये जाते थे। इस पद्धति का प्रभाव आज भी भारतीय अक्षरों पर प्राप्त होता है।

ब्राह्मी-लिपि के अक्षर जब तक प्रस्तर-शिलाओं पर छेनी से उत्कीर्ण किये जाते रहे, तब तक कोई परिवर्तन नहीं आया; क्योंकि यह कार्य बहुत धीमी गति से होता है। यह शीघ्रता का काम नहीं है।

शिलालेखों के पश्चात् वह युग आता है, जब अक्षर भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाने लगे। शिलालेखों की तुलना में इन पर लिखे जाने की गति में अन्तर आया। कीलक या लेखनी छेनी से तेज चलती है। गति में शीघ्रता या तीव्रता आने के कारण अक्षरों का रूप कुछ परिवर्तित होने लगा। ब्राह्मी-लिपि का आदि रूप अधिकांशतः सीधी आकृति का था। लेखन में प्रयुक्त होने के परिणाम-स्वरूप वह वर्तुल होने लगा। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के विभिन्न प्रकार की प्रादेशिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से ब्राह्मी की परिवर्तित होती हुई अक्षरमाला क्रमशः पृथक्-पृथक् आकृतियाँ ग्रहण कर लेने लगी। यदि आज विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित होती अक्षरमालाओं की ब्राह्मी अक्षरों से तुलना की जाये, तो यह स्पष्ट

प्राचीन भारत की
ब्राह्मी-लिपि
कुषाण लिपि
गुप्त लिपि
दक्षिण भारत की लिपि (पट्टे भू० नु)
पल्लव
ग्रन्थ
मलयालम
तमिल
तेलुगु
कानडी ब्रह्म, कम्बोज और श्याम के अक्षर
मध्य एशिया
प्राचीन तुर्की तथा खोतानी भाषा के अक्षर
उत्तर-पश्चिम भारत
(शारदा)
(पूर्व प्रभाव) तिब्बती
कश्मीरी, गुरुमुखी
मध्यदेश और राजस्थान
गुर्जर (नागर)
देवनागरी, गुजराती, कैथी
पूर्व भारत
(कुटिल)
बंगला, आसामी, मैथिली, नेपाली, उड़िया
यवद्वीप और बलि द्वीप आदि के अक्षर
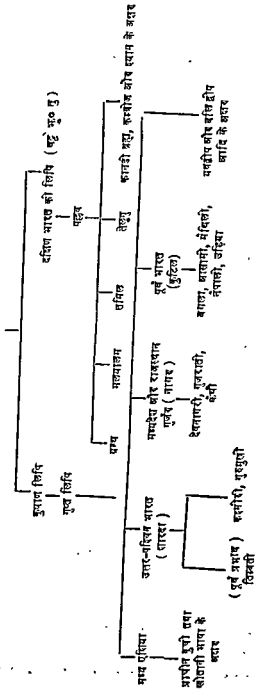
ब्राह्मी-लिपि के विकास के मानचित्र से ज्ञात होता है कि वह भारत से बाहर भी प्रसृत हुई। अन्य लिपियों पर उसका प्रभाव भी पड़ा। प्राचीन कुची, खोतानी, यव-द्वीप तथा बलिद्वीप आदि की भाषाओं के अक्षरों की निष्पति और विकास में वह सहायक हुई। गान्धार देश, जिसमें पेशावर, रावलपिण्डी तथा काबुल आदि का क्षेत्र रहा है, में भी यह लिपि प्रचलित थी। वहां के पुराने ध्वंसावशेषों में ऐसे अनेक सिक्के मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों में अक्षर खुदे हुए हैं। सारांश यह है कि एक ऐसा समय रहा है, जब ब्राह्मी भारत की राष्ट्रीय लिपि थी तथा उसने आस-पास के देशों की लिपियों को भी प्रभावित किया।

खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी प्रयोग

ब्राह्मी के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि में भी कतिपय शिलालेख हैं; अतः उस लिपि पर संक्षेप में विचार करना प्रसंगोपात्त है। खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम उदाहरण अशोक के पश्चिमोत्तर के—शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के शिलालेख हैं। कांगड़ा आदि के भी कुछ शिलालेख हैं, जिनमें खरोष्ठी का प्रयोग हुआ है। इस लिपि का प्रयोग वैदेशिक राजाओं के अभिलेखों तथा सिक्कों आदि में भी होता रहा है। इस लिपि के प्रयोग का समय लगभग ई० पू० चौथी शती से ईस्वी तीसरी शताब्दी तक का है अर्थात् सात शताब्दियों तक इसका प्रयोग होता रहा। खरोष्ठी इण्डो-बैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, बैक्ट्रो-पालि, बैक्ट्रो-आर्यन तथा काबुलियन आदि नामों से भी अभिहित की गयी है।

जैन वाङ्मय

ब्राह्मी लिपि के विवेचन के प्रसंग में जैन ग्रन्थों के जो अंश उद्धृत किये गये हैं, उनमें से कुछ में ब्राह्मी के साथ-साथ खरोष्ठी का भी उल्लेख है, समवायांग सूत्र में जिन अठारह लिपियों का उल्लेख है, उनमें चौथे स्थान पर खरोष्ठिका नाम आया है, जो खरोष्ठी का पर्यायवाची है। प्रज्ञापना सूत्र के उद्धरण में भी चौथे स्थान पर खरोष्ठी का उल्लेख है। विशेषावश्यक टीका तथा कल्पसूत्र में जिस प्रकार ब्राह्मी का उल्लेख नहीं है, उसी प्रकार खरोष्ठी का भी कोई उल्लेख नहीं है।

नामकरण : हेतु

इस लिपि का खरोष्ठी नाम पड़ा, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार से कल्पनाएं कर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस लिपि के नाम के शाब्दिक आधार के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विश्लेषण किया है। उनके अनुसार खर गधा और ओष्ठ

दो शब्द मिले हुए हैं। खर का अर्थ गधा और उष्ट्र का अर्थ ऊंट होता है। इसके अक्षर गधे और ऊंट की तरह आकार में कुछ बेढंगे थे; अतः यह खरोष्ट्री कहलाई। खरोष्ठी खरोष्ट्री का ही विकार है।

खर और उष्ट्र के शाब्दिक आधार पर व्याख्या तो हो गयी, पर, इसमें संगति प्रतीत नहीं होती। गधे और ऊंट दोनों के आकार का कोई मेल नहीं है। दोनों के आकार परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। खरोष्ठी के आकार का दोनों (गधे और ऊंट के आकार) के समन्वय से सादृश्य घटित नहीं होता। यदि ऊंट के आकार के बेढंगेपन के साथ मेल बिठाने की बात होती, तो वह किसी तरह सम्भाव्य थी।

डा० प्रजिलुस्की ने भी इस शब्द के आधार पर विचार किया है। उनके अनुसार इसका नाम खरपृष्ठी है। गधे के चमड़े पर लिखे जाते रहने के कारण इसका यह नामकरण हुआ, जो बाद में खरोष्ठी के रूप में परिवर्तित हो गया।

डा० राजबली पाण्डेय ने जो इसकी शाब्दिक व्याख्या की है, उसके अनुसार इसके अधिकांश अक्षर खर (गधे) के ओष्ठ की तरह हैं। इस प्रकार खर और ओष्ठ के मेल से खरोष्ठी कहलाई।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार खरोष्ठी नाम खरोशेथ (Kharosheth) के संस्कृत रूप खरोष्ठ से बना है। खरोशेथ हिब्रू भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ लिखावट है। हिब्रू भाषा से यह शब्द इधर आया है।

चीनी भाषा के विश्वकोश फा-वान-शु-लिन में खरोष्ठ नामक व्यक्ति को इस लिपि का निर्माता कहा है। उसी के नाम पर इस का खरोष्ठी नामकरण हुआ।

कुछ विद्वानों का कहना है कि यह लिपि सीमाप्रान्त के खरोष्ठ संज्ञक अर्ध सभ्य लोगों द्वारा व्यवहृत रही है; इसलिए उनके नामानुरूप इसका नाम खरोष्ठी पड़ गया।

सिलवाँ लेवी के मन्तव्यानुसार काशगर कभी इस लिपि का मुख्य केन्द्र रहा है। चीनी भाषा में काशगर का नाम "किया शु-ता-ले" है। उसका परिवर्तन होते-होते खरोष्ठ हो गया, जिससे खरोष्ठी शब्द बना।

भ्रामक व्युत्पत्ति

कुछ लोग आर्मेइक भाषा के खरोट्ठ शब्द के साथ इसे संयुक्त करते हैं। कभी-कभी भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण ऐसी गड़बड़ी हो जाती है। दो शब्दों की पारस्परिक ध्वनि-समता को देखकर किसी और ही अर्थ के शब्द को अन्य समझ लेना और तत्सदृश किसी अन्यार्थक शब्द

को परिष्कृतता की दृष्टि से उसके स्थान पर रख देना भ्रामक व्युत्पत्ति है। खरोट्ठ के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ, इस प्रकार कहा जाता है। खरोट्ठ को खरोष्ठ में परिवर्तित कर दिया गया और उससे खरोष्ठी बना लिया गया। विभिन्न विद्वानों ने खरोष्ठी के नाम के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अधिकांशतः अपनी-अपनी दृष्टि से सम्भावनात्मक कल्पनाएँ हैं। ऐतिहासिक तथ्य या ठोस प्रमाण जैसा उनके साथ नहीं है।

आर्मेइक भाषा के खरोट्ठ शब्द की भ्रामक व्युत्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है, वह विशेष रूप से विचारणीय है। खरोष्ठी के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में जब आगे विचार करेंगे, तब आर्मेइक का प्रसंग आयेगा, जिससे यह पहलू कुछ स्पष्ट होगा।

खरोष्ठी का उद्भव

डा० राजबली पाण्डेय खरोष्ठी को भारतवर्षोत्पन्न स्वीकार करते हैं। Indian Palaeography (भारतीय प्राचीन शिलालेखों का अध्ययन) नामक पुस्तक में उन्होंने अपने इस मत का प्रतिपादन किया है। उनका मत विशेषतः तार्किक ऊहापोह पर आधृत है। प्रस्तुत विषय को यथार्थतः सिद्ध करने के लिए जैसे प्रमाण चाहिए, नहीं दिखाई देते।

आर्मेइक लिपि में खरोष्ठी की उत्पत्ति

अनेक विद्वान् खरोष्ठी लिपि का उद्भव आर्मेइक लिपि से मानते हैं। उसकी दो शाखाएं थीं—एक फिनिशियन तथा दूसरी आर्मेइक। आर्मेइक लिपि से अनेक लिपियाँ उद्भूत हुईं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेबातेन के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। इनमें नेबातेन से सिनेटिक नामक लिपि का उद्भव हुआ और उससे पुरानी अरबी का। ऐसा माना जाता है कि ई० पूर्व चतुर्थ या पंचम शताब्दी में आर्मेइक लिपि एशिया माइनर से लेकर गान्धार तक अर्थात् लगभग समग्र पश्चिम एशिया में प्रसृत पारसीक साम्राज्य में व्यवहृत थी।

प्राचीन काल से ही भारत का पश्चिम-एशिया के देशों से, विशेषतः ईरान आदि से सम्बन्ध रहा है। ई० पू० पांचवीं शती (५५८-५३०) में ईरान में साइरस नामक बादशाह हुआ, जो एक उग्र विजयाभिलाषी शासक था। गान्धार तक का भू-भाग उसने अधिकृत कर लिया था। तत्पश्चात् ईरान के बादशाह दारा (प्रथम) ने (लगभग ई० पू० ५०० में) भारतवर्ष का सिन्धु नदी तक का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। ऐसा सम्भाव्य प्रतीत होता है, तब इन विजित प्रदेशों में आर्मेइक से विकसित खरोष्ठी का प्रसार हुआ। काल-क्रम से इसमें उत्तरोत्तर विकास होता गया और इसे प्राकृत लिखने योग्य बना लिया गया।

आर्मेइक व खरोष्ठी

प्रो० बूलर लिपि-विज्ञान के विशिष्ट वेत्ता थे। उन्होंने उस पर बहुत काम किया। खरोष्ठी पर भी उनका महत्वपूर्ण कार्य है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो उपलब्धियां प्रस्तुत कीं, वे मननीय हैं। उनके अनुसार आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पूर्ववर्ती है। उन्होंने बताया कि तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में जो शिलालेख प्राप्त हुआ है, उससे सिद्ध होता है कि आर्मेइक लोगों का भारतवासियों से सम्पर्क रहा है। खरोष्ठी लिपि का क्रम दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखे जाने का है। ठीक वैसा ही क्रम आर्मेइक लिपि का है। खरोष्ठी लिपि के ग्यारह अक्षरों की रचना और ध्वनि की आर्मेइक लिपि के अक्षरों से तुलना करते हुए बूलर ने बताया है कि वे परस्पर बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं।

बूलर ने जो हेतु उपस्थित किये हैं, वे खोजपूर्ण हैं, प्रामाणिक हैं। महान् लिपि-विज्ञान-वेत्ता महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी इन विचारों से सहमत हैं। इस युग के प्रमुख लिपि-विज्ञान-वेत्ता डिरिंजर ने भी इसी मत को प्रश्रय दिया है।

ब्राह्मी का प्रभाव

खरोष्ठी आर्मेइक, उससे निःसृत अरबी आदि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। उसका पश्चिमोत्तर भारत के लोगों में प्रचलन हुआ। भारत की राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी थी। खरोष्ठी पर ब्राह्मी का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। फलतः खरोष्ठी ब्राह्मी की तरह बाईं ओर से दाईं ओर लिखी जाने लगी।

डिरिंजर आदि विद्वानों ने कुछ और तथ्यों का भी अनुमान किया है, जो ब्राह्मी के साहचर्य से खरोष्ठी में आये। मूलतः खरोष्ठी में स्वर नहीं थे। ह्रस्व-स्वरांकन-हेतु इसमें अक्षरों के साथ रेखा, वृत्त आदि लगाने का उपक्रम चला, जो ब्राह्मी का प्रभाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार म, ध आदि कुछ वर्ण जो आर्मेइक में मूलतः नहीं थे, वे खरोष्ठी में भी नहीं थे। ब्राह्मी के आधार पर वे खरोष्ठी में बढ़ाये गये।

एक अपरिपूर्ण लिपि

खरोष्ठी पर ब्राह्मी के प्रभाव से यह प्रकट है कि खरोष्ठी लिपि-विज्ञान की दृष्टि से एक परिपूर्ण लिपि नहीं है। लिपि द्योतक है, अक्षरात्मक या वर्णात्मक ध्वनि द्योत्य। परिपूर्ण लिपि में कोई ध्वनि अद्योत्य नहीं होती। खरोष्ठी में वैसा है। ऊपर खरोष्ठी की जिन कमियों की ओर संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त उसमें और भी कमियां हैं। जैसे, उसमें दीर्घ स्वर बिलकुल नहीं हैं। संयुक्त व्यंजनों के द्योतक अक्षर नगण्य से हैं; प्रायः नहीं हैं, ऐसा कहा जाना चाहिए। इसके वर्णों की मूलतः कुल संख्या ३७ है

लिपि का वाचक है। ऐसी ही स्थिति प्रज्ञापना सूत्र के वर्णन के साथ है। वहाँ भी ब्राह्मी के अनन्तर अर्थात् दूसरी संख्या पर यावनी का नाम आया है तथा चौथी संख्या पर खरोष्ठी का। इन तालिकाओं में और भी ऐसी लिपियाँ उल्लिखित हैं, जो नाम से वैदेशिक प्रतीत होती हैं।

अन्य देशों की लिपियों के नामों से यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि लिपियों की जो तालिका समवायांग सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र में है, वह सारी भारतीय लिपियों से सम्बद्ध हो, यह सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता, तो 'यावनी' जैसा शब्द क्यों आता, जो स्पष्ट ही यवनानी लिपि के अर्थ में है?

भगवान् ऋषभ ने पुत्री ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान दिया, उसका यथार्थ अभिप्राय यही हो सकता है कि तब तक जो-जो भारतीय और अभारतीय लिपियाँ प्रचलित थीं, उन सबका ज्ञान उन्होंने कराया। विशेषावश्यक टीका में उल्लिखित लिपियों के नामों में पारसी लिपि का भी समावेश है। यह पारसीक साम्राज्य की लिपि होनी चाहिए, जो उससे सेमिटिक लिपियों की आर्मेइक शाखा में से कोई एक लिपि हो सकती है। कल्पसूत्र में दी गई लिपियों की सूची में दो नाम सुरायाणी और पस्सी वैदेशिक लिपियों से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। पस्सी सम्भवतः पारसी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ललितविस्तर में ६४ लिपियाँ बतलाई गई हैं, उनमें दरद-लिपि, खास्य-लिपि, चीन-लिपि तथा हूण-लिपि के भी नाम हैं। ये लिपियाँ भारत से बाहर की प्रतीत होती हैं।

खरोष्ठी लिपि का मूल उद्गम-स्रोत कोई वैदेशिक लिपि था। भारत के कुछ भाग में कुछ समय तक वैदेशिक शासन रहने के समय इस लिपि को पल्लवन और विस्तार का विशेष अवसर मिला, जो बाद में वैदेशिक शासन की समाप्ति के साथ-साथ कम होता गया। शासक वर्ग की लिपि होने से उनके शासन-काल में उसका समादृत रहना और उनके द्वारा शासित प्रजा में उसका प्रचलित होना स्वाभाविक था। शासन के चले जाने पर भी उसके परिपार्श्व और प्रश्रय में प्रसृत कोई वस्तु तत्काल नहीं मिट जाती। किसी भी प्रचलित परम्परा के मिटने में समय लगता है, जिसके लिए संख्यात्मक दृष्टि से शताब्दियाँ भी अधिक नहीं हैं; अतः पारसीक सम्राटों के शासन के उन्मूलित हो जाने पर भी कुछ समय तक खरोष्ठी का प्रचलन यहाँ अवरुद्ध नहीं हुआ। अन्ततः तो अवरुद्ध हुआ ही, जो निश्चय ही होना था।

★

तीर्थंकर प्रकीर्ण रूप में जो उपदेश करते है, वह अर्थागम है। अर्थात् विभिन्न अर्थों—विषय-वस्तुओं पर, जब-जब प्रसग आते हैं, तीर्थंकर प्ररूपणा करते रहते हैं। उनके प्रमुख शिष्य जो गणधर कहे जाते हैं, तीर्थंकर द्वारा अर्थात्मक दृष्ट्या किये गये उपदेशों का सूत्ररूप में संकलन या संग्रथन करते रहते है। आचार्य भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति में इसी आशय को अग्रांकित शब्दावली मे कहा गया है: "अर्हत् अर्थ का भाषण या व्याख्यान करते हैं। धर्म-शासन के हित के लिए गणधर उनके द्वारा व्याख्यात अर्थ का सूत्र रूप में ग्रथन करते हैं। इस प्रकार सूत्र प्रवृत होता है।"

महावीर के गणधर : आगम-संकलन

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं: १. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६ मण्डित, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकम्पित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।

भगवान् महावीर का श्रमण-संघ नौ गणों में विभक्त था: १. गोदास गण, २. उत्तर-बलिस्सय गण, ३. उद्देह गण, ४. चारण गण, ५. ऊर्ध्ववार्तिक गण, ६. विश्ववादि गण, ७. कामर्धिक गण, ८. मानव गण तथा ९. कोटिक गण।[1]

गणधर : विशेषताएं

गणधर आगम-वाङ्मय का प्रसिद्ध शब्द है। आगमों में मुख्यतया यह दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य गणधर कहे जाते हैं, जो तीर्थंकरों द्वारा अर्थागम के रूप में उपदिष्ट ज्ञान का द्वादश अंगों के रूप में संकलन करते हैं। प्रत्येक गणधर के नियन्त्रण में एक गण होता है, जिसके संयम-जीवितव्य के निर्वाह का गणधर पूरा ध्यान रखते हैं। गणधर का उससे भी अधिक आवश्यक कार्य है, अपने अधीनस्थ गण को आगम-वाचना देना।

तीर्थंकर अर्थ रूप में जो आगमोपदेश करते हैं, उन्हें गणधर शब्द-बद्ध करते हैं। अर्थ की दृष्टि से समस्त आगम-वाङ्मय एक होता है, पर, भिन्न-भिन्न गणधरों द्वारा संग्रथित होने के कारण वह शाब्दिक दृष्टि से सर्वथा एक ही, ऐसा नहीं होता। शाब्दिक अन्तर

---

१. समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था। तं जहा—गोदास गणे, उत्तरबलिस्सय गणे, उद्देह गणे, चारण गणे, उड्डवाइय गणे, विस्सवाइ गणे, कामिड्ढिय गणे, माणव गणे, कोडिय गणे।

—स्थानांग, ९.२६

स्वाभाविक है; अतः भिन्न-भिन्न गणधरों की वाचनाएं शाब्दिक दृष्टि से सदृश नहीं तत्त्वतः उनमें ऐक्य होता है।

गणधर की तीर्थंकर-सापेक्षता

गणधर का जो सीधा अर्थ गण का धारक, अधिपति, वाचनादाता आदि है, व विशेष परम्परा को लिये हुए है। इस शब्द का व्यवहार तीर्थंकर-सापेक्ष है। ती की विद्यमानता में उनके प्रमुख शिष्य गणधर संज्ञा से अभिहित होते हैं। तीर्थं अनन्तर या दो तीर्थंकरों के समय गणधर नहीं होते। इस प्रकार का गणधर का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग है। मात्र अपने शब्दानुगामी साधारण अर्थ में गणधर प्रयोज्य नहीं है।

गणधर का एक विशेष अर्थ

स्थानांग सूत्र की वृत्ति में गणधर की एक विशेष व्याख्या की गयी है। वहां साध्वियों का प्रतिजागरक[1] कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि गणधर का एक यह भी होता था कि वह साध्वीवृन्द को प्रतिजागृत रखने—उन्हें संयम-जीवितव्य में उत्तरो गतिशील रखने में प्रेरक रहे, उनका मार्ग-दर्शन करे। इस व्याख्या से यह प्रतीत होता कि जैन संघ में साध्वियों की प्रगति, अध्यात्म-विकास एवं सुखपूर्वक संयमोतर जीवन-या की ओर सजगता बरती जाती रही है, जो जैन आम्नाय की उद्बुद्ध चेतना का परिचायक है

ग्यारह गणधर : नौ गण

भगवान् महावीर के संघ में गणों और गणधरों की संख्या में जो दो का अन्तर था उसका कारण यह है कि पहले से सातवें तक के गणधर एक-एक गण की व्यवस्था देखते थे पृथक्-पृथक् उसे आगम-वाचना देते थे, पर, आगे चार गणधरों में दो-दो का एक-एक गण था। इसका तात्पर्य यह है कि आठवें और नौवें गण में श्रमण-संख्या कम थी; इसलिए दो-दो गणधरों पर सम्मिलित रूप से एक-एक गण का दायित्व था। तदनुसार अकम्पित और अचलभ्राता के पास आठवें गण का उत्तरदायित्व था तथा मेतार्य और प्रभास के पास नौवें गण का।

महावीर की विद्यमानता : नौ गणधरों का निर्वाण

कल्पसूत्र में कहा गया है : "भगवान् महावीर के सभी ग्यारहों गणधर द्वादशांग-वेत्ता,

१. आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः।

—स्थानांगसूत्र वृत्ति, ४. ३. ३२३

चतुर्दश पूर्वों तथा समस्त गणि-पिटक के धारक थे। राजगृह नगर में मासिक अनशन पूर्वक वे कालगत हुए, सर्वदुःख प्रहीण बने अर्थात् मुक्त हुए। स्थविर इन्द्रभूति (गौतम) तथा स्थविर आर्य सुधर्मा; ये दोनों ही महावीर के सिद्धिगत होने के पश्चात् मुक्त हुए।[1] ज्यों-ज्यों गणधर कालगत होते गये, उनके गण सुधर्मा के गण में अन्तर्भावित होते गये।

द्वादश अंगों के रूप में श्रुत-संकलना

तीर्थंकर सर्वज्ञत्व प्राप्त करने के अनन्तर उपदेश करते हैं। तब उनका ज्ञान सर्वथा स्वाश्रित या आत्म-साक्षात्कृत होता है, जिसे दर्शन की भाषा में पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। सर्वज्ञ होने के बाद भगवान् महावीर ने समस्त जगत् के समग्र प्राणियों के कल्याण तथा श्रेयस् के लिए धर्म-देशनाएं दीं। उनकी धर्म-देशनाओं के सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर क्रम मिलता है। उनके निकटतम सुविनीत अन्तेवासी गौतम, यद्यपि स्वयं भी बहुत बड़े ज्ञानी थे, पर, लोक-कल्याण की भावना से भगवान् महावीर से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। भगवान् उनका उत्तर देते थे। श्रुत का यह प्रवहमान स्रोत एक विपुल ज्ञान-राशि के रूप में परिणत हो गया।

भगवान् महावीर द्वारा अर्द्धमागधी में उपदिष्ट अर्थागम का आर्य सुधर्मा ने सूत्रागम के रूप में जो संग्रथन किया, अंशतः ही सही, द्वादशांगी[2] के रूप में वही प्राप्त है। श्रुत-परम्परा के (महावीर से उत्तरवर्ती) स्रोत का आर्य सुधर्मा से जुड़ने का हेतु यह है कि वे ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी हुए। इसमें कुछ परम्परा-भेद है। भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती श्रमण-परम्परा के अधिनायक आर्य सुधर्मा हुए; इसलिए आगे की सारी परम्परा आर्य सुधर्मा की (धर्म-) अपत्य-परम्परा या (धर्म-) वंश-परम्परा कही जाती है। कल्पसूत्र में लिखा है: "जो आज श्रमण-निर्ग्रन्थ विद्यमान हैं, वे सभी अनगार आर्य सुधर्मा की अपत्य-परम्परा के हैं; क्योंकि और सभी गणधर निरपत्य रूप में निर्वाण को प्राप्त हुए।"[3]

---

1. सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्व-दुक्खप्पहीणा। थेरे इंदभूई थेरे अज्ज सुहम्मे सिद्धिं गए महावीरे पच्छा दोन्नि वि परिनिव्वुया ॥ २०१ ॥

2. बारहवाँ अंग दृष्टिवाद अभी लुप्त है।

3. जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना।

आर्य सुधर्मा : श्रुत-संवाहक परम्परा

कल्पसूत्र में आर्य-सुधर्मा के परिचय में कहा गया है : "काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी आर्य सुधर्मा स्थविर अग्निवैश्यायन गोत्रीय थे।[1] आर्य सुधर्मा का जन्म ई० पू० ६०७ के आस-पास हुआ। उनका पचास वर्ष का जीवन-काल गार्हस्थ्य बीता। तीस वर्ष वे संयोग श्रमण के रूप में रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर गौतम के द्वादशवर्षीय केवल-ज्ञान-काल में वे संघाधिपति रहे। गौतम के निर्वाण के पश्चात् आठ वर्ष तक वे केवल-ज्ञानी के रूप में रहे। इस प्रकार एक सौ वर्ष का उनका आयुष्य होता है। दिगम्बर-परम्परा में उनका केवल ज्ञान-काल दस वर्ष का माना जाता है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में दो वर्ष का अन्तर रहता है।

वर्ण्य विषय यद्यपि यहाँ अर्द्धमागधी आगम वाङ्मय है; अतः ऐतिहासिक प्रसंगों की विशद विवेचना ग्राह्य नहीं है, पर कुछ पहलू ऐसे हैं, जो ज्ञान संवाहकता के स्रोत से जुड़े हैं। उनकी चर्चा छोड़ना समुचित नहीं है। उदाहरणार्थ, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी गौतम थे या सुधर्मा, इस सम्बन्ध में मत-वैभिन्न्य है। इस पहलू पर संक्षेप में विवेचन अपेक्षित है।

दिगम्बर-मान्यता

दिगम्बर-परम्परा में माना गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद गौतम संघाधिपति हुए और गौतम के कालगत होने के पश्चात् सुधर्मा। ईस्वी दूसरी या तीसरी शती के यति वृषभ द्वारा रचित दिगम्बर-परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में सर्वज्ञानियों (केवलज्ञानियों या सर्वज्ञों) की परम्परा का वर्णन करते हुए कहा है: "जिस दिन महावीर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए, गौतम को परम ज्ञान या सर्वज्ञत्व प्राप्त हुआ। गौतम के निर्वाण-प्राप्त कर लेने पर सुधर्मा सर्वज्ञ हुए। सुधर्मा द्वारा समस्त कर्मों का उच्छेद कर दिये जाने पर या वैसा कर मुक्त हो जाने पर जम्बू स्वामी को सर्वज्ञत्व-लाभ हुआ। जम्बू स्वामी के सिद्धि-प्राप्त हो जाने के पश्चात् सर्वज्ञों की आनुक्रमिक परम्परा विलुप्त हो गयी। गौतम प्रभृति ज्ञानियों के धर्म-प्रवर्तन का समय पिण्डरूप में—सम्मिलित रूप में बासठ वर्ष का है।"[2]

---

१. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्ज सुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणगोत्ते।

२ जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परम णाणी।
जादे तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ १४७६
तम्मि कदकम्मणासे जंबू सामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥ १४७७
बासट्ठी वासाणि गोदम पहुदीण णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेणं ॥ १४७८

तिलोयपण्णत्तिकार ने गौतम, सुधर्मा और जम्बू के कैवल्यावस्था के समय को धर्म-प्रवर्तन-काल शब्द से सहित किया है। इसके अनुसार गौतम के बारह वर्ष, सुधर्मा के बारह वर्ष तथा जम्बू के अड़तीस वर्ष कुल बासठ वर्ष होते हैं।

गौतम पट्टधर क्यों नहीं ?

गौतम भगवान् महावीर के निकटतम अन्तेवासी थे। जीवन भर उनका सान्निध्य पाया। दैनन्दिन चलते रहने वाले उनके प्रश्न और महावीर के उत्तर जैन वाङ्मय की एक अमूल्य थाती बन गये। वे भगवान् महावीर के प्रथम गणधर थे। यह स्वाभाविक था कि दैहिक दृष्टि से भगवान् के न रहने पर संघ का उत्तरदायित्व उन पर आता। वे उसे सम्भालते। यह सब नहीं हुआ, इसके पीछे क्या तथ्य था ? यह विचारणीय है।

श्वेताम्बर-परम्परा : एक समाधान

श्वेताम्बर-परम्परा ऐसा विश्वास करती है कि कैवल्य प्राप्त हो जाने के अनन्तर वह श्रमण—केवलज्ञानी संघाधिपति, पट्टधर अथवा आचार्य जैसा कोई भी पद नहीं सम्भा-लता। इतना अवश्य है, यदि कोई पद पर रहते केवली हो जाए, तो वह पद छोड़ना आवश्यक नहीं होता।

केवली के ज्ञान की अपरिसीमता इतनी बड़ी होती है कि उसमें कुछ भी शेष अवशिष्ट नहीं रह जाता। तभी तो वे सर्वज्ञ कहे जाते हैं। सर्वज्ञ की भाषा साक्षात्कृत ज्ञान पर आश्रित होती है। उसमें किसी भी पूर्ववर्ती ज्ञानी का सन्दर्भ, उद्धरण या आधार नहीं रहता। केवली यदि पट्टासीन हो जाएं और धर्म-देशना दें तो वे इस भाषा में नहीं बोल सकते कि जैसा उन्होंने तीर्थंकर (धर्म-संघ के संस्थापक; कैवल्य प्राप्त श्रमण) से सुना है, वैसा वे प्रतिपादित कर रहे हैं। उनकी भाषा वही होती है, जो वे साक्षात् जान रहे हैं, वैसा ही निरूपित कर रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि तीर्थंकर द्वारा जो कुछ प्रसूत हुआ, जिसका स्रोत आगे भी गतिशील रहना चाहिए, वह अवरुद्ध हो जाता है। सम्भवतः इसीलिए श्वेताम्बर-परम्परा को गौतम का संघ-नायकत्व या महावीर के उत्तरा-धिकारी के रूप में पट्टधरता स्वीकार नहीं है; क्योंकि ज्यों ही महावीर का निर्वाण हुआ, गौतम को कैवल्य-लाभ हुआ।

दिगम्बर-परम्परा का आधार

केवली के पट्टधर होने में जिस बाधा की चर्चा की गई है, दिगम्बर-परम्परा के अनुसार [illegible] नहीं आती। दिगम्बर तीर्थंकर की धर्म-देशना को शब्दात्मक स्वीकार नहीं करते और तीर्थंकर उसके [illegible] से कुछ नहीं बोलते। उनके रोम-रोम से ओंकार की ध्वनि

निःसृत और समवसरण में प्रसृत होती है। वही ओंकार-ध्वनि श्रोतृगण की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है। उसी (भाषात्मक) रूप में श्रोतृगण उसे ग्रहण करते समझते हैं।

श्री धर्मघोष सूरि का कथन

श्वेताम्बर आचार्य श्री धर्मघोष सूरि की एक रचना है सिरिदुसमाकालसमण (श्री दुःषमकालश्रमणसंघस्तव:)। उसकी अवचूरि में वे लिखते हैं : 'श्री जिन—भ महावीर के निर्वाण-गमन की रात्रि में उज्जयिनी में चण्डप्रद्योत का मरण होने पर राजा के रूप में अभिषिक्त हुआ। पाटलिपुत्र के राजा उदायी के निष्पुत्र रूप में मरण जाने पर उसने कोणिक (अजातशत्रु) का पाटलिपुत्र का राज्य भी अधिकृत कर लि उसके साठ वर्ष के राज्य-काल में गौतम १२ वर्ष, सुधर्मा ८ वर्ष तथा जम्बू ४४ वर्ष युगप्रधान रहे।"[1]

अवचूरिकार ने जो ६० वर्ष की संख्या दी है, वह गौतम, सुधर्मा तथा जम्बू के प्रधान-काल (१२+८+४४=६४) से मेल नहीं खाती। अवचूरिकार ने आगे इसे कर दिया है। जम्बू का ४४ वर्ष का युगप्रधान-काल जो उन्होंने बतलाया है, उ ४० वर्ष तो पालक के राज्य के हैं और अगले ४ वर्ष नौ नन्दों के राज्य के हैं। जम्बू समग्र काल को कहने के लिए ऐसा किया गया है। आचार्य धर्म-घोष ने यहाँ युगप्रधान रूप में जहाँ सुधर्मा और जम्बू को लिया है, गौतम को भी लिया है। युगप्रधान शब्द साथ रहा आशय विशेष रूप से विचारणीय है।

युगप्रधान : सर्वातिशायी प्रतिष्ठापन्नता

यद्यपि संघ में निर्धारित आचार्य, उपाध्याय, गणी, प्रवर्तक आदि पदों की तरह युग प्रधान कोई पद नहीं था, पर, इसके साथ जो गरिमा, समादर और उच्चता का भाव देखे हैं, उससे स्पष्ट है कि यह सर्वातिशायी प्रतिष्ठापन्नता का सूचक था।

कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र में स्थविरावलियाँ (पट्टावलियाँ) वर्णित हैं। वे परस्पर कुछ भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि कल्पसूत्र में दी गयी स्थविरावली सम्भवतः पट्टानुपट्टक्रम या आचार्यानुक्रम से दी गयी है और नन्दीसूत्र की स्थविरावली युगप्रधानानुक्रम से। अतएव इन दोनों में जहाँ-जहाँ भिन्नता है, उसका कारण नन्दीकार द्वारा कुछ ऐसे महान् श्रमणों

---

१. अवचूरि : ॥८०॥ सिरिजिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जेणीए चंडपज्जोअमरणे पालओ राया अहिसित्तो। तेण य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्जं पाडलिपुरं पिअहिट्ठिअं। तस्स य वरिसं ६० रज्जे—गोयम १२, सुहम्म ८, जम्बू ४४ जुगप्पहाणा।

को लिया जाना है, जो वैधानिक दृष्ट्या आचार्य-पद पर अवस्थित नहीं थे, पर धार्मिक अभ्युदय की दृष्टि से युग प्रवर्तक थे—युगप्रधान थे। जो आचार्य भी थे और युगप्रधान भी, ऐसे नाम दोनों पट्टावलियों में सदृश हैं।

युगप्रधान की विशेषताएं

नन्दीकार ने युगप्रधान स्थविरावली के समापन पर दो गाथाओं में युगप्रधान की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है : "जो तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव, शांति और मार्दव में अभिरत हैं, जो शील गुण से विश्रुत हैं, जो सुकुमार और सुकोमल देह-सम्पदा के धनी हैं, जो उत्तमोत्तम लक्षणों से तथा प्रभावनीयता आदि विशेषताओं से युक्त हैं, सैकड़ों श्रमणों द्वारा जो समादृत हैं, मैं उन युगप्रधानों को प्रणमन करता हूं।"[1]

युगप्रधान का विरुद कब मिलता ?

जैन परम्परा में समय-समय पर महान् गौरवास्पद, प्रभावक, तेजस्वी, परमोज्ज्वल ज्ञान एवं चारित्र्य के धनी श्रमण होते रहे हैं, जिनका विराट् व्यक्तित्व युग के लिए प्रेरणा का दिव्य स्रोत रहा है। इस प्रकार के महापुरुष युग को एक नया मोड़ देते रहे हैं, जन-जन को सत् की ओर आगे बढ़ने जाने को प्रेरित एवं उद्बोधित करते रहे हैं। ऐसे संयमोत्तर, मनीषिप्रवर मुनिवरों का स्थान समग्र जैन संघ में बहुत उच्च और पवित्र माना जाता रहा है। संघ के शाखा-प्रशाखात्मक भेद उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान में कभी बाधक नहीं बने, प्रत्युत पोषक ही रहे। इस प्रकार के विराट् व्यक्तित्व के धनी और युग को झकझोरने वाले महान् श्रमण 'युगप्रधान' के विरुद से विभूषित किये जाते रहे हैं।

युगप्रधान के साथ संघ के विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों का व्यवस्थात्मक दृष्टि से किस प्रकार का सम्बन्ध रहा है, इस विषय में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य उनका आदर करते थे, उनको ऊंचा मानते थे। उनका नेतृत्व स्वीकार करते थे। उनका स्थान किसी एक सम्प्रदाय, गण, गच्छ, शाखा आदि में ही नहीं, समग्र जैन संघ—जिसमें साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका; इस चतुष्टय की समन्विति थी, सर्वोत्कृष्ट था।

1. तव-णियम सच्च-संजम-विणयज्जवखंतिमद्दवरयाणं ।
सीलगुणगहियाणं, अणुओगे जुगप्पहाणाणं ।।
सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पए पवयणीणं, पाडिच्छगसएहिं पणिवइएहिं ।।

—नन्दीसूत्र, ४८—४९

इसी गरिमा के कारण इसका आचार्य, उपाध्याय जैसे पदों पर आसीन पुरुषों के लिये भी विशेषण के रूप में प्रयोग होता रहा है।

जाति-सम्पन्न : कुल-सम्पन्न

आर्य सुधर्मा का मातृ पक्ष और पितृ पक्ष उत्तम था, जो उनके जाति-सम्पन्न तथा कुल-सम्पन्न विशेषणों से प्रकट होता है। यहां कुल और जाति शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि कहा गया है : कुलं पेइयं माइया जाई अर्थात् पितृवंश कुल तथा मातृवंश जाति कहा जाता है। आगे चल कर इन दोनों शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो गये, जिसे भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ-विस्तार कहा जा सकता है।

जो महान् और प्रशस्त व्यक्तित्व के धनी होते हैं, उनमें सभी प्रकार की विशेषताएं होती हैं। दैहिक सुष्ठुता, दृढ़ता एवं सबलता भी उनमें होती है, पर, इन सबका उपयोग आत्म परिष्कार तथा अन्तर्विजय में होता है। आर्य सुधर्मा में यह सब था। एक विशेष सबल, सुदृढ़ शरीर-संहनन के धारक होने के कारण वे दैहिक शक्ति-सम्पन्न थे। घोर तप एवं साधना-सम्बन्धी ऐसे अनेक उपक्रम हैं, जो अत्यन्त दृढ़ देह-संहनन या शारीरिक गठन के बिना सध नहीं पाते।

विनय-लाघवादि सम्पन्न

विशेषण-क्रम के मध्य कहा गया है कि सुधर्मा विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा लाघव-सम्पन्न थे। लाघव शब्द लघु[1] से बना है। लघु शब्द के दो अर्थ हैं—छोटा तथा हल्का। हल्कापन दो प्रकार का है—पादार्थिक और भावात्मक। पदार्थों या वस्तुओं की दृष्टि से एक जैन श्रमण होने के नाते आर्य सुधर्मा बहुत कम उपधि या उपकरण रखते थे; अतएव वे लघु या हल्के थे। भावात्मक दृष्टि से वे गर्व, अहंकार या अभिमान का त्याग कर चुके थे; अतः हल्के थे। दोनों ही दृष्टियों से यह विशेषण उन पर लागू होता था।

ओजस्वी : तेजस्वी : वर्चस्वी : यशस्वी

आर्य सुधर्मा ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी थे। तप आदि के कारण व्यक्तित्व में जो एक प्रभावपूर्ण आभा निखर उठती है, उसे ओज शब्द से अभिहित किया जाता है। आन्तरिक और बाह्य तप से व्यक्ति में जो दीप्तता होती है, उसे तेज कहते हैं। जैन पारिभाषिक दृष्टि से तेजस्वी का अर्थ तेजोलेश्या (विशेष यौगिक शक्तियां) आदि से युक्त भी हो सकता है। लब्धियों या विशेष प्रकार की यौगिक अभिसिद्धियों द्वारा व्यक्ति में जो प्रभाव-प्रवणता उत्पन्न होती है, उसे वर्चस्विता कहा गया है। वर्चस्वी के लिए मूल

१. लघोर्भावः—लाघवम्

अर्द्धमागधी पाठ जो वयंसी आया है, पाठान्तर में उसके स्थान पर वयंसी भी आया है, जिसका अर्थ वचस्वी—वचनवान्—आदेय, हितावह और निरवद्य-निर्दोष - निष्पाप वचन बोलने वाला होता है। यशस्वी विशेषण का आशय यह है कि उत्कृष्ट साधक को यद्यपि जरा भी यश की कामना नहीं होती, पर उनकी उग्र तपःशीलता, कठोर संयम-चर्या, तितिक्षामय जीवन-पद्धति, ज्ञान और अनुभूति की दिव्यता आदि विशेषताओं के कारण स्वतः उनका यश सर्वत्र प्रस्फुटित होने लगता है। आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर के पट्टधर थे। उत्तमोत्तम गुणों से वे अलंकृत थे; अतः सर्वत्र उनकी ख्याति, यश और प्रशस्ति का प्रसृत होना स्वाभाविक था। इसी अपेक्षा से उनके लिए यशस्वी विशेषण का प्रयोग किया गया है।

क्रोधादि विजेता

आर्य सुधर्मा क्रोध, अहंकार, माया, प्रवचना, इन्द्रिय, निद्रा तथा परिषहों को जीत चुके थे। जीने का आशा या कामना तथा मृत्यु की भीति से वे छूट चुके थे। तप उनके जीवन का प्रधान अंग था। वे गुणों से विभूषित—सुशोभित थे। यहाँ प्रयुक्त गुण शब्द संयममूलक गुणों के अर्थ में है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों के निर्जरण तथा संयम या संवर के द्वारा नये कर्मों के बंधन का निरोध करते हुए वे अपने पावन पथ पर गतिशील थे। आर्य सुधर्मा शास्त्र-वर्णित पिण्ड-विशुद्ध आदि उत्तर गुण रूप करण, महाव्रत आदि मूल गुण रूप करण में सतत जागरूक थे। वे इन्द्रिय और मन का निग्रह कर चुके थे। जीव, अजीव आदि तत्वों के ज्ञान में उनके निश्चयात्मकता थी अर्थात् उनका तत्व-ज्ञान सन्देह-वर्जित था। उनमें स्वभावतः ऋजुता, मृदुता, निरभिमानिता, क्षमाशीलता—सहिष्णुता, गुप्ति—अकुशल मन, वाणी और काय का निवर्तन-मन, वचन और देह की अकुशल-अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति, निर्लोभता आदि उदात्त गुण थे। वे विद्वान् थे, मन्त्रवित् थे। ब्रह्मचारी—ब्रह्म—आत्मा में चरणशील थे।

वेद-प्रधान

वेद का सामान्य अर्थ ज्ञान है। जिससे जीव, अजीव आदि का स्वरूप जाना जाता है, उसे वेद कहा जा सकता है। यहाँ वेद का आशय जैन आगम वाङ्मय से है। प्रस्तुत प्रसंग में वेद का दूसरा अर्थ स्व-सिद्धान्तों और पर-सिद्धान्तों का ज्ञान है। आर्य सुधर्मा वेद-प्रधान अर्थात् आगम-प्रधान, नय-प्रधान, नियम-प्रधान तथा सत्य-प्रधान थे। वे शौच—शुचिता—आन्तरिक शुद्धि से विशेषतः युक्त थे। वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सुशोभित—विराजित थे।

उदार : घोर

आर्य सुधर्मा उदार थे। क्रोध आदि को जीत लेने के कारण उनके जीवन में उदारता

आहार[1]-त्यागजनित (आमरण) अनशन है। उसका एक भेद पाओवगमण—पादोपगमन है। निर्युक्तिकार द्वारा प्रयुक्त पाओवगय शब्द इसी से सम्बद्ध है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र[2] में भरत चक्रवर्ती के वर्णन-प्रसंग में प्रयुक्त इसी शब्द का विवेचन करते हुए वृत्तिकार चन्द्र ने लिखा है : "पाद का अर्थ वृक्ष का जमीन में गड़ा हुआ जड़ का भाग है। तरह जिस (गृहीत-अनशन) व्यक्ति की अप्रकम्प स्थिति होती है, उसे पादोपगत क है।"

पादोपगमन के स्थान पर कुछ ग्रन्थों में पादपोगमन मान कर व्याख्या[3] की जिनका सारांश है : "आमरण-अनशन-प्राप्त साधक, जिसमें पादप-वृक्ष की तरह परि कम्पन आदि से सर्वथा रहित हो जाता है, वह पादपोपगमन अनशन कहा जाता है अनशन में साधक की सर्वथा निश्चल स्थिति होती है। अनशन स्वीकार करने समय व के बल सीधा लेट जाता है। जरा भी हिलता-डुलता नहीं। वह जीवन भर उसी में रहने को दृढ़प्रतिज्ञ होता है। उसके अचञ्चल या कम्पन रहित अवस्थान का बोध के लिए पाद या पादप की उपमा दी गई है। उसी के आधार पर उसका नामकर है। पादप स्थिरता या अप्रकम्पावस्था का प्रतीक है। उसकी शाखाओं, टहनियों जो हलचल दिखाई देती है, वह उसकी अपनी नहीं है। वह पवन आदि के कारण है। प्रकार पादपोपगत-अनशन-प्राप्त व्यक्ति अपने किसी भी अंग-उपांग को अपनी ओर से भी हिलने-डुलने नहीं देता। किसी अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण वैसा हो अन्य बात है।

---

१ चउविहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—असणे, पाणे, खाइमे, साइमे।
—स्थानांग सूत्र, स्थान ४

अशनं मण्डकौदनादि, पानं चैव द्राक्षापानादि खादिमं फलादि, स्वादिमं गुडादि आहारविधिश्चतुर्विधो भवति।
—अभिधानराजेन्द्र, भाग २, पृ० ५२४

२. पादो वृक्षस्य भूगतो मूलभागः, तस्येव अप्रकम्पतया उपगतम्-अवस्थानं यस्य स तथा
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ३, सूत्र ७० वृत्ति

३. (क) पादपो वृक्षः, उपशब्दश्चोपमेयो पि सादृश्ये पि दृश्यते। ततश्च पादपमुपग सादृश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमनम् पादपवन्निश्चले।
—धर्मसंग्रह सटीक, अधिकार ३

(ख) सर्वथा परिस्पन्दवर्जिते चतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्ने नशनभेदे।
—पंचाशक टीका, विवरण १९

(ग) पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतया वस्थानं पादपोपगमनम्।
—भगवती सूत्र, शतक २५, उद्देशक ७

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति के वृत्तिकार शान्तिचन्द्र ने पादप की उपमा के बजाय जो पाद की भूमिगत जड़ की उपमा दी है, वह स्यात् अधिक संगत है। अचंचल, स्थिर तथा निश्चल दशा व्यक्त करने में जड़ अधिक उपयुक्त है। भूमि में गड़े रहने से दूसरे ऐसे निमित्त साधारण-तया नहीं मिलते, जो उसे हिलाएं-डुलाएं, जबकि वृक्ष के हिलने-डुलने रहने के बराबर प्रसंग बनते रहते हैं। पादोपगत आमरण-अनशन प्राप्त साधक के हिलने डुलने के प्रसंग प्रायः नहीं बनते, बहुत कम बनते हैं। दूसरे लोग भी प्रायः ध्यान रखते हैं तथा यथाप्रसंग उसके साथ ऐसा कुछ नहीं करते, जिससे उसकी अविचल दशा बाधित हो।

आर्य सुधर्मा ने एक दीर्घ, पवित्र और सफल जीवन जीते हुए शत वर्षीय आयु में जीवन का चरम साध्य, जिसे साधने के लिए वे सर्वस्व त्याग कर साधना के पावन पथ पर चल पड़े थे, प्राप्त किया। उनका निर्वाण मगध की राजधानी राजगृह में हुआ।[1]

उपसंहार

आर्य सुधर्मा का जन्म ई० पू० ६०७ में हुआ। इन्द्रभूति गौतम का भी जन्म इसी वर्ष माना जाता है। सुधर्मा ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ-पर्याय में रहे। ३० वर्ष तक साधु-पर्याय में रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण और गौतम के केवली होने पर गौतम के जीवन-काल में वे १२ वर्ष असर्वज्ञ रूप में संघ के अधिनायक रहे। जिस दिन गौतम का निर्वाण हुआ, सुधर्मा को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका आठ वर्ष का केवलि-काल है; अतः इस अवधि में केवली के रूप में संघ-नायक रहे।

इस प्रकार ५० वर्ष गृहस्थ-जीवन + ३० वर्ष साधु-जीवन + १२ वर्ष असर्वज्ञ रूप में संघ-प्रधान तथा + ८ वर्ष सर्वज्ञ रूप में संघ-प्रधान = कुल १०० वर्ष का वयोमान होता है। दिगम्बर-परम्परा इससे कुछ भिन्न है। वहां इनका केवलि-काल बारह वर्ष का माना जाता है।

जम्बूसामिचरिउ के रचयिता वीर कवि (११ वीं शती) ने सुधर्मा के १८ वर्ष तक केवली के रूप में रहने का उल्लेख किया है, जो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के विरुद्ध है। हो सकता है, वीर कवि के सामने कोई ऐसी पट्टावली रही हो, पर वर्तमान में इस प्रकार का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

आर्य जम्बू

आर्य जम्बू इस युग के अन्तिम केवली थे। वे भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्य आर्य

---

1. परिनिव्वुया गणहरा जीवंते नायए नव जणा उ।
   इंदभूई सुहम्मो अ रायगिहे निव्वुए वीरे।
   —आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा ६५८

सुधर्मा के अन्तेवासी थे। अर्द्धमागधी आगम वाङ्मय के अब तक चले आने वाले स्रोत का बहुत कुछ श्रेय आर्य जम्बू को है। भगवान् महावीर ने त्रिपदी के रूप में धर्म-देशना दी। गणधरों द्वारा सूत्रात्मकतया उसका ग्रथन हुआ। भगवान् महावीर ने व्याख्या रूप में अपने निकटतम अन्तेवासी गणधर गौतम आदि द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर रूप में भी तत्त्व व्याख्यात किया। सामान्यतः यही सब मिला कर द्वादशांगी का कलेवर है।

परम जिज्ञासु

भगवान् महावीर के अनन्तर आगम-वाङ्मय के उत्तरवर्ती माध्यम गणधर सुधर्मा थे। उनके अनन्य अन्तेवासी आर्य जम्बू परम जिज्ञासु एवं मुमुक्षु थे। उनके मानस में जिज्ञासाएं उभरतीं। वे अपने श्रद्धास्पद एवं पूजनीय गुरु आर्य सुधर्मा के समक्ष उन्हें उपस्थित करते। सुधर्मा उनका समाधान देते। अपनी ओर से नहीं, जैसा उन्हें भगवान् महावीर की वाणी के रूप में प्राप्त था, प्रायः वैसा कथन करते। इसी प्रकार कभी भगवान् के प्रथम गणधर आर्य गौतम जिज्ञासु भाव लिए अपने आराध्य से पूछा करते थे। अन्य गणधर या जिज्ञासु उपासक जन भी पूछते। भगवान् उन सबका समाधान करते। कुछ अपृष्ट, पर अपेक्षित तथ्य भी भगवान् प्रतिपादित करते। इन्हीं सब का आकलन श्रुत की अप्रतिम निधि के रूप में जुड़ता गया। आर्य सुधर्मा अपने अन्तेवासी जम्बू को जब उत्तर देते, तो यह आप्त स्रोत मुख्यतः उनका आधार रहता। जैन आगम-वाङ्मय के अब तक जीवित रहने का यह एक पुष्ट आधार है। आर्य जम्बू के प्रश्न, आर्य सुधर्मा द्वारा विवेचन—श्रुत-सुरसरी का इस प्रकार उत्तरोत्तर संप्रसार, यह जो सधा, सचमुच जैन इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है, जो आर्हती संस्कृति के विकास तथा विस्तार का मूल है।

प्रश्नोत्तर-क्रम

प्रश्नोत्तर-क्रम का मनोज्ञ रूप प्रस्तुत करने के लिये नाया धम्मकहाओ के प्रारम्भ का कुछ अंश मननीय है: "उस समय आर्य सुधर्मा अनगार के ज्येष्ठ शिष्य काश्यपगोत्रोत्पन्न आर्य जम्बू अपने गुरु के न बहुत दूर न बहुत समीप, ऊर्ध्व जानु, प्रणत मस्तक, धर्म-ध्यान व शुक्ल ध्यान रूपी कोष्ठ में अवस्थित, संयम और तपस्या से अपने को प्रतिभावित करते हुए उपस्थित थे। उनको श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे उठे। जहाँ आर्य सुधर्मा थे, आये। उन्हें तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वन्दन और नमन किया। आर्य सुधर्मा के न अति आसन्न-समीप, न अति दूर, शुश्रूषा से सम्मुख होते हुए, अंजलिपुट किये हुए—दोनों जुड़े हुए हाथों पर ललाट रखे हुए, विनय-पूर्वक अभ्यर्थना करते हुए बोले—भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर....पांचवें (व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती) अंग का यह अर्थ व्याख्यात किया, छठे अंग ज्ञातृधर्मकथा (णायधम्मकहाओ) का क्या अर्थ है? कृपया बतलाइए।

आर्य स्थविर सुधर्मा जम्बू को सम्बोधन करते हुए कहने लगे..........।[1]

जम्बू द्वारा पूछे गये प्रश्न, पूछने की विधि आदि से यह प्रकट है कि वे आचार्य के प्रति कितने श्रद्धालु, भक्तिशील और विनयावनत थे। जिज्ञासु शिष्य किस प्रकार श्रद्धा, सम्मान और विनयपूर्वक अपनी जिज्ञासा गुरु के सम्मुख उपस्थित करे, प्रस्तुत प्रसंग में इसकी गौरव-पूर्ण झलक है। आर्य जम्बू के हृदय में आर्य सुधर्मा के प्रति अप्रतिम श्रद्धा थी। आचार्य से उन्हें सत्य का आलोक प्राप्त होगा, उनका ऐसा दृढ़ विश्वास था। जायसड्ढे विशेषण इसी आशय को व्यक्त करता है। उनका प्रश्न-क्रम श्रद्धानुस्यूत हो आगे बढ़ता है। उन्हें जो विषय स्पष्ट करने हैं, उनके सम्बन्ध में उनमें अदम्य जिज्ञासा का भाव उभरता है, जिसे सूत्र में जायसंसए पद द्वारा प्रकट किया गया है। यह पद वास्तव में तत्त्व-सम्बन्धी आस्था के विषय में सन्देह का सूचक नहीं है। जम्बू अर्थ का विशेष विशदीकरण या सापष्ट्य चाहते हैं, अतएव जातसंसए पद व्यवहृत हुआ है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) में भगवान् महावीर से गणधर गौतम द्वारा पूछे गये प्रश्न के सन्दर्भ में उनके विशेषण के रूप में प्रयुक्त इसी (जायसंसए) पद की व्याख्या करते हुए नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि लिखते हैं : "..........तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयस्त्वानवधारितार्थं ज्ञानम्, स चैवं तस्य भगवतो जातः। भगवता हि महावीरेण 'चलमाणे चलिए' इत्यादौ सूत्रे चलन् अर्थश्चलितो निर्दिष्टः। तत्र स एव चलन् स एव चलित इत्युक्तः, ततश्चैकार्थविषयावेतौ निर्देशौ—चलन् इति च वर्तमानकालविषयः, चलित इति चातीतकालविषयः। अतो ऽत्र संशयः—कथं नाम यः स्वार्थो वर्तमानः,

---

1. तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे कासवगोत्तेणं जाव सत्तुस्से हे अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से अज्ज जंबू णामे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए, उट्ठित्ता जेणमेव अज्ज सुहम्मे थेरे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदइ नमसइ, वंदित्ता नमंसित्ता अज्ज सुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइ दूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासमाणे एवं एवं वयासी—जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं—पंचमस्स अंगस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, छट्ठस्स णं भंते! नायाधम्मकहाणं के अट्ठे पन्नत्ते? जंबू त्ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्जजंबूनामाणं अणगारं एवं वयासी।

—नायाधम्मकहाओ, अध्ययन १.६

स एवातीतो भवति ?"[1]

जो ज्ञान यथावत् अवधारित नहीं है अर्थात् यथार्थरूपेण जिसकी धारणा नहीं है, आचार्य अभयदेव सूरि के अनुसार यह यहां संशय कहा गया है। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित चलमाणे चलिए का उदाहरण देते हुए आचार्य अभयदेव सूरि ने बतलाया है कि 'चलन' वर्तमान काल का सूचक है और चलितः अतीत का। दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार जो जिज्ञासा होती है, संशय का अभिप्राय उसी से है।

इस प्रसंग को इतना स्पष्ट करने का तात्पर्य यह है, आर्य जम्बू वास्तव में संशयचेता नहीं थे, वे उत्कट जिज्ञासु थे। जायकोउहल्ले विशेषण से यह स्पष्टतया व्यक्त होता है कुतूहल का आशय औत्सुक्य है, वास्तव में उत्सुकता जिज्ञासु व्यक्ति को ही होती है। संशय ग्रस्त व्यक्ति विपरीत धारणा बना लेता है। ऐसा होने पर उत्सुकता का भाव मन से निकल जाता है।

आर्य जम्बू नायाधम्मकहाओ के उक्त प्रसंग में जिस प्रकार प्रश्न करते हैं, प्रायः अन्यत्र भी वे लगभग उसी शैली से प्रश्न करते पाये जाते हैं। शब्दावली में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रश्न-क्रम का एक अन्य रूप

सूत्रकृतांग सूत्र में आर्य जम्बू द्वारा आर्य सुधर्मा से प्रश्न किये जाने का एक और प्रकार प्राप्त होता है। आर्य जम्बू कहते हैं :

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
अगारिणो य परतित्थिआ य।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहु समिक्खयाए॥
कहं च णाणं कह दंसणं से,
सीलं कहं नायसुतस्स आसि।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं,
अहासुतं बूहि जहा णिसंतं॥[2]

—श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ तथा अन्य तीर्थी—अन्य सम्प्रदायानुयायी मुझ से पूछते हैं कि एकान्त रूप से प्राणियों का हित करने वाले धर्म का सम्यक्तया आख्यान किसने किया?

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, १.१. प्रश्नोत्थान

२. सूत्रकृतांग सूत्र, १.६.१,२

से पूछते हैं कि ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान, दर्शन और शील कैसा था ? हे भिक्षो ! आप इसे यथावत् जानते हैं। जैसा आपने सुना है, तदनुसार बतलाएं।

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आर्य जम्बू आर्य सुधर्मा के मुख्य शिष्य थे। इसलिए जिज्ञासु व्यक्ति कभी-कभी सीधे प्रश्न पूछ लेते थे। उपर्युक्त गाथाओं में इसी प्रकार का उल्लेख है। जिज्ञासु श्रमणों, ब्राह्मणों, गृहस्थों तथा अन्य धर्मावलम्बी जनों ने उनसे जो जानना चाहा, वह कोई ऐसा विषय नहीं जान पड़ता, जिसे आर्य जम्बू न जानते हों। पर जम्बू सीधा अपनी ओर से उत्तर नहीं देते। वे श्रुत-स्रोत की परम्परा का निर्वाह करते हैं। फलतः अपने आराध्य गुरुवर्य सुधर्मा से पूछते हैं। इससे उनका यह अभिप्राय स्पष्ट अनुमेय है कि तीर्थंकरानुभाषित तथा गणधरानुग्रथित, क्रमागत श्रुत-स्रोत अविच्छिन्न या अव्यवहित रूप से जन-जन तक पहुंचे।

सूत्रकृतांग सूत्र में आर्य सुधर्मा द्वारा स्वयं भगवान् महावीर से पूछे जाने का उल्लेख है। वह प्रसंग इस प्रकार है :

> पुच्छिस्स हं केवलियं महेसिं,
> कहं भितावा णरगा पुरत्था।
> अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं,
> कहं नु बाला नरयं उवेंति॥
> एवं मए पुट्ठे महाणुभावे,
> इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने।
> पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं,
> आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था॥[1]

—आर्य सुधर्मा कहते हैं, मैंने केवल-ज्ञान-सम्पन्न महामुनि भगवान् महावीर से पूछा कि नरक में प्राणी किस प्रकार अभितप्त होते हैं ? बाल—ज्ञान-रहित प्राणी किन-किन कारणों से नरक प्राप्त करते हैं। प्रभो ! मैं नहीं जानता, आप जानते हैं, बतलाएं। मेरे द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महान् प्रभावशील, काश्यपगोत्रोत्पन्न, आशुप्रज्ञ भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा—जो दुःपूर्ण है, जो अर्थ-दुर्ग—छद्मस्थों या असर्वज्ञों के लिए जिसका अर्थ—यथातथ्य दुर्गम है, जो दीन—पापी—कष्टपूर्ण जीवों से परिव्याप्त है, जो दुष्कृतिक है—जहां दुष्कर्मों का फल भोग होता है, उस (नरक) के स्वरूप का आख्यान करूंगा।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आर्य सुधर्मा भी जम्बू से जो कहना चाहते हैं, वह पारम्परिक स्रोतानुगत हो, इस ओर वे पूर्णतया जागरूक प्रतीत होते हैं। भगवान् से मैंने पूछा,

1. सूत्रकृतांग सूत्र, १.५.१.१,२

वे बोले—ये शब्द आर्य सुधर्मा का विवक्षित विषय पर भगवद्-वाणी को यथावत् प्रस्तुत करने का मानस सूचित करते हैं।

आर्य सुधर्मा जो कहते हैं, "अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं"—मैं अज्ञाता हूँ, आप ज्ञाता हैं, बतलाए —वह उन (आर्य सुधर्मा के) अमोघ विनय, सरलता, श्रद्धा और आत्म[illegible] का द्योतक है। अत्यन्त उत्तम ज्ञान के धनी, महनीय गणधर-पद के अधिकारी आर्य नरक के दुःखों और कारणों के सम्बन्ध में नहीं जानते थे, यह कैसे माना जा सकता यह सर्वथा उपपन्न है कि वे जानते-बूझते भी तीर्थंकर के मुख से साक्षात् ज्ञात, अनुभूत वाणी सुनना चाहते रहे हों और उन्हीं के यथावत् शब्दों में कहना भी।

जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद माने गये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष और मन-सापेक्ष न होकर एकमात्र आत्म-सापेक्ष होता है, वह प्रत्यक्ष है। वह सम्पूर्ण रूप में केवल केवली या सर्वज्ञ के होता है। क्योंकि उनके ज्ञानावरणीय कर्म परिपूर्णतया क्षीण हो चुकते हैं। मनःपर्यवज्ञानी और अवधिज्ञानी के वह (ज्ञानावरणीय) अंशतः क्षीण होता है अर्थात् उनका ज्ञान भी सीधा आत्म-सापेक्ष होता है, परन्तु (आंशिकतया ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय के कारण) वह सीमित होता है। इसके अतिरिक्त मन और इन्द्रियों के माध्यम से जो जाना जाता है, तत्वतः वह प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है। व्यवहार की भाषा में उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसीलिए जैन नैयायिकों ने उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है।

तब तक आर्य सुधर्मा के ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा विलय या सम्पूर्णतया क्षय नहीं हो पाया था। वे सर्वज्ञ नहीं हुए थे; अतः सर्वज्ञता की अपेक्षा से उनका ज्ञान अपरिपूर्ण था। स्यात् इस अपेक्षा से उन्होंने नारकीय दुःखों के न जानने की चर्चा की हो। जैसा भी हो, यहां मुख्य अभिप्राय ज्ञान की निश्चयवान-धारा यथावत् प्रवहणशील बनाये रखने का ज्ञात होता है।

आचारांग, समवायांग, स्थानांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति आदि अंग-सूत्रों में आर्य सुधर्मा द्वारा विवक्षित विषय का विवेचन प्रायः निम्नांकित शब्दावली की पृष्ठभूमि के साथ किया जाता रहा है : सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। अर्थात् आयुष्मन्! जैसा मैंने सुना है, भगवान् महावीर ने (प्रसंगोपात्त विषय का) इस प्रकार आख्यात—प्रतिपादन किया है। इस आशय के भाषा-प्रयोगों से स्पष्ट है कि आगम-श्रुत की परम्परानुस्यूति बनाये रखने की ओर विशेष ध्यान रखा जाता रहा है।

जम्बू के सम्बन्ध में उल्लेख

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर-सम्बन्धी प्रसंगों के अतिरिक्त परिचयात्मक दृष्टि से जम्बू के

निरूपित स्थविरावली में आर्य जम्बू के सम्बन्ध में इतना-सा उल्लेख है : थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायण गुत्तस्स अज्जजम्बुनामथेरे अंतेवासी कामवगुत्तेण अर्थात् अग्निवेश्यन गोत्रोत्पन्न, स्थविर आर्य सुधर्मा के काश्यपगोत्रोत्पन्न आर्य जम्बू नामक स्थविर अन्तेवासी थे।

नन्दी सूत्र में स्थविरावली के वर्णन के अन्तर्गत आर्य जम्बू का आर्य सुधर्मा के पट्टधर के रूप में उल्लेख हुआ है :

सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जम्बू नामं च कासवं ।[1]

यह स्तुत्यात्मक रचना है। इस गाथार्ध में आर्य सुधर्मा और आर्य जम्बू का द्वितीया विभक्त्यन्त प्रयोग है। गाथा के उत्तरार्ध में वन्दे पद आया है, जो इनके साथ भी योजनीय है।

आर्य जम्बू के सम्बन्ध में अङ्ग, उपांग तथा तत्सम्बद्ध आगम-वाङ्मय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता। दिगम्बर-वाङ्मय में आर्य जम्बू के विषय में प्राचीनतम उल्लेख तिलोयपण्णत्ती[2] में है। वहां केवल नामोल्लेख मात्र है।

मोहक व्यक्तित्व : कवियों और लेखकों का आकर्षण

आर्य जम्बू अत्यन्त सुन्दर, सुकुमार, हृष्ट और प्रशस्त व्यक्तित्व के धनी थे। उनका दैहिक सौष्ठव बड़ा आकर्षक था। छोटी-सी आयु में अनेक विद्याओं तथा कलाओं के मर्मज्ञ थे। पैतृक परम्परा से अतुल सम्पदा के अधिपति थे। माता-पिता के इकलौते पुत्र थे; इसलिए जो स्नेह एवं लाड़-प्यार उन्हें मिला, वह कुछ विरले ही सौभाग्यशाली पुरुषों को प्राप्त होता है। जम्बू का जिन आठ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ विवाह हुआ, वे अनुपम सौन्दर्य, प्रेम और सौहार्द की प्रतिमूर्ति थीं। जिसके लिए लोग सतृष्ण भाव से तरसते रहते हैं, अपरिश्रान्त रूप से अहर्निश उद्यम तथा प्रयत्न करते हैं, वह सब सम्पत्, वैभव, समृद्धि जम्बू को सहज ही प्राप्त थी। पर, मुमुक्षानुभावित जम्बू ने इन सबका अनायास ही परित्याग कर दिया। तीव्रतम वैराग्य और उत्कृष्टतम त्याग का यह एक ऐसा उदाहरण था, जिसकी समानता जगत् में बहुत कम मिल सकती है। उद्दाम यौवन, अपरिमित

---

१. सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जम्बू नामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वन्दे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥
—नन्दीसूत्र, स्थविरावली, गाथा २५

२. तम्मि कदकम्मणासे जंबू सामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धि पवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥
—तिलोयपण्णत्ती, १४७७

भोग बाहुएँ; यह सब होते हुए भौतिक वासनाओं, एषणाओं और अभिप्सितों का अस्वीकार, अध्यात्म-अभिरत विराग निर्झर अन्तस्तल का स्वीकार—निःसन्देह एक असाधारण एवं आश्चर्यकर घटना थी।

जम्बू के इस परम पुनीत अन्तर् विरक्त, त्याग-तितिक्षामय, आत्म-साधना की अभिरुचि से उद्दीप्त व्यक्तित्व ने अनेक कवियों, लेखकों और कलाकारों को आकृष्ट और प्रेरित किया। फलतः आर्य जम्बू के जीवन पर अनेक भाषाओं व शैलियों में विपुल साहित्य सर्जित हुआ। उनके जीवन से सम्बद्ध दूसरी कोटि का साहित्य वह है, जहाँ अन्य महापुरुषों के चरितों के साथ उनका चरित भी समाविष्ट है। इस प्रकार जम्बू आख्यान के समग्र ऐतिहासिक तथ्य के समाकलन के लिए साहित्यिक दृष्टि से उक्त दो प्रकार के आधार प्राप्त हैं।

वसुदेव-हिंडी

उपलब्ध साहित्य में वसुदेव-हिंडी[1] सबसे पुरानी रचना है, जिसमें आर्य जम्बू का भी जीवन-वृत्तान्त वर्णित है। वसुदेव हिंडी के रचनाकार संघदास गणी हैं। उनका समय विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। वसुदेव हिंडी जैन महाराष्ट्री प्राकृत की सबसे पुरातन कृति है। इसके अनन्तर जो आर्य जम्बू विषयक चरित-साहित्य रचा जाता रहा, उसका मुख्य आधार प्रायः यही ग्रन्थ रहा। इस ग्रन्थ के कथोत्पत्ति नामक प्रकरण में आर्य जम्बू का इतिवृत्त है। आगम-वाङ्मय के प्रमुख संवाहक होने के नाते यह वांछनीय है कि आर्य जम्बू के चरित से पाठक अवगत हों; अतः यहाँ वसुदेव हिंडी के अनुसार संक्षेप में उसका सार उपस्थित है।

माता-पिता, जन्म, निवास

वसुदेवहिंडीकार ने सर्वप्रथम मगध देश की तथा उसकी राजधानी राजगृह की नैसर्गिक छटा, वैभव, जन-समुदाय के सम्पन्न, समृद्ध एवं उल्लासपूर्ण जीवन का सजीव चित्र अंकित किया है। वहाँ के राजा श्रेणिक की महत्ता, उदारता, विजिगीषुता और यशस्विता की चर्चा की है। श्रेणिक की पटरानी चिल्लणा (चेल्लणा) और राजकुमार कोणिक (अजातशत्रु) का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया है।

---

१. प्राकृत में हिंड धातु चलने, फिरने या परिभ्रमण करने के अर्थ में है। अतः वसुदेव हिंडी का अर्थ वसुदेव (वासुदेव-कृष्ण के पिता) के परिभ्रमण-वृत्तान्त हैं। इस ग्रन्थ में वसुदेव के परिभ्रमण यात्राओं का विशद वर्णन है। वे घर छोड़कर घूमने निकल जाते हैं। अनेक वर्षों तक परिभ्रमण करते रहते हैं। अनेक कन्याओं से उनका परिणय होता है। इन सब वृत्तान्तों तथा नव-नव अनुभवों का प्रस्तुत कृति में कल्पना-रंजित साहित्यिक शैली में वर्णन किया गया है।

राजगृह में ऋषभदत्त नामक श्रेष्ठी था। उसके पास उसके पूर्वजों द्वारा अर्जित प्रचुर सम्पत्ति थी। वह विनयवान्, विद्वान्, कार्य-कुशल, दयावान्, सत्यप्रतिज्ञ तथा दानशील था। अर्हत्-शासन (जैन धर्म) में उसका अनुराग था। उसकी गृहिणी का नाम धारिणी था। निष्कलुष स्फटिक मणि के समान उसका निर्मल स्वभाव था। वह शील—सदाचार से अलंकृत थी। उसने एक बार सोते हुए अर्द्ध जाग्रत अवस्था में पांच स्वप्न देखे। वह जाग उठी। वे स्वप्न इस प्रकार थे :

१. निर्धूम अग्नि
२. विकसित कमल, कुमुद और कुवलय समूह से सुशोभित सरोवर।
३. फल-भार से झुका हुआ धान का खेत।
४. जो जल-वृष्टि कर चुके हैं, ऐसे बादलों के समान धवल तथा अपने समुच्छ्रित—ऊर्ध्वीकृत चार दांतों से युक्त गजराज।
५. वर्ण, गन्ध तथा रस पूरित जम्बू फल।

धारिणी ने अपने स्वप्न पति ऋषभदत्त को सुनाये। ऋषभदत्त ने कहा कि अर्हत—सर्वज्ञ द्वारा ऐसे स्वप्नों का जो फल आख्यात—व्याख्यात किया गया है, उसके अनुसार तुम्हें एक प्रभावापन्न पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। इससे धारिणी का हृदय आनन्द-विभोर हो गया और उसने यह उत्कण्ठा प्रकट की कि ऐसा ही हो, आप ठीक ही कहते हैं।

ब्रह्मलोक से च्युत एक देव उसके गर्भ में आया। धारिणी को अर्हत्-पूजा और साधु-उपासना का दोहद उत्पन्न हुआ। अपनी वैभवपूर्ण स्थिति और सम्पदा के अनुरूप दोहद की पूर्ति की गयी। नव मास पूर्ण होने पर धारिणी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। नव-जात शिशु शरद शशी जैसी कान्ति और भानु जैसी दीप्ति से शोभित था। शुद्ध सोने के कमल तथा कर्णिकार के रस-स्निग्ध किंजल्क जैसा उसका वर्ण था। उसके हस्त, पाद तथा मुख पर अनुभवसिद्ध सामुद्रिक शास्त्रानुमोदित शुभ तथा प्रशस्त चिह्न थे। जात-कर्म की सम्पन्नता के पश्चात् उसका नामकरण संस्कार हुआ। माता द्वारा स्वप्न में जम्बू फल देखे जाने तथा जम्बू द्वीप के अधिष्ठातृ-देव की सन्निधि के कारण शिशु का नाम जम्बू रखा गया। धात्री द्वारा पालित-पोषित होता हुआ शिशु क्रमशः बड़ा हुआ। उसके पूर्व जन्म के संस्कार थे; अतः उसने देखते-देखते शीघ्र ही अनेक कलाएं आयत्त कर लीं।

आर्य सुधर्मा से सम्पर्क

जम्बू युवा हुए। उन्हें देख लोगों की आंखों में प्रसन्नता थिरक उठती। वे प्रशंसा-विशिष्ट शब्दों में कहते—ये कितने दयावान्, मधुर भाषी, दूरदर्शी तथा सत्पुरुषों के प्रति आदर व सेवा के भाव रखने वाले हैं। जम्बू वास्तव में मगध देश की शोभा थे। उनका

अपने को सुगमता से मुक्त कर सकता हूं। पर, जब मैं पांचों इन्द्रियों के भोगों में आसक्त और ग्रस्त हो जाऊंगा, तब जिस प्रकार वह बन्दर दुःख से मरा, क्या मैं भी जन्म-मरण का भागी नहीं बनूंगा ? मैं मौत के भय से विभीत हूं। प्रव्रज्या की आज्ञा चाहता हूं।"

जम्बू कुमार के कथन पर माता करुण-क्रन्दन करने लगी। उसने कहा—"पुत्र ! मेरी चिरकाल से यह अभिलाषा रही है कि मैं वर-वेश में तुम्हारा मुख देखूं, पर, तुमने ऐसा निश्चय कर लिया है, जो मेरे मनोरथ की सिद्धि के प्रतिकूल है। यदि तुम मेरी अभिलाषा पूरी करोगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ-साथ दीक्षा ग्रहण कर लूंगी।"

जम्बू ने कहा—"मां ! यदि आपकी ऐसी उत्कण्ठा है, तो बहुत सुन्दर है। मैं आपके वचन का प्रतिपालन करूंगा। पर, उस शुभ वेला के व्यतीत हो जाने पर आप मुझे नहीं रोकेंगी।"

माता परितुष्ट हो गयी। कहने लगी, जैसा तुम कहते हो, वैसा ही होगा। उसने आगे कहा—"जम्बू ! पहले से ही आठ श्रेष्ठि-कन्याओं का तुम्हारे लिये वाग्दान हो चुका है। यहीं निवास करने वाले समुद्रप्रिय, समुद्रदत्त, सागरदत्त, कुबेरदत्त, कुबेरसेन, वैश्रमणदत्त, वसुसेन तथा वसुपाल नामक सार्थवाह हैं। जिन-शासन में उनका अनुराग है। पद्मावती, कनकमाला, विनयश्री, धनश्री, कनकवती, श्रीसेना, ह्रीमती तथा जयसेना नामक क्रमशः उनकी पत्नियां हैं। समुद्रश्री, सिन्धुमती, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकश्री, विजयश्री, कमलावती तथा यशोमती नामक उनकी पुत्रियां हैं। ये कन्याएं तुम्हारे अनुरूप हैं। तुम्हारे से इनके पाणि-ग्रहण का पहले से ही निश्चय किया हुआ है, इसलिए यह आवश्यक है कि उनके पिताओं को यह सब कहलाएं।"

जम्बू के माता-पिता की ओर से कन्याओं को सन्देश प्रेषित किया गया कि कुमार जम्बू का ऐसा निश्चय है कि वे विवाह सम्पन्न होते ही संयम ग्रहण कर लेंगे। इस पर आप लोगों का क्या विचार है ?

सार्थवाहों ने ज्यों ही यह सुना, उनका मन विषण्ण हो गया तथा अपनी पत्नियों के साथ इस सम्बन्ध में वे विचार-विमर्श करने लगे। उनकी कन्याओं ने यह वार्तालाप सुन लिया। सभी कन्याओं ने एक जैसा ही निश्चय किया और कहा—"आपने हमें (वचन द्वारा) कुमार जम्बू को दे दिया है। अतः वे ही हमारे स्वामी हैं। वे जैसा करेंगे, जैसे मार्ग को ग्रहण करेंगे, हमारा भी वही पथ होगा।" कन्याओं का इस प्रकार निश्चित अभिप्राय जान कर उनके पिता—सार्थवाहों ने श्रेष्ठी ऋषभदत्त के पास यह संवाद भेज दिया। दिगम्बर-परम्परा में आठ के स्थान पर चार कन्याओं का उल्लेख है।

कैवल-ज्ञान : ई० पू० ५०७

निर्वाण : ई० पू० ४६१ । सम्पूर्ण आयु ८० वर्ष ।

एक और कल्पना

प्रायः अधिकांश जैन लेखकों ने इस प्रकार उल्लेख किया है कि मगध नरेश सम्राट् श्रेणिक ने भगवान् महावीर से या गणधर गौतम से जम्बू के जन्म के सम्बन्ध में प्रश्न किये। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि जम्बू का जन्म सम्राट् श्रेणिक के जीवन-काल में या उसके देहावसान से कुछ पूर्व या उसके आस-पास होना चाहिए।

बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ। उससे आठ वर्ष पूर्व अजातशत्रु मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। लगभग उसी समय श्रेणिक की मृत्यु का समय ई० पू० ५५२ के आस-पास ठहरता है। उपर्युक्त विचार के सन्दर्भ में जम्बू का जन्म भी इसी के आस-पास होना चाहिए। यदि ऐसा माना जाए तो स्वीकृत मान्यता में लगभग १० वर्षों का अन्तर आता है। तदनुसार जम्बू की आयु ८० वर्षों की न होकर ६० वर्ष की होती है।

वीर कवि का अभिमत

जंबूसामि चरिउ के लेखक वीर कवि (११वीं शती) ने तथा उसके अनुसार ब्रह्म जिन दास (वि० १३ वीं शती) तथा राजमल्ल (वि० १७ वीं शती) ने भी यह उल्लेख किया है कि कुमार जम्बू ने मगधराज श्रेणिक के राज्य-काल में दीक्षा ग्रहण की थी। इतना ही नहीं, सम्राट् श्रेणिक ने उसका दीक्षोत्सव बड़े आनन्दोत्साह तथा विशाल समारोहपूर्वक आयोजित किया था। इसके अनुसार जम्बू का जन्म श्रेणिक के देहावसान के समय ई० पू० ५५२ से कम-से-कम पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार जन्म का समय लगभग ई० पू० ५६८-५६९ सम्भावित होता है। इसे मान कर चलें, तो आर्य जम्बू की आयु लगभग १०५ वर्ष होती है। भिन्न-भिन्न पहलुओं को लेते हुए यद्यपि विद्वानों ने कुछ विचार किया है, पर, गवेषणात्मक दृष्टि से इन पर और अधिक विचार किया जाना अपेक्षित है। आशा है, विद्वज्जन ऐसा करेंगे।

आर्य जम्बू का निर्वाण

शौरसेनी षट्खण्डागम के धवला टीका के रचयिता वीरसेन (आठवीं-नौवीं शती)[1], गोम्मटसार के कर्ता सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य (नौवीं शती), उत्तरपुराण के लेखक गुणभद्र (८९८ ई० से पूर्व), अपभ्रंश महापुराण (तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु) के प्रणेता

---

१. इनका समय ईसा की आठवीं शती का अन्तिम चरण तथा नौवीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।

कुमार जम्बू ने कहा—"प्रभव ! सुनो, मैं समस्त पारिवारिकों तथा इस विपुल वैभव और सम्पत्ति का परित्याग कर कल प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। मैंने भावात्मक दृष्टया सभी आरंभ-समारंभ त्यक्त कर दिये हैं। मैं एक प्रकार से अपरिग्रही बन गया हूँ। मुझ पर किसी या देवता का प्रभाव कार्यकर नहीं होता। मुझे इन सावद्य-अवद्य गर्हित या पापाश्रित विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है। इन विद्याओं का परिणाम दुर्गति है। मैंने आर्य सुधर्मा से संसार-विमोचनी विद्या प्राप्त की है।"

प्रभव ने यह सब सुना। उसके विस्मय का पार नहीं रहा। मन-ही-मन सोचने लगा, कितना आश्चर्य ! जम्बू कुमार इस विपुल सम्पदा का परित्याग करने जा रहे हैं। वास्तव में ये महान् पुरुष हैं, धन्य हैं। प्रभव विनयाभिनत हो गया। पर, कहने लगा—"जम्बू कुमार ! भोग्य विषय इस मनुष्य-लोक में सारभूत हैं। सपत्नीक उनका परिभोग करो। पण्डितजन, जो सुख प्राप्त है, उनके परित्याग की प्रशंसा नहीं करते। यह आपके दीक्षा लेने का समय नहीं है। असमय में ऐसा करने की बुद्धि आप में कैसे उत्पन्न हुई ? जो परिपक्व वृद्ध या प्रौढ़ अवस्था के हैं, वे यदि इस प्रकार का धर्माचरण स्वीकार करें, तो गर्ह्य नहीं है।

कुमार जम्बू ने प्रभव को 'मधु-बिन्दु' आदि दृष्टान्तों द्वारा भोग की त्याज्यता और त्याग की वरेण्यता का सार हृदयङ्गम कराया। फलतः कुमार जम्बू के साथ जहाँ उनकी नवपरिणीता पत्नियाँ प्रव्रजित हुईं, तस्करराज प्रभव भी अन्ततः उनके तितिक्षु तथा मुमुक्षु व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने तस्कर-साथियों सहित दीक्षित हो गया।

तस्कर-कर्म में प्रभव ने जहाँ एक असाधारण ख्याति अर्जित की थी, साधना के क्षेत्र में भी उसने वस्तुतः चमत्कार किया। वह आर्य जम्बू का प्रमुख अन्तेवासी हुआ तथा आर्य जम्बू के पश्चात् आचार्य प्रभव के रूप में उनका उत्तराधिकारी, धर्म-संघ का अधिनायक तथा द्वादशांगात्मक श्रुत-संपदा का सफल संवाहक भी।

दिगम्बर परम्परा में प्रभव के स्थान पर विद्युच्चर नामक तस्कर का उल्लेख है। पर, जम्बू के प्रधान शिष्य या पट्टधर के रूप में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। दिगम्बर-परम्परानुसार जम्बू के पट्टधर विष्णु या नन्दी नामक आचार्य हैं।

आर्य जम्बू : काल-क्रम

आर्य जम्बू के जीवन का काल-क्रम सामान्यतः निम्नांकित रूप में माना जाता है :

जन्म : ई० पू० ५४३

दीक्षा : ई० पू० ५२७ / १६ वर्ष की आयु में, भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ बाद।

७. घोषसम— घोष का अर्थ ध्वनि है। पाठ शुद्ध घोष या ध्वनिपूर्वक उच्चरित कि
जाना चाहिए। व्याख्याकारों ने घोष का आशय उदात्त[1], अनुदात्त[2] ए
स्वरित[3] अभिहित किया। जहां जिस प्रकार का स्वर उच्चरित होना अपेक्षि
हो, वहां वैसा ही उच्चरित होना। वेद-मन्त्रों[4] के उच्चारण में बहुत सावधान
रखी जाती थी। घोषसम के अभिप्राय में इतना और जोड़ा जाना
सगत प्रतीत होता है कि जिन वर्णों के जो-जो उच्चारण-स्थान हों, उन
उन-उन स्थानों से यथावत् उच्चारण किया जाए। व्याकरण में उच्चार
सम्बन्धी जिस उपक्रम को प्रयत्न[5] किया जाता है, घोषसम में उसका
समावेश होता है।

---

१. उच्चैरुदात्तः। —
२. नीचैरनुदात्तः। —
३. समवृत्या स्वरितः। —वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी, १,२ २९-३१
४. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
सा वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—पाणिनीय शिक्षा, ५२
५. वर्णों के उच्चारण में कुछ चेष्टा करनी पड़ती है, उसे 'यत्न' कहते हैं। यह दो प्रका
का है। जो वर्ण के मुख से बाहर आने से पहले मुख के भीतर होता है, उसको
आभ्यान्तर कहते हैं। यह मुख के भीतर होता है और पहले होता है। बिना इसके
बाह्य यत्न निष्फल है। यही इसकी प्रकृष्टता है; अतएव इसे प्रयत्न कहा जाता है।
'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः' यह अर्थ संगत भी इसीलिए है। इसका अनुभव उच्चारण करने
वाला ही कर सकता है; क्योंकि उसी के मुख के भीतर तो यह होता है। दूसरा प्र
मुख से वर्ण निकलते समय होता है; अतएव यह बाह्य कहा जाता है। इसका अनुभ
सुनने वाला भी कर सकता है। यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पंचधा—
स्पृष्ट-ईषत्स्पृष्ट-ईषद्विवृत-विवृत-संवृत भेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्ट-
मन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृत,
प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

बाह्यस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण
उदात्तानुदात्तः स्वरितश्चेति।
खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च।
हशः संवारा नादा घोषाश्च।
वर्गाणां प्रथम तृतीयपंचमा यणश्चाल्पप्राणाः।
वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।
—लघु सिद्धान्त कौमुदी, संज्ञाप्रकरणम्, पृ० १८-२०

परिणत होता है, इसका विशेषावश्यक भाष्य में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है : 'तप, नियम तथा ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ़ अमित—अनन्त-सम्पन्न केवल ज्ञानी भव्य जनों को उद्बोधित करने के हेतु ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे बुद्धिरूपी पट में ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं।''[1]

वृक्ष के दृष्टांत का विशदीकरण करते हुए भाष्यकार लिखते हैं : 'जैसे, विपुल वन-खण्ड के मध्य एक रम्य, उन्नत तथा प्रलम्ब शाखान्वित कल्प-वृक्ष है। एक साहसिक व्यक्ति उस पर आरूढ़ हो जाता है। वह वहां अनेक प्रकार के सुरभित पुष्पों को ग्रहण कर लेता है। भूमि पर ऐसे पुरुष हैं, जो पुष्प लेने के इच्छुक हैं और तदर्थ उन्होंने वस्त्र फैला रखे हैं। वह व्यक्ति उन फूलों को फैलाये हुए वस्त्रों पर प्रक्षिप्त कर देता है। वे पुरुष अन्य लोगों पर अनुकम्पा करने के निमित्त उन फूलों को गूंथते हैं। इसी तरह यह जगत् एक वन-खण्ड है। वहां तप, नियम और ज्ञानमय कल्प-वृक्ष है। चौंतीस अतिशय-युक्त सर्वज्ञ उस पर आरूढ़ हैं। वे केवली परिपूर्ण ज्ञान-रूपी पुष्पों को छद्मस्थता रूप भूमि पर अवस्थित ज्ञान रूपी पुष्प के अर्थी—इच्छुक गणधरों के निर्मल बुद्धिरूपी पट पर प्रक्षिप्त करते हैं।''[2]

---

१. तव-नियम नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥
—विशेषावश्यक भाष्य, १०६४-६५

२. खड्डाइरुक्खवनिच्चरणत्थ मिह वन्नदसविट्ठंतो।
जह कोई विउलवणसंडमज्झयारट्ठियं रम्मं।
तुंगं विउलक्खंधं साहसओ कप्परुक्खमारूढो।
पज्जत्तगहियबहुविहसुरभिकुसुमो ऽणुकंपाए।
कुसुमत्थिभूमिचिट्ठिय पुरिसपसारिय पडेसु पक्खिवइ।
गंथंति तेऽवि घेतुं सेसजणाणुग्गहट्ठाए॥
लोगवणसंडमज्झे चोत्तीसाइसयसंपओवेओ।
तव-नियम-नाणमय इयं स कप्परुक्खं समारूढो॥
मा होज्ज नाणगहणम्मि संसओ तेण केवलिग्गहणं।
सोऽवि चउहा तओऽयं सव्वण्णू अमियनाणित्ति॥
पज्जत्तनाणकुसुमो ताइं छउमत्थभूमिसंथेसु।
नाणकुसुमत्थिगणहरसियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ॥
—विशेषावश्यक भाष्य, १०९९-११०१

व्याख्याताओं ने इसका अर्थ अन्य सूत्रों अथवा शास्त्रों के मिलते-जुलते या समानार्थक पाठ को चालू या क्रियमाण—उच्चार्यमाण पाठ में मिला देना किया है, जो कोशकारों द्वारा की गयी व्याख्या से निःसृत हुआ है। शास्त्र पाठ या सूत्रोच्चारण में आम्रेडन, अत्यधिक अनावश्यक आम्रेडन नहीं होना चाहिए।

१४. प्रतिपूर्ण—शीघ्रता या अतिशीघ्रता से अस्त-व्यस्तता आती है। जिससे उच्चार्यमाण पाठ का अंश छूट भी सकता है। पाठ का पूर्णरूप से—समग्रतया, कहीं बिना किसी अंश को छोड़े उच्चारण करना चाहिए।

१५. प्रतिपूर्ण घोष – पाठोच्चारण में जहां लय के अनुरूप (Rhythmically) बोलना आवश्यक है, वहां ध्वनि का परिपूर्ण या स्पष्ट उच्चारण भी उतना ही अपेक्षित उच्चार्यमाण है। पाठ का उच्चारण इतने मन्द स्वर से न हो कि उसके सुनाई देने में भी कठिनाई हो। प्रतिपूर्ण घोष समीचीन, संगत, वांछित स्वर में उच्चारण करने का सूचक है। जैसे, मन्द स्वर से उच्चारण करना वर्ज्य है, उसी प्रकार अति तीव्र स्वर से उच्चारण करना भी दूषणीय है।

१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त—कण्ठ+ओष्ठ+विप्र+मुक्त के योग से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्त का अर्थ छूटा हुआ है। जहां उच्चारण में कम सावधानी बरती जाती है, वहां उच्चार्यमाणी वर्ण कुछ कण्ठ में, कुछ होठों में यहां अटक जाते हैं। जैसा अपेक्षित हो, वैसा स्पष्ट और सुबोध उच्चारण नहीं हो पाता।

पाठोच्चारण के सम्बन्ध में जो सूचन किया गया है, एक ओर वह उच्चारण के परिष्कृत रूप और प्रवाह की यथावत्ता बनाये रखने के यत्न का द्योतक है, वहां दूसरी ओर उच्चारण, पठन, अभ्यास पूर्वक अधिगत या स्वायत्त किये गये शास्त्रों को यथावत् स्मृति में टिकाये रखने का भी सूचक है। इन सूचनाओं में अनुक्रम, व्यतिक्रम तथा उत्क्रम से पाठ करना, पाठ में किसी वर्ण को लुप्त न करना, अधिक या अतिरिक्त अक्षर न जोड़ना, पाठगत अक्षरों को परस्पर न मिलाना या किन्हीं अन्य अक्षरों को पाठ के अक्षरों के साथ न मिलाना आदि के रूप में जो तथ्य उपस्थापित किये हैं, वे वस्तुतः बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके पीछे सम्भवतः यही भावना रही हुई प्रतीत होता है कि श्रवण-परम्परा से उत्तरोत्तर गतिशील शास्त्रीय आगम-वाङ्मय का आकार कभी परिवर्तित, विचलित तथा विकृत न होने पाए।

श्रुत का उद्भव

सर्वज्ञ ज्ञान की गम्यता या अधिगम्यता क्यों करते हैं, यह आगम रूप में किस प्रकार

परिणत होता है, इसका विशेषावश्यक भाष्य में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है : 'तप, नियम तथा ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ अमित—अनन्त-सम्पन्न केवल ज्ञानी भव्य जनों को उद्‌बोधित करने के हेतु ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे बुद्धिरूपी पट मे ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं।''[1]

वृक्ष के दृष्टांत का विशदीकरण करते हुए भाष्यकार लिखते हैं : 'जैसे, विपुल वन-खण्ड के मध्य एक रम्य, उन्नत तथा प्रलम्ब शाखान्वित कल्प-वृक्ष है। एक साहसिक व्यक्ति उस पर आरूढ हो जाता है। वह वहां अनेक प्रकार के सुरभित पुष्पों को ग्रहण कर लेता है। भूमि पर ऐसे पुरुष हैं, जो पुष्प लेने के इच्छुक हैं और तदर्थ उन्होंने वस्त्र फैला रखे हैं। वह व्यक्ति उन फूलों को फैलाये हुए वस्त्रों पर प्रक्षिप्त कर देता है। वे पुरुष अन्य लोगों पर अनुकम्पा करने के निमित्त उन फूलों को गूंथते हैं। इसी तरह यह जगत् एक वन-खण्ड है। *वहां तप, नियम और ज्ञानमय कल्प-वृक्ष है। चौंतीस अतिशय-युक्त सर्वज्ञ उस पर आरूढ़ हैं।* वे केवली परिपूर्ण ज्ञान-रूपी पुष्पों को छद्मस्थता रूप भूमि पर अवस्थित ज्ञान रूपी पुष्प के अर्थी—इच्छुक गणधरों के निर्मल बुद्धिरूपी पट पर प्रक्षिप्त करते हैं।''[2]

---

१. तव-नियम नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥

—विशेषावश्यक भाष्य, १०९४-९५

२. रुक्खाइरूवयनिरूवणत्थ मिह दव्वरुक्खदिट्ठंतो।
जह कोई विउलवणसंडमज्झयारट्ठियं रम्मं।
तुंगं विउलक्खंधं साहसओ कप्परुक्खमारूढो।
पज्जत्तगहियबहुविहसुरभिकुसुमो ऽणुकंपाए।
कुसुमत्थिभूमिचिट्ठिय पुरिसपसारिय पडेसु पक्खिवइ।
गंथंति तेऽवि घेत्तुं सेसजणाणुग्गहट्ठाए॥
लोगवणसंडमज्झे चोत्तीसाइसयसंपओवेओ।
तव-नियम-नाणमइयं स कप्परुक्खं समारूढो॥
मा होज्ज नाणगहणम्मि संसओ तेण केवलिग्गहणं।
सोऽवि चउहा तओऽयं सव्वण्णू अमियनाणित्ति॥
पज्जत्तनाणकुसुमो ताइं छउमत्थभूमिसंथेसु।
नाणकुसुमत्थिगणहरसियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ॥

—विशेषावश्यक भाष्य, १०९९-११०१

एक प्रश्न : एक समाधान

भाष्यकार ने स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करते हुए इसका और विश्लेषण किया है, जो पठनीय है : "सर्वज्ञ भगवान् कृतार्थ हैं। कुछ करना उनके लिये शेष नहीं है। फिर वे धर्म-प्ररूपणा क्यों करते हैं ? सर्वज्ञ सर्व उपाय और विधि-वेत्ता हैं। वे भव्य जनों को ही बोध देने के लिए ऐसा करते हैं, अभव्यों को क्यों नहीं उद्बोधित करते ?"

समाधान प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं : "तीर्थंकर एकान्त रूप से कृतार्थ नहीं हैं; क्योंकि उनके जिन नाम-कर्म का उदय है। यह कर्म वन्ध्य या निष्फल नहीं है; अतः उसे क्षीण करने के हेतु यही उपाय है। अथवा कृतार्थ होते हुये भी जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है, वैसे ही दूसरों से उपकृत न होकर भी परोपकारपरायणता के कारण दूसरों का परम हित करना उनका स्वभाव है। कमल सूर्य से बोध पाते हैं—विकसित होते हैं तो क्या सूर्य का उनके प्रति राग है ? कुमुद विकसित नहीं होते, तो क्या सूर्य का उनके प्रति द्वेष है ? सूर्य की किरणों का प्रभाव एक समान है, पर, कमल उससे जो विकसित होते हैं और कुमुद नहीं होते, यह सूर्य का, कमलों का, कुमुदों का अपना-अपना स्वभाव है। उदित हुआ भी प्रकाशधर्मा सूर्य उल्लू के लिये उसके अपने दोष के कारण अन्धकार-रूप है, उसी प्रकार जिन रूपी सूर्य अभव्यों के लिये बोध-रूपी प्रकाश नहीं कर सकते। अथवा जिस प्रकार साध्य रोग की चिकित्सा करता हुआ वैद्य रोगी के प्रति रागी और असाध्य रोग की चिकित्सा न करता हुआ रोगी के प्रति द्वेषी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार भव्य जनों के कर्म-रोग को नष्ट करते हुए जिनेन्द्ररूपी वैद्य उसके प्रति रागी नहीं होते तथा अभव्य जनों के असाध्य कर्म-रूपी रोग का अपचय न करने से उसके प्रति वे द्वेषी नहीं कहे जा सकते। जैसे, कलाकार अनुपयुक्त काष्ठ आदि को छोड़ कर उपयुक्त काष्ठ आदि में रूप-रचना करता हुआ अनुपयुक्त काष्ठ के प्रति द्वेषी और उपयुक्त काष्ठ के प्रति अनुरागी नहीं कहा जाता, उसी प्रकार योग्य को प्रतिबोध देते हुए और अयोग्य को न देते हुए जिनेश्वर देव न योग्य के प्रति रागी और न अयोग्य के प्रति द्वेषी कहे जा सकते हैं।[1]

---

1. कीस कहेइ कयत्थो किं वा भवियाण चेव बोहत्थं ।
 सव्वोवायविहिण्णू किं वाऽभव्वे न बोहेइ ॥
 नेगंतेण कयत्थो जेणोदिण्णं जिणिंदनामं से ।
 तदवंझफलं तस्स य खवणोवाओऽयमेव जओ ॥
 जं च कयत्थस्स वि से अणुग्गहत्थं परोवगारित्तं ।
 परमहियदेसयत्तं भासयमाणस्स व रविणो ।
 किं व कमलेसु राओ रविणो बोहेइ जेण सो ताइं ।
 कुमुदेसु य से दोसो जं न विबुज्झंति से ताइं ॥

पुष्पमाला की तरह सूत्रमाला का ग्रथन

बीजादि बुद्धि[1] सम्पन्न व्यक्ति (गणधर) उस ज्ञानमयी पुष्प वृष्टि को समग्रतया ग्रहण कर विचित्र पुष्प-माला की तरह प्रवचन[2] के निमित्त सूत्र-माला—शास्त्रमाला ग्रथित करते हैं।

जिस प्रकार मुक्त—बिखरे हुए पुष्पों का ग्रहण दुष्कर होता है और गूंथे हुए पुष्पों या पुष्प-गुच्छों का ग्रहण सुकर होता है, वही प्रकार जिन-वचन रूपी पुष्पों के सम्बन्ध में है। पद, वाक्य, प्रकरण, अध्ययन, प्राभृत आदि निश्चित क्रमपूर्वक वे (सूत्र) व्यवस्थित हों, तो यह गृहीत है, यह ग्रहीतव्य है, इस प्रकार समीचीनता और सरलता के साथ उनका ग्रहण,

---

जं बोहमउलणाइं सूरकरामरिसओ समाणाओ ।
कमलकुमुयाण तो तं साभव्वं तस्स तेसिं च ॥
जह उल्लूगाईणं पगास धम्मावि सो सदोसेणं ।
उइओऽवि तमोरूवो एवमभव्वाण जिणसूरो ॥
सज्झं तिगिच्छमाणो रोगं रागी न भण्णए वेज्जो ।
मुणमाणो य असज्झं निसेहयंतो जह अदोसो ॥
तह भवकम्मरोगं नासंतो रागवं न जिणवेज्जो ।
न य दोसि अभव्वासज्झकम्मरोगं निसेहंतो ॥
मोत्तु अजोग्गं जोग्गे दलिए रूवं करेइ रूवारो ।
न य रागदोसिल्लो तहेव जोगे विबोहेंतो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य, ११०२-१११०

१. जिस बुद्धि द्वारा एक पद से अनेक पद गृहीत कर लिये जाते हैं, उसे बीज-बुद्धि कहते हैं। बीज-बुद्धि के साथ पाठ में उल्लिखित आदि शब्द कोष्ठ-बुद्धि का सूचक है। जैसे, धान्य कोष्ठ भरने में अखण्ड धान्य-भण्डार संजोये रखता है, उसी प्रकार जो बुद्धि अखण्ड सूत्र-वाङ्मय को धारण करती है, वह कोष्ठ-बुद्धि कही जाती है।

२. प्रवचन का अभिप्राय प्रसिद्ध वचन या प्रशस्त वचन या धर्मसंघ से है अथवा प्रवचन से द्वादशांग ग्रहण किया जा सकता है। वह (द्वादशांग प्रवचन) किस प्रकार (उद्भासित) हो, इस आशय से द्वादशांगात्मक प्रवचन के विस्तार के लिए या संघ पर अनुग्रह करने के लिए गणधर सूत्र-रचना करते हैं। द्वादशांग का प्रवचन सुखपूर्वक ग्रहण किया जा सके, उसका सुखपूर्वक गुणन—परावर्तन, धारण—स्मरण किया जा सके, सुखपूर्वक दूसरों को दिया जा सके, सुखपूर्वक पृच्छा—विवेचन, विश्लेषण, अन्वेषण किया जा सके, एतदर्थ गणधरों का सूत्र-रचना का प्रयास होता है।

गुम्फन—परावर्तन, धारण—स्मरण, दान, पृच्छा आदि सब सधते हैं। इसी कारण गणधरों ने श्रुत को अविच्छिन्न रखा है। उनके लिए ऐसा आवश्यक करणीय था, क्योंकि उन (गणधरों) की ऐसी मर्यादा है। गणधर-नाम-कर्म के उदय से उनके द्वारा श्रुत-रचना किया जाना अनिवार्य है। सभी गणधर ऐसा करते रहे हैं।[1]

स्पष्टीकरण के हेतु भाष्यकार जिज्ञासा-समाधान की भाषा में आगे बताते हैं: "तीर्थंकर द्वारा आख्यात वचनों को गणधर रचना का कलेवर देते हैं। फिर उनमें क्या विशेषता है? यथार्थता यह है कि तीर्थंकर गणधरों की बुद्धि की अपेक्षा से संक्षेप में तत्त्वाख्यान करते हैं, सर्वसाधारण हेतुक विस्तार से नहीं। दूसरे शब्दों में अर्हत् (सूत्र) अर्थ—भाषित करते हैं। गणधर निपुणतापूर्वक उसका (विस्तृत) सूत्रात्मक ग्रथन करते हैं। इस प्रकार धर्म-शासन के हित के लिए सूत्र प्रवर्तित होते हैं।"[2]

---

१ त नाणकुसुमवुट्ठिं घेत्तुं बीयाइबुद्धओ सव्वं ।
गंथंति पवयणट्ठा माला इव चित्तकुसुमाणं ॥
पगय वयणं पवयणमिह सुयनाणं कहं तय हाउजा ।
पवयणमहवा संघो गेण्हति तयग्गुणट्ठाए ।
घेत्तुं व सुहं सुहगुणणधारणा दाउं पुच्छिउं चेव ।
एएहि कारणेहिं जीय ति कयं गणहरेहि ॥
मुक्ककुसुमाण गहणाइयाइं जह दुक्करं करेउ जे ।
पुच्छाणं च सुहयर तहेव जिणवयणकुसुमाणं ॥
पय-वक्क-पगरण-ज्झाय-पाहुडाइनियत कमपमाणं ।
तयणुसरता सुहं चिय घेप्पइ गहियं इवं गेज्झं ।
एवं गुणणं धरणं दाणं पुच्छा य तयणुसारेण ।
होइ सुहं जीयति य कायव्वमियं जओऽवस्सं ॥
सव्वेहिं गणहरेहिं जीयंति सुयं जओ न वोच्छिन्नं ।
गणहरमज्जाया वा जीयं सव्वाणुचिन्नं वा ॥

—विशेषावश्यक भाष्य, ११११-१७

२. जिणभणिइ च्चिय सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ ।
सो तदविक्खो भासइ न उ वित्थरओ सुय किं तु ॥
अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तेई ॥

—वही, १११८-१९

अर्थ की अनभिलाप्यता

अर्थ की वाच्यता या वाग्गम्यता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने के अभिप्राय से भाष्यकार लिखते हैं : "अर्थ अनभिलाप्य है—वह अभिलाप या निर्वचन का विषय नहीं है। इसलिए शब्दरूपात्मक नहीं है। ऐसी स्थिति में अर्थ का किस प्रकार कथन कर सकते हैं? शब्द का फल अर्थ-प्रत्यायन है—वह अर्थ की प्रतीति कराता है। इसलिए शब्द में अर्थ का उपचार किया गया है। इस दृष्टिकोण से अर्थ-कथन का उल्लेख किया गया है।

पुनः आशंका करते हैं—"तब ऐसा कहा जा सकता है, अर्हत् अर्थ-प्रत्यायक सूत्र ही भाषित करते हैं, अर्थ नहीं। गणधर उसी का संग्रथन करते हैं। तब दोनों में क्या अन्तर हुआ है ?"

समाधान दिया जाता है—"अर्हत् पुरुषापेक्षया – गणधरों की अपेक्षा से स्फोट—थोड़ा सा कहते हैं, वे द्वादशांगी नहीं कहते; अतः द्वादशांगी की अपेक्षा से वह (अर्हत्-भाषित) अर्थ है तथा गणधरों की अपेक्षा से सूत्र।"[1]

मातृका-पद

उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवत्व सूचक तीन पद, जो अर्हत् द्वारा भाषित होते हैं, मातृका-पद कहे जाते हैं। उस सम्बन्ध में भाष्यकार लिखते हैं : "अंगादि सूत्र-रचना से निरपेक्ष होने के कारण (तीन) मातृका-पद अर्थ कहे जाते हैं। जिस प्रकार द्वादशांग प्रवचन—संघ के लिए हितकर है, उस प्रकार वे (मातृका-पद) हितकर नहीं हैं। संघ के लिए वही हितकर है, जो सुखपूर्वक ग्रहण किया जा सके। वह गणधरों द्वारा रचित बारह प्रकार का श्रुत है। वह निपुण—नियतगुण या निर्दोष सूक्ष्म तथा महान्—विपुल अर्थ का प्रतिपादक है।"[2]

---

१. नणु अत्थोऽणभिलप्पो स कहं भासइ न सद्दरूवो सो।
सद्दम्मि तदुवयारो अत्थप्पच्चायणफलम्मि॥
तो सुत्तमेव भासइ अत्थपच्चायगं, न अत्थं वि।
गणहारिणोऽवि तं चिय करिंति को अहविसेसो से॥
सो पुरिसावेक्खाए थोवं भण्णइ न उ बारसंगाइं।
अत्थो तदवेक्खाए सुत्तं चिय गणहराणं तं॥
—विशेषावश्यक भाष्य, ११२०-२२

२. उप्पायधुवव्ययाभिव्वंजगाओ तेण तिय जो अत्थो।
अहवा न तेऽणवक्खेऽप्पइरिक्ते वह बारसंगमिव॥
अहवा संघहियं पुण रूवं सुहगहणधारणादीहिं।
बारसंगाइं वयणं निउणं सुहुमं महत्थं च॥
निउणं वा नियगुणं निद्दोसं सुहुमत्थजुत्तं निउणं।
न पुण जिणाइ अणवक्खणेहिं जो सो य अत्थो॥
—वही, ११३१-३२

१०. विद्यानुप्रवाद पूर्व—अनेक अतिशय—चमत्कार-युक्त विद्याओं का, उनके अनुरूप साधनों का तथा सिद्धियों का वर्णन है। पद-परिमाण एक करोड़ दस लाख है।

११. अवन्ध्य पूर्व—वन्ध्य शब्द का अर्थ निष्फल होता है। निष्फल न होना अवन्ध्य है। इसमें निष्फल न जाने वाले शुभ फलात्मक ज्ञान, तप, संयम आदि का तथा अशुभ फलात्मक प्रमाद आदि का निरूपण है। पद-प्रमाण छब्बीस करोड़ है।

१२. प्राणायुप्रवाद पूर्व—प्राण अर्थात् पांच इन्द्रिय, मानस आदि तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास तथा आयु का भेद-प्रभेद सहित विश्लेषण है। पद-परिमाण एक करोड़ छप्पन लाख है।

१३. क्रिया-प्रवाद पूर्व—कायिक आदि क्रियाओं का, संयमात्मक क्रियाओं का तथा स्वच्छन्द क्रियाओं का विशाल-विपुल विवेचन है। पद-परिमाण नौ करोड़ है।

१४. लोकबिन्दुसार पूर्व—लोक में या श्रुत-लोक में अक्षर के ऊपर लगे बिन्दु की तरह जो सर्वोत्तम तथा सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि हेतु है, उस ज्ञान का वर्णन है।[1] पद-परिमाण साढ़े बारह करोड़ है।

चूलिकाएं

चूलिकाएं पूर्वों का पूरक साहित्य है। इन्हें परिकर्म, सूत्र, पूर्व गत तथा अनुयोग (दृष्टिवाद के भेदों) में उक्त और अनुक्त अर्थ की संग्राहिका ग्रन्थ-पद्धतियां[2] कहा गया है। दृष्टिवाद के इन भेदों में जिन-जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उन-उन विषयों में विवेचित महत्वपूर्ण अर्थों—तथ्यों तथा कतिपय अविवेचित अर्थों—प्रसंगों का इन चूलिकाओं में विवेचन किया गया है। इन चूलिकाओं का पूर्व वाङ्मय में विशेष महत्व है। ये चूलिकाएं श्रुत रूपी पर्वत पर चोटियों की तरह सुशोभित हैं।

---

१. लोके जगति श्रुत-लोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपात-लब्धि-हेतुत्वात् लोकबिन्दुसारम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२. यथा मेरो चूलाः, तत्र चूला इव दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः।

—वही, पृ० २५१५

पूर्वों के आधार पर रचना

दशवैकालिक की रचना के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि वह पूर्वों पर आधृ[illegible] उदाहरणार्थ, दशवैकालिक का धर्मप्रज्ञप्ति नामक अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व के, [illegible] नामक अध्ययन कर्म-प्रवाद पूर्व के, वाक्य-शुद्धि नामक अध्ययन सत्य-प्रवाद पूर्व के तथ[illegible] अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आधार पर प्रणीत हुए।

कल्पसूत्र-स्थविरावली में आर्य शय्यम्भव के लिए केवल इतना-सा उल्लेख है : "[illegible] मनगोत्रीय स्थविर आर्य प्रभव के अन्तेवासी आर्य शय्यम्भव थे। वे वत्सगोत्रीय थे और [illegible] के पिता थे।"[२]

आचार्य-काल

आचार्य शय्यम्भव तेईस वर्ष तक संघनायक (आचार्य) रहे। हिमवत् थेरावली[illegible] उनके स्वर्गवास का समय ९८ वीर-निर्वाणाब्द लिखा है, जो इससे संगत है। दिग[illegible] मान्यता के अनुसार विष्णु या नन्दी के पट्टधर अर्थात् जम्बू के पश्चात् दूसरे पट्टधर नन्दि[illegible] थे, जिनका संघ-नायक-काल सोलह वर्ष का माना जाता है।

आर्य यशोभद्र

आर्य यशोभद्र आर्य शय्यम्भव के अन्तेवासी थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके परिच[illegible] में लिखा है : "मनक के पिता, वत्सगोत्रीय स्थविर शय्यम्भव के अन्तेवासी आर्य स्थवि[illegible] यशोभद्र थे। वे तुंगियायन गोत्रोत्पन्न थे।"[१] आर्य शय्यम्भव के पश्चात् युग-संवाहक तथ[illegible] धर्म-संघनायक का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आर्य यशोभद्र पर आया, जिसका उन्होंने [illegible] सफलतापूर्वक निर्वाह किया। वे चतुर्दश पूर्वधर थे।

नन्दराजाओं को प्रतिबोध

कहा जाता है, आर्य यशोभद्र ने नन्दराजाओं को प्रतिबोध दिया। फलतः उन्होंने आर्ह[illegible] धर्म अंगीकार कर लिया।

हिमवत् थेरावली में उल्लेख है कि आर्य यशोभद्र के समय आठवाँ नन्द मगध का शास[illegible] था। वह बहुत लोभी था। उसने विरोचन नामक ब्राह्मण-मन्त्री की प्रेरणा से कलिंग देश[illegible]

---

१. जैन आगम, पं० दलसुख मालवणिया, पृ० १३

२. [illegible]

३. [illegible] तुंगियायन गोत्तं।

पर चढ़ाई की। उसे ध्वस्त-विध्वस्त कर दिया। साथ-ही-साथ उसने मगध सम्राट् श्रेणिक द्वारा कुमार गिरि पर निर्मापित ऋषभ-प्रासाद का भी ध्वंस किया और भगवान् ऋषभ की स्वर्णमयी प्रतिमा को मगध ले आया।[1]

आचार्य-काल

आर्य यशोभद्र का संघाधिपत्यकाल पचास वर्ष का माना जाता है। हिमवत् थेरावली में १४८ वीर निर्वाणाब्द में उनके स्वर्गगामी होने का उल्लेख है। उनका पचास वर्ष का आचार्य-काल इससे समर्थित है। दिगम्बर-मान्यता के अनुसार जम्बू के अनन्तर तीसरे आचार्य अर्थात् आर्य नन्दिमित्र के उत्तराधिकारी अपराजित हैं। उनका आचार्य-काल बाईस वर्ष का माना जाता है।

आर्य यशोभद्र के पश्चात्

कल्पसूत्र के अनुसार आर्य यशोभद्र के अनन्तर स्थविरावली के दो रूप हैं—संक्षिप्त और विस्तृत। वहां उल्लेख है : "संक्षिप्त वाचना के अनुसार आर्य यशोभद्र से आगे स्थविरावली इस प्रकार है—तुंगियायन गोत्रीय, स्थविर आर्य यशोभद्र के दो स्थविर अन्तेवासी थे—माढर गोत्रीय, स्थविर आर्य सम्भूतिविजय तथा प्राचीन गोत्रीय स्थविर आर्य भद्रबाहु।"[2]

---

१. इस सन्दर्भ में कुछ पहलू विचारणीय हैं। यदि नन्दवंशीय राजा जैन धर्मानुयायी थे, तो कलिंग के जैन राजा पर कैसे चढ़ाई करते, ऋषभ-प्रासाद को कैसे ध्वस्त किया जाता, भगवान् ऋषभ की स्वर्णमयी प्रतिमा को कुमारगिरि से उठा कर मगध क्यों लाया जाता ?

विद्वानों के इस सम्बन्ध में कई प्रकार के अभिमत हैं। कुछ का कहना है कि नन्द राजा की जैन धर्म के प्रति श्रद्धा न होती, तो ऋषभ की प्रतिमा को कलिंग से मगध क्यों ले जाया जाता, उसे नष्ट भी किया जा सकता था। वस्तुतः उस काल की राज-मनोवृत्ति के अनुसार अपने किसी धार्मिक राजा पर आक्रमण करना एक बात थी और धर्म की आराधना व विराधना का प्रश्न उससे पृथक् था। जैन मान्यतानुसार मगध-नरेश कुणिक—अजातशत्रु जैन था और लिच्छवि गणाध्यक्ष चेटक भी जैन था, पर, उनमें परस्पर भीषण संग्राम हुआ। फलतः गणतन्त्रात्मक शासन का उन दिनों का एक उत्कृष्ट प्रतीक लिच्छवि-गणराज्य सदा के लिए नष्ट हो गया।

२. संखित्तवायणाए अज्ज जसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया, तं जहा—थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा—थेरे अज्ज संभूयविजए माढरस-गोत्ते, थेरे अज्ज भद्दबाहू पाईणसगोत्ते।

आर्य यशोभद्र [illegible]
भद्रबाहु के सम्बन्ध में [illegible]।

दो उत्तराधिकारी : [illegible]

आर्य यशोभद्र तक वर्तमान के अभिनायक या उत्तराधिकारी के रूप में एक ही व्यक्ति का मनोनयन किया जाता रहा। पर [illegible] के नेतृत्व में [illegible] आर्य यशोभद्र के अनन्तर एक नई परम्परा का सूत्रपात हुआ। आर्य यशोभद्र को अपने शिष्यों में दो [illegible] के योग्य लगे। दोनों की अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता को देखते हुए [illegible] किसे उत्तराधिकारी मनोनीत किया जाए। दोनों में से किसी एक के पक्ष में [illegible] निर्णय न ले सकने के कारण उन्होंने दोनों शिष्यों: सम्भूतिविजय तथा भद्रबाहु को ही उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इस प्रकार एक विशेष परिपाटी का प्रचलन हुआ। पर, उसका परिणाम अनुपयुक्त नहीं हुआ। स्थिति इस प्रकार की रही कि एक पद पर दो संघपतियों के होने पर भी संघ-व्यवस्था तथा संचालन में कोई द्विविधा नहीं हुई, क्योंकि दोनों का विशेष उत्तराधिकार नहीं था। संघीय व्यवस्था, संचालन, निर्देश आदि में प्रथम या ज्येष्ठ पट्टधर का पूरा अधिकार था। द्वितीय या कनिष्ठ पट्टधर उनके जीवन-काल में उसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करते। ज्येष्ठ पट्टधर का स्वर्गवास होने पर कनिष्ठ पट्टधर के हाथों में वे सारे अधिकार आ गये, जो ज्येष्ठ पट्टधर के पास थे।

केवल अन्तर इतना-सा हुआ, एक ही उत्तराधिकारी मनोनीत किये जाने की परम्परा में अग्रिम उत्तराधिकारी या संघनायक के मनोनयन का अधिकार वर्तमान संघपति को होता, वहाँ इस नई परम्परा के अनुसार पहले उत्तराधिकारी के पश्चात् दूसरे उत्तराधिकारी के पास संघ का सारा दायित्व स्वयमेव आ जाता; क्योंकि उसका मनोनयन पहले से ही किया हुआ था। इस द्वि-आचार्य-परम्परा से संघीय व्यवस्था में किसी भी प्रकार की असंगतता नहीं आई। दूसरे, यह स्थिति तो कादाचित्क थी, वस्तुतः अधिकांशतः एक ही आचार्य या उत्तराधिकारी मनोनीत किये जाने की परम्परा प्रचलित थी।

आर्य सम्भूतिविजय

आर्य सम्भूतिविजय ज्यायान् थे; अतः आर्य यशोभद्र के पश्चात् संघनायक या आचार्य वे ही हुए। वे चतुर्दश पूर्वधर थे। उनका आचार्य-काल आठ वर्ष का माना जाता है। हिमवत् थेरावली के अनुसार उनका स्वर्गवास १५६ वीर-निर्वाणाब्द में हुआ। दिगम्बर-आम्नाय में जम्बू के पश्चात् चतुर्थ संघनायक अपराजित के उत्तराधिकारी आचार्य गोवर्द्धन माने गये हैं। उनका आचार्य-काल उन्नीस वर्ष का है।

महान् प्रभावक आचार्य भद्रबाहु

परम्परया ऐसा माना जाता है कि आचार्य भद्रबाहु का दक्षिण में प्रतिष्ठान पुर (पैठन) में एक ब्राह्मण-परिवार में जन्म हुआ था। उन्होंने अपनी वंश-मर्यादा के अनुसार अनेक विद्याओं का अध्ययन किया। उनके पारगामी बने। कहा जाता है, उनकी आर्थिक स्थिति कष्टपूर्ण थी। कोई ऐसा प्रसंग बना हो, आर्हत्-दर्शन के प्रति उनका आकर्षण बढ़ा तथा उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली।

वराहमिहिर से सम्बन्ध

ऐसी भी जन-श्रुति प्रचलित है, महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर आचार्य भ थे। पर, वराहमिहिर के प्राप्त साहित्य के आधार पर उनका काल विक्रम की निश्चित होता है। आचार्य भद्रबाहु का समय विक्रम के बहुत पूर्ववर्ती है; तथा वराहमिहिर का जो सम्बन्ध कल्पित किया जाता है, वह असंगत है।

छेद-सूत्रों के रचनाकार

श्रुत-वाङ्मय में निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्क पंचकल्प (अथवा जीतकल्प) छेद-सूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं। दशाश्रुतस्कन्ध में इतिहास क्रमबद्ध व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्मानुयायी था वैदिक धर्म को मानता था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

परिशिष्ट पर्व

परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया गया है कि महामात्य चाणक्य जैन था। वह च को जैन बनाने के लिये प्रयत्नशील था। एक बार उसने दो परिषदों में विभिन्न दा परम्पराओं के साधुओं को समाहृत किया। एक परिषद् में जैन श्रमण भी आमन्त्रित चन्द्रगुप्त जैन श्रमणों से प्रभावित हुआ। उसने जैन धर्म स्वीकार भी कर लिया। समस्त श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन वाङ्मय में चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं, जि भविष्य में धर्म-क्षेत्र में होने वाली ह्रासोन्मुख स्थितियों का सूचन है।

चन्द्रगुप्त की राज-सभा में रहने वाले यूनान के राजदूत मेगस्थनीज़ ने जो उल्लेख कि है, उसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के धर्म-सिद्धान्त के प्रतिरूप जैन श्रमणों के सिद्धान्त धर्मोपदेश स्वीकार किये थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् टामस के अनुसार केवल चन्द्रगुप्त ही नहीं उसका पुत्र बिन्दुसार तथा पौत्र अशोक भी जैन था। टामस ने मुद्राराक्षस, राजतरंगिणी तथा आइने अकबरी आदि ग्रन्थों द्वारा इसे समर्थित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध धर्म-

ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का ब्राह्मण धर्म के प्रति श्रद्धावान् होना प्रकट होता है।

अशोक के लिए ऐसा सम्भव हो सकता है कि वह पहले जैन रहा हो। बाद में उसने धर्म-परिवर्तन कर लिया हो। हिमवत् थेरावली में उल्लेख है कि अशोक राज्य-प्राप्ति के चार वर्ष पश्चात् बौद्ध हो गया था। उसके शिलालेखों में घोषणाओं के अन्तर्गत निर्ग्रन्थों को दान देने का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने पर भी सम्राट् का निर्ग्रन्थों के प्रति आदर तथा श्रद्धा-भाव था। अनुमान किया जा सकता है, उसका मुख्य कारण सम्राट् का कभी निर्ग्रन्थ-मतानुयायी रहना है। डा० ल्यूमैन, हार्नले, स्मिथ, राइस डेविड्स, जायसवाल प्रभृति इतिहासकारों का अभिमत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था। वे यह भी मानते हैं कि सम्राट् आचार्य भद्रबाहु का शिष्य था।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध

आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के गुरु-शिष्यात्मक सम्बन्ध के विषय में कोई बहुत पुष्ट प्रमाण अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। यह विषय गवेषणा और विवेचना-सापेक्ष है। प्रमुख इतिहास-अध्येता मुनि कल्याणविजयजी का भी इसी प्रकार का मत है। उनके अनुसार अभी तक कोई भी उस प्रकार का ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके। उनका कथन है कि चन्द्रगुप्त के समय में जब उसके राज्य में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, तब पाटलिपुत्र में सुट्ठिय—सुस्थित नामक वृद्ध आचार्य थे, इस प्रकार के पुराने लेख तो प्राप्त होते हैं, पर, दशम शती से पूर्व का कोई भी ऐसा लेख या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिससे यह प्रमाणित हो सके। हिमवत् थेरावली में जो उल्लेख है, उसके अनुसार आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास १७० वीर-निर्वाणाब्द में तथा चन्द्रगुप्त का देहावसान १८४ वीर-निर्वाणाब्द में सूचित होता है। इस प्रकार आचार्य भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के देह-त्याग में चौदह वर्ष का अन्तर है, जो उनकी समसामयिकता के सूचन के लिए पर्याप्त है। इन सब स्थितियों के होते हुए भी आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर परवर्ती ही सही, जैन साहित्य व जैन अनुश्रुतियों में जो इतनी चर्चा है, उस पर और गहराई से सोचना कम आवश्यक नहीं है।

आगमों की प्रथम वाचना

अनेक स्रोतों से यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। जनता अन्नादि खाद्य पदार्थों के अभाव में त्राहि-त्राहि करने लगी। भिक्षोपजीवी श्रमणों को भी तब भिक्षा कहाँ से प्राप्त होती। स्थविरावली में इस सम्बन्ध में उल्लेख है : "वह दुष्काल काल-रात्रि के समान कराल था। साधु-संघ (भिक्षापूर्वक)

जीवन-निर्वाह हेतु समुद्र-तट पर चला गया। अधीत का गुणन—आवृत्ति न किये जाने के कारण साधुओं को श्रुत विस्मृत हो गया। अभ्यास न करते रहने से मेधावी जनों द्वारा किया गया अध्ययन भी नष्ट हो जाता है। दुष्काल का अन्त हुआ। सारा साधु-संघ पाटलिपुत्र में मिला। जिस-जिस को जो अंग, अध्ययन, उद्देशक आदि स्मरण थे, उन्हें संकलित किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं हो सका। संघ को चिन्ता हुई। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे, वे नेपाल के मार्ग में थे। श्रीसंघ ने उन्हें बुलाने के लिए दो मुनि भेजे।"[1] आचार्य हरिभद्र के प्राकृत उपदेश पद में भी इसी प्रकार का उल्लेख[2] है। आवश्यक चूर्णि में भी इसी तरह का वर्णन है।

दक्षिण जाने की कल्पना

नीरनिधि अथवा समुद्र-तट पर साधुओं के जाने का जो यहां उल्लेख है, उससे श्रमण-संघ के दक्षिणी समुद्र-तट या दक्षिण देश जाने की कल्पना की जाती है। नीरनिधि से दक्षिणी समुद्र-तट ही क्यों लिया जाए? उससे बंगोपसागर (बंगाल की खाड़ी) भी लिया जा सकता है, जिसके तट पर उड़ीसा की एक लम्बी पट्टी अवस्थित है, जहां जैन धर्म का संचार हो चुका था।

---

१. इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
   निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ॥
   अगुण्यमानं तु तदा, साधूनां विस्मृतं श्रुतम्।
   अनभ्यसनतो नश्यत्यधीतं धीमतामपि॥
   संघोऽथ पाटलिपुत्रे, दुष्कालान्तेऽखिलोऽमिलत्।
   यदंगाध्ययनोद्देशाद्यासीद् यस्य तदादे॥
   ततश्चैकादशांगानि, श्रीसंघोऽमेलयत्तदा।
   दृष्टिवादनिमित्तं च, तस्थौ किंचिद् विचिन्तयन्॥
   नेपालदेशमार्गस्थं, भद्रबाहुं च पूर्विणम्।
   ज्ञात्वा संघः समाह्वातुं, ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम्॥
   —स्थविरावली चरितम्, ९, ५५-५९

२ जाओ अ तम्मि समये दुक्कालो दो य दसम वरिसाणि।
   सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु॥
   तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
   संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति॥
   जं जस्स आसि पासे उद्देस ज्झयण माइसंघडिउं।
   तं सव्वं एक्कारस अंगाइं तहेव ठवियाइं॥

भद्रबाहु द्वारा पूर्वों की वाचना

आचार्य भद्रबाहु के पास श्रमण संघ का संदेश पहुंचा। वे महाप्राण ध्यान की साधना में निरत थे। उनके लिए पाटलिपुत्र आ सकना सम्भव नहीं था। ऐसे उनकी साधना बाधित होती। इसलिए उन्होंने स्वीकार किया कि यहाँ रहते हुए वे मेधावी श्रमण-साधकों को पूर्वों की वाचना दे सकेंगे—अध्ययन करा सकेंगे। कहा जाता है, पाटलिपुत्र श्रमण संघ ने पन्द्रह सौ श्रमणों को नेपाल भेजा। उनमें पांच सौ विद्यार्थी श्रमण थे तथा प्रत्येक अध्ययनार्थी श्रमण के खान-पान आदि आवश्यक कार्यों की व्यवस्था, परिचर्या आदि के हेतु दो-दो श्रमण नियुक्त थे। इस प्रकार कुल एक हजार परिचारक श्रमण थे।

आचार्य भद्रबाहु ने वाचना देना प्रारम्भ किया। आगे उत्तरोत्तर वाचना चलते रहने में कठिनाई सामने आने लगी। इतिहास—पूर्व ज्ञान की अत्यधिक दुरूहता व क्लिष्टता तथा तदनुरूप (तदोत) बौद्धिक क्षमता व धारणा-शक्ति की न्यूनता के कारण अध्ययनार्थी श्रमण परिश्रान्त होने लगे। अन्ततः वे घबरा गये। उनकी हिम्मत टूट गयी। स्थूलभद्र के अतिरिक्त कोई भी श्रमण अध्ययन में नहीं टिक सका। स्थूलभद्र ने अपने अध्ययन का क्रम निर्बाध चालू रखा। दश पूर्वों का सूत्रात्मक तथा अर्थात्मक ज्ञान उन्हें अधिगत हो गया। आगे अध्ययन चल ही रहा था। इस बीच एक घटना घट गयी। उनकी बहिनें जो साध्वियां थीं, श्रमण भाई की ध्यानाराधना देखने के लिए आईं। स्थूलभद्र इसे पहले ही जान गये। बहिनों को चमत्कार दिखाने के हेतु विद्या-बल से उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। बहिनें भय से ठिठक गयीं। स्थूलभद्र तत्क्षण अपने असली रूप में आ गये। बहिनें आश्चर्य-चकित हो गयीं।

आचार्य भद्रबाहु ने सब कुछ जान लिया। वे विद्या के द्वारा बाह्य चमत्कार दिखाने के पक्ष में नहीं थे; अतः इस घटना से वे स्थूलभद्र पर बहुत रुष्ट हुए। आगे वाचना देना बन्द कर दिया। स्थूलभद्र ने क्षमा मांगी, बहुत अनुनय-विनय किया, तब उन्होंने उनको आगे के चार पूर्वों का ज्ञान केवल सूत्र रूप में दिया, अर्थ नहीं बतलाया। स्थूलभद्र को चतुर्दश पूर्वों का पाठ तो ज्ञात हो गया, पर, वे अर्थ दश ही पूर्वों का जान पाये; अतः उन्हें पाठ की दृष्टि से चतुर्दश पूर्वधर और अर्थ की दृष्टि से दश पूर्वधर कहा जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भद्रबाहु के अनन्तर चार पूर्वों का विच्छेद हो गया।

प्रथम वाचना के अध्यक्ष या निर्देशक ?

ग्यारह अंगों का संकलन पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। इसे प्रथम-वाचना कहा जाता है। इसकी विधिवत् अध्यक्षता या नेतृत्व किसने किया, स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। आचार्य भद्रबाहु विशिष्ट योग-साधना के सन्दर्भ में नेपाल गये हुए थे; अतः उनका नेतृत्व तो सम्भव था ही

नहीं। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र की ही सब दृष्टियों से वरीयता अभिमत है। यह भी हो सकता है, आचार्य भद्रबाहु जब नेपाल जाने लगे हों, उन्होंने संघ का अधिनायकत्व स्थूलभद्र को सौंप दिया हो। अधिकतम यही सम्भावना है, प्रथम आगम-वाचना स्थूलभद्र के नेतृत्व में हुई हो।

आचार्य भद्रबाहु : दिगम्बर-मान्यता

दिगम्बर-परम्परा में सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि मगध में पड़े द्वादश वर्षीय दुष्काल के समय आचार्य भद्रबाहु जैन संघ सहित दक्षिण चले गये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उनके साथ गया, एक मुनि के रूप में। श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के चन्द्रगिरि नामक पर्वत पर उनका स्वर्गवास हुआ।

श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) स्थित पार्श्वनाथ-बसति के एक शिलालेख में उल्लेख है कि आचार्य भद्रबाहु के वचन से जैन संघ उत्तरापथ (उत्तर भारत) से दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) गया। पर, उस शिलालेख में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि आचार्य भद्रबाहु भी उनके साथ दक्षिण गये थे। यह शिलालेख शक संवत् ५२२ के आस-पास का लिखा हुआ है।

वृहत्कथाकोष

बृहत्कथाकोष ग्रन्थ में भी इस सम्बन्ध में वर्णन है। इसके लेखक आचार्य हरिषेण हैं और रचना-समय शक-संवत् ८५३ है। उसमें जो विवरण है, उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—आचार्य भद्रबाहु किसी समय विहार करते हुए उज्जयिनी पहुँचे। वहां सिप्रा नदी के किनारे एक उद्यान में ठहरे। वे भिक्षार्थ नगर में गये। एक घर में देखा, एक बच्चा झूले में झूल रहा है। बच्चे ने चिल्लाकर कहा—निकल जाओ। इस निमित्त से उन्हें प्रतीत हुआ कि बारह वर्षों का एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। उन्होंने संघ को बुलाया और सारे वृतान्त से अवगत कराया। उन्होंने कहा, अच्छा यही है, लोग दक्षिण देश चले जाएं। मुझे स्वयं यहीं ठहरना होगा; क्योंकि मेरी आयु अब क्षीण हो चुकी है।[1]

विशाखाचार्य का दक्षिण-गमन

इसी कथाकोष में एक महत्वपूर्ण उल्लेख यह है कि चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। वे विशाखाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। गुरु की आज्ञा से वे संघ-सहित दक्षिण में पुन्नाट देश गये। यहां रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य को अपने-अपने संघों सहित सिन्धु आदि देशों में भेजे जाने की चर्चा है। बृहत्कथाकोष में यह भी उल्लेख

---

१. अहमत्रैव तिष्ठामि क्षीणमायुर्ममाधुना।

है कि आचार्य भद्रबाहु ने उज्जयिनी के भाद्रपद संज्ञक स्थान में समाधि-मरण प्राप्त किया।[1]

भद्रबाहु चरित्र

आचार्य रत्ननन्दि रचित भद्रबाहु चरित्र (रचना काल विक्रम की सोलहवीं शताब्दी) में भी लगभग बृहत्कथा कोष के सदृश वर्णन है। वहाँ लिखा है : "आचार्य भद्रबाहु भिक्षार्थ एक घर में गये। उस सूने घर में एक साठ दिन का बच्चा झूले में झूल रहा था। वह मुनि को उद्दिष्ट कर बोला—चले जाओ, चले जाओ।"

आचार्य भद्रबाहु ने झट पूछा—कितने वर्ष के लिये ? बच्चे ने कहा—बारह वर्ष।"[2]

आचार्य भद्रबाहु ने इस निमित्त से बारह वर्षों के भयंकर दुर्भिक्ष की आशंका की। वे स्वयं बारह सहस्र श्रमणों सहित दक्षिण को प्रयाण कर गये। श्रावकों के विशेष अनुरोध पर उन्होंने रामल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य को वहीं छोड़ दिया।[3] इसी ग्रन्थ में उज्जयिनी के राजा द्वारा आचार्य भद्रबाहु से श्रमण-दीक्षा स्वीकार करने का भी उल्लेख है। वहाँ उसका नाम 'चन्द्रगुप्त' के स्थान पर चन्द्रगुप्ति लिखा है।[4]

---

१. प्राप्य भाद्रपदं देशं, श्रीमदुज्जयनी भवम् ।
चकारानशनं धीरः, स दिनानि बहून्यलम् ॥
समाधिमरणं प्राप्य, भद्रबाहुर्दिवं ययौ ।

२. तत्र शून्यगृहे चैको, विद्यते केवलं शिशुः ॥
झोलिकान्तर्गतः षष्टि-दिवस प्रमितस्तदा ।
गच्छ गच्छ वचो वावीत्तच्छ्रुत्वा मुनिना द्रुतम् ॥
शिशुरुक्ता पुनस्तेन, कियन्तोऽब्दाः शिशो ! वद ।
द्वादशाब्दा मुने ! प्रोचे, निशम्य तद्वचः पुनः ॥
—द्वितीय परिच्छेद, श्लोक ५८-६०

३. विदित्वा विरसंयोऽसौ गुरुणामाशयं पुनः ।
रामल्यस्थूलभद्राख्यस्थूलाचार्यादियोगिनः ॥
प्रणम्य प्रार्थयामास भक्त्या संस्थितिहेतवे ।
भाउगनापुररोधेन प्रतिपन्नं तु तद्वचः ॥
रामल्यप्रमुखास्तस्थु, सहस्रद्वादशर्षयः ।
—वही, ८८-९०

४. चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम् ।
चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारु गुणोदयः ॥ २.७
चन्द्रश्रीर्भामिनी तस्य चन्द्रमः श्रीरिवापरा ।
पत्नी मनोहिता जाता कलादिगुणशालिनी ॥ २.९
दर्शनोऽनुभवा पुरो हित्वा संग हित्वा मुनीः ।
अगाद संघर्ष शुद्धं सार्द्ध शिवशर्मभिः ॥
—वही, २१

आकाशवाणी

आचार्य भद्रबाहु संघ-सहित दक्षिण की ओर बढ़े जा रहे थे कि एक जंगल को पार करते समय उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी । उससे उन्होंने जाना कि उनकी आयु बहुत कम शेष रही है । उन्होंने दशपूर्व धर विशाखाचार्य को गाम्भीर्य आदि अनेक सद्गुणों से युक्त जान कर धर्मसंघ की सारणा वारणा के लिए अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ।[1] गुरुभक्त, नवदीक्षित मुनि चन्द्रगुप्त उनकी सेवा में रह गया[2] । थोड़े समय बाद आचार्य भद्रबाहु ने वहीं समाधि-मरण प्राप्त किया ।[3]

विशाखाचार्य दक्षिण की ओर बढ़ते-बढ़ते जैन शासन को उद्दीप्त तथा नव-दीक्षितों को अध्यापित करते हुए चोल देश पहुंचे । उनके दक्षिण देश में पर्यटन करते, प्रवास करते तथा धर्म-प्रसार करते हुए बारह वर्ष का समय व्यतीत हो गया । तदनन्तर विशाखाचार्य के नेतृत्व में संघ वापिस (उज्जयिनी) लौट आया । पीछे रहे साधुओं में शिथिलता आ गयी थी । विशाखाचार्य ने उन साधुओं को समझाने का प्रयत्न किया कि इस प्रतिकूल (शास्त्र-विरुद्ध) चर्या का परित्याग कर दें । पर, वे सुविधा-भोगी मुनि नहीं माने । जब स्थूलाचार्य ने भी उन्हें समझाने की चेष्टा की, तो वे उबल पड़े और उन्हें डण्डों से पीटते-पीटते गड्ढे में

---

१. अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः ।
प्रापन्महाटवीं तत्र शुश्राव गगन-ध्वनिम् ॥
श्रुत्वा महाद्भुतं शब्दं निमित्तज्ञानतः सुधीः ।
आयुरल्पिष्टमात्मीयमज्ञासीद्बोधलोचनः ॥
तदा साधुः समाहूय तत्रैव सकलान्मुनीन् ।
विशाखाचार्यं आपन्नं ज्ञात्वा सद्गुणसम्पदा ॥
दशपूर्वधरं धीरं गाम्भीर्यादिगुणान्वितम् ।
स्वशिष्यगणरक्षार्थं स्वपदे पर्यकल्पयत् ॥
—तृतीय परिच्छेद, १-४

२. चन्द्रगुप्तिस्तदाचारी द्विनयान्नवदीक्षितः ।
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपास्तेऽति भक्तितः ॥
गुरुणा वार्यमाणोऽपि गुरुभक्तः स तस्थिवान् ।
गुरु शिष्टिवशादन्ये तस्माच्चेलुस्तपोधनाः ॥
—वही, ८-९

३. समाधिना परित्यज्य देहं गेहं दशां मुनिः ।
नाकिलोकपदं प्राप्तो देवदेवीनमस्कृतम् ॥
—वही, १९

फेंक दिया।[1]

कन्नड़ ग्रन्थ राजावली

कन्नड़ भाषा में राजावली नामक ग्रन्थ है, जिसमें आचार्य भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त का कथानक है। राजावली शक संवत् १७६१ की रचना है। इसके रचयिता देवचन्द्र हैं। अधिकांश वर्णन भद्रबाहु-चरित्र जैसा है। कुछ नये समावेश भी हैं। उदाहरणार्थ-भद्रबाहु चरित्रकार ने उज्जयिनी के राजा चन्द्रगुप्त (चन्द्रगुप्ति) के सोलह स्वप्नों का वर्णन किया है, वहां राजावलीकार ने उन (स्वप्नों) का सम्बन्ध पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त से जोड़ा है।

भिन्न-भिन्न आधारों पर जो उल्लेख किया गया है, उससे यह तथ्य समर्थित नहीं होता कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु दक्षिण गये, वहां टिके, दिवंगामी हुए। बृहत्कथाकोषकार आचार्य भद्रबाहु के उज्जयिनी क्षेत्र में दिवंगत होने का उल्लेख करते हैं, जब कि भद्रबाहु-चरित्रकार उनकी दक्षिण-यात्रा के बीच मार्ग में उनके समाधि-मरण की चर्चा करते हैं। ये परस्पर टकराने वाले तथ्य हैं। बृहत्कथाकोषकार ने आचार्य भद्रबाहु द्वारा रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य को सिन्धु आदि देशों में भेजे जाने का संकेत किया है और भद्रबाहु-चरित्रकार ने उन्हें उज्जियिनी में ही रखा है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्थूलवृद्ध को स्थूलभद्र तथा भद्राचार्य को स्थूलाचार्य तक बना दिया है। भद्रबाहुचरित्रकार द्वारा ये नाम परिवर्तित रूप में कैसे दिये गये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न उभरता है, जब कि उनसे पूर्ववर्ती लेखक स्थूलवृद्ध और भद्राचार्य ही प्रयुक्त करते आये हैं।

चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध एक विशेष प्रश्न उपस्थित होता है—उसका सम्बन्ध पाटलिपुत्र से था या उज्जयिनी से। दिगम्बर लेखकों का झुकाव चन्द्रगुप्त को उज्जयिनी का मानने की ओर अधिक है। केवल कन्नड़ ग्रन्थ राजावली के लेखक देवचन्द्र ही ऐसे हैं, जिनके अनुसार षोडश स्वप्न-द्रष्टा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से था—वह वहां का राजा था।

---

१. दुःस्थितास्ते तदा प्रोचुर्वर्षीयानेव वेत्ति न।
वस्तीत्यं कातुल्लोमूनो बाधंश्चे वा मतिभ्रमात् ॥
दुदोऽस्य यावत्साम्नि तावन्तो न मुक्तस्थितिः।
इति संचिन्त्य ते पापास्तं हन्तुं मतिमादधुः ॥
दुरैस्वरैः शिष्यैर्मौरव्यैर्द्रव्यैर्हतो हृतात्।
श्रीमारिचन्द्रेण्यत्तो क्षितौ गतैं भूतेन तत्र वै ॥

—चतुर्थ परिच्छेद, १६-१८

आचार्य भद्रबाहु तक यद्यपि जैन धर्म भारत में चारों ओर फैल चुका था, पर यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तब तक जैन धर्म का मुख्य केन्द्र मगध और समीपवर्ती प्रदेश थे। इसलिये यह सम्भावित माना जा सकता है कि सामान्यतः आचार्य भद्रबाहु का भी अधिक प्रवास और विहार मगध व उसके पार्श्ववर्ती भू-भागों में होता रहा हो। इस आधार पर उनसे सम्बद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त का पाटलिपुत्र में स्थित होना कहीं अधिक संगत है। पाश्चात्य तथा भारतीय इतिहासज्ञों के अभिमत भी प्रायः चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र से सम्बद्ध मानने की ओर अधिक हैं।

सभी श्वेताम्बर लेखक आचार्य भद्रबाहु का विशिष्ट यौगिक-साधना (महाप्राणध्यान) की दृष्टि से नेपाल जाना स्वीकार करते हैं। पाटलिपुत्र क्षेत्र से नेपाल जाना सर्वथा संगत और सम्भाव्य प्रतीत होता है। नेपाल पर्वतीय प्रदेश है। योग-साधना के अनुकूल है। पाटलिपुत्र से बहुत दूर भी नहीं है।

यह भी कल्पना की जाती है कि अवन्ती-प्रदेश मगध-साम्राज्य का भाग रहा हो। मगध-साम्राज्य के पश्चिमी भाग का केन्द्र-स्थान, प्रादेशिक राजधानी या साम्राज्य की उप-राजधानी उज्जयिनी रही हो। पाटलिपुत्र (मगध)-नरेश चन्द्रगुप्त अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उज्जयिनी में रहने लगा हो और आचार्य भद्रबाहु से सम्बद्ध घटना-क्रम उस समय के हों।

स्थिति आकलन का स्पष्ट रूप इस सम्बन्ध में इस प्रकार है—अशोक के समय में हो ऐसा हुआ था। पाटलिपुत्र मगध-साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी था तथा उज्जयिनी का स्तर भी मगध-साम्राज्य के पश्चिमी भाग पाटनगर या मगध-साम्राज्य की उपराजधानी जैसा था। अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को पश्चिम का प्रादेशिक शासक बना कर वहीं भेजा था। हिमवत् थेरावली में भी उल्लेख है कि २४६ वीर निर्वाणाब्द में संप्रति (अशोक का पौत्र) उज्जयिनी चला गया था। पर, चन्द्रगुप्त ने वैसा किया हो, वह स्वयं वहां रहा हो, इस सम्बन्ध में पुष्ट प्रमाण अप्राप्त हैं; अतः यह कल्पना अस्थानीय है।

वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से ही संगत प्रतीत होता है। फिर भी इसे इदंभूत तथ्य न मानते हुए गवेषणा-सापेक्ष माना जाना चाहिए। अन्ततः इस प्रसंग को यही उल्लेख करते हुए समाप्त किया जाता है, आचार्य भद्रबाहु दक्षिण गये होंगे, पर, सम्भवतः वे द्वितीय भद्रबाहु रहे होंगे। प्रथम भद्रबाहु के साथ दक्षिण जाने का प्रसंग घटित नहीं होता।

संघाधिपत्य

आर्य जम्बू के अनन्तर भगवान् महावीर के धर्म-संघ के पांचवें अधिकारी या

संघनायक आचार्य भद्रबाहु श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत हैं। क्रमशः होने वाले पांच पट्टधरों में एकमात्र यही पट्टधर हैं, जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों पट्टानुक्रमों में एक है। इनके संघनायकत्व के काल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में ऐकमत्य नहीं है। श्वेताम्बर आचार्य भद्रबाहु का आचार्यत्व-काल चौदह वर्ष का मानते हैं, जब कि दिगम्बरों के अनुसार यह काल उनतीस वर्ष का है। श्वेताम्बर मान्यतानुसार आर्य जम्बू के मोक्षगामी होने से लेकर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगामी होने तक का समय (प्रभव ११ वर्ष + शय्यम्भव २३ वर्ष + यशोभद्र ५० वर्ष + सम्भूतिविजय ८ वर्ष तथा भद्रबाहु १४ वर्ष = १०६ वर्ष) एक सौ छः वर्ष का होता है। महावीर-निर्वाण से जम्बू-निर्वाण तक का समय चौंसठ वर्ष का है ही। इस प्रकार (६४+१०६=१७०) भगवान् महावीर से आचार्य भद्रबाहु तक का समय १७० वर्ष का होता है।

दिगम्बर-परम्परानुसार आर्य जम्बू के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु तक – विष्णु या नन्दी १४ वर्ष + नन्दिमित्र १६ वर्ष + अपराजित २२ वर्ष + गोवर्द्धन १९ वर्ष + भद्रबाहु २९ वर्ष = कुल समय १०० वर्ष का होता है। ये पांचों आचार्य श्रुत केवली माने जाते हैं। इनके बाद भरत क्षेत्र में श्रुतकेवली होना वे स्वीकार नहीं करते[1]। महावीर-निर्वाण से जम्बू-निर्वाण तक का समय ६२ वर्ष का है[2]। इस प्रकार (६२ +१००=१६२) महावीर-निर्वाण से आचार्य भद्रबाहु तक का समय १६२ वर्ष का होता है।

आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास

आचार्य भद्रबाहु के बारे में दिगम्बर लेखकों द्वारा उनके स्वर्गवास के विषय में भी चर्चा की गयी है। श्वेताम्बर-परम्परा में उनके स्वर्गवास के सम्बन्ध में जो संकेत प्राप्त होते हैं, वे उनसे भिन्न हैं। हिमवत् थेरावली में इस विषय में जो उल्लेख है, उसका सारांश इस प्रकार

---

१. णंदी य णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहु त्ति॥
पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा।
बारस अंगधरा तित्थे सिरि वड्ढमाणस्स॥
पंचाणं मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं।
वीरम्मि य पंचमए भरहे सुदकेवली णत्थि॥
—तिलोयपण्णत्ती, १४८२-८४

२. बासट्ठी वासाणि गोदम पहुदीण णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेणं॥
—तिलोयपण्णत्ती, १४७८

पूर्व-विच्छेद-काल

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार आचार्य स्थूलभद्र के देहावसान के साथ अन्तिम चार पूर्वों (जो उन्हें सूत्रात्मक रूप में प्राप्त थे, अर्थात्मक रूप में नहीं) का विच्छेद हो गया। तदनन्तर दश पूर्वों की परम्परा आर्य वज्र तक चलती रही। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आर्य वज्र भगवान् महावीर के १८ वें पट्टधर थे। उनका देहावसान वीर-निर्वाणाब्द ५८४ में माना जाता है। आर्य वज्र के स्वर्गवास के साथ दशम पूर्व विच्छिन्न हो गया।

आचार्य स्थूलभद्र से आचार्य वज्र तक जो दश पूर्व-ज्ञान की परम्परा प्रयुत रही, तद्गत ज्ञानियों के नाम और समय इस प्रकार हैं :

नाम	समय
आचार्य स्थूलभद्र	४५ वर्ष
आचार्य महागिरि	३० वर्ष
आचार्य सुहस्ती	४६ वर्ष
आचार्य गुणसुन्दर	४४ वर्ष
आचार्य कालक	४१ वर्ष
आचार्य स्कन्दिल	३८ वर्ष
आचार्य रेवतीमित्र	३६ वर्ष
आचार्य मंगू	२० वर्ष
आचार्य धर्म	२४ वर्ष
आचार्य भद्रगुप्त	३९ वर्ष
आचार्य श्रीगुप्त	१५ वर्ष
आचार्य वज्र	३६ वर्ष
	कुल ४१४ वर्ष
	पहले के १७० वर्ष
	५८४ वर्ष

आर्य वज्र के पट्टाधिकारी आर्य रक्षित हुए। विशेषावश्यक भाष्य के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने २५११ वीं गाथा की व्याख्या में जो विवेचन किया है, उससे प्रतीत होता है कि आर्य रक्षित को नौ पूर्वों का परिपूर्ण तथा दशम पूर्व के सिर्फ २४ यविकों का ज्ञान था। आर्य रक्षित का युगप्रधान-काल ५८४-५९७ वीर-निर्वाणाब्द माना जाता है। उनके एक शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र थे। कहा जाता है, उन्होंने नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया, पर, यथेष्ट अभ्यास न कर पा सकने के कारण उन्हें नौवां पूर्व विस्मृत होने लगा।

उनके देहावसान के साथ नवम पूर्व का ज्ञान विच्छिन्न हो गया। उनका देहावसान वीर-निर्वाणाब्द ६०४ में माना जाता है। नन्दी स्थविरावली में दुर्बलिका पुष्यमित्र का उल्लेख नहीं है। नन्दी स्थविरावली वस्तुतः युगप्रधान-क्रम पर आधृत है। उसमें सम्भवतः उन्हीं का उल्लेख है, जो आचार्य—पट्टाधिकारी भी थे और युगप्रधान भी। भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त पूर्व-ज्ञान का अंशतः अस्तित्व रहा। तत्पश्चात् वह विच्छिन्न हो गया[1]।

दिगम्बर-परम्परा

पूर्व-ज्ञान के विच्छेद के सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा में स्वीकृत काल-क्रम भिन्न है। दिगम्बर एक समय-विशेष के अनन्तर एकादश अंगों का भी विच्छेद मानते हैं। इस विषय में तिलोयपण्णती में उल्लेख है। (चतुर्दश पूर्वधर परम्परा का आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गवास के साथ विच्छेद हो जाने के अनन्तर) विशाल, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृति-षेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म; ये ग्यारह आचार्य दश पूर्वधरों के रूप में विख्यात हुए। परम्परा से इनका काल एक सौ तिरासी वर्ष का है।[2] कालक्रम से उनके दिवंगत हो जाने पर फिर भरत क्षेत्र में दश पूर्वधर-परम्परा विच्छिन्न हो गयी।

ग्यारह अंगों के धारक श्रमणों की अवस्थिति के सम्बन्ध में तिलोयपण्णती में उल्लेख है : "नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस; ये पांच आचार्य भगवान् महावीर के तीर्थ में (पूर्वोक्त परम्परा के अनन्तर) ग्यारह अंगों के धारक हुए। इनके समय का परिमाण पिण्डरूप से कुल दो सौ बीस वर्ष का है। इनके स्वर्गगामी होने पर फिर भरत क्षेत्र में कोई

---

१. वो (वो) लोणम्मि सहस्से, वरिसाणं वीरमोक्खगमणाउ।
उत्तरवायगवसभे पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥
वरिससहस्से पुण्णे, तित्योग्गाली ए वद्धमाणस्स।
नासिहि ई पुव्वगतं, अणुपरिवाडो ए जं जस्स ॥
—तित्थुगाली पयन्ना, ८०१-२

२. पढमो विसाह णामो पुट्ठिलो खत्तिओ जओ णागो।
सिद्धत्थो धिरिसेणो विजओ बुद्धिलगंगदेवा य ॥
एक्करसो य सुधम्मो दसपुव्वधरा इमे सुविक्खादा।
पारंपरिओवगदो तेसीदि सदं च ताण वासाणं ॥
—तिलोयपण्णत्ती, १४८५-८६

ग्यारह अंगों के धारक नहीं रहे ।"[1]

आचारांगधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती में लिखा है : 'सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु तथा लोहार्य; ये चार श्रमण आचारांग के धारक हुए । इन चारों के अतीत हो जाने पर चौदह पूर्व और ग्यारह अंगों के एक देश के—आंशिक धारक रहे । आचारांगधरों का काल-परिमाण एक सौ अठारह वर्ष है । इन (आचारांगधरों) के स्वर्गगत हो जाने पर फिर भरत क्षेत्र में कोई आचारांग के धारक नहीं हुए । गौतम से लेकर तब तक का काल परिमाण (केवली काल १६२ वर्ष + चतुर्दश पूर्वधर काल १८३ वर्ष + दशपूर्वधर काल २२० वर्ष + आचारांगधर काल ११८ वर्ष = ६८३) छः सौ तिरासी वर्ष का है ।"[2]

तुलनात्मक पर्यवेक्षण

केवल-ज्ञान की अवस्थिति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर; दोनों का ऐकमत्य है । दोनों आर्य जम्बू तक उसे स्वीकार करते हैं । चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान के विषय में भी दोनों के विचार एक समान हैं । दोनों के अनुसार अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु हैं । केवल काल-गणना में आठ वर्ष का अन्तर आता है । महावीर-निर्वाण से आचार्य भद्रबाहु के देहावसान तक का समय श्वेताम्बरों के अनुसार एक सौ सत्तर वर्ष है और दिगम्बरों के अनुसार एक सौ बासठ वर्ष । इसके अनन्तर दोनों धाराओं में भिन्नता दिखाई देती है । श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार आर्य वज्र (स्वर्गवास वीर-निर्वाणाब्द ५८४) तक दश पूर्व रहे, जब कि दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण से ३४५ वर्ष तक उनका अस्तित्व रहा । दोनों परम्पराओं में २११ वर्ष का अन्तर आता है । दिगम्बर श्वेताम्बरों

---

1. णक्खत्तो जयपालो पंडुयधुवसेणकंस आइरिया ।
   एक्कारसंगधारी पंच इमे वीरतित्थम्मि ॥
   दोण्णि सया वीस जुदा वासाणं ताण पिंडपरिमाणं ।
   तेसु अदीदे णत्थि हु भरहे एक्कारसंगधरा ॥
   —तिलोयपण्णत्ती, १४८८-८९

2. पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू ।
   तुरियो य लोहणामो एदे आयार अंगधरा ॥
   सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाण मेक्कदेसधरा ।
   एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥
   तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहम्मि ।
   गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसीदी ॥
   —वही, १४९०-९२

से २३९ वर्ष पूर्व दश पूर्वों का विच्छेद मानते हैं। श्वेताम्बर उसके बाद भी (वीर-निर्वाणाब्द ५८४ तक) उनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। आर्य वज्र के पश्चात् २० वर्ष तक वे नौ पूर्वों की विद्यमानता मानते हैं। उससे आगे तीन सौ छियानवे वर्ष तक वे पूर्व-ज्ञान का उत्तरोत्तर ह्रीयमान अस्तित्व स्वीकार करते हैं अर्थात् तब तक वीर निर्वाणाब्द १००० वर्ष तक जिस किसी अंश में वे पूर्व-ज्ञान की विद्यमानता में विश्वास करते हैं।

ग्यारह अंग : विद्यमानता : विच्छिन्नता

श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारह अंगों की स्थिति अब तक स्वीकार की जाती है, जब कि दिगम्बर वीर-निर्वाणाब्द ५६५ तक उनका अस्तित्व मानते हैं। उसके पश्चात् वीर-निर्वाणाब्द ६८३ तक वे आचारांगधरों की स्थिति मानते हैं। तत्पश्चात् न पूर्वज्ञान, न ग्यारह अंग और न आचारांग के परिपूर्ण वेत्ता यहां रहे। पूर्वज्ञान तथा ग्यारह अंगों का आंशिक अस्तित्व ही रहा। श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चाद्वर्ती श्रुत-प्रवर्तन के सम्बन्ध में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्पराओं में बहुत अधिक मत-भेद है। दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि *दिगम्बर-मान्यता में वर्तमान में अंगों का अस्तित्व अस्वीकृत है और श्वेताम्बर मान्यता में स्वीकृत।*

क्या अनुसन्धित्सु विद्वान् इस खाई को पाटने का कोई युक्तिपूर्ण और न्यायसंगत मार्ग निकाल सकते हैं? ज्ञान और गवेषणा की प्रवृत्ति और आगे बढ़ेगी तथा यह आशा की जानी चाहिए कि इस परिपार्श्व में भी कुछ नये दिशा-बोध प्रस्तुत होंगे।

आगमों में अनुयोग

अनुयोग का अर्थ

अनुयोग शब्द अनु और योग के संयोग से बना है। अनु उपसर्ग यहां आनुकूल्यार्थवाचक है। सूत्र (जो संक्षिप्त होता है) का, अर्थ (जो *विस्तीर्ण होता है*, के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग कहा जाता है। आगमों के विश्लेषण तथा व्याख्यान के प्रसंग में प्रयुक्त विषय-विशेष का द्योतक है।[1]

---

१. अनु सूत्रं महानर्थस्ततो महतोऽर्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽनुयोगः। अनुयोजनमनुयोगः। अनुरूपो योगोऽनुयोगः। अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः। व्याख्याने विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थं प्ररूपणे।

—अभिधान राजेन्द्र, प्रथम भाग, पृ० ३४०

अनुयोग के प्रकार

अनुयोग चार भेदों में विभक्त किये गये हैं[1] : १. चरणकरणानुयोग[2], २. धर्मकथानुयोग, ३. गणितानुयोग तथा ४. द्रव्यानुयोग[3]। आगमों में इन चार अनुयोगों का विवेचन है। किन्हीं में कोई विस्तार से वर्णित हुए हैं और किन्हीं में संक्षेप से।

अनुयोग : अपृथक्ता

आर्य वज्र तक आगम इस स्थिति में रहे कि वहाँ अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथक्ता नहीं थी। प्रत्येक सूत्र चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्यात होता था। आवश्यक निर्युक्ति में इस सम्बन्ध में उल्लेख है : "कालिक श्रुत (अनुयोगात्मक) व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे अर्थात् उनमें चरणकरणानुयोग प्रभृति अनुयोग चतुष्टय के रूप में अविभक्तता थी। आर्य वज्र के अनन्तर कालिक श्रुत और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथक्ता (विभक्तता) की गयी।"[4]

आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में सूचित किया है कि तब तक साधु तीक्ष्णप्रज्ञ थे; अतः (अनुयोगात्मक दृष्ट्या) अविभक्तरूपेण व्याख्या का प्रचलन था—प्रत्येक सूत्र में चरणकरणानुयोग आदि का अविभागपूर्वक वर्तन था।

निर्युक्ति में जो केवल कालिक श्रुत का उल्लेख किया गया है, आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मुख्यता की दृष्टि से यहां कालिक श्रुत का ग्रहण है अन्यथा अनुयोगों का तो कालिक, उत्कालिक आदि में—सर्वत्र अविभाग[5] था ही।

---

१. चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, जहक्कमं ते महड्ढीया॥
—अभिधान राजेन्द्र, प्रथम भाग, पृ० ३५६

२. चरण का अर्थ चर्या, आचार या चारित्र्य है। इस सम्बन्ध में जहां विवेचन-विश्लेषण हो, वह चरणकरणानुयोग है।

३. द्रव्यों के सन्दर्भ में सदसत्पर्यायालोचनात्मक विश्लेषण या विशद विवेचन जिसमें हो, वह द्रव्यानुयोग है।

४. जावंत अज्ज वइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअ सुअ दिट्ठिवाए य॥
—आवश्यक-निर्युक्ति, ७६३

५. यावदार्यवज्रा—आर्यवज्रस्वामिनो मुख्यो महामतयस्तावत्कालिकानुयोगस्य—कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्वं—प्रतिसूत्रं चरणकरणानुयोगादीनामविभागेन वर्तनमासीत्, तदा साधूनां तीक्ष्ण प्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथा सर्वानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्।
—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ३८३, प्रकाशक, आगमोदय समिति, बम्बई

विशेषावश्यक भाष्य में इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए कहा गया है : आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे, तब एक ही सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।

अनुयोग विभक्त कर दिये जाएं, उनको पृथक्करण कर छंटनी कर दी जाए, तो वहां (उस सूत्र में) वे चारों अनुयोग व्यवच्छिन्न नहीं हो जाएं गे ? भाष्यकार समाधान देते हैं कि जहां किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों अनुयोगों में होती थी, वहां चारों में से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या किये जाने का यहां आशय है।

आर्य रक्षित द्वारा विभाजन

अनुयोग विभाजन का कार्य आर्य रक्षित द्वारा सम्पादित हुआ। आर्य रक्षित आर्य वज्र के पट्टाधिकारी थे। वे महान् प्रभावक थे, देवेन्द्रों द्वारा अभिपूजित थे। उन्होंने युग की विषमता को देखते हुए कहां कौन-सा अनुयोग व्याख्येय है, इसकी मुख्यता की दृष्टि से चार प्रकार से विभाजन किया—श्रुत-ग्रन्थों को चार अनुयोगों में बांटा।[1]

आर्य रक्षित ने शिष्य पुष्यमित्र—दुर्बलिका पुष्यमित्र को, जो मति[2], मेधा[3] और धारणा[4] आदि समग्र गुणों से युक्त थे, कष्ट से श्रुतार्णव को धारण करते देखकर अतिशय ज्ञानोपयोग द्वारा यह जाना कि लोग क्षेत्र और काल के प्रभाव से भविष्य में मति, मेधा और धारणा से परिहीन होंगे। उन पर अनुग्रह[5] करते हुए उन्होंने कालिक आदि श्रुत के विभाग द्वारा अनुयोग[6] किये।

---

१ अपुहुत्ते अणुओगे चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहुताणुओगकरणे ते अत्थ तओ वि वोच्छिन्ना॥
किं वइरेहिं पुहुत्तं कयमह तदणंतरेहिं भणियम्मि।
तदणंतरेहिं तदभिहियगहियसुत्तत्थसारेहिं॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा॥
—विशेषावश्यक भाष्य, २२८६-८८

२. मति = अवबोध-शक्ति

३. मेधा = पाठ-शक्ति

४. धारणा = अवधारण-शक्ति

५. ऐदयुगीन पुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरण द्रव्यधर्मकथागणितानुयोग भेदाच्चतुर्धा।
—सूत्रकृतांग टीका, उपोद्घात

६. नाऊन रक्खियज्जो मइमेहाधारणासमग्ग पि।
किच्छेण धरेमाणं सुयण्णवं पूसमित्तं ति॥
अइसयकओवओगो मइमेहाधारणाइपरिहीणे।
नाऊ गमेस्स पुरिसे खेत्तं कालाणुभावं च॥
साणुग्गहोऽणुओगे वीसुं कासी य सुयविभागेणं॥
—विशेषावश्यक भाष्य, २२८९-९१

विशेषावश्यक भाष्य के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने २२११ वीं गाथा की व्याख्या में प्रसंगोपात्ततया यह सूचित किया है कि दुर्बलिका पुष्यमित्र के अतिरिक्त आर्य रक्षित के तीन मुख्य शिष्य और थे—विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। आचार्य रक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को आदेश दिया, वे विन्ध्य को पूर्वों की वाचना दें। दुर्बलिका पुष्यमित्र वाचना देने लगे। पर, पुनरावृत्ति न कर पाने के कारण नवम पूर्व की विस्मृति होने लगी। आचार्य रक्षित को उस समय लगा, ऐसे बुद्धिशाली व्यक्ति को भी यदि सूत्रार्थ विस्मृत होने लगे हैं, तब भविष्य में और कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। उन्होंने इस विवशता से प्रेरित हो कर पृथक्-पृथक् अनुयोगों की व्यवस्था की।

आगम : अनुयोग : सम्बन्ध

अनुयोगों के आधार पर सूत्रों का विभाजन निम्नांकित प्रकार से हुआ [1] :

१. प्रथम—चरणकरणानुयोग में ग्यारह कालिक श्रुत—ग्यारह अंग, महाकल्प श्रुत तथा छेद सूत्र।

२. द्वितीय—धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषित।

३. तृतीय—गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।

४. चतुर्थ—द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद।

दिगम्बर-आम्नाय में अनुयोग

दिगम्बर-परम्परा में भी चार अनुयोग माने गये हैं। श्वेताम्बरों से उनके नाम कुछ भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. प्रथमानुयोग—बोधि तथा समाधि के निधान—तदुपजीवी प्रचुर सामग्री से युक्त पुराण, चरित तथा कथाएं—आख्यान-प्रधान ग्रन्थ।

२. करणानुयोग—लोक-अलोक-विभक्ति, गति-चतुष्क, ज्योतिष, गणित आदि से सम्बद्ध ग्रन्थ।

३. चरणानुयोग—चारित्र्य की उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षण से सम्बद्ध नियमों व उप-

---

१. कालियसुयं च इसिभासियाइं तइआ य सूरपन्नत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो॥
जं च महाकप्पसुयं जाणि अ सेसाणि छेयसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगो ति कालियत्थे उवगयाणि॥

—विशेषावश्यक भाष्य, २२९४-९५

नियमों के प्रतिपादक ग्रन्थ; जो मुनियों और गृहस्थों के लिए यथोचितरूपेण वांछनीय है।

४. द्रव्यानुयोग—जीव, अजीव, पुण्य पाप, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्वों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक किंवा सैद्धान्तिक ग्रन्थ।[1]

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार आगम लुप्त हैं; इसलिए उन्होंने अपने उत्तरवर्ती ग्रन्थों को जिन्हें प्रामाणिक तथा श्रद्धास्पद मानते हैं, उनके विषयानुरूप इन चार अनुयोगों में विभाजित किया है।

प्रथमानुयोग—महापुराण, पुराण आदि ग्रन्थ।

करणानुयोग—तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति), त्रिलोकसार आदि।

चरणानुयोग—मूलाचार आदि।

द्रव्यानुयोग—प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि।

संक्षेप में ही सही, प्रायः सभी सूत्रों में यत्किंचित् सभी अनुयोगों से सम्बद्ध विचार-सामग्री है। कहीं किन्हीं विषयों या विचारों की प्रधानता है, किन्हीं की गौणता। व्याख्या-क्रम सम्भवतः ऐसा रहा हो, सूत्रवाङ्मय में जो विषय अत्यन्त गौण या सांकेतिक रूप में सूचित हैं, उनके विशद विश्लेषण तथा विस्तृत विवेचन की एक विशेष परम्परा या पद्धति थी। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सूत्रों में मूल रूप में संक्षिप्ततया संकेतित उन-उन विषयों से सम्बद्ध, मौखिक ही सही, कोई व्याख्या-साहित्य रहा हो, जिसे उन मूल विषयों का पूरक व विश्लेषक साहित्य कहा जा सकता है तथा जिसे अध्येतृगण परम्परा से अधिगत करते रहते थे। उसके आधार पर एक ही सूत्र में चारों अनुयोग व्याख्यात होते रहे। पर, कार्य जटिल था। जहां मूल में बहुत कम शब्दावली हो, उसके

---

१. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥
जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, ४३-४६

आचार्य नागार्जुन सूरि ने इस वाचना को अध्यक्षता या नेतृत्व किया। उनकी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, अतः यह नागार्जुनीय वाचना कहलाती है। वलभी की पहली वाचना के रूप में भी इसकी प्रसिद्धि है।

एक ही समय में दो वाचनाएं ?

कहा जाता है, उक्त दोनों वाचनाओं का समय लगभग एक ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ही समय में दो भिन्न स्थानों पर वाचनाएं क्यों आयोजित की गयीं ? वलभी में आयोजित वाचना में जो मुनि एकत्र हुए थे, वे मथुरा भी जा सकते थे।

इसका एक कारण यह हो सकता है कि उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण-संघ में स्यात् किन्हीं कारणों से मतैक्य नहीं हो। इसलिए वलभी में सम्मिलित होने वाले मुनि मथुरा में सम्मिलित नहीं हुए हों। उनका उस (मथुरा में आयोजित) वाचना को समर्थन न रहा हो।

इसी कोटि की एक परिकल्पना इस प्रकार भी की जा सकती है कि मथुरा में होने वाली वाचना की गतिविधि, कार्यक्रम, पद्धति तथा नेतृत्व आदि से पश्चिम का श्रमण संघ सहमत न रहा हो।

तीसरा कारण यह भी सम्भाव्य है कि माथुरी वाचना के समाप्त हो जाने के पश्चात् यह वाचना आयोजित की गयी हो। माथुरी वाचना में हुआ कार्य इधर के मुनियों को पूर्ण सन्तोषजनक न लगा हो; अतः आगम एवं तदुपजीवि वाङ्मय का उससे भी उत्कृष्ट संकलन तथा सम्पादन करने का विशेष उत्साह उनमें रहा हो और उन्होंने इस वाचना की आयोजना की हो। फलतः इसमें कालिक श्रुत के अतिरिक्त अनेक प्रकरण-ग्रन्थ भी संकलित किये गये, विस्तृत पाठ वाले स्थलों को अर्थ-संगति पूर्वक व्यवस्थित किया गया।

इस प्रकार की और भी कल्पनाएं की जा सकती हैं। पर, इतना तो मानना ही होगा कि कोई-न-कोई कारण ऐसा रहा है, जिससे समसामयिकता या समय के थोड़े से व्यवधान से ये वाचनाएं आयोजित की गयीं। कहा जाता है, इन वाचनाओं में वाङ्मय लेख-बद्ध भी किया गया।

दोनों वाचनाओं में संकलित साहित्य में अनेक स्थलों पर पाठान्तर या वाचना-भेद भी दृष्टिगत होते हैं। ग्रन्थ संकलन में भी कुछ भेद रहा है। ज्योतिष्करण्डक की टीका[1] में उल्लेख है कि अनुयोगद्वार आदि सूत्रों का संकलन माथुरी वाचना के आधार पर किया गया। ज्योतिष्करण्डक आदि ग्रन्थ वालभी वाचना से गृहीत हैं। उपर्युक्त दोनों वाचनाओं

१. पृ० ४१

की सम्पन्नता के अनन्तर आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलना नहीं हो सका। इसलिये दोनों वाचनाओं में संकलित सूत्रों में यत्र-तत्र जो पाठ-भेद चल रहा था, उसका समाधान नहीं हो पाया और वह एक प्रकार से स्थायी बन गया।

तृतीय वाचना

उपर्युक्त दोनों वाचनाओं के लगभग डेढ़ शताब्दी पश्चात् अर्थात् वीर निर्वाणानन्तर ९८० में या ९९३ वें वर्ष में वलभी में फिर उस युग के महान् आचार्य और विद्वान् देवर्द्धि-गणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में तीसरी वाचना[1] आयोजित हुई। इसे वलभी की दूसरी वाचना भी कहा जाता है।

श्रुत-स्रोत की सतत प्रवहणशीलता के अवरुद्ध होने की कुछ स्थितियां पैदा हुईं, जिससे जैन संघ चिन्तित हुआ। स्थितियों का स्पष्ट रूप क्या था, कुछ नहीं कहा जा सकता। पर, जो भी हो, इससे यह प्रतीत होता है कि श्रुत के संरक्षण के हेतु जैन संघ विशेष चिन्तित तथा प्रयत्नशील था। पिछली डेढ़ शताब्दी के अन्तर्गत प्रतिकूल समय तथा परिस्थितियों के कारण श्रुत वाङ्मय का बहुत ह्रास हो चुका होगा, अनेक पाठान्तर तथा वाचना-भेद आदि का प्रचलन था ही; अतः श्रुत के पुनः संकलन और सम्पादन की आवश्यकता अनुभूत किया जाना स्वाभाविक था। उसी का परिणाम यह वाचना थी। पाठान्तरों, वाचना-भेदों का समन्वय, पाठ की एकरूपता का निर्धारण, अब तक असंकलित सामग्री का संकलन आदि इस वाचना के मुख्य लक्ष्य थे। सूत्र-पाठ के स्थिरीकरण या स्थायित्व के लिये यह सब अपेक्षित था। वस्तुतः यह बहुत महत्त्वपूर्ण वाचना थी।

भारत के अनेक प्रदेशों से आगमज्ञ, स्मरण-शक्ति के धनी मुनिवृन्द आये। पिछली माथुरी और वालभी वाचना के पाठान्तरों, वाचना-भेदों को सामने रखते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया। समागत मुनियों में जिन-जिन को जैसा-जैसा पाठ स्मरण था, उससे तुलना की गयी। इस प्रकार बहुलांशतया एक समन्वित पाठ का निर्धारण किया जा सका। प्रयत्न करने पर भी जिन पाठान्तरों का समन्वय नहीं हो सका, उन्हें टीकाओं,

---

१. पिछली दोनों वाचनाओं के साथ जिस प्रकार दुर्भिक्ष की घटना जुड़ी है, इस वाचना के साथ भी वैसा ही है। समाचारी शतक में इस सम्बन्ध में उल्लेख है कि बारह वर्ष भयावह दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु दिवंगत हो गये, बहुत-सा श्रुत विच्छिन्न हो गया, तब भव्य लोगों के उपकार तथा श्रुत की अभिव्यक्ति के हेतु श्रीसंघ के अनुरोध से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने (९८० वीर निर्वाणाब्द) दुष्काल में जो बच सके, उन सब साधुओं को वलभी में बुलाया। विच्छिन्न, अवशिष्ट, न्यून, अधिक, खण्डित, अखण्डित आगमालापक उनसे सुन बुद्धिपूर्वक अनुक्रम से उन्हें संकलित कर पुस्तकारूढ़ किया।

चूर्णियों आदि में संगृहीत किया गया। मूल में और टीकाओं में इस ओर संकेत[1] किया गया है। जो कतिपय प्रकीर्णक केवल एक ही वाचना में प्राप्त थे, उन्हें ज्यों-का-त्यों रख लिया गया और प्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया।

पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं में संकलित वाङ्मय के अतिरिक्त जो प्रकरण-ग्रंथ विद्यमान थे, उन्हें भी संकलित किया गया। यह सारा वाङ्मय लिपिबद्ध किया गया। इस वाचना में यद्यपि संकलन, सम्पादन आदि सारा कार्य तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक दोनों से हुआ, पर यह सब मुख्य आधार माथुरी वाचना को मानकर किया गया। आज जो अंगोपांगादि श्रुत-वाङ्मय उपलब्ध है, वह देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न इस वाचना का संस्करणरूप है।

बौद्ध संगीतियां : जैन वाचनाएं

कैसा संयोग बना, बौद्ध पिटकों की संकलना के हेतु जहां मुख्यतः तीन संगीतियां आयोजित होती हैं, जैन आगमों का संकलन कार्य अन्ततः तीन वाचनाओं में परिपूर्ण होता है। संगीतियों और वाचनाओं के काल-क्रम में बहुत अन्तर है। तीनों बौद्ध-संगीतियां[2] बुद्ध परिनिर्वाण के अनन्तर केवल २३६ वर्षों में समाप्त हो जाती हैं, जब कि जैन वाचनाओं की अन्तिम सम्पन्नता महावीर के निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष बाद में होती है।

बौद्ध-पिटक सिंहल में वहां के राजा वट्टगामणि अभय के शासन-काल में ई० पू० २९-१७ में ताड़पत्रों पर लिपि-बद्ध होते हैं। उस सम्बन्ध में संगीति भी आयोजित हुई, पर, ऐसा प्रतीत होता है कि पिटक जिस रूप में राजकुमार महेन्द्र के साथ सिंहल पहुंचे थे, उसमें कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। कथनमात्र के लिये राजकुमार महेन्द्र के लंका-गमन और राजा वट्टगामणि अभय के समय में पिटक-लेखन के बीच दो संगीतियां और भी हुई थीं। बौद्ध-पिटक जैन आगमों से लगभग साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व अन्तिम रूप से संकलित तथा लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व लिपि-बद्ध कर लिये गये थे। काल-क्रम के इस अन्तर को देखते हुए स्वभावतः यह कल्पना की जा सकती है कि भाषात्मक दृष्टि से जितनी प्राचीनता और प्रामाणिकता पालि-त्रिपिटक में है, वैसी जैन आगमों में कैसे हो सकती है? बौद्ध-संगीतियों का क्रम बुद्ध-परिनिर्वाण के अनन्तर बहुत शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है। यहां तक कि पहली संगीति का आयोजन तो बुद्ध के परिनिर्वाण के केवल चार मास पश्चात् ही हो गया था। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि तब तक, बुद्ध ने जिस भाषा में, जिन शब्दों में उपदेश किया, उसकी यथावता या मौलिकता अधिक रहनी चाहिए।

---

१. 'वाचनान्तरे तु पुनः', 'नागार्जुनीयास्तु एवं पठन्ति' इत्यादि द्वारा संकेतित।

२. विस्तार के लिए देखें, इसी पुस्तक का 'त्रिपिटक वाङ्मय' अध्याय।

दोनों की स्थितियों का अन्तर

बुद्ध और महावीर के धर्म की परिस्थितियां भिन्न-भिन्न थीं। इतिहासज्ञों के अनुसार बुद्ध के जीवन-काल में ही उनका धर्म मध्यम प्रतिपदा या मध्यम मार्ग का अवलम्बी होने के कारण दूर-दूर के प्रदेशों में फैल गया था। उनके संघ में दीक्षित भिक्षु भी अनेक प्रदेशों के, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी थे। उनके कार्य-क्षेत्र, प्रचार-क्षेत्र भी बहुत दूर-दूर थे, जहां वे विहार करते थे। इसलिए यह बहुत स्वाभाविक था कि अपनी मातृभाषा की भिन्नता, अपने प्रचार-क्षेत्रों की भाषाओं की भिन्नता आदि के कारण बुद्ध-वाणी में, जिसका वे उपदेश करते थे, भाषा आदि की दृष्टि से अनिवार्यतः परिवर्तन, सम्मिश्रण आदि हों। यही कारण है कि बुद्ध के परिनिर्वाण को केवल चार ही मास बीत पाये थे कि भिक्षुओं को बुद्ध-वचन का संगान करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

जैन धर्म भी भगवान् महावीर के काल में बहुत विस्तार पा चुका था, पर उतना नहीं, उतने प्रदेशों में नहीं, जितना बौद्ध धर्म ने पाया। इसका मुख्य कारण जैन धर्म के कठोर नियम, व्रत-पालन की बड़ी व्यवस्था तथा उत्कृष्ट संयम व तपमूलक साधना था, जिन्हें आत्मसात् करना उतना सरल नहीं था। जैन धर्म में दीक्षित साधु भी अधिकांशतः विदेह, मगध, कोशल आदि समीपवर्ती प्रदेशों के ही अधिक थे, जिनकी भाषाओं में बहुत अधिक अन्तर नहीं था। उनका प्रचार-क्षेत्र भी उतना विशाल नहीं था, जितना बौद्धों का; अतः महावीर की वाणी अधिक विलम्ब से संकलित होने पर भी अपने सही रूप में अधिक सुरक्षित रह सकी, ऐसा अनुमान करना अयुक्तियुक्त नहीं।

समय-समय पर दुष्काल आदि के कारण प्रायः जैन श्रुत नष्ट हो गया था या श्रुतधर मुनि बहुत कम रह गये थे। वैसी स्थिति में आगमों का जो संकलन हुआ, उसमें उनका स्वरूप यथावत् कहां तक रह सकता था? सब कुछ हुआ, फिर भी जैन आगम भाषात्मक दृष्टि से प्राचीनता लिये हुए हैं। उनमें अनेक ऐसे हैं, जिनसे महावीर और बुद्ध के काल की भाषा का स्पष्ट दर्शन मिल सकता है। इसका प्रधान कारण है, जैन श्रमणों की आगमों को केवल अर्थशः ही नहीं, बल्कि शब्दशः भी स्मृति में बनाये रखने की अत्यधिक जागरूकता। जैन शास्त्रों में उच्चारण सम्बन्धी नियमों का जो विवेचन है, उससे स्पष्ट है कि शाब्दिक दृष्टि से भी श्रुत की अपरिवर्त्यता की ओर बहुत ध्यान रखा गया। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनमें परिवर्तन हुआ ही नहीं, वे ज्यों-के-त्यों हैं, पर, इतना अवश्य है कि प्राकृत (जैन) आगमों की भाषा पालि—पिटकों की अपेक्षा निश्चय ही अपने मूल स्वरूप को अधिक सुरक्षित रखे हुए है, जो इस ओर जैन श्रमणों के अत्यधिक सावधान तथा यत्नप्रयत्न रहने का प्रमाण है।

बौद्ध पिटकों की रचना मगध में हुई। वहां से वे सिंहल गये, एक ऐसे राजकुमार के साथ जो अवन्ती में पला-पुसा था। यद्यपि वह मगधराज अशोक का पुत्र था, पर, उसकी मातृभाषा मागधी न होकर आवन्ती होना अधिक सम्भावित है। फिर सिंहल में कुछ शताब्दियों के बाद वे लेख-बद्ध किये गये। वही संस्करण प्रायः अन्य त्रिपिटक-संस्करणों का प्रमुख आधार है। इससे तथा पीछे उल्लिखित कारणों से सुगमता से समझा जा सकता है कि पालि-त्रिपिटक के रूप में परिवर्तन व मिश्रण क्यों होता गया ?

जैन आगमों की रचना जहां मगध और विदेह में हुई, वहां उनके संकलनार्थ वाचनाएं मगध, शूरसेन—व्रजभूमि तथा सौराष्ट्र में हुईं। अन्ततः उनका संकलन सौराष्ट्र में हुआ, उन मुनियों द्वारा जो परम्परया मूल पाठ को बनाये रखने के लिए सन्नद्ध थे। पूर्वी प्राकृतों के क्षेत्र में आगम रचित हुए और पश्चिमी प्राकृतों (उस समय अपभ्रंशों) के क्षेत्र में संकलित, सम्पादित तथा लिपि-बद्ध किये जाने में पिटकों की तरह स्थानिक दृष्टि से लम्बा व्यवधान नहीं था। इस व्यवधान का भी (जितना था) भाषात्मक दृष्टि से प्रभाव तो कुछ हुआ हो, पर कम। और भी कुछ ऐसे हेतु रहे हैं, जिनसे भाषा आदि की दृष्टि से आगम-वाङ्मय में कुछ सम्मिश्रण भी हुआ, पर, आगमों के साथ, जैसा उल्लेख किया गया है, कुछ ऐसी स्थितियां रहीं, जिससे सम्मिश्रण, परिवर्तन आदि का परिमाण पालि-त्रिपिटक की तुलना में बहुत कम रहा। इसी कारण बुद्ध और महावीर-कालीन भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से प्राकृत-आगमों का पालि-त्रिपिटक की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व है।

अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य

आगम-वाङ्मय के प्रवहमान स्रोत को अनेक दृष्टियों से चर्चा की गयी। प्रणयन या प्रणेता की दृष्टि से इसे दो भागों में बांटा जा सकता है। १. अंग-प्रविष्ट तथा २. अंग-बाह्य। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में अंग अर्थात् अंग प्रविष्ट तथा अनंग अर्थात् अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है : "गणधरकृत व स्थविरकृत, आदेशसृष्ट (अर्थात् तीर्थंकर प्ररूपित त्रिपदी-जनित) व उन्मुक्त व्याकरण-प्रसूत (अर्थात् विश्लेषण-प्रतिपादन जनित) ध्रुव-नियत व चल-अनियत इन द्विविध विशेषताओं से युक्त वाङ्मय अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य नाम से अभिहित है[1]। गणधरकृत, आदेशजनित तथा ध्रुव; ये विशेषण अंगप्रविष्ट से सम्बद्ध हैं तथा स्थविरकृत, उन्मुक्त व्याकरण-प्रसूत और चल, ये विशेषण अंगबाह्य के लिए हैं।

1. गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुवचलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५५०

मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्या

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भाष्य की इस गाथा का विश्लेषण करते हुए लिखा है : "गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत कहा जाता है तथा भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविर–वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित आवश्यक-निर्युक्ति आदिश्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। गणधर द्वारा तीन बार पूछे जाने पर तीर्थंकर द्वारा उद्गीर्ण उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य मूलक त्रिपदी के आधार पर निष्पादित द्वादशांग श्रुत अंग-प्रविष्ट श्रुत है तथा अर्थ विश्लेषण या प्रतिपादन के सन्दर्भ में निष्पन्न आवश्यक आदिश्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। ध्रुव या नियत श्रुत अर्थात् सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य होने वाला द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत है तथा जो सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य हो ही, ऐसा नहीं है, वह तन्दुलवैचारिक आदि प्रकरण रूप श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।

आचार्य मलयगिरि की व्याख्या

नन्दी सूत्र की टीका में टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अंग-प्रविष्ट तथा अंगबाह्य श्रुत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि-सम्पन्न गणधर रचित मूलभूत सूत्र, जो सर्वथा नियत हैं, ऐसे आचारांगादि अंगप्रविष्ट श्रुत है। इसके अतिरिक्त अन्य श्रुत—स्थविरों द्वारा रचित श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।

अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है : (१) सामायिक आदि छः प्रकार का आवश्यक तथा (२) तद्व्यतिरिक्त।

आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है : (१) कालिक एवं (२) उत्कालिक। जो श्रुत रात तथा दिन के प्रथम प्रहर व अन्तिम प्रहर मे ही पढ़ा जाता है, वह कालिक श्रुत है तथा जो काल-वेला को वर्जित कर सब समय पढ़ा जाता है, वह उत्कालिक[1] श्रुत है, जो दशवैकालिक आदि अनेक प्रकार का है। उनमें कतिपय सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :

१. कल्प-श्रुत, जो स्थविरादि कल्प का प्रतिपादन करता है। वह दो प्रकार का है—एक चुल्लकल्प श्रुत है, जो अल्प ग्रन्थ तथा अल्प अर्थ वाला है। दूसरा महाकल्प श्रुत है, जो महाग्रन्थ और महा अर्थ वाला है।
२. प्रज्ञापना, जो जीव आदि पदार्थों की प्ररूपणा करता है।
३. प्रमादाप्रमाद अध्ययन, जो प्रमाद-अप्रमाद के स्वरूप का भेद तथा विपाक का ज्ञापन करता है।

---

१. जिसके लिए काल-विशेष में पढ़े जाने की नियामकता नहीं है।

४. नन्दी, ५ अनुयोगद्वार, ६. देवेन्द्रस्तव, ७ तन्दुलवैचारिक, ८. चन्द्रवेध्यक, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १० पोरिसीमण्डल, ११. मण्डल-प्रवेश, १२. विद्याचारण-विनिश्चय, १३.गणिविद्या, १४ ध्यान-विभक्ति, १५. मरण-विभक्ति १६. आत्म-विशुद्धि १७. वीतराग-श्रुत, १८. संलेखना श्रुत, १९ विहार-कल्प, २०. चरणविधि, २१. आतुर-प्रत्याख्यान, २२. महाप्रत्याख्यान आदि। ये उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत हैं।

कालिक श्रुत अनेक प्रकार का है : १. उत्तराध्ययन, २. दशाकल्प, ३. व्यवहार, ४. बृहत्कल्प, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. ऋषिभाषित ग्रन्थ, ८. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, ९. द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, १०. चन्द्र-प्रज्ञप्ति, ११. क्षुल्लकविमान-प्रविभक्ति, १२. महाविमान-प्रविभक्ति, १३. अंगचूलिका, १४. वर्गचूलिका, १५. विवाह-चूलिका, १६. अरुणोपपात, १७. वरुणोपपात, १८ गरुडोपपात, १९ धरणोपपात, २०. वैश्रमणोपपात, २१. वेलंधरोपपात, २२. देवेन्द्रोपपात, २३. उत्थान-श्रुत, २४. समुत्थान-श्रुत, २५. नाग-परिज्ञा, २६. निरयावलिका, २७. कल्पिका, २८. कल्पावतंसिका, २९. पुष्पिका, ३०. पुष्पचूला, ३१ वृष्णिदशा; इत्यादि चौरासी हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ के समय में थे। संख्यात हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ बीच के बाईस तीर्थंकरो के समय तथा चौदह हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ भगवान् महावीर के समय में थे। अथवा जिस तीर्थंकर के औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से युक्त जितने शिष्य थे, उनके उतने हजार ग्रन्थ थे। प्रत्येक बुद्ध भी उतने ही होते थे। यह (उपर्युक्त) कालिक, उत्कालिक श्रुत अंगबाह्य कहा जाता है।

अंग-प्रविष्ट : अंग बाह्य : सम्यक्त्व

जैन दर्शन का तत्व-ज्ञान जहां सूक्ष्मता, गम्भीरता, विशदता आदि के लिए प्रसिद्ध है, वहां उदारता के लिए भी उसका विश्व-वाङ्मय (विश्व-दर्शन) में अनुपम स्थान है। वहां किसी वस्तु का महत्व केवल उसके नाम पर आधृत नहीं है, वह उसके यथावत् प्रयोग तथा फल पर टिका है। अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य के सन्दर्भ में जिन शास्त्रों की चर्चा की गयी है, वे जैन परम्परा के मान्य ग्रन्थ हैं। उनके प्रति जैनों का बड़ा आदर है। इन ग्रन्थों की आदेयता और महनीयता इनको ग्रहण करने वाले व्यक्तित्व पर अवस्थित है। यद्यपि ये शास्त्र अपने स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् श्रुत हैं, पर ग्रहीता की दृष्टि से इन पर इस प्रकार विचार करना होगा—यदि इनका ग्रहीता सम्यक्दृष्टि-सम्पन्न या सम्यक्त्वी है, तो ये शास्त्र उसके लिये सम्यक् श्रुत हैं और यदि इनका ग्रहीता मिथ्या-दृष्टिसम्पृक्त—मिथ्यात्वी है, तो ये मान्य ग्रन्थ भी उसके लिए मिथ्या श्रुत की कोटि में चले जाते हैं। इतना ही नहीं, जो अजैन शास्त्र, जिन्हें सामान्यतः असम्यक् (मिथ्या) श्रुत कहा जाता है, यदि सम्यक्त्वी द्वारा परिगृहीत होते हैं, तो वे उसके लिए सम्यक् श्रुत की कोटि में आ जाते

है। इस तथ्य का विशेषावश्यक भाष्यकार ने तथा आवश्यक निर्युक्ति के विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है[1]।

गृहीता का इतना वैशिष्ट्य कैसे ?

प्रत्येक पदार्थ अस्तित्व-धर्मा है, वह अपने स्वरूप में अधिष्ठित है, अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। उसके साथ संयोजित होने वाले अच्छे-बुरे विशेषण पर-सापेक्ष हैं। अर्थात् दूसरों—अपने भिन्न-भिन्न प्रयोक्ताओं या गृहीताओं की अपेक्षा से उसमें सम्यक् या असम्यक् का व्यवहार होता है। प्रयोक्ता या गृहीता द्वारा अपनी आस्था या विश्वास के अनुरूप प्रयोग होता है। यदि प्रयोक्ता का मानस विकृत है, उसकी आस्था विपरीत है, विचार दूषित हैं, तो वह अच्छे-से-अच्छे कथित प्रसंग का भी जघन्यतम उपयोग कर सकता है; क्योंकि वह उसके यथार्थ स्वरूप का अंकन नहीं कर पाता। जिसे बुरा कहा जाता है, उसके गृहीता का विवेक उद्बुद्ध और आस्था सत्परायण है तो उसके द्वारा उसका जो उपयोग होता है, उससे अच्छाइयां ही फलित होती हैं; क्योंकि उसकी बुद्धि सद्ग्राहिणी है। जैन दर्शन का तत्त्व-चिन्तन इसी आदर्श पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि अंग-प्रविष्ट श्रुत और अंगबाह्य श्रुत जैसे आर्ष वाङ्मय को मिथ्या श्रुत तक कहने में उसको हिचकिचाहट नहीं होती, यदि वे मिथ्यात्वी द्वारा परिगृहीत हैं। वास्तविकता यह है, जिसका दर्शन—विश्वास मिथ्यात्व पर टिका है वह उसी के अनुरूप उसका उपयोग करेगा अर्थात् उसके द्वारा किया गया उपयोग मिथ्यात्व-संवलित होगा। उससे जीवन की पवित्रता नहीं सधेगी। मिथ्यात्व-ग्रस्त व्यक्ति के कार्य-कलाप आत्म-साधक न होकर अनात्म-पूरक होते हैं। इसीलिए सम्यक् श्रुत भी उसके लिए मिथ्या-श्रुत है। यही अपेक्षा सम्यक्दृष्टि द्वारा गृहीत मिथ्या-श्रुत के सम्बन्ध में होती है। सम्यक्त्वी के कार्य-कलाप

---

१. (क) अंगाणंगपविट्ठं सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छसुयं।
आसज्ज उ सामित्तं लोइय-लोउत्तरे भयणा।
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५२७

(ख) ...... सम्यक् श्रुतम्—अंगानंगप्रविष्टमाचारावश्यकादि, तथा मिथ्याश्रुतम्—पुराण रामायणभारतादि, सर्वमेव वा दर्शनपरिग्रहविशेषात् सम्यक श्रुत-मितरद् वा, तथाहि—सम्यग्दृष्टो सर्वमपि श्रुतं सम्यक् श्रुतम्, हेयोपादेयशास्त्राणां हेयोपादेयतया परिज्ञानात्, मिथ्यादृष्टो सर्वं मिथ्याश्रुतम्, विपर्ययात्।
—आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ४७, प्रका० आगमोदय समिति, बम्बई

[illegible]

अंग : उपांग : छेद : मूल : संक्षिप्त परिचय

अंग प्रविष्ट तथा अंगबाह्य के रूप में जिन आगम-ग्रन्थों की चर्चा की गयी है, उनमें कुछ उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें कुछ नियुक्तियों को अतिरिक्त कर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगम-ग्रन्थों को प्रमाणभूत मानता है। वे अंग, उपांग छेद तथा मूल आदि के रूप में विभक्त हैं।

अंग

अंग संज्ञा क्यों ?

पूर्व रूप में (त्रिपद्यात्मकतया) तीर्थंकर-प्ररूपित तथा गणधर-ग्रथित वाङ्मय अंग-वाङ्मय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे अंग नाम से क्यों अभिहित किया गया ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। उत्तर भी स्पष्ट है। श्रुत की पुरुष के रूप में कल्पना की गयी। जिस प्रकार एक पुरुष के अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुत-पुरुष के अंगों के रूप में बारह आगमों को स्वीकार किया गया। कहा गया है : "श्रुत-पुरुष के पादद्वय, जंघाद्वय, उरुद्वय, गात्रद्वय—देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग, बाहुद्वय, ग्रीवा तथा मस्तक (पाद २+ जंघा २ + ऊरु २ + गात्रार्द्ध २ + बाहु २ + ग्रीवा १ + मस्तक १ = १२), ये अंग बारह हैं। इनमें जो प्रविष्ट हैं, अंगत्वेन अवस्थित हैं, वे आगम श्रुत-पुरुष के अंग हैं[1]।" बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न हो गया। इस समय ग्यारह अंग प्राप्त हैं।

---

१. इह पुरुषस्य द्वादश अंगानि भवन्ति तद्यथा द्वे पादौ द्वे जंघे द्वे उरुणी द्वे, गात्रार्द्धे द्वौ बाहू ग्रीवा शिरश्च एवं श्रुतपुरुषस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वादशांगानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम्—

"पायदुगं जंघोरु गायदुगद्धं तु दो य बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारस अंगेसु य पविट्ठो ॥"

श्रुतपुरुषस्यांगेषु प्रविष्टमंगप्रविष्टम्। अंगभावेन व्यवस्थिते श्रुत भेदे……।

—अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ३८

गृहस्थों के सम्पर्क में रहने का अवसर आने पर भी वे उनसे घुलते-मिलते नहीं। उनकी ओर से ध्यान हटा धर्म या शुक्ल ध्यान में लीन रहते। उनके पूछने पर भी उत्तर नहीं देते। अभिवादन करने पर भी भाषण नहीं करते। सर्वसाधारण के लिए ऐसा करना बड़ा दुष्कर है।

समभाव से कष्ट सहन

जब वे अनार्य-देशों में जाते, पुण्यहीन प्राणी उन्हें डण्डों से पीटते, उनके बाल नोंचते, पर वे सम-भाव से सब सहते।

कुतूहल तथा विस्मय से दूर

कथा, नृत्य, गीत आदि देख कुतूहल अनुभव नहीं करते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध से विस्मित नहीं होते। किन्हीं को काम-कथा लीन देख न हर्ष करते, न शोक करते, अपितु सर्वथा तटस्थ रहते।

अपरिग्रह की पराकाष्ठा

भगवान् अचेलक और पाणिपात्र थे। वे दूसरे का दिया वस्त्र या पात्र स्वीकार नहीं करते थे।

रसों में अनासक्त : सुविधा से दूर

वे दूध दही आदि रसों में आसक्ति नहीं रखते थे। आंख में रज आदि गिर जाने पर उसे नहीं पोंछते थे न ही निकालते थे, खुजली आने पर भी शरीर को नहीं खुजलाते थे।

यत्नामय चर्या

वे सामने युग-प्रमाण मार्ग का अवलोकन कर चलते थे। इधर-उधर या पीछे नहीं देखते थे। किसी के पूछने पर उत्तर नहीं देते, मौन रहते थे।

शीत से अभीत

देव-दूष्य के त्याग के अनन्तर शिशिर ऋतु में वे दोनों हाथ फैलाकर चलते थे। और वे घबड़ा कर न वे हाथ सिकोड़ते और उन्हें न कन्धों पर ही रखते। विहार करते-करते जहां चरम पौरुषी का समय आता, वहीं रात्रि व्यतीत करते।

कैसा अनिकेत जीवन ?

कभी कोलवाले खाली घरों में, सभाओं—विश्रान्ति गृहों में, पानी की प्याऊ में, दूकानों में, लोहकार-शालाओं में, घास से बने मंचों—मचानों के नीचे, गांव के बाहर

कान्तारागारों—मुसाफिर खानों में, बगीचे में बने मकानों में, नगर में, खण्डहरों में, वृक्ष के नीचे प्रवास करते हुए तेरह वर्ष तक इस प्रकार तपस्या-लीन निश्चलवेता, अहर्निश अप्रमत्तरूपेण संयम में उद्यत रह किसी प्रकार की शंका न करते हुए समाधिपूर्वक धर्म-शुक्ल-ध्यान में संलग्न रहे।

निद्रा-विजय की अखण्ड साधना

कदाचित् निद्रा आती, तो वे उत्थित होकर अपने को जागृत करते। अब मैं सो जाऊं; इस भाव से भगवान् ने कभी शयन नहीं किया। निद्रा मिटाने के लिए वे सीधे तनकर बैठते। शीतकाल की कड़कड़ाती सर्दी में रात्रि में बाहर निकल कर मुहूर्त भर भ्रमण करते, पुनः ध्यानस्थ हो जाते। परिषह की उदीरणा कर प्रमाद को हटाते।

सूने घरों में उपसर्ग

उन्हें सूने घरों में ध्यानस्थ देख वहां छिपने या गुप्त कार्य करने के लिये आये हुए दुराचारी—इस शंका से कि इसने हमें देख लिया है, किसी से कह देगा, उन्हें कष्ट देते। कभी ग्राम-रक्षक (सिपाही) अपने शस्त्रों द्वारा उन्हें त्रास देते।

कितने ही कष्टपूर्ण परिषहों पर विजय

उनकी मनोहर मुख-मुद्रा देख मुग्ध हुई स्त्रियां व पुरुष उन्हें उपसर्ग (कष्ट) करते।

कभी दिन व रात में किसी निर्जन स्थान में कायोत्सर्ग में स्थित भगवान् को चोर, जार तथा अन्य लोग पूछते—तुम कौन हो? क्यों खड़े हो? उत्तर न पाकर, क्रुद्ध होकर वे उन्हें पीटते।

भगवान् जब ध्यान में नहीं होते, तो किसी के पूछने पर उत्तर देते—मैं भिक्षु हूं। यदि वह क्रोध से भर यह स्थान छोड़ने के लिए कहता, तो वे उसे छोड़ देते।

शिशिर में जब लोग शीत से थर-थर कांपते, अन्य तीर्थी साधु आग सुलगाते, धर्म कम्बल आदि खोजते, हवा न आ सके, ऐसा बन्द स्थान ढूंढते, दो-तीन वस्त्र धारण करने का सोचते, तब भगवान् वृक्ष आदि के नीचे शीत सहन करते।

वे तृण के तीक्ष्ण स्पर्श, शीत, ऊष्मा तथा डांस, मच्छर आदि के डंक समभाव से सहते।

लाढ आदि में उपसर्ग

दुर्गम लाढ देश, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामक स्थानों में जब भगवान् विचरते,

तब उन्हें रहने के लिए सर्वथा गये बीते स्थान—उपद्रव युक्त खण्डहर आदि मिलते, वे भी धूल आदि से भरे और विषम मिलते।

लाढ देश के अनार्य जन भगवान् को मारते और दांतों से काटने दौड़ते। वहां बड़ी कठिनाई से रूखा-सूखा आहार मिलता, कुत्ते कष्ट देते, काटने को झपटते। वहां के लोगों में से कोई एक उन काटने आते हुए कुत्तों को रोकता। शेष तो कुतूहलवश हू-हू कर कुत्तों को काटने के लिए प्रेरित करते।

वज्रभूमि में अन्यतीर्थी भिक्षु यष्टिका और नालिका (शरीर-प्रमाण से चार अंगुल बड़ी लकड़ी) रखते थे, इस पर भी कुत्ते उन्हें काटते थे।

लाढ देश में ग्राम इतने कम थे कि सायंकाल तक चलते-चलते गांव नहीं आता था, तो वृक्ष के नीचे ठहर कर भगवान् रात बिताते।

कितनेक अनार्य लोग गाव से बाहर निकल, सामने जा भगवान् को मारते और कहते—यहां से निकल जाओ।

लाढ देश के अनार्य जन लकड़ी, मुक्के, भाले की नोंक, ईंट-पत्थर अथवा घट के खप्पर से उन्हें मारते थे। वे कभी-कभी भगवान् के शरीर का मांस भी काट लेते। कभी धूल बरसाते। कभी भगवान् को ऊंचा उठा कर पटकते। कभी भगवान् ध्यान के लिए गोदोहासन या वीरासन में बैठे होते, तो वे धक्का देकर लुढ़का देते।

तितिक्षा का विस्मायक रूप

भगवान् निरोग होने पर भी अल्प भोजन करते। रोगी होने या न होने पर चिकित्सा नहीं कराते। संशोधन—विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, संवाहन (शरीर दबवाना) तथा दन्त-प्रक्षालन—इन सबका वे त्याग किये हुए थे।

शिशिर ऋतु में शीतल छाया में ध्यान करते तथा ग्रीष्म ऋतु में ताप के सामने आतापना लेते।

रूखे-सूखे चावल, बेर का चूर्ण, उर्द और नीरस आहार से निर्वाह करते। इन तीन पदार्थों पर वे आठ मास तक रहे। अनेक बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन और मास-मास तक आहार तो क्या जल तक नहीं लेते। कभी-कभी दो-दो मास, कभी-कभी छः-छः मास तक आहार-पानी का सर्वथा त्याग करते। पारणे में भी सदा नीरस पदार्थ लेते। कभी-कभी दो-दो दिन के अन्तर से, कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार और पांच-पांच दिन के अन्तर से आहार करते।

जब कभी भिक्षा के लिए जाते, पशु, पक्षी तथा अन्य भिक्षु आदि को देख दूर से विहार करते।

जो भी शुद्ध आहार चाहे दूध, दही से बाई हो, चाहे सूखा-ठण्डा हो, चाहे बहुत दिन के पदार्थ उड़द हों, वे समभाव से लेवें।

गोदोहिका, उत्कटिक, वीर आदि आसनों में अवस्थित हो निर्विकार-भाव से धर्म-ध्यान, शुक्ल-ध्यान ध्यावें। उसमें ऊर्ध्व-लोक, अधोलोक तथा तिर्यक् लोक के स्वरूप का चिन्तन करें।

आचारांग प्रथम श्रुत-स्कन्ध के नवम अध्ययन के आधार पर किये गये इस विवेचन से स्पष्ट है कि आचारांग की रचना, विवेचन-पद्धति, वस्तु-प्रतिपादन आदि में अपनी असाधारण विशेषता है।

भगवान् महावीर के उत्कृष्ट साधक-जीवन का यह जीता-जागता चित्र जहां उनके नितान्त साधना-निष्णात तथा निःश्रेयसोन्मुख जीवन का परिचायक है, वहां भारत के अन्तवर्ती कुछ एक प्रदेशों की तत्कालीन अवस्थिति की भी एक जीवित झांकी प्रस्तुत करता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध : रचना : कलेवर

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में श्रमण के लिए निर्देशित व्रतों व तत्सम्बद्ध भावनाओं का स्वरूप भिक्षु-चर्या, आहार-पान-शुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार-चर्या, चातुर्मास्य-प्रवास, भाषा, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण, मल-मूत्र-विसर्जन आदि के सम्बन्ध में नियम-उपनियम आदि का विवेचन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि महाकल्पश्रुत नामक आचारांग के निशीथाध्ययन की रचना प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु के बीसवें प्राभृत के आधार पर हुई है। आचारांग वास्तव में द्वादशांगात्मक वाङ्मय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। "अंगाणं किं सारो ? आयारो[1]" जैसे वचन इसके परिचायक हैं।

व्याख्या-साहित्य

आचारांग पर आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्युक्ति, श्री जिनदास गणी द्वारा चूर्णि, श्री शीलांकाचार्य द्वारा टीका तथा श्री जिनहंस द्वारा दीपिका की रचना की गयी।

जैन वाङ्मय के प्रख्यात अध्येता डा० हर्मन जेकोबी ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा इसकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखी। प्रो० एफ० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'Sacred Books of the East' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उसके २२ वें भाग में उसका आक्सफोर्ड से प्रकाशन हुआ। आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध का प्रसिद्ध जर्मन विद्वान्

---

१. आचारांग-निर्युक्ति, २९९

प्रो० वाल्टर शूब्रिंग ने सम्पादन किया तथा सन् १९१० में लिप्ज़िग से इसका प्रकाशन किया। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा आचार्य शीलांक रचित टीका के साथ सन् १९३५ में आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा इसका प्रकाशन हुआ।

२. सूयगडंग (सूत्रकृतांग)

सूत्रकृतांग के नाम

सूत्रकृतांग के लिए सूयगड, सुत्तकड तथा सूयागड; इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। सूयगड या सुत्तकड का संस्कृत-रूप सूत्रकृत है। इसकी शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार है—अर्थरूपतया तीर्थंकरों से सूत्र का उद्भव हुआ, उससे गणधरों द्वारा किया गया या विरचित किया गया ग्रन्थ। इस प्रकार सूत्रकृत शब्द फलित होता है। अथवा सूत्र के अनुसार जिसमें तत्त्वावबोध कराया गया हो, वह सूत्रकृत है। सूयागडं का संस्कृत रूप सूचाकृत है। इसका अर्थ है—स्व और पर समय-सिद्धान्त का जिसमें सूचन किया गया हो, वह सूचाकृत या सूयागड है।[1]

सूत्र का अर्थ भगवद्भाषित और कृत का अर्थ उसके आधार पर गणधरों द्वारा किया गया या रचा गया—इस परिधि में तो समस्त द्वादशांगी हो समाहित हो जाती है; अतः सूत्रकृतांग की ही ऐसी कोई विशेषता नहीं है। स्व—अपने, पर—दूसरों के समय—सिद्धान्तों या तात्त्विक मान्यताओं के विवेचन का जो उल्लेख किया गया है, वह महत्वपूर्ण है। वैसा विवेचन इसी आगम में है, अन्य किसी में नहीं।

सूत्रकृतांग का स्वरूप : कलेवर

यह दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध में सोलह तथा दूसरे में सात अध्याय हैं। पहला श्रुत-स्कन्ध प्रायः पद्यों में है। उसके केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुत-स्कन्ध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इस आगम में गाथा छन्द के अतिरिक्त इन्द्रवज्रा वैतालिक, अनुष्टुप् आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

---

१. सूयगडं अंगाणं, बितियं तस्स य इमाणि नामाणि।
सूयगडं सुत्तकडं, सूयागडं चेव गोणाइ ॥
सूत्रकृत मिति-एतदंगानां द्वितीयं तस्य चामून्येकार्थिकानि, तद्यथा—सूत्रमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थंकृद्भ्य. तत. कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति तथा,सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति तथा सूचाकृतमिति स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन् कृतेति। एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानि।

—अभिधान राजेन्द्र, सप्तम भाग, पृ० १०२७

विभिन्न वादों का उल्लेख

पंचभूतवाद ब्रह्मैकवाद-अद्वैतवाद या एकात्मवाद, देहात्मवाद, अज्ञानवाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, आत्म अकर्तृत्ववाद जड़वाद, पंचस्कन्धवाद तथा धातुवाद आदि का इसके प्रथम स्कन्ध में प्रकरण किया गया है। तत्त्वप्रस्थापन और निरसन का एक सांकेतिक-सा अस्पष्ट-सा क्रम रहा है। इससे यह बहुत स्पष्ट नहीं होता कि उन दिनों अमुक-अमुक वाद किस प्रकार की दार्शनिक परम्पराएं लिये हुए थे। हो सकता है, इन वादों का तब तक किसी व्यवस्थित तथा परिपूर्ण दर्शन के रूप में विकास न हो पाया हो। इन वादों पर अवस्थित दार्शनिक परम्पराओं (Schools of Philosophy) के ये प्रारम्भिक रूप रहे हों। श्रमणों द्वारा भिक्षाचार में सतर्कता, परिषहों के प्रति सहनशीलता, नरकों के कष्ट, साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ जैसे शब्दों की व्याख्या उदाहरणों तथा रूपकों द्वारा स्पष्ट तरह की गयी है। उल्लिखित मतवादों की चर्चा सम्बन्धित व्याख्या ग्रन्थों में विस्तार से भी मिलती है।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में पर-मतों का खण्डन किया गया है—विशेषतः वहां जीव व शरीर के एकत्व, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद आदि की चर्चा है। प्रस्तुत श्रुत-स्कन्ध में आहार-दोष, भिक्षा-दोष आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रसंगवश भौम, उत्पाद स्वप्न, स्वर, व्यंजन, स्त्री-लक्षण आदि विषयों का भी निरूपण हुआ है। अन्तिम अध्ययन का नाम नालन्दीय है। इसमें नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वापत्यिक उदक पेढालपुत्त का वार्तालाप है। अन्त में उदक पेढाल पुत्त द्वारा चतुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत स्वीकार करने का वर्णन है।

प्राचीन मतों, वादों और दृष्टिकोणों के अध्ययन के लिए तो यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है *ही, भाषा की दृष्टि से भी विशेष प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा-वैज्ञानिक भी इसमें अध्ययन की प्रचुर सामग्री पाते हैं।*

व्याख्या-साहित्य

आचार्य भद्रबाहु ने सूत्रकृतांग पर निर्युक्ति की रचना की। आचार्य शीलांक ने वाहरि गणी के सहयोग से टीका लिखी। चूर्णि भी लिखी गयी। हर्ष कुल और साधुरंग द्वारा दीपिकाओं की रचना हुई। डा० हर्मन जैकोबी ने अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो Sacred Books of the East के पैंतालीसवें भाग में आक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ।

३. ठाणांग (स्थानांग)

दश अध्ययनों में यह श्रुतांग विभाजित है। इसमें ७८३ सूत्र हैं। उपर्युक्त दो श्रुतांगों से इसकी रचना भिन्न कोटि की है। इसके प्रत्येक अध्ययन में, अध्ययन की संख्या के अनुसार वस्तु-संख्याएं गिनाते हुए वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, पहले अध्ययन में

कहा गया है—एक लोक, एक अलोक, एक धर्म, एक अधर्म, एक दर्शन, एक चारित्र, एक समय आदि। इसी प्रकार दूसरे अध्ययन में उन वस्तुओं की गणना और वर्णन आया है, जो दो-दो हैं—जैसे दो क्रियाएँ आदि। इसी क्रम से दसवें अध्ययन तक यह वस्तु-भेद और वर्णन दश की संख्या तक पहुँच गया है। इस कोटि की वर्णन-पद्धति की दृष्टि से यह श्रुतांग पालि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है।

नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी-अपनी दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। उदाहरणार्थ, ऋक्, यजुष् और साम; ये तीन वेद बतलाये गये हैं। धर्म-कथा, अर्थ-कथा और काम-कथा; तीन प्रकार की कथाओं का उल्लेख है। वृक्ष तीन प्रकार के बतलाये गये हैं। भगवान् महावीर के तीर्थ में हुए सात निह्नवों (धर्म शासन से विमुख और अपलापक-विपरीत प्ररूपणा करने वालों) की भी चर्चा आई है। भगवान् महावीर के तीर्थ में जिन नौ पुरुषों ने तीर्थंकर-गोत्र बांधा, यथाप्रसंग उनका भी उल्लेख है। इस प्रकार संख्यानुक्रम के आधार पर इसमें विभिन्न विषयों का वर्णन प्राप्त होता है, जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य अभयदेव सूरि (सन् १०६३) ने स्थानांग पर टीका लिखी आचारांग, सूत्रकृतांग, तथा दृष्टिवाद (जो उपलब्ध नहीं है) के अतिरिक्त शेष नौ अंगों पर उनकी टीकाएं हैं। वे नवांगी टीकाकार कहलाते हैं। आचार्य अभयदेव ने टीकाकार के उत्तरदायित्व-निर्वाह की कठिनाइयों का उसमें जो वर्णन किया है, उससे उस समय की शास्त्राव-स्थिति ज्ञात होती है। वे लिखते हैं : "शास्त्राध्येतृ-सम्प्रदायों[1] के नष्ट हो जाने, सद्-ऊह, सद्-विवेक, सद् वितर्कणा के वियोग, सब विषयों के विवेचनपरक शास्त्रों की अस्वायत्तता, स्मरण-शक्ति के अभाव, वाचनाओं के अनेकत्व, पुस्तकों के अशुद्ध पाठ, सूत्रों की अति गम्भीरता तथा कहीं-कहीं मतभेद; आदि कारणों से त्रुटियां रह जाना सम्भावित है। विवेकशील व्यक्तियों ने शास्त्रों का जो अर्थ स्वीकार किया है, वही हमारे लिए ग्राह्य है, दूसरा नहीं[2]।"

---

१. सम्प्रदायो गुरुक्रमः।

२. सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपर शास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः :
सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥
क्षूणानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तेऽनुगतो योऽर्थः सोऽस्माद्ग्राह्यो न चेतरः ॥

—पृ० ४९९

४. समवायांग

समवाय[1] का अर्थ समूह या समुदाय होता है। इस सूत्र का वर्णन क्रम स्थानांग जैसा है। स्थानांग में एक से दश तक संख्याएँ पहुंचती हैं, जब कि इसमें वे संख्याएँ एक से आरम्भ होकर कोटानुकोटि (कोड़ा-कोड़ी) तक जाती हैं। समवायांग में बारह अंगों तथा उनके विषयों का उल्लेख है। संख्याक्रमिक वर्णन के अन्तर्गत यथाप्रसंग आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के नौ अध्ययनों सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के सोलह अध्ययनों, णायाधम्मकहाओ के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों, दृष्टिवाद के कतिपय सूत्रों का त्रैराशिक[2] सूत्र-पद्धति से रचे जाने, उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों तथा चवालीस ऋषिभाषित अध्ययनों, अन्तिम रात्रि में भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित पचपन अध्ययनों तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के चौरासी हजार पदों आदि का इसमें उल्लेख है। नन्दी-सूत्र की भी इसमें चर्चा है। इन उल्लेखों से ऐसा प्रकट होता है कि द्वादशांग के सूत्र-बद्ध हो जाने के पश्चात् इसका लेखन हुआ।

वर्णन-क्रम

समवायांग में चौबीस कुलकरों, चौबीस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों एवं वासुदेवों का, उनके माता-पिता, जन्म स्थान आदि का नामानुक्रम से वर्णन किया गया है। उत्तम शलाका-पुरुषों की संख्या चौवन (तीर्थंकर २४ + चक्रवर्ती १२ + वासुदेव ९ + बलदेव ९ = ५४) दी गयी है, तिरेसठ नहीं। वहां प्रतिवासुदेवों को शलाका-पुरुषों में नहीं लिया गया है। इससे यह सम्भावित प्रतीत होता है कि उन्हें बाद में शलाका-पुरुषों में स्वीकार किया गया हो। यह सारा वर्णन समवायांग के जिस अंश में है, उसे एक प्रकार से संक्षिप्त जैन पुराण की संज्ञा दी जा सकती है। जैन पुराणों के उपजीवक के रूप में निश्चय ही इस भाग का बड़ा महत्व है। भगवान् ऋषभ को यहां कौशलीय तथा भगवान् महावीर को वैशालीय कहा गया है. इससे भगवान् महावीर के वैशाली के नागरिक होने का तथ्य पुष्ट होता है।

समवायांग में लेख, गणित, रूपक, नाट्य, गीति, वादित्र आदि बहत्तर कलाओं का वर्णन है। ब्राह्मी लिपि आदि अठारह लिपियों तथा ब्राह्मी के छयालीस मातृका-अक्षरों की चर्चा है। इस पर आचार्य अभयदेव सूरि की टीका है।

1. दुवालसंगे गणिपिडए पन्नत्ते। तं जहा—आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपन्नत्ती णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ विवागसुए, दिट्ठिवाए। से किं तं आयारे? आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं-माहिज्जइ॥

—समवायांग सूत्र, द्वादशांगाधिकार, पृ० २११-१२

2. मंखलिपुत्र गोशालक का मत

५. विवाह-पण्णत्ति (व्याख्या-प्रज्ञप्ति)

जीव-अजीव आदि पदार्थों की विशद विस्तृत व्याख्या होने के कारण इस अंग का नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति[1] है। संक्षेप में भगवती सूत्र भी कहा जाता है। इसमें इकतालीस शतक हैं। प्रत्येक शतक अनेक उद्देशों (उद्देशकों) में बंटा हुआ है। प्रथम से आठ तक, बारह से चौदह तक तथा अठारह से बीस तक के शतकों में से प्रत्येक में दस-दस उद्देशक हैं। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शतकों में उद्देशों की संख्याएं न्यूनाधिक पाई जाती हैं। पन्द्रहवें शतक का उद्देशों में विभाजन नहीं है। उसमें मंखलिपुत्र गोशालक का चरित्र है। यह अपने आप में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। व्याख्या-प्रज्ञप्ति का सूत्र-क्रम से भी विभाजन प्राप्त होता है। इसमें कुल सूत्र-संख्या ८६७ है।

वर्णन शैली

व्याख्या-प्रज्ञप्ति की वर्णन-शैली प्रश्नोत्तर के रूप में है। गणधर गौतम जिज्ञासु-भाव से प्रश्न उपस्थित करते हैं और भगवान् महावीर उनका उत्तर देते हैं या समाधान करते हैं। टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या छत्तीस हजार बतलाई है। उन्होंने पदों की संख्या दो लाख अठासी हजार दी है। इसके विपरीत समवायांग में पदों की संख्या चौरासी हजार तथा नन्दी में एक लाख चौवालीस हजार बतलाई गयी है।

कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर बहुत छोटे-छोटे हैं। उदाहरणार्थ—

प्रश्न—भगवान् ! ज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर—विज्ञान।

प्रश्न—विज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर—प्रत्याख्यान।

प्रश्न—प्रत्याख्यान का फल क्या है !

उत्तर—संयम।

कहीं-कहीं ऐसे प्रश्नोत्तर भी हैं, जिनमें पूरा शतक हो आ गया है। मंखलिपुत्र गोशालक के वर्णन में सम्बद्ध पन्द्रहवां शतक इसका उदाहरण है।

---

१. विविधाः—जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः आ......अभिविधिना कयांश्चिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया वा—परस्परासंकीर्ण-लक्षणाभिधानरूपया ख्यानानि—भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान्प्रतिप्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ताः प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभियस्याम्। ......अथवा विवाह-विविधा विशिष्टा वाऽर्थप्रवाहा नयप्रवाहा वा प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते प्रबोध्यन्ते वा यस्याम्,''

—अभिधानराजेन्द्रः षष्ठ भाग, पृ० १२३८

जैन धर्म का विश्वकोश

प्रश्नोत्तर-क्रम के मध्य जैन तत्त्वज्ञान, इतिहास, अनेकानेक घटनाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों का वर्णन, विवेचन इतना विस्तृत हो गया है कि उनसे सम्बद्ध अनेक पहलुओं का व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है। इस अपेक्षा से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोश कहना अतिरंजन नहीं होगा।

अन्य ग्रन्थों का सूचन

विस्तार में जाते हुए विवरण को संक्षिप्त करने के निमित्त स्थान-स्थान पर प्रज्ञापना, जीवाभिगम, औपपातिक व नन्दी जैसे ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनमें से उन-उन प्रसंगों को ले लेने का सूचन किया है। नन्दीसूत्र वलभी वाचना के आयोजक एवं प्रधान देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की रचना माना जाता है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से तथा यहाँ के विवरणों को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की जो सूचना की गयी है, उससे यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप नन्दीसूत्र रचे जाने के पश्चात् वीर निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् ई० सन् ५२७ में प्राप्त हुआ है। यही स्थिति अन्य श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी घटित होती है। ऐसा होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि विषय-वस्तु पुरातन तथा आचार्य-परम्परानुस्यूत है।

ऐतिहासिक सामग्री

भगवान् महावीर के जीवन-चरित, उनके अनेक शिष्य, श्रावक-गृहस्थ अनुयायी तथा अन्य तीर्थिकों के सम्बन्ध में इस श्रुतांग में विवेचन प्राप्त होता है, जो इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। सातवें शतक में वर्णित महाशिला कंटक संग्राम तथा रथमूसल संग्राम ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा युद्ध-विज्ञान की दृष्टि से प्राचीन भारत का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। अंग, बंग, मलय, मालवय, अच्छा, वच्छ, कोच्छ, दाढ़, लाढ़, वज्जि, मोलि, कासी, कोशल, अबाह, सुमुत्तर आदि जनपदों का उल्लेख भारत की तत्कालीन प्रादेशिक स्थिति का सूचन करता है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक, भगवान् महावीर के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मंखलिपुत्र गोशालक के जीवन, कार्य आदि के सम्बन्ध में जितने विस्तार से यहाँ परिचय प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र नहीं होता। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यों तथा उनके द्वारा स्वीकृत व पालित चातुर्याम धर्म का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के समय में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग से चले आने वाला निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप में विद्यमान था। उसका भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित

व्यापकता इतनी अधिक है कि उसमें सब प्रकार का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है। कुछ भी अवशेष नहीं रहता। यही कारण है कि चतुर्दश पूर्वधर की संज्ञा श्रुत-केवली है। पूर्वगत को दृष्टिवाद का जो एक भेद कहा गया है, वहाँ सम्भवतः एक भिन्न दृष्टिकोण रहा है। पूर्वगत के अतिरिक्त अन्य भेदों द्वारा विभिन्न विधाओं को संकेतित करने का अभिप्राय उनके विशेष परिशीलन से प्रतीत होता है। कुछ प्रमुख विषय—ज्ञान के कतिपय विशिष्ट पक्ष, जिनकी जीवन में अपेक्षाकृत विशेष उपयोगिता होती है, विशेष रूप से परिशीलनीय होते हैं; अतः सामान्य-विशेष के दृष्टिकोण से यह निरूपण किया गया प्रतीत होता है। अर्थात् सामान्यतः तो पूर्वगत में समग्र ज्ञान-राशि समाई हुई है ही, पर, विशेष रूप से तद्-व्यतिरिक्त भेदों की वहाँ अध्येतव्यता विवक्षित है।

भेद-प्रभेदों के रूप में विस्तार

दृष्टिवाद के जो पांच भेद बतलाये गये हैं, उनके भेद-प्रभेदों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनसे अधिगत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवेचन था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्नछेदनय, अच्छिन्न छेदनय तथा चतुर्नय आदि विमर्श-परिपाटियों का विश्लेषण था। छिन्नछेदनय व चतुर्नय की परिपाटियां निर्ग्रन्थों द्वारा तथा अच्छिन्नछेदनयात्मक परिपाटी आजीवकों द्वारा व्यवहृत थी। आगे चल कर इन सबका समावेश जैन नयवाद में हो गया।

अनुयोग का तात्पर्य

दृष्टिवाद का चतुर्थ भेद अनुयोग है, उसे प्रथमानुयोग तथा गण्डिकानुयोग[1] के रूप में दो भागों में बांटा गया है। प्रथम में अर्हतों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान आदि से सम्बद्ध इतिवृत्त का समावेश है, जब कि दूसरे में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों के चरित का। जिस प्रकार के विषयों के निरूपण की चर्चा है, उससे अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण की संज्ञा दी जा सकती है। दिगम्बर-परम्परा में इसका सामान्य नाम प्रथमानुयोग ही प्राप्त होता है।

दृष्टिवाद के पंचम भेद चूलिका के सम्बन्ध में कहा गया है—चूला (चूलिका) का अर्थ शिखर है। जिस प्रकार मेरु पर्वत के चूलाएं (चूलिकाएं) या शिखर हैं, उसी प्रकार दृष्टिवाद के अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में उक्त और अनुक्त;

---

1. इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते।
तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकानुयोग.।

—अभिधान राजेन्द्र, तृतीय भाग, पृ० ७९१

दोनों प्रकार के ग्रर्थों —विवेचनों की सग्राहिका, ग्रन्थ-पद्धतियां चूलिकाएं हैं। चूर्णिकार ने बतलाया है कि दृष्टिवाद मे परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में जो अभणित या अव्याख्यात है, उसे चूलिकाओं मे व्याख्यात किया गया है। प्रारम्भ के चार पूर्वों[1] की जो चूलिकाएं हैं, उन्ही का यहां अभिप्राय है[2]। दिगम्बर-परम्परा मे ऐसा नहीं माना जाता। वहा चूलिका के पाच भेद बतलाये गये हैं: १ जलगत, २. स्थलगत, ३. मायागत ४. रूपगत तथा ५. आकाशगत। ऐसा अनुमेय है कि इन चूलिका-भेदों के विषय सम्भवतः इन्द्रजाल तथा मन्त्र-तन्त्रात्मक आदि थे, जो जैन धर्म की तात्त्विक (दार्शनिक) तथा समीक्षा-प्रधान दृष्टि के आगे अधिक समय तक टिक नहीं सके; क्योंकि इनकी अध्यात्म-उत्कर्ष से संगति नहीं थी।

द्वादश उपांग

उपांग

प्राचीन परम्परा से श्रुत का विभाजन अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के रूप मे चला आ रहा है। नन्दी सूत्र मे अंग-बाह्य का कालिक और उत्कालिक के रूप में विवेचन हुआ है। जो सूत्र-ग्रन्थ आज उपांगों मे अन्तर्गभित है, उनका उनमें समावेश हो जाता है। अंग-ग्रन्थों के समकक्ष उतनी ही (बारह) संख्या में उपांग-ग्रन्थों का निर्धारण हुआ। उसके पीछे क्या स्थितियां रहीं, कुछ भी स्पष्ट नहीं है। आगम-पुरुष की कल्पना की गयी। जहां उसके अंग-स्थानीय शास्त्रों की परिकल्पना और अंग-सूत्रों की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना हुई, वहां उपांग भी कल्पित किये गये। इससे अधिक सम्भवतः कोई तथ्य, जो ऐतिहासिकता की कोटि में आता हो, प्राप्त नहीं है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ-भाष्य में उपांग शब्द व्यवहृत हुआ है।

अंग : उपांग : असादृश्य

अंग गणधर-रचित हैं। उनके अपने विषय हैं। उपांग स्थविर रचित हैं। उनके अपने विषय हैं। विषय-वस्तु, विवेचन आदि की दृष्टि से वे परस्पर प्रायः असदृश या भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, पहला उपांग पहले अंग से विषय, विश्लेषण प्रस्तुतीकरण आदि की दृष्टि से सम्बद्ध होना चाहिए, पर, वैसा नहीं है। यही लगभग सभी उपांगों के सम्बन्ध

---

(१) उत्पाद, (२) अग्रायणीय, (३) वीर्यप्रवाद, (४) अस्ति-नास्तिप्रवाद।

२. अथ कास्ताश्चूला ? इह चूला शिखरमुच्यते। यथा मेरौ चूलाः, तत्र चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकर्मसूत्र पूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः। तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-दिट्ठिवाए जं परिकम्मसुत्तपुव्वाणुओगे चूलियं न भणियं, तं चूलासु भणियं ति। अत्र सूरिराह चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणाम्, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एव चूलाः—

—अभिधानराजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २३९५

है [illegible] स्थविरावली में [illegible] श्यामार्य का उल्लेख भी है, पर, वे सुधर्मा से प्रारंभ होने वाली परम्परा में आते हैं। [illegible] स्थान पर यहां [illegible] श्यामार्य का उल्लेख है। [illegible] वाचक [illegible] कहा है। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आर्य श्याम की [illegible] नहीं जाती।

रचना का आधार : एक कल्पना

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में लेखक की ओर से स्तवनात्मक दो गाथाएं हैं, जो बहुत महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं : "सूत्र-रत्नों के निधान, भव्यजनों के लिए निर्वृत्तिकारक भगवान् महावीर ने सब जीवों के भावों की प्रज्ञापना उपदिष्ट की। भगवान् ने दृष्टिवाद से निर्गमित, विविध अध्ययनयुक्त इस श्रुत-रत्न का जिस प्रकार विवेचन किया है, मैं भी उसी प्रकार करूंगा।"[3]

इन गाथाओं में प्रयुक्त दिट्ठिवायणीसंदं पद पर विशेष गौर करना होगा। दृष्टिवाद व्युच्छिन्न माना जाता है। श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् उसके सम्पूर्ण वेत्ताओं की परम्परा मिट गयी। पर, अंशतः वह रहा। श्यामार्य के सम्बन्ध में जिन दो वन्दनसूचक गाथाओं की चर्चा की गयी है, वहां उन्हें पूर्वज्ञान से युक्त भी कहा गया है। सम्भवतः आर्य श्याम आंशिक रूप्या पूर्वज्ञ रहे हों। हो सकता है, इसी अभिप्राय से उन्होंने यहां दृष्टिवाद निष्यन्द शब्द जोड़ा हो, जिसका आशय यह रहा हो कि दृष्टिवाद के पुष्कल भाग पूर्व ज्ञान से इसे गृहीत किया गया है।

---

१ सुहम्मं[1] अग्गिवेसाणं, जंबूनाम[2] च कासवं।
पभवं[3] कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं[4] तहा ॥
जसभद्दं[5] तुंगीयं वंदे संभूयं,[6] चेव माढरे।
भद्दबाहुं[7] च पाइन्नं, थूलभद्दं[8] च गोयमं ॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं[9] सुहत्थिं च ॥
तत्तो कोसियगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥
हारियगोत्तं[11] सायं च, वंदे मोहारियं[12] च सामज्जं।

—नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा २५-२८

२ भयणपुरम्मि सेसे, कालियसुय अणुगए धीरे।
बंभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥

—नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६

३. सुयरयणनिहाणं, जिणवरेण भवियणनिव्वुइकरेणं।
उवदंसिया भगवया, पण्णवणा सव्वभावाणं ॥
अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥

—प्रज्ञापना, मंगलाचरण, २, ३

व्याख्या-साहित्य

आचार्य हरिभद्र सूरि ने प्रदेशाख्या लघुवृत्ति की रचना की। उन्होंने कठिन पदों की व्याख्या की है। आचार्य मलयगिरि ने उसी के आधार पर टीका की रचना की। कुलमण्डन ने अवचूरि लिखी।

व्याख्याकारों ने एतद्ग्रन्थगत पाठ-भेदों का भी उल्लेख किया है। अनेक स्थलों पर कतिपय शब्दों को अव्याख्येय मानते हुए टीकाकार ने उन्हें सम्प्रदायगम्य कह कर छोड़ दिया। सम्भव है, वे शब्द स्पष्टार्थ-द्योतक नहीं प्रतीत हुए हों; अतः आम्नाय या परम्परा से समझ लेने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता था? प्रज्ञापना का ग्यारहवां पद भाषा-पद है। उपाध्याय यशोविजयजी ने इसका विवेचन किया है।

५. सूरियपन्नत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)

नाम : अन्वर्थकता

द्विसूर्यसिद्धान्त, सूर्य के उदय, अस्त, आकार, ओज, गति आदि का विस्तार से वर्णन है, जिससे इसके नाम की अन्वर्यकता प्रकट होती है। साथ-ही-साथ चन्द्र, अन्यान्य नक्षत्र आदि के आकार, गति, अवस्थिति आदि का भी विशद विवेचन है। बीस प्राभृतों में विभक्त यह ग्रन्थ एक सौ आठ सूत्रों में सन्निविष्ट है। प्राभृत प्राकृत के पाहुड़ शब्द का संस्कृत-रूपान्तर है।

प्राभृत का अर्थ

अनेक ग्रन्थों के अध्याय या प्रकरण के अर्थ में प्राभृत शब्द प्रयुक्त पाया जाता है। इसका शाब्दिक तात्पर्य उपहार, भेंट या समर्पण है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसकी व्याख्या इस प्रकार है: "अपने अभीष्ट—प्रिय जन को जो परिणाम-सरस, देश-कालोचित दुर्लभ वस्तु दी जाती है और जिससे प्रिय जन की चित्त-प्रसन्नता आसादित की जाती है, लोक में उसे प्राभृत कहा जाता है।"[1]

ग्रन्थ के प्रकरण के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या इस प्रकार है: "अपने प्रिय तथा विनय आदि गुण-युक्त शिष्यों को देश और काल की उचितता के साथ जो ग्रन्थ सरणियां दी

१. उच्यते—इह प्राभृतं नाम लोके प्रसिद्धं यदभीष्टाय पुरुषाय देश-कालोचितं दुर्लभं वस्तु परिणामसुन्दरमुपनीयते ततः प्रास्रियते—प्राप्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतमिति व्युत्पत्तेः।

— अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग, पृ० ९९९

जाती है, उन्हें भी प्राभृत कहा जाता है।[1] शब्द-चयन में जैन विद्वानों के मस्तिष्क की उर्वरता इससे स्पष्ट है। प्रकरण के अर्थ में प्राभृत शब्द वास्तव में साहित्यिक सुषमा लिये हुए है।

व्याख्या-साहित्य

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति की रचना की, ऐसा प्रसिद्ध है। पर, वह प्राप्त नहीं है, काल-कवलित हो गयी है। आचार्य मलयगिरि की इस पर टीका है। वास्तव में यह ग्रन्थ इतना दुर्ज्ञेय है कि टीका की सहायता के बिना समझ पाना सरल नहीं है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से सम्बद्ध अपने विशेष प्रकार के विश्लेषण के कारण यह ग्रन्थ विद्वज्जगत् में आकर्षण का केन्द्र रहा है। प्रो० वेबर ने जर्मन भाषा में इस पर एक निबन्ध लिखा, जो सन् १८६८ में प्रकाशित हुआ। सुना जाता है, डा० आर० शाम शास्त्री ने इसका A Brief Translation of Mahavir's Suryaprajnapti के नाम से अंग्रेजी में संक्षिप्त अनुवाद किया था, पर, वह अप्राप्य है। डा० थीबो ने सूर्यप्रज्ञप्ति पर लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने जैनों के द्विसूर्य और द्विचन्द्रवाद की भी चर्चा की थी। उनके अनुसार यूनान के लोगों में उनके भारत आने के पूर्व यह सिद्धान्त सर्व स्वीकृत था। Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. no. 49 में वह लेख प्रकाशित हुआ था।

६. जम्बुद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

स्वरूप

जम्बूद्वीप से सम्बद्ध इस उपांग में अनेक विध वर्णन हैं। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध चार वक्षस्कारों में तथा उत्तरार्द्ध तीन वक्षस्कारों में विभक्त है। समग्र ग्रन्थ में १७६ सूत्र हैं।

वक्षस्कार का तात्पर्य

वक्षस्कार शब्द यहां प्रकरण को बोधित कराता है। पर, वास्तव में जम्बूद्वीप में इस नाम के प्रमुख पर्वत हैं, जिनका जैन भूगोल में कई अपेक्षाओं से बड़ा महत्व है। जम्बूद्वीप से सम्बद्ध विवेचन के सन्दर्भ में ग्रन्थकार प्रकरण का अवबोध कराने के हेतु वक्षस्कार का जो प्रयोग करते हैं, वह सर्वथा संगत है।

---

१. विवक्षिता अपि च ग्रन्थपद्धतयः परमदुर्लभा परिणाम सुन्दराश्चाभीष्टेभ्यो विनयादिगुणकलितेभ्य. शिष्येभ्यो देशकालौचित्येनोपनीयन्ते।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग, पृ० ९१४

विषय-वस्तु

जम्बूद्वीपगत भरत क्षेत्र आदि का इस उपांग में विस्तृत वर्णन है। उसके सन्दर्भ में अनेक दुर्गम स्थल, पहाड़, नदी, गुफा, जंगल, आदि की चर्चा है।

जैन काल-चक्र—अवसर्पिणी—सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषम-दुःषमा, दुःषम-सुषमा दुःषमा, दुःषम-दुःषमा तथा उत्सर्पिणी—दुःषम-दुःषमा, दुःषमा, दुःषम-सुषमा, सुषम-दुःषमा, सुषमा, सुषम-सुषमा का विस्तार से वर्णन है। उस सन्दर्भ में चौदह कुलकर आदि, तीर्थंकर ऋषभ, बहत्तर कलाएं, स्त्रियों के लिए विशेषतः चौसठ कलाएं तथा अनेक शिल्प आदि की चर्चा है। इस कोटि का और भी महत्वपूर्ण वर्णन है। जैन भूगोल तथा प्रागितिहास-कालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का विशेष महत्व है।

७. चन्दपन्नत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)

स्थानांग में उल्लेख

स्थानांग सूत्र[1] में सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के साथ चन्द्रप्रज्ञप्ति का भी अंगबाह्य के रूप में उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति दोनों प्राचीन ग्रन्थ हैं। दोनों कभी पृथक्-पृथक् ग्रन्थ थे, दोनों के अपने-अपने विषय थे।

वर्तमान संस्करण : एक प्रश्न

वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति का जो संस्करण प्राप्त है, वह सूर्यप्रज्ञप्ति से सर्वथा—अक्षरशः मिलता है। भेद है तो केवल मंगलाचरण तथा ग्रन्थ में विवक्षित बीस प्राभृतों का संक्षेप में वर्णन करने वाली अठारह गाथाओं का। चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में ये गाथाएं हैं। तत्पश्चात् क्रम-निर्दिष्ट विषय प्रारम्भ होता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में ये गाथाएं नहीं हैं अर्थात् मंगलाचरण तथा विवक्षित विषय सूचन के बिना ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है, जो आद्योपान्त चन्द्रप्रज्ञप्ति जैसा है। वास्त में यदि ये दो ग्रन्थ हैं, तो ऐसा क्यों ? यह एक प्रश्न है, जिसका अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है।

---

१. चत्तारि पण्णत्तीओ अंगबाहिरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चन्दपण्णत्ती, सूरपण्णत्ती, जम्बूद्दीवपण्णत्ती, दीवसागरपण्णत्ती।

—स्थानांग सूत्र, स्थान ४, १.४७

उद्धार किया और इसे मूल सूत्र में स्थान दिया। नवनीतसार संज्ञक पंचम अध्ययन में गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है। उस प्रसंग में गच्छ का भी वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गच्छाचार नामक प्रकीर्णक की रचना इसी के आधार पर हुई। षष्ठ अध्ययन में आलोचना तथा प्रायश्चित्त के क्रमशः दश और चार भेदों का वर्णन है।

पति की मृत्यु पर स्त्री के सती होने तथा यदि कोई राजा निष्पुत्र मर जाए, तो उसकी विधवा कन्या को राज्य-सिंहासनासीन किये जाने का यहां उल्लेख है।

ऐतिहासिकता

इस सूत्र की भाषा तथा विषय के स्वरूप को देखते हुए इसकी गणना प्राचीन आगमों में किया जाना समीचीन नहीं लगता। इसमें तन्त्र सम्बन्धी वर्णन भी प्राप्त होते हैं। जैन आगमों के अतिरिक्त इतर ग्रन्थों का भी इसमें उल्लेख है। अन्य भी ऐसे अनेक पहलू हैं, जिनसे यह सम्भावना पुष्ट होती है कि यह सूत्र अर्वाचीन है।

३. ववहार (व्यवहार)

श्रुत-वाङ्मय में व्यवहार सूत्र का बहुत बड़ा महत्व है। यहां तक कि इसे द्वादशांग का नवनीत कहा गया है। यद्यपि संख्या में छेद-सूत्र छः हैं, पर, वस्तुतः उनमें विषय, सामग्री, रचना आदि सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण तीन ही हैं जिनमें व्यवहार सूत्र मुख्य है। अवशिष्ट दो निशीथ और बृहत्कल्प हैं।

कलेवर : विषय-वस्तु

इसमें दश उद्देशक हैं, जो सूत्रों में विभक्त हैं। कलेवर में यह श्रुत-ग्रन्थ निशीथ से छोटा और बृहत् कल्प से बड़ा है। भिक्षुओं, भिक्षुणियों द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में आचरित दोषों या अवलनाओं की शुद्धि या प्रतिकार के लिए प्रायश्चित्त, आलोचना आदि का यहां बहुत मार्मिक वर्णन है। उदाहरणार्थ, प्रथम उद्देशक में एक प्रसंग है। यदि एक साधु अपने गण से पृथक् होकर एकाकी विहार करने लगे और फिर यदि अपने गण में पुनः समाविष्ट होना चाहे, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह उस गण के आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष अपनी गर्हा, निन्दा, आलोचना-पूर्वक प्रायश्चित्त अंगीकार कर आत्म-मार्जन करे। यदि आचार्य या उपाध्याय न मिलें, तो सांभोगिक, बिहुश्रुत साधुओं के समक्ष ऐसा करे। यदि वह भी न मिले, तो सूत्रकार ने अन्य सांभोगिक

---

१. यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बर आम्नाय में नवकार मन्त्र के विषय में भिन्न मत रहा है। षट्खण्डागम के प्रमुख टीकाकार वीरसेन का अभिमत है कि आचार्य पुष्पदन्त नवकार मन्त्र के स्रष्टा हैं।

इतर सम्प्रदाय के विद्यमान साधु के समक्ष ऐसा करने का विधान किया है। उनके भी न मिलने पर सूत्रकार ने अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के विकल्प उपस्थित किये हैं, जिनके सामने वे आलोचना, निन्दा, गर्हा द्वारा अन्त परिष्कार कर प्रायश्चित्त किया जाए। यदि ऐसा कोई भी न मिल पाए, तो सूत्रकार का निर्देश है कि ग्राम, नगर, निगम, राजधानी खेट, कर्बट, मडम्ब, पट्टन, द्रोणमुख आदि के पूर्व या उत्तर दिशा में स्थित हो, अपने मस्तक पर दोनों हाथों को अंजलि रख इस प्रकार कहते हुए आत्म-पर्यालोचन करे कि मैंने अपराध किये हैं, मैं वास्तव में अपराधी-दोषी बना हूं। मैं अर्हतों और सिद्धों के समक्ष आलोचना करता हूं, आत्म-प्रतिक्रमण होता हूं, आत्म-निन्दा तथा गर्हा करता हूं, प्रायश्चित्त स्वीकार करता हूं।

आत्म-परिष्कृति या अन्तःशोधन की यह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो श्रामण्य के शुद्ध-निर्वहन में निःसन्देह उद्बोधक तथा उत्प्रेरक है।

व्यवहार-सूत्र में इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं, जिनका श्रमण-जीवन एवं श्रमण-संघ के व्यवस्था-क्रम, समीचीनतया संचालन तथा पावित्र्य की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रसंग

प्रायश्चित्तों के विश्लेषण की दृष्टि से दूसरा उद्देश्य भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। अनवस्थाप्य, पारंचिक आदि प्रायश्चित्तों के सन्दर्भ में इस में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन हुआ है। एक स्थान पर वर्णन है – "जो साधु रोगाक्रान्त है, वायु आदि के प्रकोप से जिसका चित्त विक्षिप्त है, कारण-विशेष (कन्दर्पोद्भव आदि) से जिसके चित्त में वैकल्य है, यक्ष आदि के आवेश के कारण जो म्लान है, मोह आदि से मायाक्रान्त है, जो उन्माद-प्राप्त है, जो देवकृत उपसर्ग से ग्रस्त होने के कारण अस्त-व्यस्त है, क्रोध आदि कषाय के तीव्र आवेश के कारण जिसका चित्त अस्थिर एवं म्लान है, अधिक प्रायश्चित्त की आशंका से जिसका चित्त खिन्न है, उसको—उन सबको जब तक वे स्वस्थ न हो जाएं, तब तक उन्हें गण से बहिष्कृत करना अकल्प्य है।" इस प्रकार के और भी अनेक प्रसंग हैं।

गण-व्यवस्था के लिए अपेक्षित स्थितियां, विहार-चर्या के विधि-निषेध, उदासीनता, भिक्षा-चर्या, सम्भोग-विसम्भोग का विधिक्रम, स्वाध्याय के सम्बन्ध में सूचना आदि अनेक विवरण हैं, जो श्रमण-जीवन के सर्वांगीण अध्ययन एवं अनुशीलन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

सातवां उद्देशक साधुओं और साध्वियों के पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से अध्येतव्य है। यहां उल्लेख है कि तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय वाला अर्थात् जिसे प्रव्रजित हुए केवल तीन वर्ष हुए हैं, वैसा साधु उस साध्वी को, जिसे दीक्षा ग्रहण किये तीस वर्ष हो गये हैं, उपाध्याय के रूप में आदेश-उपदेश दे सकता है। इसी प्रकार केवल पांच वर्ष का दीक्षित

श्रुत-सम्पदा के चार भेद : १. बहुश्रुतता, २. परिचितश्रुतता, ३. [illegible]श्रुतता, ४ घोषविशुद्धिकारकता।

शरीर-सम्पदा के चार भेद : १. शरीर की लम्बाई-चौड़ाई का सन्तुलन, २. अलज्जास्पद शरीर, ३. स्थिर संगठन, ४. प्रतिपूर्णेन्द्रियता।

वचन-सम्पदा के चार भेद : १. आदेय वचन (ग्रहण करने योग्य वचन), २. मधुर वचन, ३ अनिश्रित (प्रतिबन्धरहित) वचन, ४. असन्दिग्ध वचन।

वाचना-सम्पदा के चार भेद : १. विचार पूर्वक वाच्य विषय का उद्देश-निर्देश करना, २. विचार पूर्वक वाचना करना, ३. उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, ४ [illegible] का सुनिश्चित निरूपण करना।

मति-सम्पदा के चार भेद : १. अवग्रह-मति-सम्पदा, २. ईहा-मति-सम्पदा, ३. अवाय-मति-सम्पदा, ४ धारणा-मति-सम्पदा।

प्रयोग-सम्पदा के चार भेद : १. आत्म-ज्ञानपूर्वक वाद-प्रयोग, २ परिषद्-ज्ञानपूर्वक वाद-प्रयोग ३. क्षेत्र-ज्ञानपूर्वक वाद-प्रयोग, ४ वस्तु-ज्ञानपूर्वक वाद-प्रयोग।

संग्रह-सम्पदा के चार भेद : १. वर्षाऋतु में सब मुनियों के निवास के लिए योग्य स्थान की परीक्षा करना, २. सब मुनियों के लिए प्रातिहारिक पीठ-फलक-शय्या-संस्तारक की व्यवस्था करना, ३. नियत समय पर प्रत्येक कार्य करना, ४ अपने से बड़ों की पूजा-प्रतिष्ठा करना।

पंचम दशा में चित्त-समाधि-स्थान तथा उसके दश भेदों का वर्णन है। षष्ठ दशा में उपासक या श्रावक की दश प्रतिमाओं का निरूपण है। उस सन्दर्भ में सूत्रकार ने मिथ्यात्व-प्रसूत अक्रियावाद तथा आरम्भ-समारम्भ-मूलक क्रियावाद का विस्तार से विश्लेषण करते हुए द्रोह, राग, मोह, आसक्ति, वैमनस्य तथा लोकैषणा, कीर्ति-गुण, लोकैषणा—लोक-प्रशस्ति आदि से उद्भूत अनेकानेक पाप-कृत्यों का विश्लेषण करते हुए उनके नारकीय फलों का रोमांचक वर्णन किया है।

सप्तम दशा में द्वादशविध भिक्षु-प्रतिमा का विवेचन है। जैसे, प्रथम एक मासिक भिक्षु-प्रतिमा में पालनीय आचार-नियमों के सन्दर्भ में विहार-प्रवास को उद्दिष्ट कर बतलाया गया है कि एक मासिक भिक्षु-प्रतिमा-उपपन्न भिक्षु, जिस क्षेत्र में उसे पहचानते हों, वहाँ केवल रात्रि-प्रवास कर विहार कर जाए। जहाँ कोई पहचानने वाला न हो, वहाँ एक रात, अधिक हो तो दो रात प्रवास कर जाए। ऐसा न करने पर वह भिक्षु छेद अथवा परिहारिक तप के प्रायश्चित्त का भागी होता है। प्रत्येक प्रतिमा के

तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती। इसी प्रकार साधु की आंख में कोई जीव-भुनगा, बीज, रज-कण आदि पड़ जाए, उसे वह स्वयं न निकाल सके और न वैसा कर सकने वाला कोई दूसरा साधु पास में हो, तो साध्वी शुद्ध भाव से वैसा करती हुई तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती।

साध्वी की भी वैसी ही स्थिति हो, जैसी साधु की बतलाई गयी है, तो साधु शुद्ध भाव से साध्वी के पैर से कील, कांटा, काच का टुकड़ा आदि निकाल सकता है। आंख में से कीटाणु, बीज, रज-कण आदि हटा सकता है। वैसा करता हुआ वह तीर्थंकर की आज्ञा की विराधना नहीं करता।

एक और प्रसंग है, जिसमें बतलाया गया है कि यदि कोई साध्वी किसी दुर्गम स्थान से, विषम स्थान से, पर्वत से स्खलित हो रही हो, गिर रहा हो; उसे बचा सके, वैसी कोई दूसरी साध्वी उसके पास न हो तो साधु यदि उसे पकड़ कर, सहारा देकर बचाए, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। इसी प्रकार यदि कोई साधु नदी में, जलाशय में, कीचड़ में फंसी साध्वी को पकड़ कर निकाल दे, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। इसी प्रकार नौका में चढ़ते-उतरते समय साध्वी के लड़खड़ाने, पड़ने लगने, वात आदि दोष से विक्षिप्त हो जाने के कारण अपने को न सम्हाल पाने, हर्षातिरेक या शोकातिरेक से सुप्त-चित्त हो कर आत्म-घात आदि के लिए उद्यत होने, यक्ष, भूत, प्रेत आदि से आविष्ट हो जाने के कारण अस्त-व्यस्त दशा में हो जाने जैसे अनेक प्रसंग उपस्थित करते हुए सूत्रकार ने निर्दिष्ट किया है कि उक्त स्थिति में साधु साध्वी को पकड़ कर बचा सकता है। वैसा करने में उसे कोई दोष नहीं आता।

स्पष्ट है कि सूत्रकार ने इन प्रसंगों से श्रमण-जीवन के विविध पहलुओं को सूक्ष्मता से ... हुए एक व्यवस्था निर्देशित की है, जो श्रामण्य के शुद्धिपूर्वक निर्वहण-हेतु भपे। उपयुक्त सुविधाओं की पूरक है।

... एवं व्याख्या-साहित्य

... या बृहत्कल्प के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। आचार्य मलयगिरि ... है कि प्रत्याख्यान संज्ञक नवम पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें ... के प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर इसकी रचना की गयी। पूर्व-ज्ञान उस समय अस्तोन्मुख थी; अतः प्रायश्चित्त-विधान, जिन्हें प्रत्येक श्रमण-

तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती। इसी प्रकार साधु की आंख में कोई कीट-भुनगा, बीज, रज-कण आदि पड़ जाए, उसे वह स्वयं न निकाल सके और न वैसा कर सकने वाला कोई दूसरा साधु पास में हो, तो साध्वी शुद्ध भाव से वैसा करती हुई तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती।

साध्वी की भी वैसी ही स्थिति हो, जैसी साधु की बतलाई गयी है, तो साधु शुद्ध भाव से साध्वी के पैर से कील, कांटा, कांच का टुकड़ा आदि निकाल सकता है। आंख में से कीटाणु, बीज, रज-कण आदि हटा सकता है। वैसा करता हुआ वह तीर्थंकर की आज्ञा की विराधना नहीं करता।

एक और प्रसंग है, जिसमें बतलाया गया है कि यदि कोई साध्वी किसी दुर्गम स्थान से, विषम स्थान से, पर्वत से स्खलित हो रही हो, गिर रही हो; उसे बचा सके, वैसी कोई दूसरी साध्वी उसके पास न हो तो साधु यदि उसे पकड़ कर, सहारा देकर बचाए, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। इसी प्रकार यदि कोई साधु नदी में, जलाशय में, कीचड़ में फंसी साध्वी को पकड़ कर निकाल दे, तो वह तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। इसी प्रकार नौका में चढ़ते-उतरते समय साध्वी के लड़खड़ा जाने, पड़ने लगने, वात आदि दोष से विक्षिप्त हो जाने के कारण अपने को न सम्हाल पाने, हर्षातिरेक या शोकातिरेक से शून्य-चित्त हो कर आत्म-घात आदि के लिए उद्यत होने, यक्ष, भूत, प्रेत आदि से आविष्ट हो जाने के कारण उन्मत्त-अवस्था में हो जाने जैसे अनेक प्रसंग उपस्थित करते हुए सूत्रकार ने निर्दिष्ट किया है कि उक्त स्थिति में साधु साध्वी को पकड़ कर बचा सकता है। वैसा करने में उसे कोई दोष नहीं लगता।

स्पष्ट है कि सूत्रकार ने इन प्रसंगों से श्रमण-जीवन के विविध पहलुओं को सूक्ष्मता से परखते हुए एक व्यवस्था निर्देशित की है, जो व्यवहार्य के दृष्टिकोण से निर्वहण-हेतु व्यावहारिक एवं उपयुक्त सुविधाओं की सूचक है।

रचना एवं व्याख्या-साहित्य

कल्प या बृहत्कल्प के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत के प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर इसकी रचना की गयी। पूर्व-ज्ञान की परम्परा उस समय क्षीयमाण थी, अतः प्रायश्चित्त-विधान, जिन्हें अनेक [illegible]

श्रमणी को भलीभांति जानना चाहिए, कहीं उच्छिन्न या लुप्त न हो जाए, एतदर्थ आचार्य भद्रबाहु ने व्यवहार सूत्र और कल्प-सूत्र रचे।

कल्प पर भद्रबाहुकृत निर्युक्ति भी है, जिसकी कर्तृकता असन्दिग्ध नहीं है। इस पर संघदास गणी ने लघु भाष्य की रचना की। मलयगिरि ने उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति तथा संघदास गणी का भाष्य; दोनों इस प्रकार परस्पर [illegible] जैसे हो गये हैं कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् स्थापित करना असम्भव जैसा है। [illegible] पर आचार्य मलयगिरि ने विवरण की रचना की। पर, वह रचना पूर्ण नहीं थी। लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् क्षेमकीर्ति सूरि ने उसे पूरा किया। बृहत्कल्प पर बृहद् भाष्य भी है, वह पूर्ण नहीं है, केवल तृतीय उद्देशक तक ही प्राप्य है। इस पर विशेष चूर्णि की भी रचना हुई।

६. पंचकप्प (पंच-कल्प)

पंचकल्प सूत्र और पंचकल्प-भाष्य; ये दो नाम प्रचलित हैं, जिनसे सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दो ग्रन्थ हों। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नाम दो हैं, ग्रन्थ एक। मलयगिरि और क्षेमकीर्ति के अनुसार पंचकल्प भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प-भाष्य का ही एक अंश है। इसकी वैसी ही स्थिति है, जैसी पिण्ड-निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति की है। पिण्ड-निर्युक्ति कोई मूलतः पृथक् ग्रन्थ नहीं है, वह दशवैकालिक निर्युक्ति का ही भाग है। उसी प्रकार ओघ-निर्युक्ति भी स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर आवश्यक-निर्युक्ति का ही भाग है। विषय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण पाठकों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया है।

बृहत्कल्प-भाष्य का अंश होने के नाते पंचकल्प सूत्र या पंचकल्प-भाष्य संघदास गणी द्वारा रचित ही माना जाना चाहिए। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्प-सूत्र)

जीय, जीत या जीत का अर्थ परम्परागत से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या [illegible] में [illegible] रखने वाला एक प्रकार का [illegible][1] आदि है। इस सूत्र में [illegible]

---

१ [illegible], पृ० ३३८

श्रमणों के सन्दर्भ में प्रायश्चित्तों का विधान है। इस सूत्र में एक सौ तीन गाथाएं हैं। इसमें प्रायश्चित्त का महत्त्व, आत्म-शुद्धि या अन्तः-परिष्कार में उसकी उपादेयता आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रायश्चित्त के दश भेदों का यहां विवेचन है : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र-आलोचना-प्रतिक्रमण, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारंचिक। ऐसी मान्यता है कि आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर अन्तिम दो अनवस्थाप्य और पारंचिक नामक प्रायश्चित्त व्युच्छिन्न हो गये।

रचना : व्याख्या-साहित्य

सुप्रसिद्ध जैन लेखक, विशेषावश्यक-भाष्य जैसे महान् ग्रन्थ के प्रणेता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सप्तम वि. शती) इस सूत्र के रचयिता माने जाते हैं। क्षमाश्रमण इसके भाष्यकार भी कहे जाते हैं, पर, यह भाष्य वस्तुतः कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर बृहत्कल्प-भाष्य, व्यवहार-भाष्य, पंचकल्प-भाष्य, तथा पिण्ड-निर्युक्ति प्रभृति ग्रन्थों की विषयानुरूप भिन्न-भिन्न गाथाओं का संकलन मात्र है। आचार्य सिद्धसेन ने इस ग्रन्थ पर चूर्णि की रचना की। श्रीचन्द्र सूरि (१२२८ विक्रमाब्द में) उस (चूर्णि) पर विषम-पद-व्याख्या नामक टीका की रचना की। श्रीतिलकाचार्यप्रणीत वृत्ति भी इस पर है। यति-जीतकल्प और श्राद्ध-जीतकल्प नामक ग्रन्थ भी जीतकल्पसूत्र से ही सम्बद्ध या तद्विषयान्तर्गत माने जाते हैं। यति-जीतकल्प में यतियों या साधुओं के आचार का वर्णन है और श्राद्ध-जीतकल्प में श्राद्ध-श्रमणोपासक या श्रावक के आचार का विवेचन है। यति-जीतकल्प की रचना सोमप्रभसूरि ने की। साधुरत्न ने उस पर वृत्ति लिखी। श्राद्ध-जीतकल्प की रचना धर्मघोष द्वारा की गयी। उस पर सोमतिलक ने वृत्ति की रचना की।

मूल सूत्र

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति को सामान्यतः मूल सूत्रों के नाम से अभिहित किया जाता है। यह सर्वसम्मत तथ्य नहीं है। कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा आवश्यक; इन तीन को ही मूल सूत्रों में [illegible] हैं
पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति को मूल सूत्रों के [illegible]
इंगित किया गया है. पिण्ड-निर्युक्ति दशवैकालिक
आवश्यक-निर्युक्ति का [illegible] विद्वान्
[illegible] पर उसी [illegible] है।

किया गया है, ओघ-निर्युक्ति सहित वे पांच हैं। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त तीन में से आवश्यक को हटा कर तथा अनुयोगद्वार व नन्दी को उनमें सम्मिलित कर; चार की संख्या पूरी करते हैं। कुछ लोग पक्खिय सुत्त (पाक्षिक सूत्र) का भी इनके साथ नाम से संयोजित करते हैं।

महत्व

मूल सूत्रों में वस्तुतः उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का जैन वाङ्मय में बहुत बड़ा महत्व है। विद्वान् इन्हें जैन आगम-वाङ्मय के प्राचीनतम सूत्रों में गिनते हैं। भाषा की दृष्टि से भी इनकी प्राचीनता अक्षुण्ण है। विषय-विवेचन की अपेक्षा से ये बड़े समृद्ध हैं। ये सुत्तनिपात व धम्मपद जैसे सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों से तुलनीय हैं। जैन दर्शन, आचार-विज्ञान तथा तत्सम्मत जीवन के विश्लेषण की दृष्टि से अध्येताओं और अन्वेष्टाओं के लिए ये ग्रन्थ विशेष रूप से परिशीलनीय हैं।

मूल : नामकरण क्यों ?

मूल-सूत्र नाम क्यों और कब प्रचलित हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राचीन आगम-ग्रन्थों में मूल या मूल सूत्रों के नाम से कहीं भी उल्लेख नहीं है। पश्चाद्वर्ती साहित्य में भी सम्भवतः इस नाम का पहला प्रयोग भावदेवसूरि-रचित जैनधर्मवरस्तोत्र के तीसवें श्लोक की टीका में है। वहां "अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति-ओघ-निर्युक्ति-दशवैकालिक इति चत्वारि मूल सूत्राणि" इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विमर्श

गहन अध्ययन, तलस्पर्शी अनुसन्धान और गवेषणा की दृष्टि से योरोपीय देशों के कतिपय विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय पर जिस रुचि और अपरिश्रान्त अध्यवसाय व लगन के साथ जो कार्य किया है, निःसन्देह वह स्तुत्य है। कार्य किस सीमा तक हो सका, कितना हो पाया, उसके निष्कर्ष कितने उपादेय हैं; इत्यादि पहलू तो स्वतन्त्र रूप से चिन्तन और आलोचना के विषय हैं, पर, उनका श्रम, उत्साह और सतत प्रयत्नशीलता भारतीय विद्वानों के लिए भी अनुकरणीय है। जैन वाङ्मय तथा प्राकृत भाषा के क्षेत्र में जर्मनी आदि पश्चिमी देशों के विद्वानों ने अधिक कार्य किया है। जैन आगम-साहित्य पर अनुसन्धान कर्ता विद्वानों के प्रस्तुत विषय पर जो भिन्न-भिन्न विचार हैं, उन्हें यहां उपस्थित किया जाता है।

प्रो० शर्पेन्टियर का मत

जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य-अध्येता प्रो. शर्पेन्टियर (*Prof. Charpantier*) ने उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावना में इस सम्बन्ध में जो लिखा है, उसके अनुसार इनका मूल सूत्र नाम पड़ने का कारण इनमें भगवान् महावीर के मूल शब्दों का (Mahavira's own words) का संगृहीत होना है। इसका आशय यह है कि इनमें जो शब्द संकलित हुए हैं, वे स्वयं भगवान् महावीर के मुख से निःसृत हैं।

डा० वाल्टर शुब्रिंग का अभिमत

जैन वाङ्मय के विख्यात अध्येता जर्मन के विद्वान् डा. वाल्टर शुब्रिंग (Dr. Walter Schubring) ने Lax Raligion Dyaina[1] नामक (जर्मन भाषा में लिखित) पुस्तक में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि मूल सूत्र नाम इसलिए दिया गया प्रतीत होता है कि साधुओं और साध्वियों के साधनामय जीवन के मूल में—प्रारम्भ में उनके उपयोग के लिए इनका सर्जन हुआ।

प्रो० गेरीनो की कल्पना

जैन शास्त्रों के गहन अनुशीलक इटली के प्रोफेसर गेरीनो (Prof. Guerinot) ने इस सम्बन्ध में एक दूसरी कल्पना की है। वैसा करते समय उनके मस्तिष्क में ग्रन्थ के दो रूप मूल तथा टीका का ध्यान रहा है; अतः उन्होंने मूल का आशय Traites Original से लिया। अर्थात् प्रो. गेरीनो ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में मूल सूत्र का प्रयोग माना; क्योंकि इन ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, वृत्ति प्रभृति अनेक प्रकार का विपुल व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है। टीका या व्याख्या ग्रन्थों में उस ग्रन्थ को सर्वत्र मूल कहा जाता है, जिसकी वे टीकाएं या व्याख्याएं होती हैं। जैन आगम वाङ्मय-सम्बन्धी ग्रन्थों में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर सर्वाधिक टीका-व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है, जिनमें प्रो. गेरीनो के अनुसार टीकाकारों ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में मूल सूत्र का प्रयोग किया हो। इसी परिपाटी का सम्भवतः यह परिणाम रहा हो कि इन्हें मूल सूत्र कहने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी हो।

---

१. पृ. ७२

समीक्षा

पाश्चात्य विद्वानों ने जो कल्पनाएं की हैं, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार है, प समीक्षा की कसौटी पर कसने पर वे सर्वांशतः खरी नहीं उतरतीं। प्रो. शर्पेन्टियर ने भगवा महावीर के मूल शब्दों के साथ इन्हें जोड़ते हुए जो समाधान उपस्थित किया, उसे उत्तरा ध्ययन के लिए तो एक अपेक्षा से सगत माना जा सकता है, पर, दशवैकालिक आदि के सा उसकी बिलकुल संगति नहीं है। भगवान् महावीर के मूल या साक्षात् वचनों के आधा पर यदि मूल सूत्र नाम पड़ता, तो यह आचारांग, सूत्रकृतांग जैसे महत्वपूर्ण अंग-ग्रन्थों के साथ भी जुड़ता, जिनका भगवान् महावीर की देशना के साथ (गणधरों के माध्यम से) सीधा सम्बन्ध माना जाता है। पर, वहां ऐसा नहीं है; अतः इस कल्पना में निहि मूल शब्द का वह आशय यथावत् रूप में घटित नहीं होता।

डा. वाल्टर शुब्रिंग ने श्रमण-जीवन के प्रारम्भ में—मूल में पालनीय आचार-सम्बन्धी नियमों, परम्पराओं एवं विधि-विधानों के शिक्षण की दृष्टि से मूल सूत्र नाम दिये जाने का समाधान प्रस्तुत किया गया है, वह भी मूल सूत्रों के अन्तर्गत माने जाने वाले सब ग्रन्थों पर कहां घटता है। दशवैकालिक की तो लगभग वैसी स्थिति है, पर, अन्यत्र बहुलांशतया वैसा नहीं है। उत्तराध्ययन में, जो मूल सूत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, श्रमण-चर्या से सम्बद्ध नियमोपनियमों तथा विधि-विधानों के अतिरिक्त उसमें जैन धर्म और दर्शन-सम्बन्धी अनेक विषय-व्याख्यात किये गये हैं। अनेक दृष्टान्त, कथानक तथा ऐतिहासिक घटनाक्रम भी उपस्थित किये गये हैं, जो श्रमण-संस्कृति और जैन तत्व-धारा के विविध पहलुओं से जुड़े हुए हैं। इसलिए डा. वाल्टर शुब्रिंग के समाधान को भी एकांगी चिन्तन से अधिक नहीं कहा जा सकता। मूल सूत्रों में जो सन्निहित है, शुब्रिंग की व्याख्या में वह सम्पूर्णतया अन्तर्भूत नहीं होता।

इटालियन विद्वान् प्रो. गेरीनो ने मूल और टीका के आधार पर मूल-सूत्र नाम पड़ने की जो कल्पना की है, वह बहुत स्थूल तथा बहिर्गामी चिन्तन पर आधृत है। उसमें सूक्ष्म गवेषणा या गहन विमर्श की दृष्टि नहीं प्रतीत होती। मूल-सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों पर भी अनेक टीकाएं हैं। परिमाण की न्यूनता-अधिकता हो सकती है। उससे कोई विशेष फलित निष्पन्न नहीं होता; अतः इस विश्लेषण की अनुपादेयता स्पष्ट है।

उपर्युक्त ऊहापोह के सन्दर्भ में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन,

इनमें, आचार एवं जीवन के मूलभूत आदर्शों, सिद्धान्तों या तत्त्वों का विश्लेषण अपने आप में संजोये रखने के कारण सम्भवतः ये मूल-सूत्र कहे जाने लगे हों। मुख्यतः उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की विषय-वस्तु पर यदि दृष्टिपात किया जाए, तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)

नाम : विश्लेषण

उत्तराध्ययन शाब्दिक दृष्टि से उत्तर और अध्ययन; इन दो शब्दों की समन्विति से बना है। उत्तर शब्द का एक अर्थ पश्चात् या पश्चाद्वर्ती है। दूसरा अर्थ उत्कृष्ट या श्रेष्ठ है। इसका अर्थ प्रश्न का समाधान या उत्तर तो है ही।

पश्चाद्वर्ती अर्थ के आधार पर उत्तराध्ययन की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि इसका अध्ययन आचारांग के उत्तर-काल में होता था। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के अनन्तर इसके अध्ययन की कालिक परम्परा में अन्तर आया। यह दशवैकालिक के उत्तर-काल में पढ़ा जाने लगा। पर, 'उत्तराध्ययन' संज्ञा में कोई परिवर्तन करना अपेक्षित नहीं हुआ; क्योंकि दोनों ही स्थानों पर पश्चाद्वर्तिता का अभिप्राय सधता ही है।

उत्तर शब्द का उत्कृष्ट या श्रेष्ठ अर्थ करने के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस शब्द की यह व्याख्या की कि जैन श्रुत का इसमें असाधारण रूप में उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ विवेचन है; अतः इसका उत्तराध्ययन अभिधान सार्थक है।

प्रो. ल्यूमेन (Prof. Leumann) ने उत्तर और अध्ययन शब्दों का सीधा अर्थ पकड़ते हुए उत्तराध्ययन का आशय Later Readings अर्थात् पश्चात् या पीछे रचे हुए अध्ययन किया। प्रो. ल्यूमेन के अनुसार इन अध्ययनों की या इस आगम की रचना अंग-ग्रन्थों के पश्चात् या उत्तर-काल में हुई; अतएव यह उत्तराध्ययन के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

कल्पसूत्र में तथा टीकाग्रन्थों में उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम समय में अपृष्ट—अनपूछे छत्तीस प्रश्नों के सन्दर्भ में विश्लेषण-विवेचन किया। इस आधार पर उन अध्ययनों का संकलन 'अपृष्ट व्याकरण' नाम से अभिहित हुआ। इसी का नाम

अपृष्ट प्रश्नों का उत्तर-रूप होने के कारण उत्तराध्ययन हो गया 'अपृष्ट व्याकरण' की
आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' महाकाव्य में भी की है।[1]

विमर्श

कल्पसूत्रकार तथा टीकाकारों द्वारा दिया गया समाधान तथा प्रो. ल्यूमैन द्वारा कि
गया विवेचन; दोनों परस्पर भिन्न हैं। भगवान् महावीर ने बिना पूछे छत्तीस प्रश्नों के
उत्तर दिये, उनका संकलन हुआ—उत्तराध्ययन के अस्तित्व में आने के सम्बन्ध में यह
कल्पना परम्परा-पुष्ट होते हुए भी उतनी हृद्‌-ग्राह्य प्रतीत नहीं होती। भगवान् महावीर ने
अपृष्ट प्रश्नों के उत्तर दिये, इसके स्थान पर यह भाषा क्या अधिक संगत नहीं होती कि उन्होंने
अन्तिम समय में कुछ धार्मिक उपदेश, विचार या सन्देश दिये। फिर वहां उत्तर शब्द
न आकर 'व्याकरण' शब्द आया है, जिसका अर्थ विश्लेषण है। यदि अन्तिम के अर्थ में
उत्तर शब्द का प्रयोग माना जाता, तो फिर भी कुछ संगति* होती। पर, जवाब के अर्थ में
उत्तर शब्द का यहां ग्रहण उत्तराध्ययन सूत्र के स्वरूप के साथ सम्भवतः उतना मेल नहीं
खाता, जितना होना चाहिए। उत्तराध्ययन में दृष्टान्त हैं, कथानक हैं, घटनाक्रम हैं—ये
सब उत्तर शब्द के अभिप्राय में अन्तर्भूत हो जाएं, कम संगत प्रतीत होता है। साहित्यिक
दृष्टि से भी उत्तर शब्द वस्तुतः प्रश्न-सापेक्ष है। प्रश्न के बिना जो भी कुछ कहा जाए,
वह व्याख्यान, विवेचन, विश्लेषण, निरूपण आदि सब हो सकता है, पर, उसे उत्तर कैसे
कहा जाए? निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे
यह तथ्य बाधित है।

प्रो. ल्यूमैन ने जो कहा है, उसकी तार्किक असंगति नहीं है। भाषा-शास्त्रियों ने जो
परिशीलन किया है, उसके अनुसार उत्तराध्ययन की भाषा प्राचीन है, पर, उससे प्रो.
ल्यूमैन का कथन खण्डित नहीं होता। क्योंकि उन्होंने इसकी कोई विशेष अर्वाचीनता तो
स्थापित की नहीं है, इसे अंग-ग्रन्थों से पश्चाद्वर्ती बताया है। वैसा करने में कोई
असम्भाव्यता प्रतीत नहीं होती।

---

1. षट्त्रिंशतमप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च।
   प्रधानं नामाध्ययनं जगद्गुरुरभाषत॥
   —पर्व १०, सर्ग १३, श्लो० २२४

* भगवान् महावीर ने अपने उत्तर का अन्तिम काल में ये अध्ययन उपदिष्ट किये।

एक प्रश्न और उठता है, अंग-ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती तो अनेक ग्रन्थ हैं, पश्चाद्वर्तिता या उत्तरवर्तिता के कारण केवल इसे ही उत्तराध्ययन क्यों कहा गया ? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह अंग-ग्रन्थों के समकक्ष महत्व लिये हुए है। रचना, विषय-वस्तु, विश्लेषण आदि की दृष्टि से उन्हीं की कोटि का है; अतः इसे ही विशेष रूप से इस अभिधा से संज्ञित किया गया। यह भी एक अनुमान है। उससे अधिक कोई ठोस तथ्य इससे प्रकट नहीं होता।

संक्षेप में विशाल जैन तत्व-ज्ञान तथा आचार-शास्त्र को व्यक्त करने में आगम-वाङ्मय में इसका असाधारण स्थान है। भगवद् गीता जिस प्रकार समग्र वैदिक धर्म का निष्कर्ष या नवनीत है, जैन धर्म के सन्दर्भ में उत्तराध्ययन की भी वही स्थिति है। काव्यात्मक हृदयस्पर्शी शैली, ललित एवं पेशल संवाद, साथ-ही-साथ स्वभावतः सालंकार भाषा प्रभृति इसकी अनेक विशेषताएं हैं, जिन्होंने समीक्षक तथा अनुसन्धित्सु विद्वानों को बहुत आकृष्ट किया है। डा. विण्टरनित्ज ने इसे श्रमण-काव्य के रूप में निरूपित किया है तथा महाभारत, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि के साथ इसकी तुलना की है।

उत्तराध्ययन का यह महत्व केवल इन शताब्दियों में ही नहीं उभरा है, प्रत्युत बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। निर्युक्तिकार ने तीन गाथाएं उल्लिखित करते हुए इसके महत्व का उपपादन किया है : "जो जीव भवसिद्धिक हैं—भव्य हैं, परित्तसंसारी हैं, वे उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन पढ़ते हैं। जो जीव अभवसिद्धिक हैं—अभव्य हैं, ग्रन्थिक-सत्व हैं—जिनका ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ है, जो अनन्तसंसारी हैं, संक्लिष्टकर्मा हैं, वे उत्तराध्ययन पढ़ने के अयोग्य हैं। इसलिए (साधक को) जिनप्रज्ञप्त, शब्द और अर्थ के अनन्त पर्यायों से संयुक्त इस सूत्र का यथाविधि (उपधान आदि तप द्वारा) गुरुजनों के अनुग्रह से अध्ययन करना चाहिए।"[1]

---

१. जे किर भवसिद्धीया, परित्तसंसारिआ य भविआ य।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥
जे हुंति अभवसिद्धीया, गंथिअसत्ता अणंतसंसारा।
ते संकिलिट्ठकम्मा, अभविय उत्तरज्झाए ॥
तम्हा जिणपन्नत्ते, अणंतगमपज्जवेहिं संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरुपसाया अहिज्जिज्जा ॥
१-३.

उत्तराध्ययन सूत्र छत्तीस अध्ययनों में विभक्त है। समवायांग सूत्र के छत्तीसवें समवाय में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के शीर्षकों का उल्लेख है, जो उत्तराध्ययन में प्राप्त अध्ययनों के नामों से मिलते हैं। उत्तराध्ययन के जीवाजीवविभक्ति संज्ञक छत्तीसवें अध्ययन के अन्त में निम्नांकित शब्दों में इस ओर संकेत है : "भवसिद्धिक जीवों के लिए सम्मत उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन प्रादुर्भूत कर ज्ञातपुत्र, सर्वज्ञ भगवान् महावीर परिनिर्वृत—मुक्त हो गये।"[1] उत्तराध्ययन के नाम-सम्बन्धी विश्लेषण के प्रसंग में यह विषय चर्चित हुआ ही है कि भगवान् महावीर ने अपने अन्त समय[2] में इन छत्तीस अध्ययनों का आख्यान किया।

निर्युक्तिकार का अभिमत

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का अभिमत उपर्युक्त पारम्परिक मान्यता के प्रतिकूल है। उन्होंने इस सम्बन्ध में निर्युक्ति में लिखा है : "उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अंग-प्रभव हैं, कुछ जिन-भाषित हैं, कुछ प्रत्येक बुद्धों द्वारा निर्देशित हैं, कुछ संवाद-प्रसूत हैं। इस प्रकार बन्धन से छूटने का मार्ग बताने के हेतु उसके छत्तीस अध्ययन निर्मित हुए।"[3]

चूर्णिकार जिनदास महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवेताल शान्ति सूरि ने निर्युक्तिकार के मत को स्वीकार किया है। उनके अनुसार उत्तराध्ययन के दूसरे परिषहाध्ययन की रचना द्वादशांगी के बारहवें अंग दृष्टिवाद के कर्मप्रवादसंज्ञक पूर्व के ७०वें प्राभृत के आधार पर हुई है। अष्टम कापिलीय अध्ययन कपिल नामक प्रत्येक बुद्ध द्वारा प्रतिपादित है। दशवां द्रुमपुष्पिका अध्ययन स्वयं अर्हत् महावीर द्वारा भाषित है। तेईसवां केशिगौतमीय अध्ययन संवादरूप में आकलित है।

---

१. इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिणिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धिय सम्मए॥

२. जैन-परम्परा में ऐसा माना जाता है कि दीपावली की अन्तिम रात्रि में भगवान् महावीर ने इन छत्तीस अध्ययनों का निरूपण किया।

३. अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥
—निर्युक्ति, गाथा ४

'भद्रबाहुना प्रोक्तानि' का अभिप्राय

भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहुवीयाणि उत्तराध्ययनानि—इस प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे कुछ विद्वान् सोचते हैं कि उत्तराध्ययन के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। सबसे पहले विचारणीय यह है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति के लेखक भद्रबाहु हैं। जैसा कि पूर्व सूचित किया गया है, वे उत्तराध्ययन की रचना में अंग-प्रभवता, जिन-भाषितता, प्रत्येक बुद्ध-प्ररूपितता, संवाद-निष्पन्नता आदि कई प्रकार के उत्पादक हेतुओं का आख्यान करते हैं।

उपर्युक्त कथन में भद्रबाहुना के साथ प्रोक्तानि क्रिया-पद प्रयुक्त हुआ है। प्रोक्तानि का अर्थ रचितानि नहीं होता। प्रकर्षेण उक्तानि—प्रोक्तानि के अनुसार उसका अर्थ विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित होता है। शाकटायन[1] और सिद्धहैमशब्दानुशासन[2] आदि व्याकरणों में यही आशय स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन के अनुसार आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययन के प्रकृष्ट व्याख्याता, प्रवक्ता या प्राध्यापयिता हो सकते हैं, रचयिता नहीं।

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं, उत्तराध्ययन के पूर्वार्द्ध के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं तथा उत्तरार्द्ध के अठारह अध्ययन अर्वाचीन। इसके लिए भी कोई प्रमाण-भूत या इत्थं-भूत भेद रेखा मूलक तथ्य या ठोस आधार नहीं मिलते।

विमर्श : समीक्षा

समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करें, तो यह समग्र आगम भगवान् महावीर द्वारा ही भाषित हुआ हो या किसी एक व्यक्ति ने इसकी रचना की हो, ऐसा कम सम्भव प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है, यहां सर्वत्र एक जैसी भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। अर्द्धमागधी प्राकृत का जहां अत्यन्त प्राचीन रूप इसमें सुरक्षित है, वहां यत्र-तत्र भाषा के अर्वाचीन रूपात्मक प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि

डा. जैकोबी ने, इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो प्रो. मैक्समूलर के सम्पादकत्व में Sacred Books of the East के पैंतालीसवें भाग में आक्सफोर्ड से सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ।

आवस्सय (आवश्यक)

नाम : सार्थकता

अवश्य से आवश्यक शब्द बना है। अवश्य का अर्थ है, जिसे किये बिना बचाव नहीं, जो जरूर किया जाना चाहिए। इसके अनुसार आवश्यक का आशय श्रमण द्वारा करणीय उन भाव-क्रियानुष्ठानों से है, जो श्रमण-जीवन के निर्वाह तथा शुद्ध निर्वहण की दृष्टि से आवश्यक है। वे क्रियानुष्ठान संख्या में छः हैं; अतः इस सूत्र को षडावश्यक भी कहा जाता है। यह छः विभागों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का वर्णन है।

सामायिक

अन्तरतम में समभाव की अवतारणा सामायिक है। एतदर्थ साधक मानसिक, वाचिक तथा कायिक दृष्टि से कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप से समग्र सावद्य—सपाप योगों—प्रवृत्तियों से पराङ्मुख होता है। प्रथम आवश्यक में इसी का वर्णन है।

चतुर्विंशति-स्तव

द्वितीय आवश्यक में लोक में धर्म का उद्योत करने वाले चौबीस तीर्थंकरों का वन्दन है, जिससे आत्मा में तदनुरूप दिव्यभाव का उद्रेक होता है।

वन्दन

तीसरा आवश्यक वन्दन से सम्बद्ध है। शिष्य गुरु-चरणों में स्थित होता है, उनसे क्षमा-याचना करता है, उनके संयमोपकरणभूत देह की सुख-पृच्छा करता है।

प्रतिक्रमण

चौथे आवश्यक में प्रतिक्रमण का विवेचन है। प्रतिक्रमण का अर्थ बहिर्गामी जीवन से अन्तर्गामी जीवन में प्रत्यावृत्त होना है अर्थात् साधक यदि प्रमादवश शुभ योग से चलित

होकर अशुभ योग को प्राप्त हो जाए, तो वह पुनः शुभयोग में प्रतिष्ठित होता है। यदि उसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में श्रमण-धर्म की विराधना हुई हो, किसी को कष्ट पहुँचाया गया हो, स्वाध्याय आदि में प्रमादाचरण हुआ हो, तो वह (प्रतिक्रमण करने वाला साधक) उसके लिए मिच्छामि दुक्कडं—मिथ्या मे दुष्कृतम्—ऐसी भावना से उद्भावित होता है, जिसका अभिप्राय जीवन को संयमानुगत, पवित्र और सात्त्विक भावना से आप्लावित बनाये रखना है।

कायोत्सर्ग

पाँचवाँ आवश्यक कायोत्सर्ग से सम्बद्ध है। कायोत्सर्ग का आशय है—देह-भाव का विसर्जन और आत्म-भाव का सर्जन। यह ध्यानात्मक स्थिति है, जिसमें साधक दैहिक चांचल्य और अस्थैर्य का वर्जन कर निश्चलता में स्थित रहना चाहता है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक में सावद्य—सपाप कार्यों से निवृत्ति तथा अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि के प्रत्याख्यान की चर्चा है।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक पर निर्युक्ति की रचना की। इस पर भाष्य भी रचा गया। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण द्वारा अत्यन्त विस्तार और गम्भीरता के साथ विशेषावश्यकभाष्य की रचना की गयी, जो जैन साहित्य में निःसन्देह एक अद्भुत कृति है। जिनदास महत्तर ने चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्र सूरि ने इस पर टीका लिखी, जो शिष्यहिता के नाम से विश्रुत है। इसमें आवश्यक के छः प्रकरणों का पैंतीस अध्ययनों में सूक्ष्मतया विवेचन-विश्लेषण किया गया है। यहाँ प्रासंगिक रूप में प्राकृत की अनेक प्राचीन कथाएं भी दी गयी हैं। आचार्य मलयगिरि ने भी टीका की रचना की। माणिक्यशेखर सूरि द्वारा इसकी निर्युक्ति पर दीपिका की रचना की गयी। तिलकाचार्य द्वारा इस पर लघुवृत्ति की रचना हुई।

दसवेयालिय (दशवैकालिक)

नाम : अन्वर्थकता

यह नाम दश और वैकालिक; इन दो शब्दों के योग से इस नाम की निष्पत्ति है।

दशम अध्ययन का शीर्षक स भिक्षुः है। अर्थात् इस अध्ययन में भिक्षु के जीवन, उसकी दैनन्दिन चर्या, व्यवहार, संयमानुप्राणित अध्यवसाय, आत्मरति-दर्शन, मनोवृत्ति आदि का सजीव चित्रण है। दूसरे शब्दों में भिक्षु के यथार्थ रूप का एक रेखांकन है, जो साधक के लिए बड़ा उत्प्रेरक है। उत्तराध्ययन का पन्द्रहवां अध्ययन भी इसी प्रकार का है। उसका शीर्षक भी यही है। दोनों का बहुत साम्य है। भाव ही नहीं, शब्द-रचना तथा छन्द-गठन में भी अनेक स्थानों पर एकरूपता है। ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है कि दशवैकालिक का दशवां अध्ययन उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन का बहुत कुछ रूपान्तरण है।

चूलिकाएं

रति-वाक्या

दशम अध्ययन की समाप्ति के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका रतिवाक्या है। अध्यात्म-रस में पगे व्यक्तियों के लिए भिक्षु-जीवन अत्यन्त आह्लादमय है। पर, भौतिक दृष्टि से उसमें अनेक कठिनाइयां हैं, पद-पद असुविधाएं हैं। क्षण-क्षण प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है। दैहिक भोग अग्राह्य हैं ही। ये सब प्रसंग ऐसे हैं, जिनके कारण कभी-कभी मानव-मन में दुर्बलताएं उभरने लगती हैं। यदि कभी कोई भिक्षु ऐसी मनः-स्थिति में आ जाए, वह श्रामण्य से मुंह मोड़ पुनः गार्हस्थ्य में प्रविष्ट होने को उद्यत हो जाए, तो उसे संयम में टिकाये रखने के लिए, उसमें पुनः दृढ़ मनोबल जगाने के लिए उसे जो अन्तः प्रेरक तथा उद्बोधक विचार दिये जाने चाहिए, वही सब प्रस्तुत चूलिका में विवेचित है।

सांसारिक जीवन की दुःखमयता, विषमता, भोगों की निःसारता, अल्पकालिकता, परिणाम-विरसता, अनित्यता, संयमी जीवन की सारमयता, पवित्रता, आदेयता आदि विभिन्न पहलुओं पर विशद प्रकाश डाला गया है तथा मानव में प्राणपण से धर्म का प्रतिपालन करने का भाव भरा गया है। वैषयिक भोग, वासना, लौकिक सुविधा और दैहिक सुख से आकृष्ट होते मानव को उनसे हटा आत्म-रमण, संयमानुपालन तथा तितिक्षामय जीवन में पुनः प्रत्यावृत्त करने में बड़ी मनोवैज्ञानिक निरूपण-शैली का व्यवहार हुआ है, जो रोचक होने के साथ शक्ति-संचारक भी है। संयम में रति—अनुराग—तन्मयता उत्पन्न करने के वाक्यों की संरचनामय होने के कारण ही सम्भवतः इस चूलिका का नाम रति-वाक्या रखा गया हो।

विविक्तचर्या

दूसरी चूलिका विविक्तचर्या है। विविक्त का अर्थ वियुक्त, पृथक्, निवृत्त, एकाकी, एकान्तस्थान या विवेकशील है। इसका आशय उस जीवन से है, जो सांसारिकता से पृथक् है। दूसरे शब्दों में निवृत्त है; अतएव विवेकशील है। इस चूलिका में श्रमण-जीवन को उद्दिष्ट कर अनुस्रोत में न बह प्रतिस्रोतगामी बनने, आचार-पालन में पराक्रमशील रहने, अल्प—सीमित उपकरण रखने, गृहस्थ से वैयावृत्य—शारीरिक सेवा न लेने, सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर संयम-जीवन को सदा सुरक्षित बनाये रखने आदि के सन्दर्भ में अनेक ऐसे उल्लेख किये गये हैं, जिनका अनुसरण करता हुआ भिक्षु प्रतिबुद्धजीवी बनता है।

विशेषता : महत्त्व

अति संक्षेप में जैन-तत्त्व दर्शन एवं आचार-शास्त्र व्याख्यात करने की अपनी असाधारण विशेषता के साथ-साथ शब्द-रचना, शैली तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी इस सूत्र का कम महत्त्व नहीं है। इसमें प्रयुक्त भाषा के अनेक प्रयोग अति प्राचीन प्रतीत होते हैं, जो आचारांग तथा सूत्रकृतांग जैसे प्राचीनतम आगम-ग्रन्थों में हुए भाषा-प्रयोगों से तुलनीय हैं। उत्तराध्ययन में हुए भाषा के प्राचीनता द्योतक प्रयोगों के समकक्ष इसमें भी उसी प्रकार के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। यह अर्द्धमागधी भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध एक स्वतन्त्र विषय है, जिस पर विशेष चर्चा करना प्रसंगोपात्त नहीं है। प्राकृत के सुप्रसिद्ध अध्येता एवं वैयाकरण डा० पिशल ने उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक को प्राकृत के भाषा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

व्याख्या-साहित्य

दशवैकालिक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की। अगस्त्य-सिंह तथा जिनदास महत्तर द्वारा चूर्णियां लिखी गयीं। आचार्य हरिभद्र सूरि ने टीका की रचना की। समयसुन्दर गणी ने दीपिका लिखी। तिलकाचार्य या तिलकसूरि, सुमतिसूरि तथा विनयहंस प्रभृति विद्वानों द्वारा वृत्तियों की रचना हुई। यापनीय संघ के अपराजित सूरि, जो विजयाचार्य के नाम से भी ज्ञात हैं, ने भी टीका की रचना की, जिसका उन्होंने विजयोदया नामकरण किया। अपने द्वारा विरचित भगवती आराधना टीका में उन्होंने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है। ज्ञानसम्राट् तथा राजहंस महोपाध्याय ने इस पर गुजराती टीकाओं की रचना की। ज्ञानसम्राट् द्वारा रचित टीका बालावबोध के नाम से विश्रुत है।

प्रथम प्रकाशन

पाश्चात्य विद्वानों का प्राच्य विद्याओं के अन्तर्गत जैन वाङ्मय के परिशीलन की ओर भी झुकाव रहा है। उन्होंने उस ओर विशेष अध्यवसाय भी किया है, जो इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट है कि जर्मन विद्वान् डा० अर्नेस्ट ल्यूमैन (Dr. Ernest Leumann) ने ई० सन् १८९२ में जर्मन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (Journal of the German Oriental Society) में सबसे पहले दशवैकालिक का प्रकाशन किया। उससे पहले यह ग्रन्थ केवल हस्तलिखित प्रतियों के रूप में था, मुद्रित नहीं हो पाया था। उसके पश्चात् भारत में इसका प्रकाशन हुआ। आगे उत्तरोत्तर इसके अनेक संस्करण निकलते गये। सन् १९३२ में सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान्, जैन आगम-वाङ्मय व प्राकृत के प्रमुख अध्येता डा० शुब्रिंग के सम्पादकत्व में प्रस्तावना आदि के साथ इसका जर्मनी में प्रकाशन हुआ।

पिंडनिज्जुत्ति (पिण्ड-निर्युक्ति)[1]

नाम : व्याख्या

पिण्ड शब्द जैन पारिभाषिक दृष्टि से भोजनवाची है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आहार की एषणीयता, अनेषणीयता आदि के विश्लेषण के सन्दर्भ में उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष, एषणा-दोष और ग्रास-एषणा-दोष आदि श्रमण-जीवन के आहार, भिक्षा आदि महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विशद विवेचन किया गया है। मुख्यतः दोषों से सम्बद्ध होने के कारण इस ग्रन्थ की अनेक गाथाएं सुप्रसिद्ध दिगम्बर-लेखक वट्टकेर के मूलाचार की गाथाओं से मिलती हैं।

कलेवर : स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ में छः सौ इकहत्तर गाथाएं हैं। यह वास्तव में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिक के पंचम अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। इस अध्ययन पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति बहुत विस्तृत हो गयी है। यही कारण है कि इसे पिण्ड निर्युक्ति के नाम से एक स्वतन्त्र आगम के रूप में स्वीकार कर लिया गया। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाओं का इस प्रकार विमिश्रण हो गया है कि उन्हें पृथक्-पृथक् छांट पाना कठिन है।

पिण्ड-निर्युक्ति आठ अधिकारों में विभक्त है, जिनके नाम उद्गम, उत्पादन, एषणा,

मनोज्ञता, प्रमाण, अंगार, धूम तथा कारण हैं। भिक्षा से सम्बद्ध अनेक पहलुओं का विस्तृत तथा साथ-ही-साथ रोचक वर्णन है। वहाँ उद्गम और उत्पादन दोष के सोलह-सोलह तथा एषणा-दोष के दस भेदों का वर्णन है। भिक्षागत दोषों के सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि अमुक मुनि कैसे दोष का सेवन करने के कारण प्रायश्चित्त-भागी हुए।

गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा किस-किस स्थिति में ली जाए, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण चर्चाएं हैं। बताया गया है कि यदि गृह-स्वामिनी भोजन कर रही हो, दही बिलो रही हो, आटा पीस रही हो, चावल कूट रही हो, रुई धुन रही हो, तो साधु को उससे भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार अव्यक्त नासमझ बालक से, अशक्त वृद्ध से, उन्मत्त से, जिसका शरीर कांप रहा हो, जो ज्वराक्रान्त हो, नेत्रहीन हो, कुष्टपीड़ित हो, ऐसे व्यक्तियों से भी भिक्षा लेना अविहित है। भविष्य-कथन, चिकित्सा-कौशल, मन्त्र, तन्त्र, वशीकरण आदि से प्रभावित कर भिक्षा लेना भी वर्जित कहा गया है।

कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख

प्रसंगोपात्ततया सर्प-दंश आदि को उपशान्त करने के लिए दीमक के घर की मिट्टी, वमन शान्त करने के लिए मक्खी की बीट, टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए किसी की हड्डी, कुष्ट रोग मिटाने के लिए गोमूत्र का प्रयोग आदि साधुओं के लिए निर्दिष्ट किये गये हैं।

साधु जिह्वा-स्वाद से अस्पृष्ट रहता हुआ किस प्रकार अनासक्त तथा अमूर्च्छित भाव से भिक्षा ग्रहण करे, गृहस्थ पर किसी भी प्रकार का भार उत्पन्न न हो, वह उनके लिए असुविधा, कष्ट या प्रतिकूलता का निमित्त न बने, उसके कारण गृहस्थ के घर में किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो जाए; इत्यादि का जैसा मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है, वह जैन-श्रमण-चर्या के अनुसन्धान के सन्दर्भ में विशेषतः पठनीय है।

पिण्ड-निर्युक्ति पर आचार्य मलयगिरि ने बृहद्-वृत्ति की रचना की। वीराचार्य ने इस पर लघु-वृत्ति लिखी।

ओहनिज्जुत्ति (ओघ-निर्युक्ति)

नाम : व्याख्या

ओघ का अर्थ प्रवाह, सातत्य, परम्परा या परम्परा-प्राप्त उपदेश है। इस ग्रन्थ में साधु-जीवन से सम्बद्ध सामान्य समाचारी का विश्लेषण है। सम्भवतः इसीलिए इसका यह नामकरण हुआ। जिस प्रकार पिण्ड निर्युक्ति में साधुओं के आहार-विषयक पहलुओं का विवेचन है, उसी प्रकार इसमें साधु-जीवन से सम्बद्ध सभी आचार-व्यवहार के विषयों का संक्षेप में संस्पर्श किया गया है।

पिण्ड-निर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का जिस प्रकार अंश माना जाता है, उसी प्रकार इसे आवश्यक-निर्युक्ति का एक अंश स्वीकार किया जाता है, जिसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। इसमें कुल ८११ गाथाएं है। निर्युक्ति तथा भाष्य की गाथाएं इस प्रकार विमिश्रित हो गई हैं कि उन्हें पृथक्-पृथक् कर पाना दुःशक्य है।

ओघ-निर्युक्ति प्रतिलेखन-द्वार, पिण्ड-द्वार, उपधि-निरूपण, अनायतन-वर्जन, प्रतिसेवना-द्वार, आलोचना-द्वार तथा विशुद्धि-द्वार में विभक्त है। प्रकरणों के नामों से स्पष्ट है कि साधु-जीवन के प्रायः सभी चर्या-अंगों के विश्लेषण का इसमें समावेश है।

एक महत्वपूर्ण प्रसंग

एक चिर-चर्चित प्रसंग है, जिस पर इसमें भी विचार किया गया है। वह प्रसंग है: आत्म-रक्षा—जीवन-रक्षा का अधिक महत्व है या संयम-रक्षा का ? दोनों में से किसी एक के नाश का प्रश्न उपस्थित हो जाए, तो प्राथमिकता किसे देनी चाहिए ? इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। कुछ ने संयम-रक्षा हेतु मर मिटने को आवश्यक बतलाया है और कुछ ने जीवन-रक्षा कर फिर प्रायश्चित्त कर लेने का सुझाव दिया है।

ओघ-निर्युक्ति में बताया गया है कि श्रमण के संयम का प्रतिपालन सदा पवित्र भाव से ही करना चाहिए, पर,यदि जीवन मिटने का प्रसंग बन जाए, तो वहां प्राथमिकता जीवन-रक्षा को देनी होगी। यदि जीवन बच गया, तो साधक एक बार संयम-च्युत होने पर भी प्रायश्चित्त,तप आदि द्वारा आत्म-शुद्धि या अन्तःसम्मार्जन कर पुनः यथावत् हो सकेगा। परिणामों की मालिनता या भाव-विशुद्धि ही तो संयम का आधार है।

विशेष बलपूर्वक आगे कहा गया है कि साधक की देह संयम-पालन के लिए है, भोग के लिए नहीं है। यदि देह ही नहीं रही, तो संयम-पालन का आचार-स्थल ही कहां बचा ? अतः देह-रक्षा या शरीर को नष्ट न होने देने का अर्थ देह के प्रति आसक्ति नहीं है, प्रत्युत संयम के प्रतिपालन की भावना है; अतः देह-प्रतिपालन इष्ट है। निशीथ-चूर्णि में भी यह प्रसंग व्याख्यात हुआ है। वहां भी वर्णित है कि जहां तक हो सके, संयम की विराधना नहीं करनी चाहिए, पर, यदि कोई भी उपाय न हो, तो जीवन-रक्षा के लिए वैसा किया जा सकता है।

उपधि-निरूपण

संयमी जीवन के निर्वाह हेतु जो न्यूनतम साधन—उपकरण अपेक्षित होते हैं, उन्हें उपधि कहा जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में इस विषय का विवेचन है, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण श्रमण द्वारा धारण किये जाने चाहिए या नहीं किये जाने चाहिए; जैन परम्परा के अन्तर्गत श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों में यह एक विवादास्पद प्रसंग है, जिसके सन्दर्भ में दोनों ओर से द्विविध विचार-धाराएं एवं समाधान उपस्थित किये जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के इस प्रकरण का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक परिशीलन इस विषय में अनुसन्धित्सा रखने वालों के लिए वस्तुतः बड़ा उपयोगी है। इस प्रकरण में जिनकल्पी श्रमण, स्थविर कल्पी श्रमण तथा आर्यिका या साध्वी के लिए प्रयोज्य उपकरणों का विवरण है।

जिनकल्पी व स्थविर कल्पी के उपकरण

जिनकल्पी के लिए जो उपकरण विहित हैं, उनका इस ग्रन्थ में इस प्रकार उल्लेख है: १. पात्र, २. पात्र-बन्ध, ३. पात्र-स्थापना, ४. पात्र-केसरिका (पात्र-मुख-वस्त्रिका), ५. पटल, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८-१०. प्रच्छादक-त्रय, ११. रजोहरण तथा १२. मुख-वस्त्रिका। प्राप्त सूचनाओं से विदित होता है कि पटल नामक वस्त्र का उपयोग भोजन-पात्र को आवृत करने के लिए तथा अपेक्षित होने पर गुह्यांग को ढकने के लिए भी होता था।

स्थविर-कल्पी श्रमणों के लिए बारह उपकरण तो ये ही, उनके अतिरिक्त चोलपट्ट और मात्रक नामक दो उपकरण और थे। इस प्रकार उनके लिए चौदह उपकरणों का विधान था।

साध्वी या आर्यिका के उपकरण

जिन-कल्पी के लिए निर्दिष्ट बारह उपकरण, स्थविर-कल्पी के लिए निर्दिष्ट चौदह उपकरणों में से एक—मात्रक इन तेरह उपकरणों के अतिरिक्त निम्नांकित बारह अन्य उपकरण साध्वी या आर्यिका के लिए विहित किये गये हैं। उनके लिए कुल पच्चीस उपकरण हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं : १४. कमढग, १५. उग्गहणंतग (गुह्य अंग की रक्षा के लिए नाव की आकृति की तरह), १६. पट्टक (उग्गहणंतग को दोनों ओर से ढकने वाला जांघिये की आकृति की तरह), १७. अड्ढोरुग (उग्गहणंतग और पट्टक के ऊपर पहना जाने वाला), १८. चलनिका (बिना सिला हुआ घुटनों तक पहना जाने वाला। बांस पर खेल करने वाले नटों के ।), १९. अभ्यन्तर निवसणी (यह आधी जांघों तक लटका रहता है। वस्त्र बदलते समय लोग साध्वियों का उपहास नहीं करते।), २०. बहिर्निवसणी (यह घुटनों तक लटका रहता है और इसे डोरी से कटि में बांधा जाता है), २१. कंचुक (वक्षस्थल को ढांकने वाला वस्त्र), २२. उक्कच्छिय (यह कंचुक के समान होता है), २३. वेकच्छिय (इससे कंचुक और उक्कच्छिय दोनों ढक जाते हैं), २४. संघाड़ी (ये चार होती हैं—एक प्रतिश्रय में, दूसरी व तीसरी भिक्षा आदि के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण में पहनी जाती थी), २५. स्कन्धकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा करने के लिए पहना जाता है। रूपवती साध्वियों को कुब्जा जैसी दिखाने के लिए भी इसका उपयोग करते थे।)[1] इन वस्त्रोपकरणों का स्वरूप, उपयोग, अपेक्षा, विकास प्रभृति विषय श्रमण-जीवन के अपरिग्रही रूप तथा सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से अध्येतव्य है।

व्याख्या-साहित्य

ओघ-निर्युक्ति पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में द्रोणाचार्य-रचित टीका विशेष महत्व-पूर्ण है। उसकी रचना चूर्णि की तरह प्राकृत की प्रधानता लिए हुए है अर्थात् वह प्राकृत-संस्कृत के मिश्रित रूप में प्रणीत है। आचार्य मलयगिरि द्वारा वृत्ति की रचना की गयी। अवचूरि की भी रचना हुई।

पक्खिय सुत्त (पाक्षिक-सूत्र)

आवश्यक सूत्र के परिचय तथा विश्लेषण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण की चर्चा हुई है।

१. निर्युक्ति, ६७४-७७; भाष्य, ३१३-३२०

आत्मा की स्वस्थता—अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति, अन्ततः परिष्कृति तथा आत्म-जागरण का यह (प्रतिक्रमण) परम साधक है। जैन परम्परा मे प्रतिक्रमण के पांच प्रकार माने गये हैं—१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक तथा ५. सांवत्सरिक। पाक्षिक सूत्र की रचना का आधार पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसे आवश्यक सूत्र का एक अंग ही माना जाना चाहिए अथवा उसके एक अंग का विशेष पूरक। प्रस्तुत कृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह; इन पांच महाव्रतों के साथ छठे रात्रि-भोजन को मिला कर छः महाव्रतों तथा उनके अतिचारों का विवेचन है। क्षमाश्रमणों की वन्दना भी इसमें समाविष्ट है। प्रसंगतः इसमें बारह अंगों, छत्तीस कालिक सूत्रों तथा अट्ठाईस उत्कालिक सूत्रों के नामों का सूचन है। आचार्य यशोदेव सूरि ने इस पर वृत्ति की रचना की, जो सुखवि बोधा के नाम से प्रसिद्ध है।

खामणा-सुत्त (क्षामणा-सूत्र)

पाक्षिक क्षामणा सूत्र के नाम से भी यह रचना प्रसिद्ध है। इसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। इसे पाक्षिक सूत्र के साथ गिनने की परम्परा भी है और पृथक् भी।

वंदित्तु सुत्त

इस सूत्र का प्रारम्भ वंदित्तु सव्वसिद्धे इस गाथा से होता है और यही इसके नामकरण का आधार है। ऐसी मान्यता है कि इसकी रचना गणधरों द्वारा की गयी। अनेक आचार्यों ने टीकाओं की रचना की, जिनमें देवसूरि, पार्श्वसूरि, जिनेश्वर सूरि, श्रीचन्द्र सूरि तथा रत्नशेखर सूरि आदि मुख्य हैं। चूर्णि की भी रचना हुई, जो इस पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। इसके रचयिता विजयसिंह थे। रचना-काल ११८३ विक्रमाब्द है। वंदित्तु सुत्त की अपर संज्ञा श्राद्ध-प्रतिक्रमण-सूत्र भी है। इसे आवश्यक से सम्बद्ध ही माना जाना चाहिए।

इसिभासिय (ऋषिभाषित)

ऋषि से यहां प्रत्येक-बुद्ध का आशय है। यह सूत्र प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित या निरूपित माना जाता है। तदनुसार इसकी संज्ञा ऋषिभाषित हो गयी। इसके पैंतालीस अध्ययन हैं, जिनमें प्रत्येक बुद्धों के चरित्र वर्णित हैं। इसके कतिपय अध्ययन पद्य में हैं तथा कतिपय गद्य में। कहा जाता है कि इस पर निर्युक्ति की भी रचना की गयी, पर वह अप्राप्य है।

साध्वी या आर्यिका के उपकरण

जिन-कल्पी के लिए निर्दिष्ट बारह उपकरण, स्थविर-कल्पी के लिए निर्दिष्ट दो अधिक उपकरणों में से एक—मात्रक, इन तेरह उपकरणों के अतिरिक्त निम्नांकित बारह अन्य उपकरण साध्वी या आर्यिका के लिए निर्दिष्ट किये गये प्राप्त होते हैं। उनके लिए कुल पच्चीस उपकरण हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं : १४. कमढग, १५ उग्गहणंतग (गुह्य अंग की रक्षा के लिए नाव की आकृति की तरह), १६. पट्टक (उग्गहणंतग को दोनों ओर से ढकने वाला जांघिये की आकृति की तरह), १७. अद्धोरुग (उग्गहणंतग और पट्टक के ऊपर पहना जाने वाला), १८. चलनिका (बिना सिला हुआ घुटनों तक पहना जाने वाला। बांस पर खेल करने वाले पहनते थे।), १९. अब्भिंतर नियंसणी (यह आधी जांघों तक लटका रहता है। वस्त्र बदलते समय लोग साध्वियों का उपहास नहीं करते।), २०. बहिर्नियंसणी (यह घुटनों तक लटका रहता है और इसे डोरी से कटि में बांधा जाता है), २१. कंचुक (वक्षस्थल को ढकने वाला वस्त्र), २२. उक्कच्छिय (यह कंचुक के समान होता है), २३. वेकच्छिय (इससे कंचुक और उक्कच्छिय दोनों ढक जाते हैं), २४. संघाडी (ये चार होती हैं—एक प्रतिश्रय में, दूसरी व तीसरी भिक्षा आदि के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण में पहनी जाती थी), २५. खन्धकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा करने के लिए पहना जाता है। रूपवती साध्वियों को कुब्जा जैसा दिखाने के लिए भी इसका उपयोग करते थे।)[1] इन वस्त्रोपकरणों का स्वरूप, उपयोग, अपेक्षा, विकास प्रभृति विषय श्रमण-जीवन के अपरिग्रही रूप तथा सामाजिकता के परिवेश में विशेष रूप से अध्येतव्य है।

व्याख्या-साहित्य

ओघ-निर्युक्ति पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में द्रोणाचार्य-रचित टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना चूर्णि की तरह प्राकृत की प्रधानता लिए हुए है अर्थात् वह प्राकृत-संस्कृत के मिश्रित रूप में प्रणीत है। आचार्य मलयगिरि द्वारा वृत्ति की रचना की गयी। अवचूरि की भी रचना हुई।

पक्खिय सुत्त (पाक्षिक-सूत्र)

आवश्यक सूत्र के परिचय-प्रसंग में [illegible] के अन्तर्गत प्रतिक्रमण की चर्चा हुई है।

---

१. निर्युक्ति, [illegible]; भाष्य, ३१३-३२०

आत्मा की स्वस्थता—अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति, अन्तः परिष्कृति तथा आत्म-जागरण का वह (प्रतिक्रमण) परम साधक है। जैन परम्परा में प्रतिक्रमण के पांच प्रकार माने गये हैं—१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक तथा ५. सांवत्सरिक। पाक्षिक सूत्र की रचना का आधार पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसे आवश्यक सूत्र का एक अंग ही माना जाना चाहिए अथवा उसके एक अंग का विशेष पूरक। प्रस्तुत कृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह; इन पांच महाव्रतों के साथ छठे रात्रि-भोजन को मिला कर छः महाव्रतों तथा उनके अतिचारों का विवेचन है। क्षमाश्रमणों की वन्दना भी इसमें समाविष्ट है। प्रसंगतः इसमें बारह अंगों, सैंतीस कालिक सूत्रों तथा अट्ठाईस उत्कालिक सूत्रों के नामों का सूचन है। आचार्य यशोदेव सूरि ने इस पर वृत्ति की रचना की, जो सुखवि बोधा के नाम से प्रसिद्ध है।

खामणा-सुत्त (क्षामणा-सूत्र)

पाक्षिक क्षामणा सूत्र के नाम से भी यह रचना प्रसिद्ध है। इसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। इसे पाक्षिक सूत्र के साथ गिनने की परम्परा भी है और पृथक् भी।

वंदित्तु सुत्त

इस सूत्र का प्रारम्भ वंदित्तु सव्वसिद्धे इस गाथा से होता है और यही इसके नामकरण का आधार है। ऐसी मान्यता है कि इसकी रचना गणधरों द्वारा की गयी। अनेक आचार्यों ने टीकाओं की रचना की, जिनमें देवसूरि, पार्श्वसूरि, जिनेश्वर सूरि, श्रीचन्द्र सूरि तथा रत्नशेखर सूरि आदि मुख्य हैं। चूर्णि की भी रचना हुई, जो इस पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। इसके रचयिता विजयसिंह थे। रचना-काल ११८३ विक्रमाब्द है। वंदित्तु सुत्त की अपर संज्ञा श्राद्ध-प्रतिक्रमण-सूत्र भी है। इसे आवश्यक से सम्बद्ध ही माना जाना चाहिए।

इसिभासिय (ऋषिभाषित)

ऋषि से यहां प्रत्येक-बुद्ध का आशय है। यह सूत्र प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित या निरूपित माना जाता है। तदनुसार इसकी संज्ञा ऋषिभाषित हो गयी। इसके पैंतालीस अध्ययन हैं, जिनमें प्रत्येक बुद्धों के चरित्र वर्णित हैं। इसके कतिपय अध्ययन पद्य में हैं तथा कतिपय गद्य में। कहा जाता है कि इस पर निर्युक्ति की भी रचना की गयी, पर वह अप्राप्य है।

साध्वी या आर्यिका के उपकरण

जिन-कल्पी के लिए निर्देशित बारह उपकरण, स्थविर-कल्पी के लिए निर्देशित दो अधिक उपकरणों में से एक—मात्रक, इन तेरह उपकरणों के अतिरिक्त निम्नांकित बारह अन्य उपकरण साध्वी या आर्यिका के लिए निर्दिष्ट किये गये प्राप्त होते हैं। उनके लिए कुल पच्चीस उपकरण हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं : १४. कमढग, १५ उग्गहणंतग (गुह्य अंग की रक्षा के लिए नाव की आकृति की तरह), १६. पट्टक (उग्गहणंतग को दोनों ओर से ढकने वाला जांघिये की आकृति की तरह), १७. अद्धोरुग (उग्गहणंतग और पट्टक के ऊपर पहना जाने वाला), १८. चलनिका (बिना सिला हुआ घुटनों तक पहना जाने वाला। बांस पर खेल करने वाले पहनते थे।), १९. अब्भिंतर नियंसणी (यह आधी जांघों तक लटका रहता है। वस्त्र बदलते समय लोग साध्वियों का उपहास नहीं करते।), २०. बहिर्नियंसणी (यह घुटनों तक लटका रहता है और इसे डोरी से कटि में बांधा जाता है), २१. कंचुक (वक्षस्थल को ढाकने वाला वस्त्र), २२. उक्कच्छिय (यह कंचुक के समान होता है), २३. वेकच्छिय (इससे कंचुक और उक्कच्छिय दोनों ढक जाते हैं), २४. संघाटी (ये चार होती हैं—एक प्रतिश्रय में, दूसरी व तीसरी भिक्षा आदि के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण में पहनी जाती थी), २५. खंधकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा करने के लिए पहना जाता है। रूपवती साध्वियों को कुब्जा जैसी दिखाने के लिए भी इसका उपयोग करते थे।)[1] इन वस्त्रोपकरणों का स्वरूप, उपयोग, अपेक्षा, विराग प्रभृति विषय श्रमण-जीवन के अपरिग्रही रूप तथा सामाजिकता के परिवेश में विशेष रूप से अध्येतव्य है।

व्याख्या-साहित्य

ओघ-निर्युक्ति पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में द्रोणाचार्य-रचित टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसकी रचना चूर्णि की तरह प्राकृत की प्रधानता लिए हुए है अर्थात् यह प्राकृत-संस्कृत के मिश्रित रूप में प्रणीत है। आचार्य मलयगिरि द्वारा वृत्ति की रचना की गयी। अवचूरि की भी रचना हुई।

पक्खिय सुत्त (पाक्षिक-सूत्र)

आवश्यक सूत्र के परिचय तथा विश्लेषण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण की चर्चा हुई है।

---

१. निर्युक्ति, ६७४-७७; भाष्य, ३१३-३२०

आत्मा की स्वस्थता—अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति, अन्तः परिष्कृति तथा आत्म-जागरण का वह (प्रतिक्रमण) परम साधक है। जैन परम्परा में प्रतिक्रमण के पांच प्रकार माने गये हैं—१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक तथा ५. सांवत्सरिक। पाक्षिक सूत्र की रचना का आधार पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसे आवश्यक सूत्र का एक अंग माना जाना चाहिए अथवा उसके एक अंग का विशेष पूरक। प्रस्तुत कृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह; इन पांच महाव्रतों के साथ छठे रात्रि-भोजन को मिला कर छः महाव्रतों तथा उनके अतिचारों का विवेचन है। क्षामणाओं की चर्चा भी इसमें समाविष्ट है। प्रसंगतः इसमें बारह अंगों, सैंतीस कालिक सूत्रों तथा अट्ठाईस उत्कालिक सूत्रों के नामों का सूचन है। आचार्य यशोदेव सूरि ने इस पर वृत्ति की रचना की, जो सुखवि बोधा के नाम से प्रसिद्ध है।

खामणा-सुत्त (क्षामणा-सूत्र)

पाक्षिक क्षामणा सूत्र के नाम से भी यह रचना प्रसिद्ध है। इसमें कोई उल्लेखनी विशेषता नहीं है। इसे पाक्षिक सूत्र के साथ गिनने की परम्परा भी है और पृथक् भी।

वंदित्तु सुत्त

इस सूत्र का प्रारम्भ वंदित्तु सव्वसिद्धे इस गाथा से होता है और यही इसके नामकरण का आधार है। ऐसी मान्यता है कि इसकी रचना गणधरों द्वारा की गयी। अनेक आचार्यों ने टीकाओं की रचना की, जिनमें देवसूरि, पार्श्वसूरि, जिनेश्वर सूरि, श्रीचन्द्र सूरि तथा रत्नशेखर सूरि आदि मुख्य हैं। चूर्णि की भी रचना हुई, जो इस पर रचे गये व्याख्या-साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। इसके रचयिता विजयसिंह थे। रचना-काल ११८३ विक्रमाब्द है। वंदित्तु सुत्त का दूसरा नाम श्राद्ध-प्रतिक्रमण-सूत्र भी है। इसे आवश्यक से सम्बद्ध ही माना जाना चाहिए।

इसिभासिय (ऋषिभाषित)

ऋषि से यहां प्रत्येक-बुद्ध का आशय है। यह सूत्र प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित या निरूपित माना जाता है। तदनुसार इसकी संज्ञा ऋषिभाषित हो गयी। इसके पैंतालीस अध्ययन हैं, जिनमें प्रत्येक बुद्धों के चरित्र वर्णित हैं। इसके [illegible] कहा जाता है कि इस पर निर्युक्ति की भी रचना की गयी, पर वह अप्राप्य है।

नन्दी तथा अनुयोगद्वार

नन्दी-सूत्र : रचयिता

नन्दी सूत्र के रचयिता दूष्यगणी के शिष्य देववाचक माने जाते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार देववाचक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ही नामान्तर है। देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दो व्यक्ति नहीं हैं, एक ही हैं, पर, एतत्सम्बद्ध सामग्री से यह स्पष्टतया सिद्ध नहीं होता, दोनों दो भिन्न-भिन्न गच्छों से सम्बद्ध थे, कुछ इस प्रकार के पुष्ट साक्ष्य भी हैं।

स्वरूप : विषय-वस्तु

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पचास गाथाएं हैं। प्रथम तीन गाथाओं में ग्रन्थकार ने अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को प्रणमन करते हुए मंगलाचरण किया है। इसके पश्चात् चौथी गाथा से उन्नीसवीं गाथा तक एक सुन्दर रूपक द्वारा धर्म संघ की प्रशस्ति एवं स्तवना की है। बीसवीं और इक्कीसवीं गाथा में आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभ से अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक; चौबीस तीर्थंकरों को सामष्टिक रूप में वन्दन किया गया है। बाईसवीं, तेईसवीं और चौबीसवीं गाथा में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों तथा धर्म-संघ का वर्णन है। पच्चीसवीं गाथा से सैंतालीसवीं गाथा तक आर्य सुधर्मा से लेकर दूष्यगणी तक स्थविरावली का प्रशस्तिपूर्वक वर्णन है। अड़तालीसवीं से पचासवीं गाथा तक तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव, क्षान्ति, मार्दव, शील आदि उत्तमोत्तम गुणों से युक्त, प्रशस्त व्यक्तित्व के धनी युगप्रधान श्रमणों तथा श्रुत-वैशिष्ट्य-विभूषित श्रमणों की स्तवना की है। इससे प्रकट है कि यह स्थविरावली युग-प्रधान परिपाटी पर आधृत है। तदनन्तर सूत्रात्मक वर्णन आरम्भ होता है। स्थान-स्थान पर गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है।

ज्ञान के विवेचन के अन्तर्गत मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव तथा केवलज्ञान की व्याख्या की गयी है। उनके भेद-प्रभेद, उद्भव, विकास आदि का तलस्पर्शी [illegible] विवेचन किया गया है। प्रसंगवश श्रुत के प्रसंग में द्वादशांग या गणि-पिटक के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग प्रभृति बारह भेद निरूपित किये गये हैं। प्रासंगिक रूप से [illegible] विषय-श्रुत की भी चर्चा की गयी है। कालिक, उत्कालिक, अंग-प्रविष्ट, अंग-बाह्य आदि के रूप में श्रुत का विस्तृत विवेचन किया गया है। कालिक श्रुत [illegible] के विवेचन

तथा विस्तार के परिशीलन की दृष्टि से नन्दी सूत्र का यह अंग विशेषतः पठनीय है। जिनदास महत्तर ने नन्दी सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीकाओं का निर्माण किया।

अनुयोगद्वार

नन्दी की तरह यह सूत्र भी अर्वाचीन है, जो इसकी भाषा तथा वर्णन-क्रम से गम्य है। इसके रचयिता आर्य रक्षित माने जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न अनुयोगों से सम्बद्ध विषयों का आकलन है। विशेषतः संख्या-क्रम-विस्तार, जो गणितानुयोग का विषय है, का इसमें विशद विवेचन है। यह ग्रन्थ प्रायः प्रश्नोत्तर की शैली में रचित है।

सप्त स्वर

प्रसंगोपात्त इसमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद संज्ञक सात स्वरों का विवेचन है। स्वरों के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि षड्ज स्वर जिह्वा के अग्र-भाग से उच्चरित होता है। ऋषभ स्वर का उच्चारण-स्थान हृदय है। गान्धार स्वर कण्ठाग्र से निःसृत होता है। मध्यम स्वर का उच्चारण जिह्वा के मध्य भाग से होता है। पंचम स्वर नासिका से बोला जाता है। धैवत स्वर दांतों के योग से उच्चरित होता है। निषाद स्वर नेत्र-भृकुटि के आक्षेप से बोला जाता है।

सातों स्वरों के जीव-निःसृत और अजीव-निःसृत भेद-विश्लेषण के अन्तर्गत बताया गया है कि मयूर षड्ज स्वर, कुक्कुट ऋषभ स्वर, हंस गांधार स्वर, गाय-भेड़ आदि पशु मध्यम स्वर, वसन्त ऋतु में कोयल पंचम स्वर, सारस तथा क्रौंच पक्षी धैवत स्वर और हाथी निषाद स्वर में बोलता है। मानव कृत स्वर-प्रयोग के फला-फल पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में ग्राम, मूर्च्छना आदि का भी उल्लेख है।

आठ विभक्तियों की भी चर्चा है। कहा गया है, निर्देश में प्रथमा, उपदेश में द्वितीया, करण में तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पंचमी, सम्बन्ध में षष्ठी, आधार में सप्तमी तथा आमन्त्रण में अष्टमी विभक्ति होती है। प्रकृति, आगम, लोप, समास, तद्धित, धातु आदि अन्य व्याकरण-सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा की गयी है। प्रसंगतः काव्य के नौ रसों का भी उल्लेख हुआ है।

पल्योपम, सागरोपम आदि के भेद-प्रभेद तथा विस्तार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त

५. आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान)

नाम : आशय : विषय

आतुर शब्द सामान्यतः रोग-ग्रस्त- वाची है। आतुरावस्था में मनुष्य की दो प्रकार की मानसिक अवस्थाएं सम्भावित हैं। जिन्हें देह, दैहिक भोग और लौकिक एषणाओं में आसक्ति होती है, वे सांसारिक मोहाच्छन्न मन:स्थिति में रहते हैं। भुक्त भोगों की स्मृति और अप्राप्त भोगों की लालसा में उनका मन आकुल बना रहता है। इसलिए अपने अन्तिम काल में भी वे प्रत्याख्यानोन्मुख नहीं हो पाते। संसार में अधिकांश लोग इसी प्रकार के हैं। अन्ततः मरना तो होता ही है, मर जाते हैं। वैसा मरण 'बाल-मरण' कहा जाता है। यहां बाल का अभिप्राय अज्ञानी से है।

दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं, जो भोग तथा देह की नश्वरता का चिन्तन करते हुए आत्म-स्वभावोन्मुख बनते हैं। दैनिक कष्ट तथा रोग-जनित वेदना को वे आत्म-बल से सहते जाते हैं और अपने भौतिक जीवन की इस अन्तिम अवस्था में खाद्य, पेय आदि का परिवर्जन कर, आमरण-अनशन, जो महान् आत्म-बल का द्योतक है, अपना कर शुद्ध चैतन्य में लीन होते हुए देह-त्याग करते हैं। जैन परिभाषा में यह 'पण्डित-मरण' कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में बाल-मरण तथा पण्डित-मरण का विवेचन है, जिसकी स्थिति प्रायः आतुरावस्था में बनती है। सम्भवतः इसी पृष्ठ-भूमि के आधार पर इसका नाम आतुर-प्रत्याख्यान रखा गया हो। इसमें प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्याख्यान से ही सद्गति या शाश्वत शान्ति सधती है। चतुःशरण की तरह इसके भी रचयिता वीरभद्र कहे जाते हैं और उसी की तरह भुवनतुंग द्वारा वृत्ति तथा गुणरत्न द्वारा अवचूरि की रचना की गयी।

३. महापच्चक्खाण (महा प्रत्याख्यान)

नाम : अभिप्राय

असत्, अशुभ या अकरणीय का प्रत्याख्यान या त्याग ही जीवन की यथार्थ सफलता का परिपोषक है। यह तथ्य ही वह आधार-शिला है, जिस पर धर्माचरण टिका है।

यह प्रकीर्णक पांच सौ छयासी गाथाओं का कलेवर लिये हुए है। इसमें जीवों का गर्भ में आहार, स्वरूप, श्वासोच्छ्वास का परिमाण, शरीर में सन्धियों की स्थिति व स्वरूप, नाड़ियों का परिमाण, रोमकूप, पित्त, रुधिर, शुक्र आदि का विवेचन है। ये तो मुख्य विषय हैं ही, साथ-साथ गर्भ का समय, माता-पिता के अंग, जीव की बाल, क्रीड़ा, मन्द आदि दश दशाएं, धर्म में अध्यवसाय आदि और भी अनेक सम्बद्ध विषय वर्णित हैं।

नारी का हीन रेखा-चित्र

प्रस्तुत प्रकीर्णक में प्रसंगोपात्त नारी का बहुत घृणोत्पादक व भयानक वर्णन किया गया है। कहा गया है कि नारी सहस्रों अपराधों का घर है। वह कपट-पूर्ण प्रेम रूपी पर्वत से निकलने वाली नदी है। वह दुश्चरित्र का अधिष्ठान है। साधुओं के लिए वह शत्रुरूपा है। व्याघ्री की तरह वह क्रूरहृदया है। जिस प्रकार काले नाग का विश्वास नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह अविश्वस्य है। उच्छृंखल घोड़े को जिस प्रकार दमित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह दुर्दम है।

कुछ विचित्र व्युत्पत्तियां

नारी-निन्दा के प्रसंग में नारी-अर्थ-द्योतक शब्दों की कुछ विचित्र व्युत्पत्तियां दी गई हैं। जैसे, नारी के पर्यायवाची प्रमदा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है : पुरिसे मत्ते करंति त्ति पमयाओ अर्थात् पुरुषों को मत्त-कामोन्मत्त बना देती हैं, इसलिए वे प्रमदाएं कही जाती हैं।

महिला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है : णाणा विहेहिं कम्मेहिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहंति त्ति महिलाओ। अनेक प्रकार के शिल्प आदि कर्मों द्वारा पुरुषों को मोहित करने के कारण वे महिलाएं कही जाती हैं।

प्राकृत में महिला के साथ महिलिया प्रयोग भी नारी के अर्थ में है। स्वार्थिक क जोड़कर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका विश्लेषण किया गया है : महंतं कलिं जणयंति त्ति महिलियाओ, वे महान् कलह उत्पन्न करती हैं, इसलिए उन्हें महिलियाओ संज्ञा से अभिहित किया गया है।

रामा की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है : पुरिसे हावभावमाइएहिं रमंति त्ति रामाओ। हाव, भाव आदि द्वारा पुरुषों को रम्य प्रतीत होने के कारण वे रामा कही जाती हैं।

अंगना की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है : पुंरिसे अंगाणुराए करिंति त्ति अंगणाओ अर्थात् पुरुषों के अंगों में अनुराग उत्पन्न करने के कारण वे अंगनाएं कहलाती हैं।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति में कहा गया है : नारीसमा न नराणं अरीओ त्ति नारीओ। नारियों के सदृश पुरुषों के लिए कोई अरि—शत्रु नहीं है, इस हेतु वे नारी शब्द से संज्ञित हैं।

इन व्युत्पत्तियों से ग्रन्थकार का यह सिद्ध करने का प्रयास स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि नारी केवल वामोपकरण है। नारी को एक कुत्सित और बीभत्स भोग्य पदार्थ के रूप में चित्रित करने के पीछे सम्भवतः यही आशय रहा हो कि मानव काम से—कामिनी से इतना भयाक्रान्त हो जाए कि उस ओर उसका आकर्षण ही मिट जाए। अस्तु, यह एक प्रकार तो है, पर, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उपादेयता सन्दिग्ध एवं विवादास्पद है। प्रस्तुत प्रकीर्णक पर एक वृत्ति की रचना हुई, जिसके लेखक विजयविमल हैं।

६. संथारग (संस्तारक)

जो भूमि पर संस्तीर्ण या आस्तीर्ण किया जाए—बिछाया जाए, वह संस्तार या संस्तारक कहा जाता है। जैन परम्परा में इसका एक पारिभाषिक अर्थ है। जो पर्यन्त-क्रिया करने को उद्यत होते हैं, आत्मोन्मुख होते हुए अनशन द्वारा देह-त्याग करना चाहते हैं; वे भूमि पर दर्भ आदि से संस्तार—संस्तारक अर्थात् बिछौना तैयार करते हैं। उस पर लेटते हैं।[1] उस संस्तारक पर देह-त्याग करते हुए वे जीवन का वह साध्य साधने में सफल होते हैं, जिसके लिए वे यावज्जीवन साधना-निरत तथा यत्नवान् रहे। उस बिछौने पर स्थित होते हुए वे संसार-सागर को तैर जाते हैं; अतः संस्तारक का अर्थ संसार-सागर को तैरा देने वाला, उसके पार लगाने वाला करें, तो भी असंगत नहीं लगता। प्रस्तुत प्रकीर्णक में अन्तिम समय में आत्माराधना-निरत साधक द्वारा संयोजित इस प्रक्रिया का विवेचन है।

एक सौ तेईस गाथाओं में यह प्रकीर्णक विभक्त है। इसमें संस्तारक की प्रशस्तता का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार मणियों में वैडूर्य

---

१. संस्तीर्यते भूपीठे शयालुभिरिति संस्तारः स एव संस्तारकः। पर्यन्तक्रियां कुर्वद्भिर्दर्भादिभिर्विरचरणे, तत्क्रियाप्रतिपादनरूपे प्रकीर्णकग्रन्थे।

—अभिधान राजेन्द्र, सप्तम भाग, पृ० १९५

मणि, सुरभिमय पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन तथा रत्नों में हीरा उत्तम है, उसी प्रकार साधना-क्रमों में संस्तारक परम श्रेष्ठ है। और भी बड़े उद्‌बोधक शब्दों में कहा गया है कि तृणों का संस्तारक बिछा कर उस पर स्थित हुआ श्रमण मोक्ष-सुख की अनुभूति करता है। इस प्रकीर्णक में ऐसे अनेक मुनियों के कथानक दिये गये हैं, जिन्होंने संस्तारक पर आसीन होकर पण्डित-मरण प्राप्त किया। गुणरत्न ने इस पर अवचूरि की रचना की।

७. गच्छआयार (गच्छाचार)

गच्छ एक परम्परा या एक व्यवस्था में रहने वाले या चलने वाले समुदाय का सूचक है, जो आचार्य द्वारा अनुशासित होता है। जब अनेक व्यक्ति एक साथ सामुदायिक या सामूहिक जीवन जीते हैं, तो कुछ ऐसे नियम, परम्पराएं, व्यवस्थाएं मान कर चलना पड़ता है, जिससे सामूहिक जीवन समीचीनता, स्वस्थता तथा शान्ति से चलता जाए। श्रमण-संघ के लिए भी यही बात है। एक संघ या गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वियों को कुछ विशेष परम्पराओं तथा मर्यादाओं को लेकर चलना होता है, जिनका सम्बन्ध पारस्परिक अनुशासन, पारस्परिक सहयोग, सेवा और सौमनस्यपूर्ण व्यवहार से है। साम्प्रतिक रूप में यही सब सम्प्रदाय, गण या गच्छ का आचार कहा जाता है। आधुनिक भाषा में उसे संघीय आचार-संहिता के नाम से अभिहित किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में इन्हीं सब पहलुओं का वर्णन है।

इस प्रकीर्णक में कुल एक सौ सैंतीस गाथाएं हैं, जिनमें कतिपय अनुष्टुप् छन्द में रचित हैं तथा कतिपय आर्या छन्द में। महानिशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार आदि छेद-सूत्रों का वर्णन पहले किया ही गया है, जिनमें साधु-साध्वियों के आचार, उनके द्वारा अज्ञान रूप में सेवित दोष, तदर्थ प्रायश्चित्त-विधान आदि से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। कहा जाता है, इन ग्रन्थों से यथावश्यक सामग्री संकीर्ण कर एक गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वियों के हित की दृष्टि से इस प्रकीर्णक की रचना की गयी। इसमें गच्छ के साधु, साध्वी, आचार्य, उन सबके पारस्परिक व्यवहार, नियमन आदि का विशद विवेचन है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य के कर्त्तव्य-धर्म में एक स्थान पर उल्लेख है कि जो आचार्य स्वयं पथ से भ्रष्ट हैं, भ्रष्टाचारियों का निग्रह नहीं करते अर्थात् आचार-मर्यादा की उपेक्षा करते हैं, स्वयं उन्मार्गगामी हैं, वे मार्ग और गच्छ का नाश करते हैं। [illegible] आचार्य के [illegible] गुण, विनय, सेवा, [illegible] आदि का भी इस ग्रन्थ में विवेचन किया गया है।

ब्रह्मचर्य-पालन में सदा जागरूक रहने की ओर श्रमणवृन्द को प्रेरित किया गया है। बताया गया है कि वय से वृद्ध होने पर भी श्रमण श्रमणियों के साथ वार्तालाप में संलग्न नहीं होते। श्रमणियों का संसर्ग श्रमणों के लिए विष-तुल्य है।

विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया है कि हो सकता है, बहुवेत्ता स्थविर के चित्त में स्थिरता—दृढ़ता हो, पर, जिस प्रकार घृत अग्नि के समीप रहने पर द्रवित हो जाता है, उसी प्रकार स्थविर के संसर्ग से साध्वी का चित्त द्रवित हो जाए, उसमें दुर्बलता उभर आए। वैसी स्थिति में, जैसा कि आशंकित है, यदि स्थविर अपना धैर्य खो बैठे, तो वह ठीक वैसी दशा में आपतित हो जाता है, जैसे कफ में आलिप्त मक्षिका। अन्ततः यहां तक कहा गया है कि श्रमण को बाला, वृद्धा, बहिन, पुत्री और दौहित्री तक का नैकट्य नहीं होने देना चाहिए।

व्याख्या : साहित्य

आनन्दविमल सूरि के शिष्य श्री विजयविमल गणी ने गच्छाचार पर टीका की रचना की। टीकाकार ने एक प्रसंग में उल्लेख किया है कि वराहमिहिर आचार्य भद्रबाहु के भाई थे। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु के इतिवृत्त के सन्दर्भ में चर्चा की जा चुकी है, यह इतिहास सम्मत तथ्य नहीं है। इतिहास पर प्रामाणिकता, गवेषणा तथा समीक्षा की दृष्टि से ध्यान न दिये जा सकने के कारण इस तरह के अप्रामाणिक उल्लेखों का प्रचलन रहा हो, ऐसा सम्भावित लगता है।

टीकाकार ने यह भी चर्चा की है कि वराहमिहिर ने चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों का अध्ययन करके वाराही संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की।

८. गणि-विज्जा (गणि-विद्या)

आपाततः प्रतीत होता है, इस प्रकीर्णक के नाम में आया हुआ गणि शब्द गण के अधिपति या आचार्य के अर्थ में हो; क्योंकि प्राकृत में सामान्यतः गणि शब्द का प्रचलित अर्थ ऐसा ही है। संस्कृत में भी गणिन् शब्द इसी अर्थ में है। समास में न का लोप होकर केवल गणि रह जाता है। वास्तव में प्रकीर्णक के नाम में पूर्वार्द्ध में जो गणि शब्द है, वह गण-नायक के अर्थ में नहीं है। गणि शब्द की एक अन्य निष्पत्ति भी है। गण् धातु के इन् प्रत्यय लगा कर गणना के अर्थ में गणि शब्द बनाया जाता है। यहां उसी का अभिप्रेत है; क्योंकि प्रस्तुत प्रकीर्णक में गणना-सम्बन्धी विषय वर्णित है। यह प्रकीर्णक बयासी

छेद-४—१. निशीथ, २. महानिशीथ, ३. व्यवहार, ४. दशाश्रुतस्कन्ध
मूल-४—१. दशवैकालिक, २. उत्तराध्ययन, ३. अनुयोगद्वार, ४. नन्दी
आवश्यक-१ । कुल ३२

आगमों पर व्याख्या-साहित्य

प्रयोजन

आर्य-भाषा-परिवार के अन्तर्गत संस्कृत के विश्लेषण तथा जैन उपांग-साहित्य के विवेचन के सन्दर्भ में वेदों के अंग, उपांग आदि की चर्चा की गयी है। वेदों को यथावत् रूप में समझने के लिए उनके छः अंग, उपांग या विद्या-स्थान पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्म-शास्त्र का प्रयोजन है। साथ-साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उनसे उद्भूत सूत्र-ग्रन्थों[1] एवं सायण आदि आचार्यों द्वारा रचित भाष्यों की भी उपयोगिता है। इस वाङ्मय का भली-भांति अध्ययन किये बिना यह शक्य नहीं है कि वेदों का हार्द सही रूप में आत्मसात् किया जा सके।

वेदों के साथ जो स्थिति उपर्युक्त अंगोपांग एवं भाष्य-साहित्य की है, वही पालि-पिटकों के साथ आचार्य बुद्धघोष, आचार्य बुद्धदत्त तथा आचार्य धम्मपाल आदि द्वारा रचित अट्ठकथाओं की है। पिटक-साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान के लिए इन अट्ठकथाओं का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

प्राकृत जैन आगमों के साथ उनके व्याख्या-साहित्य की भी इसी प्रकार की स्थिति है। उसकी सहायता या आधार के बिना आगमों का हार्द यथावत् रूप में गृहीत किया जाना कठिन है।

जैन आगमों की अपनी विशेष पारिभाषिक शैली है, अनेक आगमों में अत्यन्त सूक्ष्म तथा गम्भीर विषयों का निरूपण है; अतः यह कम सम्भव है कि उन्हें सीधा-सम्यक्तया समझा जा सके। इनके अतिरिक्त आगमों की दुरूहता बढ़ जाने का एक और कारण है। इनमें वाचना-भेद से स्थान-स्थान पर पाठ-भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। तद्विषयक परम्पराएं आज प्राप्त नहीं हैं; अतः आगम-गत विषयों की समुचित संगति बिठाते हुए

---

१. सूत्र-ग्रन्थ स्थूल रूप में चार भागों में विभक्त है : १. श्रौतसूत्र, २. गृह्यसूत्र, ३. धर्मसूत्र तथा ४. शुल्व सूत्र।

प्रयोग हुआ है, पर, उनका संकेत जैसा कर दिया गया है, स्पष्ट और विशद वर्णन नहीं मिलता। ऐसी मान्यता है कि निर्युक्तियों की रचना का आधार गुरु-परम्परा-प्राप्त पूर्व-मूलक वाङ्मय रहा है।

श्रमणवृन्द आगमिक विषयों को सहजतया मुखाग्र रख सकें, निर्युक्तियों की रचना के पीछे सम्भवतः यह भी एक हेतु रहा हो। ये आर्या छन्द में रचित गाथाओं में हैं; इसलिए इन्हें कण्ठस्थ रखने में अपेक्षाकृत अधिक सुगमता रहती है। कथाएं, दृष्टान्त आदि का भी संक्षेप में उल्लेख या संकेत किया हुआ है। उससे वे मूल रूप में उपदेष्टा श्रमणों के ध्यान में आ जाते हैं, जिनसे वे उन्हें विस्तार से व्याख्यात कर सकते हैं।

ऐतिहासिकता

व्याख्या-साहित्य में निर्युक्तियां सर्वाधिक प्राचीन हैं। पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति की गणना आगमों के रूप में की गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पांचवीं ई० शती में वलभी में हुई आगम-वाचना, जिसमें अन्ततः आगमों का संकलन एवं निर्धारण हुआ, उससे पूर्व ही निर्युक्तियों की रचना आरम्भ हो गयी थी। प्रमुख नैयायिक द्वादशार-नय-चक्र के रचयिता आचार्य मल्लवादी ने अपनी रचना में निर्युक्ति-गाथा उद्धृत की है, जिससे मल्लवादी से पूर्व निर्युक्तियों का रचा जाना प्रमाणित होता है। मल्लवादी का समय विक्रम का पंचम शतक माना है।

निर्युक्तियां : रचनाकार

१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. सूर्यप्रज्ञप्ति, ४. व्यवहार, ५. कल्प, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. उत्तराध्ययन, ८. आवश्यक, ९. दशवैकालिक, १०. ऋषिभाषित; इन दस सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की गयी है। सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अप्राप्त हैं। निर्युक्तिकार के रूप में आचार्य भद्रबाहु का नाम प्रसिद्ध है। पर, श्रुतकेवली (अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर) आचार्य भद्रबाहु, जिन्होंने छेद-सूत्रों की रचना की और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक नहीं हैं। एक बहुत बड़ी कठिनाई यह आती है कि अनेक आगमों पर रचित निर्युक्ति तथा भाष्य की गाथाएं स्थान-स्थान पर एक-दूसरे में इतनी मिल गयी हैं कि उन्हें पृथक् कर पाना दुःशक्य है। चूर्णिकार भी ऐसा नहीं कर सके।

निर्युक्तियों में प्रसंगोपात्ततया जैनों के परम्परा-प्राप्त आचार-विचार, जैन तत्त्व-ज्ञान के अनेक विषय, अनेक पौराणिक परम्पराएं, ऐतिहासिक घटनाएं (अंशतः ऐतिहासिक अंशतः पौराणिक), इस प्रकार की विमिश्रित मान्यताएं वर्णित हुई हैं। जैन-संस्कृति, जीवन-व्यवहार तथा चिन्तन-क्रम के अध्ययन की दृष्टि से निर्युक्तियों का महत्त्व है। निर्युक्तियों में विशेषतः अर्द्ध-मागधी प्राकृत का व्यवहार हुआ है। प्राकृत की भाषा-शास्त्रीय गवेषणा के सन्दर्भ में भी ये विशेषतः अध्येतव्य हैं।

भास (भाष्य)

आगमों के तात्पर्य को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु भाष्यों की रचना हुई। इनकी रचना-शैली भी लगभग वैसी है, जैसी निर्युक्तियों की। ये प्राकृत-गाथाओं में लिखे गये हैं। निर्युक्तियों की तरह इनमें भी संक्षिप्त विवेचन-पद्धति को अपनाया गया है। जिस प्रकार निर्युक्तियों की रचना में अर्द्ध-मागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है, इनमें कहीं-कहीं अर्द्ध-मागधी के साथ-साथ मागधी और शौरसेनी प्राकृत के रूप दृष्टिगत होते हैं।

रचना : रचयिता

मुख्यतया जिन सूत्रों पर भाष्यों की रचना हुई, वे इस प्रकार हैं—१. निशीथ, २. व्यवहार, ३. बृहत्कल्प, ४. पंच-कल्प, ५. जीत-कल्प, ६. उत्तराध्ययन, ७. आवश्यक, ८. दशवैकालिक, ९. पिण्ड-निर्युक्ति तथा १०. ओघ-निर्युक्ति।

निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प के भाष्य अनेक दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व लिये हुए हैं। इनके रचयिता श्री संघदास गणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं। कहा जाता है, वे याकिनी-महत्तर-सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि के समसामयिक थे।

आवश्यक सूत्र पर लघुभाष्य, महाभाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य की रचनाएं की गयीं। अनेक विषयों का विशद समावेश होने के कारण विशेषावश्यक भाष्य का जैन साहित्य में अत्यन्त महत्त्व है। इसके रचयिता श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। जीतकल्प तथा उनके स्वोपज्ञ भाष्य के कर्ता भी श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ही हैं।

भाष्य-साहित्य में प्राचीन श्रमण-जीवन और संघ से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। निर्ग्रन्थों के प्राचीन आचार, व्यवहार, विधि-क्रम, रीति-नीति, प्रायश्चित्त-पूर्वक शुद्धि; इत्यादि विषयों के समीक्षात्मक अध्ययन एवं अनुसन्धान के सन्दर्भ में निशीथ,

आर्ष वाक् है, अतः उसे तो उन्होंने लिया ही है, पर, संस्कृत को भी उन्होंने ग्रहण किया है। दर्शन और तत्त्वज्ञान आदि गम्भीर एवं सूक्ष्म विषयों को विद्वद्भोग्य तथा व्युत्पन्न शैली में व्याख्यात करने में संस्कृत की अपनी अप्रतिम विशेषता है। उसका शब्दकोश वैज्ञानिक दृष्टि से विशाल है तथा उसका व्याकरण शब्दों के नव सर्जन की उर्वरता लिए हुए है। उसकी अपनी कुछ विशिष्ट शब्दावली है, जिसके द्वारा संक्षेप में विस्तृत और गहन अर्थ व्याख्यात किया जा सकता है। उसकी विवेचन-सरणि में प्रभावापन्नता और गम्भीरता है। सूक्ष्म और पारिभाषिक (Technical) विवेचना की दृष्टि से उसकी अपनी असामान्य क्षमता है। चूर्णिकार द्वारा भावात्मक माध्यम के रूप में प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत संयोजन के पीछे सम्भवतः इसी प्रकार का दृष्टिकोण रहा हो, अर्थात् संस्कृत की इन विशेषताओं से लाभान्वित क्यों न हुआ जाए ?

चूर्णियों में किया गया प्राकृत-संस्कृत का मिश्रित प्रयोग 'मणि-प्रवाल-न्याय' से उपमित किया गया है। मणियों और मूंगों को एक साथ मिला दिया जाए, तो भी वे पृथक्-पृथक् स्पष्ट दीखते रहते हैं। यही स्थिति यहां दोनों भाषाओं की है।

प्राकृत की प्रधानता

चूर्णियों में संस्कृत और प्राकृत का सम्मिलित प्रयोग तो हुआ, पर, फिर भी उनमें प्रधानता प्राकृत की रही। चूर्णियों में यथाप्रसंग अनेक प्राकृत-कथाएं दी गयी हैं, जो धार्मिक, सामाजिक किंवा लौकिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध हैं। चूर्णिकार को जो शब्द विशेष व्याख्येय या विश्लेष्य लगे हैं, उनकी व्युत्पत्ति भी प्रायः प्राकृत में ही प्रस्तुत की गयी है।

वर्ण्य विषय के समर्थन तथा परिपुष्टता के हेतु स्थान-स्थान पर प्राकृत व संस्कृत के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध पद्य उद्धृत किये गये हैं। प्राकृत भाषा की क्षमता, अभिव्यंजना-शक्ति, प्रवाहशीलता, लोकजनीनता आदि के साथ भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णियों के अध्ययन की वास्तव में अत्यधिक उपयोगिता है।

चूर्णियां : रचनाकार

आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी तथा अनुयोगद्वार पर चूर्णियों की रचना हुई है।

चूर्णियों के रूप में जैन साहित्य को ही नहीं, प्रत्युत भारतीय वाङ्मय को अनुपम देन देने वाले मनीषी श्री जिनदास गणी महत्तर थे। वे वाणिज्य-कुलोत्पन्न थे। धर्म-सम्प्रदाय की दृष्टि से वे कोटिक गण के अन्तर्गत वज्र-शाखा से सम्बद्ध थे। इतिहासज्ञों के अनुसार इनका समय षष्ठ शती ईसवी के लगभग माना जाता है।

जैसलमेर के भण्डार में दशवैकालिक चूर्णि की एक प्राचीन प्रति मिली है, जिसके रचयिता स्थविर अगस्त्यसिंह हैं। उनका समय विक्रम की तृतीय शती माना जाता है, जिससे प्रकट होता है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में समायोजित वालभी वाचना से लगभग दो-तीन शती पूर्व ही रची जा चुकी थी। आगम-महोदधि स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी द्वारा उसका प्रकाशन किया गया है। श्री जिनदास गणी महत्तर द्वारा रचित दशवैकालिक चूर्णि के नाम से जो कृति विश्रुत है, उसे आचार्य हरिभद्र सूरि ने वृद्ध-विवरण के नाम से अभिहित किया है।

महत्वपूर्ण चूर्णियां

भारतीय लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से सभी चूर्णियों में यत्र-तत्र बहुत सामग्री विकीर्ण है, पर. निशीथ की विशेष चूर्णि तथा आवश्यक चूर्णि का उनमें अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैन इतिहास, पुरातत्व. तत्कालीन समाज आदि पर प्रकाश डालने वाली विशाल सामग्री भरी पड़ी है। लोगों का खान-पान. वेश-भूषा, आभूषण, सामाजिक, धार्मिक एवं लौकिक रीतियां, प्रथाएं, समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मान-दण्ड, समय-समय पर पर्व दिनों के उपलक्ष्य में आयोजित होने वाले मेले, समारोह, जनता द्वारा मनाये जाने वाले त्यौहार, व्यावसायिक स्थिति, व्यापार-मार्ग, एक समुदाय के साथ व्यापारार्थ दूर-दूर समुद्र पार तक जाने वाले बड़े-बड़े व्यवसायी (सार्थवाह), उपज, दुर्भिक्ष, दस्यु, तस्कर आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का विविध प्रसंगों के बीच इन चूर्णियों में विवेचन हुआ है।

स्पष्टतः पता चलता है कि जैन आचार्य तथा सन्त जन-जन को धर्म-प्रतिबोध देने के निमित्त कितने समुद्यत रहे हैं। यही कारण है कि उनका लोक-जीवन के साथ अत्यन्त निकटतापूर्ण सम्पर्क रहा है। तभी तो उस काल के लोक-जीवन का एक सजीव चित्र उपस्थित कर पाना उनके लिए सहजतया सम्भव हो सका। जन-सम्पर्क के साथ-साथ वे कितने व्यवहार-निपुण थे, प्रत्युत सामग्री से यह भी प्रकट होता है। जैन सन्तों का अपने दर्शन तथा धर्म का गहन अध्ययन तो था ही, अध्ययन की अन्यान्य विधाओं में भी उनकी गहरी पहुंच थी। वास्तव में उनका अध्ययन बड़ा व्यापक तथा सार्वजनीन था।

लोक-जीवन तथा लोक-साहित्य के गवेषणापूर्ण अध्ययन की दृष्टि से भी चूर्णियों का अपना अप्रतिम महत्त्व है। आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त तत्सम्बद्ध साहित्य के इतर ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखे जाने का क्रम रहा। उदाहरणार्थ, कर्म-ग्रन्थ, श्रावक-प्रतिक्रमण जैसे ग्रन्थों पर भी चूर्णियां रची गयीं।

टीकाएं

अभिप्रेत

आगम ही जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन, आचार-विचार; संक्षेप में समग्र जैन जीवन के मूल आधार हैं; अतः उनके आशय को स्पष्ट, स्पष्टतर और सुबोध्य बनाने की ओर जैन आचार्यों तथा मनीषियों का प्रारम्भ से ही प्रयत्न रहा है। फलतः जहां एक ओर निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों का सर्जन हुआ, दूसरी ओर टीकाओं की रचना का क्रम भी गतिशील रहा। निर्युक्तियों व भाष्यों की रचना प्राकृत-गाथाओं में हुई तथा चूर्णियां प्राकृत-संस्कृत-गद्य में लिखी गयीं, वहां टीकाएं प्रायः संस्कृत में रचित हुईं। शब्द-सर्जन की उर्वरता, व्युत्पत्तिक विश्लेषण की विशदता तथा अभिव्यंजना की असाधारण क्षमता आदि संस्कृत की कुछ असामान्य विशेषताएं हैं, जिन्होंने जैन तथा बौद्ध लेखकों को विशेष रूप से आकृष्ट किया। फलतः उत्तरवर्ती काल में जैन तथा बौद्ध सिद्धान्त जब विद्वद्गम्य, प्रांजल तथा प्रौढ़ स्तर एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर अभिव्यक्त व प्रतिष्ठित किये जाने लगे, तब उनका भाषात्मक परिवेश अधिकांशतः संस्कृत-निबद्ध रहा। जैन वाङ्मय में आचार्य सिद्धसेन के सम्मति-तर्क-प्रकरण के अतिरिक्त प्रायः प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में रचे गये। यही सब हेतु थे कि जैन दार्शनिक-काल के पूर्व से ही विद्वान् आचार्यों ने आगमों की टीकाओं की भाषा के रूप में संस्कृत को स्वीकार किया। अर्हत्-वाणी की संवाहिका होने के कारण प्राकृत के प्रति जो श्रद्धा थी, उसका इतना प्रभाव तो टीका-साहित्य में अवश्य पाया जाता है कि टीकाओं में कहीं-कहीं कथाएं मूल प्राकृत में ही उद्धृत की गयी हैं। कुछ टीकाएं प्राकृत-निबद्ध भी हैं, पर, बहुत कम।

टीकाएं : पुरावर्ती परम्परा

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियां एवं टीकाएं व्याख्या-साहित्य
नहीं है, बल्कि [illegible] ऐसा कहा जा सकता है कि
रूप से [illegible]

के रचे जाने का क्रम चालू था। दशवैकालिक चूर्णि के लेखक स्थविर अगस्त्यसिंह, जिन समय विक्रम के तृतीय शतक के आस-पास था, अपनी रचना में कई स्थानों पर प्राचीन टीकाओं के सम्बन्ध में इंगित करते हैं।

हिमवत् थेरावली में उल्लेख

हिमवत् थेरावली में किये गये उल्लेख के अनुसार आर्य मधुमित्र के अन्तेवासी तत्त्वार्थ महाभाष्य के रचयिता आर्य गन्धहस्ती ने आर्य स्कन्दिल के अनुरोध पर द्वादशांगी पर विवरण लिखा, जो आज अप्राप्य है। आगम-महोदधि मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार आचारांग का विवरण सम्भवतः विक्रम के दो शतक बाद लिखा गया। विवरण बहुत संस्कृत-टीका का ही एक रूप है। इस प्रकार टीकाओं की रचना का क्रम एक प्रकार से बहुत पहले ही चालू हो चुका था।

प्रमुख टीकाकार

आचार्य हरिभद्र सूरि

जैन जगत् के महान् विद्वान्, अध्यात्म-योगी आचार्य हरिभद्र सूरि का आगम-टीकाकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय आठवीं ई० शती माना जाता है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोग-द्वार तथा प्रज्ञापना पर टीकाओं की रचना की। टीकाओं में उनकी विद्वत्ता तथा गहन अध्ययन का स्पष्ट दर्शन होता है। टीकाओं में कथा-भाग उन्होंने प्राकृत में ही यथावत् उपस्थित किया। इस परम्परा का कतिपय उत्तरवर्ती टीकाकारों ने भी अनुसरण किया, जिनमें वादिवैताल शान्ति सूरि, नेमिचन्द्र सूरि व आचार्य मलयगिरि आदि मुख्य हैं।

शीलांकाचार्य

सूरि आगम प्रमुख टीकाकार हुए। शान्ति सूरि ने उत्तराध्ययन पर पाइय या शिष्यहिता संज्ञक टीका की रचना की, जो उत्तराध्ययन-बृहद्-वृत्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है। नेमिचन्द्र सूरि ने इसी टीका को मुख्य आधार बना कर एक टीका की रचना की, जिसे उन्होंने सुखबोधा संज्ञा दी।

आचार्य शान्ति सूरि ने जहां प्राकृत-कथाओं को उद्धृत किया है, वहां 'ऐसा वृद्ध-सम्प्रदाय है', 'यों वृद्धवाद है', 'अन्य इस प्रकार कहते हैं' इत्यादि महत्त्वपूर्ण सूचनाएं की हैं, जो अनुसन्धित्सुओं के लिए बड़ी उपयोगी हैं। इससे अनुमेय है कि प्राचीन काल से इन कथाओं की परम्परा चली आ रही थी। कथा-साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से इन कथाओं का निःसन्देह बड़ा महत्त्व है। पाइय तथा सुखबोधा संज्ञक टीकाओं में कुछ कथाएं तो इतनी विस्तृत हो गयी हैं कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र पुस्तक हो सकती है। ब्रह्मदत्त की कथाएं इसी प्रकार की हैं।

आचार्य अभयदेव प्रभृति उत्तरवर्ती टीकाकार

बारहवीं-तेरहवीं ई० शती में अनेक टीकाकार हुए, जिन्होंने टीकाओं के रूप में महत्त्वपूर्ण व्याख्या-साहित्य का सर्जन किया। आचार्य अभयदेव सूरि ने स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्न व्याकरण, तथा विपाक श्रुत; इन नौ अंग-ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाओं की रचना की, जिनका जैन साहित्य में बड़ा सम्मान्य स्थान है। नौ अंगों पर टीकाएं रचने के कारण ये नवांगी टीकाकार के नाम से विश्रुत हैं। इनका समय बारहवीं ई० शताब्दी है।

बारहवीं-तेरहवीं शती के टीकाकारों में द्रोणाचार्य, मलधारि हेमचन्द्र, मलयगिरि एवं क्षेमकीर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सोलहवीं शती के अन्तिम भाग में हुए शान्ति-चन्द्र भी विश्रुत टीकाकार थे।

विशेषता : महत्त्व

टीकाओं ने आगम-गत निगूढ़ तत्त्वों की अभिव्यक्ति और विश्लेषण का तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही, एक बहुत बड़ी साहित्यिक निधि भी प्रस्तुत की, जिसका असाधारण महत्व है। विद्वान् टीकाकारों ने मानव-जीवन के विभिन्न अंगों और पहलुओं का जो विवेचन-विश्लेषण किया, वह मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि अनेक पहलुओं का मार्मिक संस्पर्श लिये हुए है।

यह विशाल वाङ्मय उत्तरवर्ती साहित्य के सर्जन में निःसन्देह बड़ा उपजीव्य एवं प्रेरक रहा। फलतः जैन-वाङ्मय का स्रोत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य लोक-भाषाओं का माध्यम लिये उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होता गया। इतना ही नहीं, जैनेतर साहित्य की भी अनेक विधाएं इससे प्रभावित तथा अनुप्राणित हुईं, जो स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

भगवान् महावीर के तीर्थ में बहुरतवाद, जीव-प्रदेशवाद, अव्यक्तवाद, सामुच्छेदवाद, द्वैक्रियवाद, त्रैराशिकवाद तथा अबद्धिकवाद; यों सात प्रकार का निह्नवमत प्रवृत्त हुआ। बहुरतवाद का जमालि से, जीवप्रदेशवाद का तिष्यगुप्त से, अव्यक्तवाद का आसाढ से, समुच्छेदवाद का अश्वमित्र से, द्वैक्रियवाद का गंग से, त्रैराशिकवाद का षडुलुक (रोहगुप्त) से तथा अबद्धिकवाद का गोष्ठामाहिल से उद्भव हुआ।

बहुरतवाद का उद्भव-स्थान श्रावस्ती, जीवप्रदेशवाद का ऋषभपुर, अव्यक्तवाद का श्वेतविका, समुच्छेदवाद का मिथिला, द्वैक्रियवाद का उल्लुकातीर, त्रैराशिकवाद का अन्तरञ्जिका तथा अबद्धिकवाद का दशपुर था। इन सातों उद्भव स्थानों के अतिरिक्त बोटिक (दिगम्बर)-निह्नव के उत्पत्ति-स्थान का भी वहां (मलयगिरि-वृत्ति में) जिक्र है।[1]

णाणं सत्त उप्पत्तिनगरे होत्था—तं जहा—सावत्थी, उसभपुरं, सेयाविया, मिहिला, उल्लुगातीरं, पुरिमंतरंजि, दसपुरं, णिण्हगउप्पत्तिनगराइं।

—स्थानांग सूत्र ७, पृ० ७०८-७०९

१. बहुरय-पएस-अव्वत्त-समुच्छ-दुग-तिग-अबद्धिआ चेव।
सत्ते ए णिण्हगा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स॥

—गाथा ७७८

१. बहुरताः, २. जीवप्रदेशाः, ३. अव्यक्ताः (अव्यक्तमताः), ४. सामुच्छेदाः, ५. द्वैक्रियाः, ६. त्रैराशिकाः, ७. अबद्धिकाः। साम्प्रतं येभ्य एते सप्त उत्पन्नास्तान् प्रतिपादयन्नाह—

बहुरय-जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेआऽऽसमित्ताओ॥ ७७९॥
गंगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती।
थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति॥ ७८०॥

बहुरता जमालिप्रभवाः, जमालेराचार्यात् प्रभवो येषां ते तथाविधाः, जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्नाः, अव्यक्ता आषाढात् सामुच्छेदा अश्वमित्रात्, गंगात् द्वैक्रियाः, षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्तिः।

साम्प्रतमेते निह्नवा येषु स्थानेषूत्पन्नास्तानिप्रतिपादयन्नाह—

सावत्थी उसभपुरं सेअविआ मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीर पुरं च नयराइं॥ ७८१॥

कौन-कौन से निह्नववाद कब-कब प्रसृत हुए, इस सम्बन्ध में यहाँ कहा गया है : "भगवान् महावीर को कैवल्यज्ञान उत्पन्न होने के चौदह वर्ष बाद बहुरतवाद, सोलह वर्ष बाद जीवप्रदेशवाद, एक सौ चौदह वर्ष बाद अव्यक्तवाद, दो सौ बीस वर्ष बाद सामुच्छेदवाद, दो सौ अट्ठाईस वर्ष बाद द्वैक्रियवाद, पाँच सौ चवालीस वर्ष बाद त्रैराशिकवाद, पाँच सौ चौरासी वर्ष बाद अबद्धिकवाद तथा छः सौ नौ वर्ष बाद बोटिकवाद उत्पन्न हुआ।"[1]

बोटिक निह्नव

श्वेताम्बरों के अनुसार सात के अतिरिक्त जो एक और निह्नव हुआ, वह बोटिक था। पहले इंगित किया ही गया है, उक्त सात निह्नवों तथा बोटिक निह्नव में मुख्य भेद यह था

जमालिप्रभवानां निह्नवानामुत्पत्ति स्थानं श्रावस्ती, तिष्यगुप्तप्रभवानामृषभपुरम्, अव्यक्तमतानां श्वेतविका, सामुच्छेदानां मिथिला, द्वैक्रियाणामुल्लुकातीरम्, त्रैराशिकानां पुरमन्तरंजिका गोष्ठामाहिलस्य दशपुरम् सर्वापलापिनां बोटिकानां रथवीरपुरम्, वक्ष्यमाणानामपि बोटिकानामुत्पत्तिस्थानाभिधानं लाघवार्थम्। एतानि यथाक्रमं निह्नवानामुत्पत्तिस्थानानि-नगराणि।

—आवश्यक-निर्युक्ति, मलयगिरि-वृत्ति

१. चउदस सोलस वासा, चउदस वीसुत्तरा य दुण्णि सया।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया य चोआला ॥ ७८२ ॥
पंचसया चुलसीआ, छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति।
नाणुप्पत्तीइ दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ ७८३ ॥

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनो ज्ञानोत्पत्तेरारभ्य यावच्चतुर्दशवर्षाणि अतिक्रान्तानि तावदत्रान्तरे बहुरताः समुत्पेदिरे, एवं प्रतिपदमक्षर गमनिका कार्या। भावार्थस्त्वयम्—ज्ञानोत्पत्तेरेवारभ्य षोडशवर्षात्यये जीवप्रदेशाः समुत्पन्नाः, भगवति निर्वृते चतुर्दशोत्तरवर्षशतातिक्रमे अव्यक्तमता,: विंशत्युत्तर द्विवर्षशतातिक्रमे सामुच्छेदाः, अष्टाविंशत्युत्तरद्विवर्षशतात्यये द्वैक्रियाः, चतुश्चत्वारिंशदधिक पंचवर्षशतात्यये त्रैराशिकाः चतुरशीत्यधिकपंचवर्षशतात्यये अबद्धिकाः, षट् चैव शतानि नवोत्तराणि बोटिकानाम्। 'नाणुप्पत्तीई' त्यादि, आद्यौ द्वौ निह्नवौ जमालितिष्य गुप्ताभिधौ यथाक्रमं ज्ञानोत्पत्तेरारभ्य चतुर्दशषोडशवर्षातिक्रमे जातौ शेषास्त्वव्यक्तादयो निर्वृते भगवति यथोक्तकालातिक्रमे इति।

—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति

कि वे सात निह्नव तो किसी एक-एक विषय में विसंवाद या विपरीत मान्यता अपनाये हुए थे तथा बोटिक निह्नव का लगभग सभी विषयों में विसंवाद था। इसीलिए उसे उक्त सात निह्नवों से पृथक्-वत् गिना जाता रहा है। श्वेताम्बरों के अनुसार इसी बोटिक निह्नव से दिगम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ।

जिस प्रकार श्वेताम्बर दिगम्बरों की उत्पत्ति को विकृति-मूलक मानते हैं, दिगम्बर भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति को लगभग उसी कोटि में लेते हैं, जिसका यथाप्रसंग आगे उल्लेख किया जायेगा। लिखने का आशय यह है कि दोनों परम्पराएं अपने को मूल मानती हैं और एक दूसरी को उससे सिद्धान्त-च्युत होकर निकली हुई बताती हैं।

प्रस्तुत विषय पर समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करने से पूर्व दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत अभिमत यहां उपस्थित किये जाते हैं।

श्वेताम्बर-मान्यता

आवश्यक-निर्युक्ति में

आवश्यक-निर्युक्ति में उद्धृत मूल पाठ की १४६ वीं गाथा के विश्लेषण के सन्दर्भ में यह प्रसंग आया है, जहां वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए लिखा है : "रथवीरपुर नामक नगर में दीपक नामक उद्यान था। आर्य कृष्ण नामक आचार्य वहां पधारे। वहां आचार्य द्वारा की जा रही जिनकल्प सम्बन्धी प्ररूपणा के अवसर पर शिवभूति ने उपधि[1] के सम्बन्ध में उनसे पृच्छा की। आचार्य ने समाधान किया। पर, मिथ्यात्व के उदय से शिवभूति नहीं माना। जैन सिद्धान्त से उसे अश्रद्धा हो गई। उसने वस्त्र छोड़ दिये और उपाश्रय से बाहर चला गया। उत्तरा नामक उसकी बहिन (साध्वी) थी। वह अपने भाई (मुनि) को वन्दन करने उद्यान में आई। अपने भाई की वैसी (नग्न) अवस्था देख, उसके अनुराग (मोह) से उसने भी वस्त्र त्याग दिये। फिर वे दोनों भिक्षा के लिए नगर में गये। एक वेश्या ने उत्तरा को वैसी स्थिति में देखा। लोग जब स्त्रियों का ऐसा बीभत्स रूप देखेंगे, वे हमारे प्रति विरक्त होंगे, यह सोचकर उस वेश्या ने उसे वस्त्र पहना दिये। उत्तरा को यह अच्छा नहीं लगा। उसने पुनः वस्त्र हटा दिये। तब उस वेश्या ने उसके वक्ष तथा कटि प्रदेश में एक-एक वस्त्र लगा दिया। जब वह उन्हें भी हटाने लगी,

---

१. श्रमणोचित उपकरण

तो उनके भाई ने उसे देख कर कहा—रहने दो, इसे देवता-प्रदत्त जानो ......।[1]

वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने इसे और स्पष्ट करते हुए मूल भाष्य की १४७ वीं तथा १४८ वीं गाथा की व्याख्या में कहा है कि इस प्रकार शिवभूति और उत्तरा ने मिथ्या-दर्शनमूलक बोटिक मत का रथवीरपुर में अपनी तर्क-बुद्धि द्वारा प्रवर्तन किया। सार रूप में कहा जाये तो बोटिक-लिंग—दिगम्बर-मत की उत्पत्ति का मूल शिवभूति है। शिवभूति के शिष्य कौण्डिन्य तथा कोट्टवीर से यह परम्परा आगे चली।[2]

---

१. रहवीरपुरं नगरं दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सुवहिम्मी पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १४६ ॥ (मूल भाष्य)

रथवीरपुरे नगरे दीपकं नाम उद्यानम्, तत्र आर्यकृष्णो नामाचार्यः समवसृतः, तत्र शिवभूतेर्जिनकल्पिकप्ररूपणावसरे उपधौ पृच्छा, स्थविराणां च आर्यकृष्णानां कथनेति गाथासंक्षेपार्थः, भावार्थः प्रागेवोक्तः। स च शिवभूतिस्तथा स्थविरैः प्रज्ञाप्यमानोऽपि मिथ्यात्वोदयात् कुलिङ्गभावो जिनमतमश्रद्दधानश्चीवराणि परित्यज्योपाश्रयान्निर्गतः। तस्योत्तरा भगिनी, सा उद्याने स्थितं वन्दितुमागता, तं च तथाभूतं दृष्ट्वा तयाऽपि चीवराणि तदनुरागेण परित्यक्तानि। ततो द्वावपि तौ भिक्षार्थं प्रविष्टौ। गणिकया च तदवस्था दृष्टा। साऽचिन्तयत्—नूनमेवं स्त्रीणां बीभत्सं रूपं दृष्ट्वा लोकोऽस्माकं विरक्तो भविष्यतीति। ततस्तया सा परिपूर्णं परिधापिता। सा नैच्छदिति मुक्तवती। ततो बलादपि तस्या उरसि कटिप्रदेशे चैकं वस्त्रं सन्दधे। तदपि त्यजन्ती भ्रात्रा कथमपि दृष्ट्वा भणिता—तिष्ठत्वेतत्तव देवतया दत्तम्, ... ।

—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि-वृत्ति

२. ऊहाए पन्नत्तं, बोडिअ सिवभूइउत्तराहि इमं।
मिच्छादंसणमिणमो, रहवीरपुरे समुप्पन्नं ॥ १४७ ॥ (मूल भाष्य)

ऊहया—स्वतर्कबुद्धया प्रज्ञप्तम्—प्रणीतं बोटिकं शिवभूत्युत्तराभ्याम्। 'इणमोति' एतच्च मिथ्यादर्शनं क्षेत्रतो रथवीरपुरे समुत्पन्नम्।

बोडअसिवभूईओ बोडिअलिंगस्स होइ उप्पत्ती।
कोडिन्नकुट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना ॥ १४८ ॥ (मूल भाष्य)

बोटिकशिवभूतेः सकाशात् बोटिकलिङ्गस्य—बोटिकदृष्टेर्भवत्युत्पत्तिः। वर्तमान-निर्देशप्रयोजनं प्राग्वत्, पाठान्तरं वा बोडिअलिंगस्स आसि उप्पत्ती। तत् कौण्डिन्यश्च कोट्टवीरश्च कौण्डिन्यकोट्टवीरं समाहारो द्वन्द्वस्ततः परम्परा-स्पर्शम्-आचार्यशिष्य-सम्बन्धलक्षणमधिकृत्योत्पन्ना—सञ्जाता बोटिकदृष्टिरिति वाक्यशेषः।

— आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति

समय साधुओं का उपाश्रय खुला देखा। शिवभूति साधुओं के पास गया। उन्हें वन्दन कर संयम-व्रत ग्रहण कराने की अभ्यर्थना की। साधुओं ने उसका सारा वृत्तान्त सुना। यह जानकर कि यह राजा का प्रिय (कृपा-पात्र) है, माता आदि पारिवारिक जनों ने इसे उन्मुक्त नहीं किया है, उन्होंने उसे दीक्षा नहीं दी। इस पर सहस्रमल्ल (शिवभूति) ने वहां रखी राख ले स्वयं अपना केश-लुंचन कर डाला। यह देख मुनियों ने उसे साधु-वेश दे दिया।

अगले दिन वे सब मुनि अन्यत्र विहार कर गये। कुछ समय बीतने पर, ऐसा संयोग बना, वे पुनः उसी नगर में आये। उन सब के आगमन की बात सुनकर राजा ने मुनि शिवभूति को एक रत्न-कम्बल प्रदान किया; क्योंकि राजा का उससे अपूर्व स्नेह था।

आचार्य ने यह देखा। वे शिवभूति से बोले—मुने ! इस प्रकार का बहुमूल्य वस्त्र साधुओं के लिए कल्प्य नहीं है। मार्ग आदि में इससे अनेक अनर्थ सम्भावित हैं; अतः इसे रखना उचित नहीं है। शिवभूति उस कम्बल पर आसक्त था; अतः गुरु के वचनोपरान्त भी उसने उसे छिपाकर रखा। इतना ही नहीं, प्रतिदिन भिक्षा से आकर उसे सम्हालता। उसे कभी व्यवहार में नहीं लाता। गुरु ने जब उसका वैसा व्यवहार देखा, तो सोचा कि इसकी रत्न-कम्बल पर प्रगाढ़ मूर्च्छा हो गई है, उसे मिटाया जाना चाहिए।

आचार्य ने एक दिन, जब शिवभूति बाहर गया हुआ था, उस कम्बल के छोटे-छोटे टुकड़े करके प्रत्येक साधु को पैर पोंछने के लिए एक-एक दे दिये। शिवभूति को यह सब ज्ञात हुआ तो उसके चित्त में बड़ा कषाय उत्पन्न हुआ, पर वह कुछ बोला नहीं।

एक बार ऐसा प्रसंग बना, आचार्य आर्यकृष्ण उपधि-विभाग के अन्तर्गत जिनकल्प का वर्णन कर रहे थे। शिवभूति ने उस सन्दर्भ में पृच्छा की। आचार्य ने समाधान दिया। शिवभूति कषाय के आवेश में था, समाहित कैसे होता ?

प्रश्न : उत्तर : असमाधान

विशेषावश्यक भाष्यकार ने इस प्रसंग में जो लिखा है, वह इस प्रकार है: "शिवभूति ने आचार्य से पूछा—इस समय जिन-कल्प क्यों नहीं संभाव्य है ?"[1]

---

1. उवहिविभागं सोउं सिवभूई अज्जकण्हगुरुमूले।
   जिणकप्पियाइयाणं भणइ गुरुं कीस नेयाणि॥
   —विशेषावश्यक भाष्य, २५५३

गुरु ने कहा—"वह (आर्य जम्बू के निर्वाण के साथ ही) आज व्युच्छिन्न है।"

शिवभूति बोला—"जिन-कल्प का उच्छेद असामर्थ्यवान्-दुर्बलचेता व्यक्ति के लिए हो सकता है। सामर्थ्यशील पुरुष के लिए वह कैसे व्युच्छिन्न होगा ?"[1]

बिना पूछे एक रत्न-कम्बल को फाड़ दिये जाने के कारण वह कषाय-कलुषित तो था ही, कहने लगा—"शास्त्र में (वस्त्रादि) परिग्रह के अनेक दोष कहे गये हैं, इसीलिए वहां अपरिग्रह का विधान है। वस्तुतः जिनकल्प ही आचरणीय है।"

मुनि लज्जा, जुगुप्सा, शीतोष्णादि; इन तीनों स्थानों—अपेक्षाओं से वस्त्ररूप परिग्रह के विजेता होते हैं। फलतः वे वस्त्र धारण नहीं करते। वास्तव में अचेलकता—निर्वस्त्रता ही श्रेयस्कर है।"[2]

गुरु ने कहा—"यदि (वस्त्रादि) परिग्रह कषाय का हेतु है तो यह देह भी तो कषाय आदि के उत्पन्न होने का कारण हो सकता है। जो कोई भी वस्तु कषाय का कारण बन सके, उसे तब क्यों धारण किये रहना चाहिए ? इतना ही नहीं, वैसा मान लेने पर धर्म भी नहीं अपनाया जा सकता।"[3]

---

१. जिणकप्पोऽणुचरिज्जइ वोच्छिन्नो त्ति भणिए गुरू भणइ ।
तरमाणस्सोच्छिज्जइ वोच्छिज्जइ किं समत्थस्स ॥ २५५४ ॥
—विशेषावश्यक भाष्य

२. मुच्छमणुपुच्छिऊण कंबलरयणम्मि मुच्छिओ बेइ ।
सो बेइ परिग्गहओ कसायमुच्छाभयाईया ॥ २५५५ ॥
होज्ज अओ सुबहुया सुए य भणियमपरिग्गहत्तं पि ।
अचेलया य जिणिंदा णग्गपरीहिओ जं च जिणकप्पो ॥ २५५६ ॥
जं च जिणाणेमपरीसहो मुणी जं च तीहिं ठाणेहिं ।
वत्थं धरेज्ज सेयंजओ लज्जाऽचेलया सेया ॥ २५५७ ॥
—वही

३. गुरुणाऽभिहिओ जइ जं कसायहेऊ परिग्गहो सो ते ।
तो सो देहो च्चिय ते कसाय-उप्पत्ति-हेऊ ति ॥ २५५८ ॥
अत्थि व कि किंचि जए जम्म न जाय व कसायदोसो जं ।
वत्थुं न होज्ज एवं धम्मोऽवि तुमे न देयव्वो ॥ २५५९ ॥
—वही

जो जिन-शासन के प्रतिकूल हैं, उनके लिए धर्म, धर्म-परायण साधु व
(द्वादशांगात्मक)—जैन सिद्धान्त— ये सब कषाय के निमित्त हो सकते हैं। गोशा
आदि के लिए भगवान् महावीर भी कषाय के निमित्त हो गये थे; अतः शरीर
मोक्ष-साधन की मति से प्रयुक्त होने के कारण परिग्रह नहीं कहे जा सकते।
वस्त्र आदि भी मोक्ष-साधन की बुद्धि से विधिवत् परिगृहीत हों तो परिग्रह
जा सकते हैं ?"[1]

"बहुत प्रकार से शिवभूति को समझाया गया, पर मिथ्यात्व के उदय से उस
आकुल—अस्थिर था। जिन-मत में उसकी श्रद्धा नहीं टिकी। उसने वस्त्रों का
कर दिया। उसके अनुराग से उसकी बहिन (उत्तरा नामक साध्वी) ने भी वस्त्रों
कर दिया। एक गणिका ने जब उसे उस रूप में देखा तो उसे वस्त्र पहना दिये,
पुनः उन्हें उतार दिया। फिर उस वेश्या ने उसके वक्ष-स्थल पर एक वस्त्र बांध
उसे भी वह छोड़ने लगी तो उसके भाई शिवभूति ने कहा—खैर, इसे रहने दो। त
उसे धारण किये रही।

शिवभूति ने कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्यों को प्रव्रजित किया।
उनकी उत्तरवर्ती परम्परा चली।"[2]

---

1. जेण कसाय निमित्तं जिणोऽवि गोसालसंगमाईणं।
   धम्मो धम्मपराऽवि य पडिणीयाणं जिणमयं च ॥ २५६० ॥
   जह ते न मोक्खसाहणमईए गंथो कसायहेऊ वि।
   वत्थाइ मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं गंथो ॥ २५६१ ॥
   —विशेषावश्यक भाष्य

2. इय पन्नविओऽवि बहुं सो मिच्छत्तोदयाकुलियभावो।
   जिणमयमसद्दहंतो छड्डियवत्थो समुज्झाओ ॥ २६०६ ॥
   तस्स भगिणी समुज्झियवत्था तह चेव तयणुरागेणं।
   संपत्थिया नियत्था सो गणियाए पुणो मुयइ ॥ २६०७ ॥
   तीए पुणोऽवि बद्धोरमेणवत्था पुणो निद्दइ सो।
   अच्छउ ते तेणं चिय समणुन्नाया धरेमी य ॥ २६०८ ॥
   कोडिन्नकोट्टवीरे पव्वावेसी य सीसे सो तीसे।
   तत्तो परंपराफासओऽणेगा समुप्पन्ना ॥ २६०९ ॥
   —वही

उपसंहार

श्वेताम्बर-परम्परा में दिगम्बरों के सम्बन्ध में प्रायः सर्वत्र इसी कथानक का उल्लेख दिया जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्परा में श्वेताम्बरों के उद्भव के सम्बन्ध में कई कथानक प्रचलित हैं, जिनका आगे उल्लेख किया जायेगा।

आवश्यक निर्युक्ति की वृत्ति में तथा विशेषावश्यक भाष्य व वृत्ति में वर्णित कथानकों में संक्षेप, विस्तार के अतिरिक्त कोई खास अन्तर नहीं है। केवल इतना-सा है—मलयगिरि ने वेश्या द्वारा दूसरी बार साध्वी उत्तरा के वक्ष तथा कटि, दोनों अंगों पर वस्त्र लगाये जाने का उल्लेख किया है। यहां कटि-प्रदेश अध्याहृत माना जा सकता है।

उत्तरा के प्रसंग का निष्कर्ष यह रहा कि बोटिक-मत या तथाकथित दिगम्बर-मत में उस समय साध्वी या आर्यिका का स्वीकार तो हुआ, पर केवल एक या दो वस्त्रों के साथ। यदि वही परम्परा आगे बढ़ी तो फिर आर्यिका के लिए अधिक वस्त्र कैसे स्वीकार हुए। वस्तुतः ऐसे कथानक ऐतिहासिकता की कोटि में नहीं आते। वे क्यों गढ़ लिए जाते हैं, इस सम्बन्ध में आगे यथाप्रसंग समीक्षा की जायेगी।

दिगम्बर-मान्यता

दर्शनसार में उल्लेख

आचार्य देवसेन रचित दर्शनसार[1] दिगम्बर-सम्प्रदाय की एक समादृत पुस्तक है। उसमें श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव का जो वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है:

"सम्राट् विक्रमादित्य के देहावसान के एक सौ छत्तीस वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र के वलभी[2] नामक नगर में श्वेतपट—श्वेताम्बर संघ प्रादुर्भूत हुआ। श्री भद्रबाहु गणी के शिष्य शान्त्याचार्य थे। उनका जिनचन्द्र नामक शिष्य था। वह चारित्र्य में शिथिल तथा दूषित

---

१. रचना-काल वि० सं० ९९०

२. गुजरात के पूर्व भाग में स्थित भावा नगर के समीप यह प्राचीन नगर बसा हुआ था। प्राचीन काल में यह नगर अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल था। ईसा की सातवीं सदी में भारत में आये चीनी पर्यटक ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख किया है। तब यह नगर सुन्दर रूप में विद्यमान था। कहा जाता है कि आज सौराष्ट्र का 'वला' ग्राम जहाँ है, वहीं यह नगर अवस्थित था। श्वेताम्बर जैन आगमों का संकलन एवं सम्पादन वहीं हुआ।

था। उसने इस—श्वेताम्बर मत का प्रवर्तन किया। उसने स्थापना की कि स्त्री को उसी भव (स्त्री-पर्याय) में मुक्ति हो सकती है। केवली कवलाहार करते हैं और वे रुग्ण भी होते हैं। सवस्त्र मुनि-श्रमण भी सिद्धत्व प्राप्त कर सकता है। उसने यह भी स्थापना की कि भगवान् महावीर का गर्भापहार हुआ था (पहले वे ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आये थे और बाद में देव द्वारा क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में प्रतिष्ठित किये गये)। जिन-सम्मत वेष के अतिरिक्त इतर वेष से भी मुक्ति हो सकती है। (मुनि द्वारा) प्रासुक—अचित्त भोजन सब कहीं से लिया जा सकता है। उसने और भी इस प्रकार के सिद्धान्तों को लेकर आगम-विरुद्ध मिथ्या-शास्त्रों की रचना की थी। वह मर कर प्रथम नरक में गया।"[1]

भाव-संग्रह के अनुसार श्वेताम्बर-उद्भव

दर्शनसार के रचयिता देवसेन के अतिरिक्त एक देवसेन और हैं, जिनका भाव-संग्रह नामक ग्रन्थ दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। उसमें श्वेताम्बर-संघ की उत्पत्ति का जो वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है :

"सम्राट् विक्रमादित्य के देहावसान के एक सौ छत्तीस वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र प्रदेश के वलभी नामक नगर में श्वेतपट—श्वेताम्बर-संघ का प्रादुर्भाव हुआ।[2] उज्जयिनी नगर में

---

1. छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
   सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥
   सिरिभद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ ।
   तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥ १२ ॥
   तेण कियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो ।
   केवलणाणीण पुणो अद्दक्खाणं तहा रोओ ॥ १३ ॥
   अंबरसहिओ वि जई सिज्झइ वीरस्स गब्भचारत्तं ।

आचार्य भद्रबाहु अवस्थित थे । वे विख्यात निमित्तवेत्ता थे । नैमित्तिक ज्ञान द्वारा उन्हें कुछ आभास हुआ; अतः उन्होंने अपने श्रमण-संघ से कहा—"जब तक बारह वर्ष पूरे होंगे, यहां दुर्भिक्ष रहेगा । इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे अपने-अपने संघ सहित देशान्तर चले जायें ।"[1]

"आचार्य भद्रबाहु का यह वचन सुनकर सब संघनायक अपने-अपने संघों के साथ उन प्रदेशों की ओर विहार कर गये, जहां सुभिक्ष था ।"[2]

"शान्ति नामक एक संघनायक अपने बहुत से शिष्यों के साथ सुरम्य सौराष्ट्र में स्थित वलभी नगर में आये ।"[3]

"वहां चले तो गये, पर वहां भी दारुण तथा अत्यन्त घोर दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । यहां तक कि क्षुधा से पीड़ित दीन-जन भोजन किये हुए लोगों के उदर चीर-चीर कर वहां स्थित अन्न निकाल-निकाल कर खाने लगे ।"[4]

"ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर आचार्य शान्ति के सभी साधुओं ने बाध्य होकर कम्बल, दण्ड, तुम्बिका या लौकी का पात्र तथा देहावरण हेतु श्वेत वस्त्र धारण कर लिये ।"[5]

---

१. आसी उज्जेणीणयरे आयरियो भद्दबाहु णामेण ।
णाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघो णिओ तेण ॥ ५३ ॥
होहइ इह दुब्भिक्खं बारहवरसाणि जाव पुण्णाणि ।
देसंतराए गच्छह णिय णिय संघेण संजुत्ता ॥ ५४ ॥

२. सोऊण इयं वयणं णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे ।
णिय-णिय-संघ-पउत्ता विहरिआ जत्थ सुभिक्खं ॥ ५५ ॥

३. एक्क पुण संति णामो संपत्तो वलही णाम णयरीए ।
बहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ॥ ५६ ॥

४. तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं ।
जत्थ वियारिय उयरं खद्दो रंकेहिं कुरुत्ति ॥ ५७ ॥

५. तं लहिऊण णिमित्तं गहियं सव्वेहिं कम्बलि दंडं ।
दुद्धियपत्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ ५८ ॥
—भावसंग्रह

"उन्होंने श्रमणोचित आचार त्याग दिया । वे दीनता से भिक्षा लेने लगे । इच्छानुसार घरों में जा-जाकर, वहां बैठ-बैठकर भोजन करने लगे ।"[1] यों वर्तन करते हुए उनका कितनाक समय व्यतीत हो गया । दुर्भिक्ष मिटा, सुभिक्ष हुआ । तब आचार्य शान्ति ने संघ को आह्वान किया । सब को कहा—" यह कुत्सित आचार त्याग दें । इसकी निन्दा व गर्हा करते हुए पश्चात्ताप—प्रायश्चित्त करें और पुन: मुनियों का शुद्ध चारित्र्य स्वीकार करें ।"[2]

"यह सुन आचार्य शान्ति का प्रथम-प्रधान शिष्य बोला कि आज इस प्रकार का दुर्धर—अत्यन्त कठिन आचरण कौन निभा सकता है ? इसके अन्तर्गत उपवास, भोजन की अप्राप्ति, अन्यान्य दु:सह अन्तराय—विघ्न, एक स्थान, निर्वस्त्रत्व, शान्त भाव, ब्रह्मचर्य, भूमि-शयन, दो-दो महिनों के अन्तर से असह्य केश-लुंचन तथा बाईस परिषह—इन सबको स्वीकार करना बहुत कठिन है । हम लोगों ने इस समय जैसा जो आचरण कर रखा है, वह इस लोक में सुखप्रद है । इस दु:षम काल में उसे नहीं सकता ।"[3]

---

१. चत्तं रिसि-आयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए ।
उपविसिय जाइऊणं भुत्तं वसहीसु इच्छाए ॥ ५९ ॥

२. एवं वट्टंताणं कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
संजायं सुभिक्खं जंपइ ता संति आयरिओ ॥ ६० ॥
आवाहिऊण संघं भणियं छंडेह कुत्थियायरणं ।
णिंदिय गरहिय गिण्हह पुणरवि चरियं मुणिवाणं ॥ ६१ ॥

३. तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउं एयं अइ दुद्धरायरणं ॥ ६२ ॥
उववासो य अलाभो अण्णे दुस्सहाइं अंतरायाइं ।
एक्कट्ठाणमचेलं अज्झायणं बंभचेरं च ॥ ६३ ॥
भूमीसयणं लोच्चो वे वे मासेहिं असहणिज्जो हु ।
बावीस परिसहाइं असहणिज्जाइं णिच्चं पि ॥ ६४ ॥
जं पुण संपइ गहियं एयं अम्हेहिं किंपि आयरणं ।
इह लोयसुक्खयरणं ण छंडिमो हु दुस्समे काले ॥ ६५ ॥
—भावसंग्रह

इस पर आचार्य शान्ति ने कहा कि इस प्रकार के चरित्र-भ्रष्ट जनों का जीवन इस लोक में किस काम का। वह तो जिन-मार्ग का दूषण एवं कलंक है। जिनेन्द्र देव ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन—आर्हत्-दर्शन को परम श्रेष्ठ कहा है। उसे छोड़कर दूसरे मत का प्रवर्तन मिथ्यात्व है।"[1]

"यह सब सुनकर आचार्य का प्रधान शिष्य रोष में आ गया। उसने एक लम्बा डण्डा लिया और स्थविर शान्ति आचार्य के मस्तक पर प्रहार किया। इसी चोट से स्थविर का देहान्त हो गया और वे एक व्यन्तर देव के रूप में उत्पन्न हुए।"[2]

"आचार्य शान्ति का वह (हत्यारा) प्रधान शिष्य संघ का अधिपति हो गया। वह श्वेताम्बर बन गया, जो प्रकट रूप में पाखण्ड है। वह इस प्रकार के धर्म का आख्यान करने लगा कि सग्रन्थ—वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह धारण करने वाला भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है।"[3]

"उसने एवं उसके अनुयायियों ने ऐसे-ऐसे शास्त्रों की रचना की, जो उन द्वारा अपनाये गये पाखण्डों के अनुरूप थे। वे लोगों में उनकी व्याख्या करते हुए उस प्रकार के आचरण का प्रसार करने लगे। वे निर्ग्रन्थ-मार्ग पर दोष लगाते, उसकी निन्दा करते, मूढ़ जनों से माया, छलना या प्रवंचना द्वारा बहुत-सा द्रव्य प्राप्त करते।"[4]

---

1. ता संतिणा पउत्तं चरियपब्भट्ठेहिं जीवियं लोए।
   एयं ण हु सुन्दरयं दूसणयं जइणमग्गस्स ॥ ६६ ॥
   णिग्गंथं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं।
   तं छंडिऊण अण्णं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ ६७ ॥
2. ता रूसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीहदंडेण।
   थविरो घाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ॥ ६८ ॥
3. इयरो संघाहिवइ पयडिय पासंड सेवडो जाओ।
   अक्खइ लोए धम्मं सग्गंथे अत्थि णिव्वाणं ॥ ६९ ॥
4. सत्थाइं विरइयाइं णियणियपासंडगहियसरिसाइं।
   वक्खाणिऊण लोए पवत्तिओ तारिसायरणो ॥ ७० ॥
   णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता।
   जीवे मुइए लोए कयमाए गेण्हियं बहुदव्वं ॥ ७१ ॥

—भावसंग्रह

"इस प्रकार राजा विक्रमादित्य के मरने के १३६ वर्ष पश्चात् श्वेताम्बर-सम्प्रदाय प्रकट हुआ। जिनचन्द्र इस सम्प्रदाय का प्रमुख था। उस मूढ़ ने जैनागम के प्रतिकूल—केवली कवलाहार करते हैं, स्त्रियों का उसी (स्त्री-) पर्याय में मोक्ष हो सकता है, वस्त्र आदि परिग्रह-आसक्त साधुओं का भी मोक्ष होता है— जैसे सिद्धान्तों की रचना की।"[1]

ऊहापोह

रत्ननन्दी के वर्णन से ऐसा प्रकट होता है कि दुर्भिक्ष के पश्चात् वस्त्र आदि धारण किये रहने पर जो साधु अडिग रहे, उन्होंने वस्त्र तो धारण किया, पर बहुत कम। नग्नता बदस्तूर कायम रही। वे केवल उत्तरीय या ऊपर ओढ़ी जाने वाली चद्दर लपेटे रहते थे। तभी तो वलभी-नरेश लोकपाल असमंजस में पड़ गया। लगता है, उसके मन में ऐसा ऊहापोह उत्पन्न हुआ होगा—यह कैसा मत है, ये साधु नग्न भी हैं और नाममात्र का वस्त्र भी धारण किये हुए हैं, अर्थात् न तो इनमें सर्वथा नग्नता है और न यथावत् सवस्त्रता ही।

रानी द्वारा भेजे गये श्वेत वस्त्र धारण कर लेने के बाद राजा साधुओं के प्रति श्रद्धालु हो जाता है, उनका स्वागत-सत्कार करता है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि राजा को वह (अर्द्धफालकतामय) वेष किसी भी परम्परा का प्रतीक या परिचायक नहीं लगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी अनुमान करना असंगत नहीं दीखता कि राजा के मन में नग्न और सवस्त्र दोनों प्रकार के साधुओं की कल्पना रही हो और वे अर्द्धफालक

ततस्ते भूभृता भक्त्या पूजिता मानिता भृशम्।
किमकार्यन्न कुर्वन्ति रामारागेण रञ्जिताः॥
धृतानि श्वेतवासांसि तद्दिनात्समजायत।
श्वेताम्बरमतं ख्यातं ……ततोऽर्द्धफालकात्॥

—भद्रबाहुचरित्र, परिच्छेद ४, श्लोक ५५-५७

1. मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिए शते।
गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधम्॥
भुनक्ति केवलज्ञानी स्त्रीणां मोक्षोऽपि तद्भवे।
साधूनां च ससङ्गानां गर्भापहरणादिकम्॥
इत्यागमसन्दोह-विपरीतं जिनोदितम्।
व्यरीरचत्स मूढात्मा जिनचन्द्रो गणाग्रणी॥

—वही, श्लोक ५२-५४

साधु उसे दोनों ही परम्पराओं से मिलते न लगे हों। राजा का यदि केवल मानव के प्रति आदर एवं श्रद्धा-भाव होता तो श्वेत वस्त्र धारण कर लेने पर राजा ने जो स्वागत-सत्कार किया, वैसा नहीं बनता।

यद्यपि रत्ननन्दी ने एक वाक्य से अपना बचाव तो किया है कि नारी-प्रेम में आसक्त व्यक्ति कौन-सा अनुचित कार्य नहीं कर सकता।[1] अर्थात् राजा ने उन श्वेत वस्त्र धारण किये हुए साधुओं का मान-सम्मान किया, उसका कारण अपनी महारानी को प्रसन्न करना था। पर, यह बात समीचीन एवं संगत प्रतीत नहीं; क्योंकि यदि केवल महारानी को ही प्रसन्न करना होता तो पहली बार राजा उन साधुओं के अर्द्धफालक-वेष को देखकर घबराता नहीं।

रत्ननन्दी का भद्रबाहु-चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से वैसे कोई बहुत प्रामाणिक कृति नहीं मानी जाती; अतः उसमें व्यक्त किये गये तथ्यों पर और अधिक छानबीन की उतनी अपेक्षा नहीं है। रत्ननन्दी ने भी अपने कथानक का सम्बन्ध श्रुत-केवली भद्रबाहु के साथ जोड़ा है, पर विक्रमाब्द १३६ की श्रुत-केवली भद्रबाहु के काल के साथ कैसे संगति होगी?

एकाधिक भद्रबाहु

दिगम्बर-परम्परा में श्वेताम्बर-मत के उद्भव के सम्बन्ध में जो मुख्य-मुख्य कथानक प्रचलित हैं, उनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उनसे स्पष्ट है कि विभिन्न दिगम्बर लेखक उक्त प्रसंग में आचार्य भद्रबाहु का नाम लेते हैं, पर उनके समय को लेकर उनमें समन्वय नहीं है और न समय के सन्दर्भ में ऐतिहासिक प्रमाणों की ओर उनका झुकाव ही दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रसंगों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के स्थान पर कथानक का काल्पनिक रूप अधिक सामने आता है। भद्रबाहु के समय को लेकर असंगति में पड़ जाने का एक कारण और है। वह है, भद्रबाहु नाम के कई आचार्यों का होना। फिर ऐतिहासिक दृष्टिकोण लिए बिना चलने वाले लेखकों के लिए इससे भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह उपयोगी होगा कि भद्रबाहु नाम के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-परम्परा में कितने-कितने और कौन-कौन आचार्य हुए, उनकी चर्चा के रूप में की जाये।

---

१. किमकार्यं कुर्वन्ति रागान्धीकृतचेतसः।

यहाँ एक बात विशेष रूप से विचारणीय है — यहाँ पीछे उल्लिखित कथानकों में आचार्य भद्रबाहु के साथ उज्जयिनी के राजा चन्द्रगुप्ति का जो नाम आया है, वह सम्भवतः गुप्तिगुप्ति हो। पूर्वोक्त शिलालेख में गुप्तिगुप्ति के लिए जो अशेषनरनाथवन्दितपादः (जिनके चरण समस्त राजन्य वर्ग से पूजित हैं) विशेषण दिया है वह उनके राजत्व से श्रमण-जीवन में आने की ओर इंगित करता है। दोनों नामों के उत्तरांश में आये हुए गुप्ति शब्द से भी यह अनुमेय है कि जिसे चन्द्रगुप्ति के नाम से अभिहित किया गया है, वह शायद गुप्तिगुप्ति ही हो। अतः पूर्वोक्त कथानकों का सम्बन्ध चन्द्रगुप्ति के बजाय गुप्तिगुप्ति से माना जाये—यह भी गवेषणीय है। ऐसा लगता है कि पूरा कथानक प्रारम्भिक काल-क्रम से परिवर्द्धित एवं अतिरंजित होते हुए प्राप्त रूपों तक पहुँचे हों।

तृतीय भद्रबाहु

वीर-निर्वाण संवत् ६८३ में एकादशांग के विच्छेद होने के अनन्तर एक भद्रबाहु आचार्य और होते हैं, जो निमित्त-शास्त्र के महान् वेत्ता थे। पिछले कथानकों में भद्रबाहु को यत्र-तत्र जो महान् नैमित्तिक के रूप में उपस्थित किया गया है, वह भ्रमवश हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि विक्रमाब्द १३६ में घटित घटना से जिन भद्रबाहु का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वे नैमित्तिक भद्रबाहु कैसे हो सकते हैं ? तिलोयपण्णत्ती के अनुसार वे तो आचारांगधर थे और लोहाचार्य से पूर्ववर्ती थे। पर नाम साम्य से भ्रम पर भ्रम बढ़ते चले गये। संकेत किया ही गया है, इन कथानकों की रचना में ऐतिहासिकता की ओर कम-से-कम ध्यान रहा है।

श्वेताम्बर-परम्परा में भद्रबाहु : प्रथम

श्वेताम्बर-परम्परा में भी प्रथम भद्रबाहु वही हैं, जो श्रुत-केवली थे। उन्होंने छेद-सूत्रों की रचना की। उनके समय के सम्बन्ध में पीछे कहा गया है, वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् वे दिवंगत हुए। आचार्य हेमचन्द्र ने भी परिशिष्ट पर्व में उनके दिवंगमन का यही समय सूचित किया है।[1]

---

१. वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, श्लोक ११२

द्वितीय भद्रबाहु

द्वितीय भद्रबाहु वे थे, जिन्होंने दश निर्युक्तियों की रचना की, जो उपसर्ग-हर-स्तोत्र के रचयिता थे। वे भद्रबाहु संहिता के भी कर्ता माने जाते हैं। वे निमित्त-शास्त्र के महान् वेत्ता थे। अतएव वे नैमित्तिक भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह भी जन-श्रुति है कि महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका के अन्त में जो सूचित किया है, वह शक[1] संवत् ४२७ है। तदनुसार वराहमिहिर का समय विक्रम संवत् ५६२ (वीर-निर्वाण संवत् १०३२) होता है। ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भाई होने की जन-श्रुति को यदि मान्य किया जाये तो इन नैमित्तिक भद्रबाहु का समय भी इसी के आस-पास होना चाहिए।

श्वेताम्बर-परम्परा में दिगम्बर-मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित कथानक का भद्रबाहु के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। प्रसंगोपात्त होने से यहाँ भद्रबाहु के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-मान्यता की दृष्टि से संकेत मात्र किया गया है।

आचार्य भद्रबाहु : कुछ ऐतिहासिक तथ्य

इतिहास का एक उलझा हुआ पहलू है—श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त मौर्य की समसामयिकता। दोनों को कुछ विद्वान् समसामयिक कहते हैं। इस संदर्भ में श्वेताम्बर जैन वाङ्मय में कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हैं, जिनकी यहाँ चर्चा उपयोगी होगी।

तित्थोगालीपइन्ना

तित्थोगालीपइन्ना में लिखा है कि तीर्थंकर महावीर जिस रात को मुक्तिगामी हुए, उसी रात को अवन्ती में पालक का राज्याभिषेक हुआ। पालक का राज्य ६० वर्ष तक रहा। उसके पश्चात् नन्दों का राज्य १५५ वर्ष तक चला। नन्द-राज्य के अनन्तर मौर्यों का राज्य आया, जिसकी अवस्थिति १०८ वर्ष तक रही। मौर्यों के बाद पुष्यमित्र का राज्य हुआ, जो ३० वर्ष तक चला।[2] इस काल-गणना के अनुसार मौर्यों के राज्य का प्रारम्भ वीर-निर्वाण संवत् २१५ में होता है।

---

1. सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
   अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये॥
   (सप्त = ७, अश्वि = २, वेद = ४ अर्थात् ४२७)

2. जं रयणिं कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
   तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया॥

वीर-निर्वाण के १५६ होते हैं। आचार्य भद्रबाहु का आचार्य-काल १४ वर्ष का है। १७० वीर-निर्वाणाब्द में वे स्वर्गवासी हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका चार वर्ष का प्रारम्भ का आचार्य-काल आठवें नन्द के राज्य-काल में रहा तथा आगे का दश वर्ष का आचार्य-काल नौवें नन्द के राज्य-काल में रहा। तत्पश्चात् उनके पद पर आचार्य स्थूलभद्र आते हैं, जो नवम नन्द के राज्य-काल के अन्त तक अर्थात् ४५ वर्ष तक धर्म-शासन के अधिपति रहते हैं।

वीर-निर्वाण सं० २१५ में नन्दों का राज्य समाप्त होता है, आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास होता है, चन्द्रगुप्त (चाणक्य की सहायता से) मौर्य-साम्राज्य की स्थापना करता है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त का समय आचार्य भद्रबाहु के ही नहीं, आचार्य स्थूलभद्र के भी पश्चात् सिद्ध होता है।

भ्रान्ति का एक कारण

चन्द्रगुप्त को श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु का समसामयिक मानने की जो भ्रान्ति पड़ी उसका एक कारण आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का वह उल्लेख है, जिसमें भगवान् महावीर के मुक्ति-लाभ के १५५ पश्चात् चन्द्रगुप्त के राजा होने का संकेत है।[1]

उपरोक्त काल-क्रम के अनुसार वीर निर्वाण २१५ वर्ष तक तो नन्दों का राज्य चलता है। उस बीच वीर निर्वाण १५५ में चन्द्रगुप्त कैसे हुआ ? पूर्व निर्दिष्ट काल-गणना श्वेताम्बर परम्परा में बहुत प्रामाणिक मानी जाती है।

विद्वानों द्वारा ऊहापोह

अन्वेष्टा विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र के उक्त उल्लेख पर बहुत ऊहापोह तथा विमर्श-अन्वेषण किया है, पर, कोई ऐसा ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं मिल सका, जिससे आचार्य हेमचन्द्र का कथन सिद्ध होता हो। हिमवत् थेरावली में तो कुछ इस प्रकार का उल्लेख अवश्य है, जिसमें आचार्य हेमचन्द्र के कथन को कुछ सहारा मिलता है। वहां कहा है कि वीर निर्वाण १५४ में चन्द्रगुप्त मगध का राजा बना। वीर निर्वाण १७० में

---

१. एवं च श्रीमहावीर-मुक्तेर्वर्षशते गते।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥

दुःषमाकालश्रीश्रमणसंघस्तव की काल-गणना

आचार्य श्री धर्मघोष सूरि के दुःषमाकालश्रीश्रमणसंघस्तव के अनुसार भी काल-गणना इसी भांति है। उन्होंने भी पालक के ६० वर्ष, नन्दों के १५५ वर्ष, मौर्यों के १०८ वर्ष तथा पुष्यमित्र के राज्य के ३० वर्ष लिये हैं।[1]

राज्य-काल की यह गणना केन्द्रीय सत्ता की दृष्टि से की गई प्रतीत होती है। यद्यपि पालक अवन्ती का राजा था, पर आचार्य धर्मघोष के अनुसार उदायी के निष्पुत्र मरने पर कोणिक—अजातशत्रु के पाटलिपुत्र[2]-राज्य पर भी उसने अधिकार कर लिया। इस प्रकार वह उत्तर भारत की केन्द्रीय सत्ता पर आ गया था।

आचार्य श्री धर्मघोष सूरि ने किन-किन राज्यों के जैन धर्म के कौन-कौन संघाधिपति थे, यह भी संकेत किया है। उनके संघ-स्तव के उल्लेख के अनुसार पालक तथा नव नन्दों के राज्य के समय आचार्य जम्बू (चालीस+चार वर्ष), आचार्य प्रभव (ग्यारह वर्ष) आचार्य शय्यंभव (तेवीस वर्ष), आचार्य यशोभद्र (पचास वर्ष), आचार्य सम्भूति विजय (आठ वर्ष), आचार्य भद्रबाहु (चवदह वर्ष) तथा आचार्य स्थूलभद्र (पैंतालीस वर्ष) संघ के अधिनायक थे। मौर्य-राज्य में इस स्तव के अनुसार आर्य महागिरि (तीस वर्ष), आर्य सुहस्ती (छियालीस वर्ष) तथा आचार्य गुणसुन्दर (बत्तीस वर्ष) जैन संघाधिपति रहे। आचार्य धर्मघोष सूरि ने राज्य के शासन-काल तथा संघनायकों के धर्म-शासन-काल को भी पूरा मिलाया है। इस काल-गणना के अनुसार भद्रबाहु नन्दों के राज्य-काल में होते हैं। आचार्य धर्मघोष सूरि ने नौ नन्दों में से प्रत्येक का अलग-अलग शासन-काल दिया है। तदनुसार सातवें नन्द तक

पालगरज्जो सट्ठी, पणपणसयं वियाणि णंदाणं।
मुरियाणमट्ठसयं, तीसा पुण पूसमित्ताणं॥

1. सिरिजिणनिव्वाणगमणरयणीए उज्जेणीए चंडपज्जोअमरणे पालओ राया अहिसित्तो। तेण य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्जं पाडलिपुरं पि अहिट्ठियं। तस्स य वरिस ६० रज्जे—गोयम १२, सुहम्म ८, जंबू ४४, जुगप्पहाणा। पुणो पाडलिपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६, ६, ४, ५५ नव नंदा एवं वरिस १५५ रज्जे—जंबू सेस वरिसाणि ४, प्रभव ११, सय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूतिविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५ एवं वीर निर्वाण २१५। मोरियरज्जं १०८ तत्र महागिरिः ३०, सुहस्ती ४६, गुणसुन्दर ३२,——— पुष्य मित्र ३०———।
2. यहाँ मगध-राज्य से तात्पर्य है, जिसकी राजधानी उदायी के समय में पाटलिपुत्र थी।

दोनों आम्नायों के दृष्टिकोण में एक सबसे बड़ा भेद है। दिगम्बरों का एकान्त-रूप से यह कथन है कि मुनि-धर्म में निर्वस्त्रता सर्वथा अनिवार्य है। कोई एक धागा मात्र भी रख ले तो वह किसी भी स्थिति में मुनिपद का अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि परिमाण में कितना ही क्यों न हो, वह परिग्रह है। इसके विपरीत श्वेताम्बर जिन-कल्प एवं स्थविर-कल्प के रूप में निर्वस्त्रता तथा सवस्त्रता— दोनों को स्वीकार करते हैं। अनासक्त भाव से विहित वस्त्र धारण किये रहने से मुनित्व व्याहत नहीं होता। उनके साहित्य में भी इस आशय के उल्लेख हैं, जिनके अनुसार विहित वस्त्र परिग्रह में नहीं आते। श्वेताम्बरों का यह पहलू काफी महत्वपूर्ण है। इस पर सूक्ष्म दृष्टि से परिशीलन तथा विमर्श अपेक्षित है। श्वेताम्बर-आगम-वाङ्मय में इस सम्बन्ध में जो उल्लेख है, अंशतः उसे प्रस्तुत करते हुए यहां उस पर ऊहापोह किया जा रहा है।

आचारांग : अचेलकता : निर्वस्त्रता

आचारांग में बड़े उद्बोधक शब्दों में कहा गया है : "जो भिक्षु अचेलक होता है, उसे यह नहीं सोचना होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, मैं वस्त्र की, धागे की, सूई की याचना करूं, वस्त्र यों सांधूं-जोड़ूं, सिलाई करूं, उसे बड़ा करूं, छोटा करूं, उसे पहनूं, ओढ़ूं। निर्वस्त्र भिक्षु के तृण, घास आदि तीक्ष्ण वस्तुओं के स्पर्श (आघात), शीत-स्पर्श, उष्ण-स्पर्श, डांस, मच्छर आदि कीटाणुओं द्वारा नग्न देह पर दंश—इत्यादि और भी विविध प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परिषह होते हैं, जिन्हें वह लाघवपूर्वक—परवाह न करते हुए उपेक्षा भाव से सहन करता है तथा अपने तपस्वी जीवन को बढ़ाये चलता है।"[1]

सूत्रकार के कथन के यहां दो दृष्टिकोण प्रतीत होते हैं। पहला यह है कि जब कोई वस्तु रखी जाती है, तो उसके सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। यदि वह वस्तु ही नहीं है तो तत्सम्बद्ध संकल्प-विकल्प उठने का

---

1. जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ-परिजिण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि। अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति, अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवति।

—आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० ६, उद्दे० ३, २-३

प्रश्न ही नहीं रहता। फलतः जो मुनि नग्न रहते हैं, उनके मन में वस्त्र के सम्बन्ध में कोई कल्पना ही नहीं उठेगी अर्थात् अचेलकता—निर्वस्त्रता की मुख्य उपयोगिता यह है कि उससे वस्त्र-सापेक्ष आवश्यकताओं तथा तदुद्भूत चेष्टाओं का अवकाश ही नहीं रहता, जबकि सवस्त्र मुनि को, वस्त्रों में आसक्त न होते हुए भी आवश्यकता की दृष्टि से, जैसा कि सूत्रकार ने इंगित किया है, वैसा सोचना तो होता ही है।

सूत्रकार का दूसरा आशय यह है कि परिषह-विजय और दैहिक-कष्ट सहन की दृष्टि से निर्वस्त्र मुनि से अधिक आशा की जाती है। उसकी देह पर सहसा आ पड़ने वाले कष्टों को समभाव से, सहजता से सहते जाने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना होता है, जो बड़े साहस एवं आत्म-दृढ़ता से साध्य है। यों परिषह तथा प्रतिकूल स्थिति में अपने मन को जरा भी भारी बनाये बिना हल्केपन से जो उन्हें सहता जाता है, उसका तपस्वी जीवन उद्दीप्त होता जाता है।

लज्जा-निवृत्ति हेतु कटिबन्ध का स्वीकार

अचेलक भिक्षु के जीवन के एक प्रसंग को उद्दिष्ट कर आचारांग में वर्णन है : "जो भिक्षु निर्वस्त्र रहता है, वह सोचे, मैं तृण-स्पर्श, शीत-स्पर्श, उष्ण-स्पर्श, डांस, मच्छर आदि के दंश तथा और भी वैसे अनेक प्रकार के जो परिषह या कष्ट हैं, उन्हें तो खुशी-खुशी सह सकता हूं, पर लज्जा का परिहार नहीं सह सकता—लज्जा को मैं नहीं जीत पाया तो उस भिक्षु को कटिबन्ध—चोलपट्टा धारण कर लेना चाहिए। फिर यदि वह लज्जा-विजय में समक्ष हो जाये तो उसे चाहिये कि वह उस वस्त्र को छोड़ दे तथा तृण-स्पर्श, शीत-स्पर्श, उष्ण-स्पर्श, डांस व मच्छर आदि दंश जैसे परिषहों को सहज भाव से सहता जाये। अपने तप को प्रशस्त करता जाये।"[1]

---

१. जे भिक्खू अचेले परिवुसिते, तस्स णं एवं भवति—चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगतरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छादणं च णो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पति कडिबंधणं धारित्तए अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सियफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति, अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवति।

—आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ८, उद्देशक ७.१

अभिप्रेत

भयावह तथा दारुण कष्ट सह जाने वाला भी लज्जा को जीत पाने में अपने को असमर्थ पाता है, कितना आश्चर्य है। वस्तुतः लज्जा के साथ चाहे सुप्त ही सही, अहं का भाव जुड़ता है। मैं कैसा दीखूंगा, मेरा व्यक्तित्व फबेगा या नहीं, मैं कहीं हीन तथा कुत्सित तो नहीं लगूंगा, कुछ ऐसे मनोभाव होते हैं, जो दारुण व भीषण दैहिक कष्टों को हंसते-हंसते झेल लेने वाले को भी विचलित कर देते हैं। भिक्षु इस प्रकार के विचलन से ऊंचा उठ जाये, सूत्रकार ने इसे वांछित माना है और पुनः अचेलक होने की बात कही है। साथ-साथ फिर यह स्मरण कराया है कि उसे तृण, शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि से उत्पन्न कष्टों को आत्म-बल के साथ सहते जाना है।

दैहिक कष्ट तथा प्रातिकूल्य से आत्मा का—स्व का पार्थक्य मानते जाने की मनोभूमि साधक की बनती जाये, सूत्रकार का ऐसा अभिप्रेत है।

एक शाटक : वस्त्र का प्रसंग

आचारांग में उल्लेख है : "जो भिक्षु एक पात्र के साथ एक ही वस्त्र धारण किये रहने की प्रतिज्ञा लिए हुए है, उसे यह चिन्ता नहीं होती कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूं। यदि अपेक्षित हो—वह एक वस्त्र भी उसके पास न रहे तो वह एषणीय—लेने योग्य निर्दोष वस्त्र की याचना करे। जिस प्रकार का निर्दोष वस्त्र मिल जाये, धारण करे। जब ग्रीष्म-काल प्रतिपन्न हो जाये—आ जाये तो उस परिजीर्ण वस्त्र को परठ दे अथवा एक शाटक—वस्त्र युक्त रहे अथवा अचेलक—अवस्त्र रहे। इस प्रकार अपने तपस्वी जीवन को वर्द्धित करता जाये।"[1]

दो वस्त्रों का प्रसंग

श्रमण के दो वस्त्रों के सम्बन्ध में आचारांग में इस प्रकार वर्णन किया गया है : "जो भिक्षु एक पात्र तथा दो वस्त्र धारण किये रहने का नियम लिए हुए है, उसको यह चिन्ता नहीं होती कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूं। यदि उसके नियमानुरूप वस्त्र

---

१. जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायबितिएण, तस्स णो एवं भवइ—बितियं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा, अहापरिग्गहियं वा वत्थं धारेज्जा, जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुण्णं वत्थं परिठवेज्जा, अदुवा एग साडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

—आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन ८, उद्देशक ४.१

कल्प पर जोर न दिया जाये, दोनों को प्रयुक्त किया जाये। जिस साधक को जैसा उ
हो स्वीकार करे। तत्पश्चात् महावीर के श्रमण-संघ में दोनों कल्पों का विकास हुआ हो

आर्य जम्बू तक दोनों परम्पराएं

यह सही है कि निर्ग्रन्थ-श्रमण-जीवन अपेक्षाकृत अधिक कष्टपूर्ण है। दैहिक प्र
प्रतिकूलताओं और उत्तापों को समभाव से सहना निःसन्देह बड़े साहस का काम है। प
एक बात उसके साथ है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। समाज की कुछ लौकि
मर्यादाएं एवं व्यवस्थाएं होती हैं। उनके अनुसार एक नग्न श्रमण को धर्म-प्रसार के पुनी
उद्देश्य से भी समाज के सब अंगों के साथ घुलने-मिलने, सम्पर्क साधने आदि में कु
व्यावहारिक कठिनाइयां होती हैं। अपने अनुयायियों की दृष्टि से तो यह बात नहीं है;
क्योंकि वे उनके प्रति असीम श्रद्धा लिए रहते हैं। अतः उनकी दृष्टि में उनका नाग्न्य नहीं,
त्याग रहता है। पर, जहां अनुयायी नहीं हैं, वहां कठिनाइयां अवश्य उत्पन्न होती हैं।
इसे संक्षेप में यों समझा जा सकता है कि जिन कल्पारूढ़ या निर्ग्रन्थ-श्रमण का कार्य-क्षेत्र
अधिकांशतः आत्म-साधना होता है। जिनकल्पी साधक का जीवन-चर्या से सम्बद्ध विधि-
विधानों से भी यह तथ्य सिद्ध होता है। जन-समुदाय में धर्मोद्योत तथा अध्यात्म-जागरण
का कार्य करने को सवस्त्र श्रमण को अधिक सुविधा एवं अनुकूलता रहती है। क्योंकि
समाज के साथ घुलने-मिलने में उन्हें कठिनाई नहीं होती; अतः स्यात् व्यवहार ऐसा हो,
अनवरत अध्यात्म-साधना, ध्यान आदि में रुचि रखने वाले श्रमण यदि चाहते तो जिन-
कल्प अपनाते। समाज से उनका विशेष सम्पर्क नहीं रहता। वे ज्ञानोपासना एवं तपश्चर्या
आदि में लीन रहते। जन-समुदाय में धर्म-जागृति उत्पन्न करने का दायित्व उन श्रमणों
पर आता, जो सवस्त्र थे। वे श्रमण-जीवन के मौलिक एवं अनिवार्य नियमों का पालन
करते, ज्ञानाराधना तथा ध्यान आदि में भी यथासम्भव समय देते और साथ-ही-साथ वे
लोगों में धर्म के आदर्शों का प्रसार करते, धर्म-प्रभावना करते। यह भी बड़ा आवश्यक
कार्य था।

यों एक संघ के दो वर्गों पर दो प्रकार के दायित्व थे, जिनका वे निष्ठा एवं
तन्मयतापूर्वक भलीभांति निर्वाह करते जाते। एक वर्ग जहां आत्म-परिष्कार की दृष्टि से
असाधारण था, दूसरा आत्म-साधना के साथ-साथ जन-जन में धर्म की ज्योति जगाने की
दृष्टि से अपनी विशेषता लिए हुए था। अतएव कौन अधिक कष्ट सहता है, कौन सुविधाएं
भोगता है—इत्यादि बातें गौण थीं। समाज में दोनों का प्रतिष्ठापन्न स्थान था। भगवान्

महावीर से आर्य जम्बू तक यह क्रम सुन्दर रूप में चलता रहा, पर, जम्बू के पश्चात् उसमें अन्तर आया।

अन्तर : एक सम्भावना

जब तक जीवन में पूर्णता नहीं आती, तब तक विकास या ऊर्ध्वगमन की सम्भावनाओं के साथ-साथ ह्रास या अधोगमन की कुछ दुराशंकाएं भी बनी रहती हैं; क्योंकि जब तक साधक एषणा-विजय नहीं कर पाता, तब तक जब कभी उसमें अहं का उभार होने की स्थिति रहती ही है।

ऐसा संभाव्य प्रतीत होता है, आर्य जम्बू के अनन्तर संघ के श्रमणों में कुछ खींचातान हुई हो। उस वर्ग के, जो निर्वस्त्र था, जिसका जीवन उग्र तपोमूलक था, जो दुःसह परिषह सहता था, मन में कुछ ऐसा आया हो कि समाज में निर्वस्त्र और श्रमणों का दर्जा समान क्यों? इस (निर्वस्त्र-श्रमण-वर्ग) का स्थान अपेक्षाकृत उच्च क्यों नहीं माना जाये, जो असाधारण दैहिक कष्ट तथा लज्जा जैसे परिषह का विजेता है।

क्रिया अपने अनुरूप प्रतिक्रिया लाती है। विरोध तथा अवहेलना मूलक क्रिया की प्रतिक्रिया तीव्र विरोध एवं तिरस्क्रिया में होती है। जिनकल्पियों की इस विचारणा की प्रतिक्रिया स्थविरकल्पियों पर वैसी ही हुई होगी। उन्होंने सोचा होगा, ये नग्न मुनि यदि अपने उग्र तपोमय जीवन का दम्भ करते हैं, तो जन-जन में धर्म-प्रभावना एवं धर्मोद्योत की दृष्टि से उनके द्वारा किया जाने वाला कार्य, जो आर्हत्-संस्कृति के विकास तथा प्रसार का महान् कार्य है, क्या कम महत्व रखता है? ये क्या जानें, उसके लिए हमें कितना श्रम व प्रयास करना होता है। यदि ये नग्न मुनि दारुण प्रतिकूल परिषह सहते हैं, हम प्रतिकूल और अनुकूल—दोनों प्रकार के परिषह सहन करते हैं। समृद्ध तथा भोगमय जीवन के समीप रहते हुए भी उसमें सर्वथा निर्लिप्त ही नहीं, प्रत्युत् उसमें विरक्ति एवं त्याग का संचार करना किसी से कम महत्व का कार्य नहीं है।

सम्भवतः दोनों ओर इस कोटि का ऊहापोह चला होगा, जिसका परिणाम आगे चलकर उस गहरी खाई के रूप में आया, जिसने जैन संघ को निर्वस्त्र और सवस्त्र—दिगम्बर एवं श्वेताम्बर के रूप में बांट दिया।

आर्य जम्बू के बाद भेद का उभार

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—दोनों की आर्य जम्बू तक की परम्परा लगभग सदृश है।

मगण्य जैसा भेद है। दिगम्बर भगवान् महावीर के पश्चात् गौतम, लोहार्य एवं
ये तीन पीढ़ियां मानते हैं। जब कि श्वेताम्बर भगवान् महावीर के पश्चात् सु
जम्बू—ये दो पीढ़ियां स्वीकार करते हैं।

गौतम के पट्टाधिकार के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में पहले विस्तार से प्रकार
चुका है। अतः उसे यहां पुनरावृत्त करने की आवश्यकता नहीं है। पट्टाधिकारी के
नाम का स्वीकार न करते हुए भी श्वेताम्बर आम्नाय में भी गौतम की वही गरिम
महिमा है, जो दिगम्बर आम्नाय में है।

दिगम्बर-परम्परा में गौतम के बाद उनके उत्तराधिकारी का नाम कहीं सुधर्मा
है और कहीं लोहार्य। उदाहरणार्थ—तिलोयपण्णत्ति, नन्दी-आम्नाय की प्राकृत पट्टा
हरिवंश पुराण, श्रुतावतार, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के शिलालेख संख्या १०
'सुधर्मा' नाम का प्रयोग हुआ है।

धवलाकार ने षट्खंडागम के प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा-खण्ड में तथा आगे वे
खण्ड में गौतम के बाद उनके उत्तराधिकारी के रूप में लोहार्य का उल्लेख किया है। उ
तरह श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के शिलालेख संख्या १ तथा २ में गौतम के पश्चा
लोहार्य लिखा है। धवलाकार द्वारा रचित जयधवला में लोहार्य न आकर सुधर्म
आया है।

वस्तुतः ये सुधर्मा और लोहार्य—दो व्यक्ति नहीं हैं। लोहार्य सुधर्मा का ही नामान्त
है। श्वेताम्बर-परम्परा में केवल एक नाम सुधर्मा की ही प्रसिद्धि है, जब कि दिगम्बर-
परम्परा में दोनों नामों की। जंबूद्वीप-पण्णत्ति (दिगम्बर-परम्परा की) में इस सम्बन्ध
में जो उल्लेख[1] है उससे एक ही व्यक्ति के लिए इन दो नामों की प्रसिद्धि सिद्ध होती है।

सुधर्मा या लोहार्य के पट्टाधिकारी जम्बू होते हैं, जो दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत
हैं। यों आर्य जम्बू तक दोनों परम्पराएं यथावत् रूप में चलती हैं। निर्वस्त्रता तथा
सवस्त्रता मूलक आधार-क्रम को लेकर समन्वय का भाव बना रहता है, पर आगे वह
स्थिति बदल जाती है, जिसका प्रमाण जम्बू के बाद दोनों परम्पराओं की पट्टावलियों की
भिन्नता है।

---

१. तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर-सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥ १० ॥

जम्बू से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु तक दिगम्बर-पट्टावली के अनुसार नन्दी (विष्णु) नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु —ये पांच श्रुत-केवली होते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में जम्बू के पश्चात् भद्रबाहु तक प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, विजय तथा भद्रबाहु—ये पांच श्रुत-केवली होते हैं।

दोनों परम्पराओं में भद्रबाहु के अतिरिक्त चारों आचार्यों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह अनुमान लगाना असंभाव्य कोटि में नहीं जाता कि किन्हीं मुद्दों को लेकर जैन संघ में जम्बू के बाद भेद पड़ गया था। जिनमें सम्भवतः मुख्य मुद्दा निर्वस्त्रता एवं सवस्त्रता का रहा होगा। भद्रबाहु के बाद की पट्टावली तो भिन्न है ही।

द्विविध प्रक्रिया

जब किसी परम्परा, पद्धति या रीति-नीति के निर्वाह की चिन्ता होती है, तब मानव का दृष्टिकोण *सम्प्रयोन्मुख* रहता है। वह सब कुछ वैसा करता है, जिससे स्थिति सधे, टूटे नहीं। जब किसी परम्परा में भेद पड़ जाता है, वह एकाधिक भागों में बट जाती है, तो प्रत्येक बंटे हुए भाग का दृष्टिकोण प्रायः बदल जाता है। वह उस प्राक्तन परम्परा में निहित सारी महिमा को स्वयं अपने में समेट लेना चाहता है, यद्यपि वैसा करने में वह पूरा सफल तो नहीं होता। इस मनोवृत्ति के प्रतिफल कई रूपों में प्रस्फुटित होते हैं। प्रत्येक विभक्त अंश अपने को परम्परा का मूल बताता है, दूसरे को उससे विद्रत होकर निकला हुआ। श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों द्वारा एक-दूसरे के उद्भव के सन्दर्भ में गढ़े गये कथानकों से यही सब प्रकट होता है।

प्रत्येक सम्प्रदाय का वैचारिक आधार उसके शास्त्र हैं। उन्हीं के बल पर वह सम्प्रदाय पनपता है, विकसता है। अतएव वह अपने शास्त्रों को परिरक्षित बनाये रखने की चिन्ता को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। बौद्धों तथा जैनों की आगम-संगीतियां इनके उदाहरण हैं।

जिस सम्प्रदाय का जिन शास्त्रों से मण्डन नहीं होता, प्रत्युत् खण्डन होता है, यह स्वाभाविक है, वह अन्ततः उन शास्त्रों का बहिष्कार कर देता है। उन्हें कल्पित, प्रक्षिप्त या कृत्रिम करार दे देता है। ताकि न रहे बांस और न बजे बांसुरी—उन शास्त्रों के आधार पर शास्त्रार्थ करने का अवकाश ही मिट जाये। दिगम्बर परम्परा द्वारा श्वेताम्बर-परम्परा-सम्मत ग्यारह अंगों के सर्वथा विच्छिन्न हो जाने की उद्घोषणा करते हुए उन अंगों के सम्प्रति प्राप्त अंश को कृत्रिम और अप्रामाणिक बताने के पीछे कहीं ऐसी मनःस्थिति ने तो कार्य नहीं किया ? यह सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक परिशीलनीय है।

श्वेताम्बर-आगमों में जिन-कल्प तथा स्थविर-कल्प के रूप में नग्न और सवस्त्र-मुनि-आचार-विधियों का निरूपण है। फलतः इससे श्वेताम्बर-श्रमण-आचार के साथ दिगम्बर-श्रमण-आचार को भी पुष्टि मिलती है। दिगम्बर जिन शास्त्रों को प्रामाणिक कहें, उन्हीं शास्त्रों से दिगम्बर-आचार का समर्थन हो, यह स्वाभाविक श्वेताम्बरों को कब स्वीकार होता ? यह असम्भाव्य नहीं जान पड़ता कि वहीं प्रक्रिया के फलस्वरूप तो श्वेताम्बरों ने आर्य जम्बू के पश्चात् जिन-कल्प का वि घोषित न कर दिया हो, जिससे उनका शास्त्रीय समर्थन अप्रासंगिक एवं अनुपादेय जाये। अन्वेषक एवं समीक्षक विद्वान् जानते हैं कि धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास में ऐसी घट अघटनीय नहीं होतीं।

आचार्य महागिरि : एक प्रसंग

आर्य जम्बू के साथ जिन-कल्प-विच्छेद की मान्यता के उपरान्त भी श्वेताम्बर-परम्परा में जिन-कल्पी-साधक का एक और प्रसंग आता है। वे थे—आचार्य महागिरि। आचार्य स्थूलभद्र के वे उत्तराधिकारी थे। जैसा कि यथाप्रसंग सूचित किया गया है, वीर-निर्वाण सं० २१५ में स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ। तब महागिरि धर्म-शासन के अधिनायक बने। ऐसा माना जाता है कि कुछ समय के पश्चात् उन्होंने धर्म-संघ का नेतृत्व व व्यवस्था-भार अपने सतीर्थ्य सुहस्ती को सौंप दिया और स्वयं जिन-कल्प साधना में जुट गये। जिन-कल्प के विच्छेद के बाद भी उन्होंने ऐसा किया, क्या इससे स्वीकृत परम्परा व्याहृत नहीं होती ? यह एक प्रश्न है।

आचार्य हेमचन्द्र ने महागिरि के जिन-कल्प स्वीकारने का उल्लेख किया है तथा साथ-ही-साथ विच्छिन्न परम्परा की रक्षा का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है। "आचार्य महागिरि ने अपना गच्छ सुहस्ती को सौंप दिया। अपने मन में जिन-कल्प-साधना का अवधारण कर एकाकी विहार स्वीकार किया। जिन-कल्प का विच्छेद था, इसलिए वे गच्छ की नेश्राय में रहते हुए जिन-कल्पोचित वृत्ति से विहार करते थे।"[1]

1. महागिरिर्निजं गच्छमप्यदात्सुहस्तिने।
विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम्॥
व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि हि।
जिनकल्पार्हया वृत्त्या विजहार महागिरिः॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११.३-४

महागिरि को गच्छ के नेश्राय में रखकर हेमचन्द्र ने उनकी जिन-कल्प-साधना का समर्थन किया है। फिर भी यह समीचीनतया समाधायक प्रतीत नहीं होता। जब जिन-कल्प विच्छिन्न ही था, तब महागिरि उसे स्वीकार क्यों करते? स्थविर-कल्प में रहते हुए भी यदि वे चाहते तो परमोत्कृष्ट साधना में अपने को लगा सकते थे। वहां भी इसके लिए अवकाश था।

महागिरि के प्रसंग से ऐसा अनुमान होता है कि श्वेताम्बरों में भी जिन-कल्प (जहां अनिवार्यतः निर्वस्त्र रहना होता था) की ओर झुकाव तब तक पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाया था।

सारांश

जैसा कि यथाप्रसंग चर्चित हुआ है, महागिरि का आचार्य-काल तीस वर्ष का था। उनके आचार्य-काल का अवसान वीर-निर्वाण संवत् २४५ में होता है। वही उनके देहावसान का काल माना जाता है। इससे ऐसा अनुमेय है कि महागिरि ने कुछ वर्ष संघ के आचार्य के रूप में अपना दायित्व निभाया हो। यह नहीं कहा जा सकता, वह कितने वर्ष का काल था। उस बीच उनके मन में जिन-कल्प की कठोर साधना का भाव उदित हुआ हो और अपने सतीर्थ्य सुहस्ती को संघ का उत्तरदायित्व सौंप वे उसमें जुट गये हों। संघ का नेतृत्व तो सुहस्ती करते रहे हों, पर महागिरि के जीवन-काल में आचार्य के रूप में महागिरि का ही नाम रहा हो; क्योंकि सुहस्ती का आचार्य-काल वीर-निर्वाण संवत् २४५ के पश्चात् प्रारम्भ होता है।

उपसंहार

जैन श्रमण संघ में आर्य जम्बू के अनन्तर जो मनोभेद प्रारम्भ हुआ, जिसके विभिन्न पहलू पिछले पृष्ठों में चर्चित हुए हैं, उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। यों चलते-चलते वीर-निर्वाण संवत् ६०० के लगभग आ पहुंचने पर वह भेद और दृढ़ तथा स्थिर बन जाता है, जिसकी परिणति दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—दो भिन्न सम्प्रदायों के रूप में होती है। श्वेताम्बर-आगम दिगम्बरों द्वारा सर्वथा अस्वीकृत कर दिये जाते हैं।

समन्वय का एक अभिनव प्रयत्न

दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के रूप में जैन संघ में भेद पड़ गया। वह भी इतना गहरा, जिसे पाट सकना तब भी दुःशक्य था, आगे भी दुःशक्य रहा, और है। जैन

परम्परा के उदात्त, व्यापक तथा प्रशस्त रूप की दृष्टि से यह जो हुआ, अच्छा नहीं हु पर, कौन क्या करता ? उस समय कुछ ऐसे श्रमण रहे हों, जिनका मन इससे व्यथित हुआ हो। उन्हें लगा हो, जैन परम्परा की दो धाराएं जिस आधार पर पृथक् हैं, कभी मिल न पायेंगी। उनके अनुसार वे दो अतिरेक थे, जिन्हें इन पृथग्भूत धाराओं पकड़ लिया था। उनमें एक था— ग्यारह अंगों के रूप में प्राप्त भगवान् महावीर की परम्प के महत्वपूर्ण वाङ्मय का सर्वथा अस्वीकार तथा दूसरा था—तपश्चर्या और वैराग्य उदग्र के प्रतीक जिन-कल्प के विच्छेद की घोषणा।

यों चिन्तन करने वाले श्रमणों ने कुछ ऐसा व्यावहारिक प्रयत्न लोगों के समक्ष उपस्थित करने का सोचा हो, जिससे ये दोनों अतिरेक तिरोहित हो जायें। यह चिन्तन चलता रहा हो, और भी प्रबुद्ध लोग इस ओर आकृष्ट हुए हों।

यापनीय संघ का उद्भव

उपर्युक्त रूप में चल रही चिन्तनधारा की परिणति अन्ततः यापनीय संघ के उद्भव के रूप में हुई। इसे प्रतिष्ठापित करने वालों ने समन्वय का एक अद्भुत रूप उपस्थित किया। उन्होंने वेष दिगम्बरों का अपनाया अर्थात् वे नग्न रहने लगे तथा अधिकांश श्वेताम्बर-आगमों को उन्होंने प्रामाणिक आप्त-वाणी के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने देखा हो—वे जो अपना रहे हैं, वह मध्यम मार्ग है। इसमें दोनों अतिरेकों का समाधान है। परम्परा से प्राप्त महिमाशाली वाङ्मय की प्रतिष्ठा तथा रक्षा जहां इससे सधेगी, वहाँ उत्कृष्ट संयममय जीवन-सरणि विलय से बचेगी। यह घटना संघ-भेद के बहुत बाद की नहीं होनी चाहिए, ऐसा अनुमान है।

इस सम्प्रदाय ने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—दोनों की कुछ-कुछ बातें लीं। फल यह हुआ, दोनों ही इसके विरोधी रहे। दिगम्बरों ने इसमें श्वेताम्बरों का ही प्रच्छन्न रूप देखा तथा श्वेताम्बर को इसमें दिगम्बरों से कोई विशेष भेद दृष्टिगत नहीं हुआ। यही कारण है, इसके उद्भव के सम्बन्ध में दोनों ही सम्प्रदायों में जो उल्लेख हुए हैं, वे पक्षपात से शून्य नहीं हैं। उनमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश भी है।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि यापनीय संघ वह सम्प्रदाय है, जो बाह्य परिवेश में श्वेताम्बरों से सर्वथा भिन्न होते हुए भी उन द्वारा स्वीकृत अधिकांश आगमों में निष्ठा एवं विश्वास रखता है। उसके श्रमण अपने प्रव्रजित जीवन का आधार उन्हीं को मानते हैं। एतदर्थ इस प्रसंग में उनके सम्बन्ध में चर्चा करना उपयोगी होगा।

दर्शनसार में उल्लेख

देवसेन द्वारा यापनीय संघ के उद्भव के सम्बन्ध में किये गये उल्लेख के अनुसार विक्रम को हुए २०५ वर्ष व्यतीत होने पर कल्याण नामक नगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु से यापनीय संघ प्रवर्तित हुआ।[1]

देवसेन का यह भाव स्पष्ट है कि यह श्वेताम्बर-प्रसूत मत है। अर्थात् इसके श्रमण निर्वस्त्र हैं, पर उनमें श्वेताम्बर-दर्शन की पुट है। देवसेन ने, जैसा कि पहले उल्लेख हुआ है, श्वेताम्बर-मत के उद्भव का समय १३६ विक्रमाब्द बताया है। उससे ६९ वर्ष बाद की यह घटना है। हो सकता है, वैचारिक पृष्ठ-भूमि के तैयार एवं परिपक्व होने में इतना समय व्यतीत हो गया हो। तदनन्तर उन विचारों का प्रतिफलन इस प्रकार के एक भिन्न सम्प्रदाय के रूप में हुआ हो।

दर्शनसार की एक अन्य प्रति में ऊपर चर्चित श्लोक के द्वितीय चरण के 'दुण्णि सए पंच उत्तरे जादे' के स्थान पर 'सत्त सए पंच उत्तरे जादे' है, जिसके अनुसार यापनीय संघ का उद्भव वि० सं० २०५ के स्थान पर वि० सं० ७०५ में होता है। पर, यह संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उससे काफी पहले शाकटायन प्रभृति यापनीय संघ के अति विश्रुत आचार्य हो चुके हैं। अतः 'दुण्णि सए पंच उत्तरे जादे'—यही पाठ वास्तविक प्रतीत होता है।

रत्ननन्दी के अनुसार यापनीय मत

रत्ननन्दी ने भद्रबाहु-चरित्र में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वर्णन समाप्त करते हुए वहीं से यापनीय संघ की उत्पत्ति का वृत्तान्त शुरू किया है। यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथानक वे कहना चाहते हैं, उसे श्वेताम्बर-मत सम्बन्धी कथानक से जोड़ते हुए वे आगे बढ़ते हैं। वे लिखते हैं : "राजा लोकपाल और रानी चन्द्रलेखा श्वेताम्बर-मत के भक्त थे। उनके एक पुत्री हुई, जो सुन्दर लक्षणों से युक्त थी। उसका नाम नकुला देवी रखा गया।"[2] उसने अपने गुरु से अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। वह यथाकाल

1. कल्लाणे वरणयरे, दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे।
   जावणियसंघभावो, सिरिकलसादो हु सेवडदो॥

—दर्शनसार, २९

2. तद्भक्तलोकपालाख्य-महीशिच्चन्द्रलेखयोः।
   सुता नृकुलदेव्याख्या बभूव वर लक्षणा॥

—भद्रबाहुचरित्र परिच्छेद, ४.११५

युवजनप्रिय नवयौवन को प्राप्त हुई। उसकी स्वर्ण जैसी देह-कान्ति थी। देवांगनाओं से बढ़कर उसका रूप था। वह कला-निष्णात थी।"

"करहाटाक्ष[1] (करहाटक) नामक एक समृद्ध नगर था। भूपाल नामक वहाँ का राजा था। वह अप्रतिहत प्रतापशाली था। उसने उल्लासपूर्वक उस राज-कन्या से विवाह किया। अपने पुण्य-फल से वह सब रानियों में प्रधान हो गई। वह बुद्धिशील राजा उसके साथ पुष्कल सांसारिक सुखोपभोग करने लगा।"[2]

"एक दिन अनुकूल अवसर देखकर रानी ने राजा से निवेदन किया—स्वामी! मेरे पिता के नगर में मेरे महान् गुरु हैं। धर्म-कार्य अभिवृद्धि के लिए उन्हें आमन्त्रित करें।

राजा ने रानी का वचन सुना। अपने बुद्धिसागर नामक मंत्री को तत्काल बुलाया और उसे उन साधुओं को आदरपूर्वक लाने के लिए भेजा। वह गुरुओं के पास पहुंचा। उनके प्रति भक्ति-भाव तथा अतिशय विनय प्रदर्शित किया।

साधुओं को अपने राजा के नगर में चलने की बार-बार अभ्यर्थना कर मंत्री उन्हें ले आया। उनका आगमन सुनकर राजा को बहुत प्रसन्नता हुई।"[3]

---

१. महाराष्ट्र प्रदेश के अन्तर्गत सतारा जिले के कराड़ से इसकी पहचान की जाती है।

२. अध्येष्टाऽनेकशास्त्राणि समीपे स्वगुरोस्तु सा।
कलाकलकनककान्तिः रूपापास्तसुराङ्गना॥
अवाप तार-तारुण्यं ताथ्योद्धतनुप्रियम्।
अथास्ति करहाटाक्षं पुरं प्रविणसंभृतम्॥
तच्छास्ताऽवार्यवीर्योऽभूद् भूपोभूपालनामभाक्।
कन्यां तां कमनीयांगीं प्रमोदात्परिणीतवान्॥
साऽऽसीद् सकलराज्ञीषु मुख्या पुण्यविपाकतः।
तयाऽमा विपुलान् भोगान् भुङ्क्तेऽसौ विपुला मतिः॥

—भद्रबाहुचरित्र परिच्छेद, ४.१३६-३९

३. अथ यदाऽवसरं प्राप्य राज्ञ्या विज्ञापितो नृपः।
स्वामिन्! मद्गुरवः सन्ति गुरवोऽस्मत्पितुः पुरे॥
आनायय तान् भक्त्या धर्मकर्माभिवृद्धये।
निशम्य तद् वचो भूभृ-द्वाहुयाऽमात्यमञ्जसा॥

"राजा बहुत बड़े आडम्बर के साथ साधुओं को वन्दन करने चला। उसने दूर से ही साधुओं को देखा। उसे बड़ा अचरज हुआ। यह क्या निर्ग्रन्थता—नग्नता शून्य कोई नया मत है, जिसके साधु पात्र, दण्ड आदि धारण किये हुए हैं ? इनके पास जाना समुचित नहीं है।

राजा वहां से लौट चला। अपने महल में आया। उसने महारानी से कहा कि तुम्हारे गुरु कुमार्ग-गामी हैं। उनका आचार जिन-प्ररूपित सिद्धान्तों से बहिर्भूत दर्शन पर आधृत है। वे परिग्रह में फंसे हुए हैं। हम उन्हें नहीं मानते।"[1]

"महारानी ने राजा के मन का भाव समझ लिया। वह अपने गुरुवृन्द के सान्निध्य में उपस्थित हुई, उन्हें नमन किया। विनय से अपना मस्तक झुका कर निवेदन किया—भगवन् ! मेरे आग्रह से (वस्त्र, पात्र आदि की) आसक्ति का त्याग कर पवित्र, देव-वन्दित, निर्ग्रन्थ—निर्वस्त्र मुनि का स्वरूप धारण करें।"[2]

बुद्धिसागर नामानमग्रं पौरस्त्यानुभावरात् ।
आसाद्याऽसौ गुरून् भक्त्या प्रवरश्रद्धयान्वितः ॥
भूयोऽभ्यर्थनयाऽस्मात्पः पत्तनं निजमानयत् ।
निशम्याऽऽगमनं तेषां मुदमाप परां नृपः ॥

—भद्रबाहुचरित्र परिच्छेद, ४.१४०-४३

१. महताऽऽडम्बरेणासावचालीद् वन्दितुं गुरून् ।
दूरादालोक्य तान् साधून् दध्याविति सुविस्मयात् ॥
अहो ! निर्ग्रन्थताशून्यं किमिदं नौतनं मतम् ।
न मेऽत्र युज्यते गन्तुं पात्रदण्डादिमण्डितम् ॥
व्याघुट्य भूपस्तस्मादागत्य जिनमन्दिरम् ।
भाषते स्म महादेवीं गुरवस्ते कुमार्गगाः ॥
जिनोक्तबहिर्भूत-दर्शनाश्रितवृत्तयः ।
परिग्रहग्रहग्रस्तास्तान् मन्यामहे वयम् ॥

—वही, ४.१४४-४७

२. सा तु मनोगतं राज्ञो ज्ञात्वाऽगाद् गुरुसन्निधिम् ।
नत्वा विज्ञापयामास विनयानतमस्तका ॥
भगवन् ! मदाग्रहादेतां गृह्णीताऽमरपूजिताम् ।
निर्ग्रन्थपदवीं पूतां हित्वा संगं मुदाऽखिलम् ॥

—वही, ४.१४८-४९

बागवाड़ का शिलालेख

बेलगांव जिले के अन्तर्गत बागवाड़ नामक स्थान में एक जैन मन्दिर के भू-गर्भ-गृह (भोहरे) में भगवान् नेमिनाथ की एक विशाल प्रतिमा है। उसके निषीधिका-प्रस्तर पर एक लेख है। वहां अंकित तिथि के अनुसार यह शिलालेख १३९४ ई० सन् का है। उसमें यापनीय संघ तथा पुन्नागवृक्षमूल के आचार्य नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति तथा नागचन्द्र का उल्लेख है। यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र वहां 'तुलुव-राज्य-स्थापनाचार्य' के रूप में अभिहित किये गये हैं।

इस वर्णन से यह और स्पष्ट होता है कि दक्षिण के राजवंशों पर कभी इन यापनीय आचार्यों का बड़ा प्रभाव था। राज्यों के महत्वपूर्ण घटना-क्रमों के पटाक्षेप के पीछे इन आचार्यों की शक्ति और प्रभुत्व महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करते थे। नेमिचन्द्र का 'तुलुव-राज्य-स्थापनाचार्य' विशेषण यापनीय आचार्यों के इस प्रकार के प्रभावक व्यक्तित्व का सूचक है।

प्रस्तुत शिलालेख में यापनीय संघ के साथ-साथ जो पुन्नागवृक्ष-मूलगण का उल्लेख हुआ है, वह और कोई नहीं, यापनीय संघ का ही एक विशेष भेद था।

यापनीय संघ का अनेक गणों में विस्तार

जब कोई सम्प्रदाय खूब विस्तीर्ण और व्यापक हो जाता है, तब उसकी अनेक शाखाएं तथा भेदोपभेद निर्मित हो जाते हैं। यापनीय संघ भी समय पाकर काफी फैल गया था। फलतः वह अनेक गणों में विभक्त होता गया। डा० उपाध्ये ने इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कुमुलिगण (कुमुदिगण), (कोटि), मडुवगण, कण्डूर या काणूरगण, पुन्नागवृक्ष-मूलगण, वन्दियूरगण, कारेयगण, नन्दिगच्छ तथा मैलपान्वय का उल्लेख किया है तथा यह भी संकेत किया है कि यापनीय मत क्रमशः कर्नाटक तथा उसके इर्द-गिर्द प्रसार पाता गया।[1]

---

1. ...... The Yapaniya Sangha is associated with ganas like Kumuli-gana (or Kumudigana), (Koti), Maduvagana, Kandura or Kanura-gana, Punnagavriksamulagana (also linked with Mula Sangha) Vandiyuragana, Kareyagana and Nandigaccha and Mailapanvaya. This Contemination with different ganas indicates that the Sangha gradually got itself expressed through ganas which, as account of

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यहाँ कतिपय प्रमुख यापनीय आचार्यों तथा उन द्वारा अपने साहित्य में किये गये श्वेताम्बर-आगमों के उपयोग के सन्दर्भ में कुछ चर्चा करेंगे, जिससे इस दूसरी सम्बद्ध विषय पर स्पृहणीय प्रकाश पड़ सके।

शिवार्य : शिवकोटि

शिवार्य, जिन्हें शिवकोटि भी कहा जाता है, द्वारा रचित आराधना दिगम्बर-परम्परा का प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसे भगवती आराधना भी कहते हैं। यह आचार-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप—इन चार आराधनाओं का विशद विश्लेषण है।

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने जैन सिद्धान्त कोश में शिवकोटि (शिवार्य) का समय ईसा की

---

the Ganabheda shows, were becoming more prominent in Karnataka and round about.

—Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. LV, Poona 1974, Page 17.

प्रथम शती का माना लिखा[1] है। यद्यपि समय की निश्चिती के सम्बन्ध में कोई ठोस एवं विश्वस्त प्रमाण प्राप्त नहीं है, फिर भी शिवार्य काफी प्राचीन हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जैन संघ के विभक्त हो जाने के पश्चात् यापनीय संघ के अस्तित्व में आने के अनन्तर शिवार्य का समय सम्भावित हो सकता है।

आराधना : कुछ प्रश्न - चिन्ह !!

यद्यपि आराधना या भगवती आराधना दिगम्बर-परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है, पर उसमें वर्णित विषयों का परिशीलन करने से पता चलता है कि वे दिगम्बर-आम्नाय द्वारा स्वीकृति सिद्धान्तों से सम्पूर्णतः मेल नहीं खाते। दिगम्बर-सम्प्रदाय के मन्तव्यों से कुछ भिन्नता भी यहां दृष्टिगत होती है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इस सम्बन्ध में लिखा है:"...ध्यान रखने की बात है कि भगवती आराधना की अनेक मान्यताएं दिगम्बर मुनियों के आचार-विचार से मेल नहीं खाती। उदाहरण के लिए, रुग्ण मुनियों के वास्ते अन्य मुनियों द्वारा भोजन-पान लाने का यहां निर्देश है। इसी प्रकार विजहना अधिकार में मुनि के मृत शरीर को जंगल में छोड़ आने की विधि बताई है। श्वेताम्बरों के कल्प, व्यवहार, आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख यहां मिलता है।...आवश्यक-निर्युक्ति, बृहत्कल्प-भाष्य आदि श्वेताम्बरों के प्राचीन ग्रन्थों से भगवती आराधना की अनेक गाथाएं मिलती हैं...।[2]

इससे प्रकट होता है कि शिवार्य कुछ इस कोटि के मनीषी हैं, जिनके विचार दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—दोनों परम्पराओं से संपृक्त हैं। ऐसा अनुमान है कि सम्भवतः वे यापनीय परम्पराओं के रहे हों। यदि ऐसा नहीं होता तो वे उस प्रकार का उल्लेख कैसे करते, जिससे श्वेताम्बर-आगमों की प्रामाणिकता की पुष्टि होती।

शाकटायन द्वारा शिवार्य की चर्चा

शाकटायन, जो स्वयं यापनीय थे, जिनके सम्बन्ध में विशेष रूप से चर्चा किया जायेगा, अपने व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघ वृत्ति में शिवार्य की बड़े आदर के साथ चर्चा करते हैं, जो निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है:

शाकटायन व्याकरण सूत्र ३।१।१ की वृत्ति के अन्तर्गत—

---

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ० ३९६
2. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३०४

इति शिवार्यम् । तच्छिवार्यम् । अहो शिवार्यं वर्तते । शिवार्यं शब्दो लोके सुप्रसिद्ध इत्यर्थः ।

सूत्र १.३.१६८ की वृत्ति में—

शोभनः सिद्धिविनिश्चयः शिवार्यस्य शिवार्येण वा ।

शाकटायन ने स्त्री-मुक्ति के प्रसंग में भी शिवार्य के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख किया है । वहां उन्होंने उनकी दो कारिकाएं उद्धृत की हैं । जो इस प्रकार हैं :

यद् संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम् ।
धर्मस्य हि तद् साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन् ॥
अस्तैन्यबहिरव्युत्सर्गविवेकैषणादिसमितीनाम् ।
उपदेशनमुपदेशो ह्युपधेरपरिग्रहत्वस्य ॥

वस्त्र धर्मोपकरण है या परिग्रह—इस पहलू की विशेषतः इन कारिकाओं में चर्चा है । यहां वस्त्र को संयम का उपकरण बताते हुए उसे धर्म का साधन बताया है ।

यह श्वेताम्बर दृष्टिकोण है, जो इन कारिकाओं में समर्थित हुआ है । ये कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे शिवार्य के यापनीय होने का अनुमान सही प्रतीत होता है ।

अपराजित सूरि नामक विद्वान् की आराधना पर टीका है । उसके भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे शिवार्य के यापनीय मत से सम्बद्ध होने की सम्भाव्यता प्रकट होती है ।

अपराजित सूरि का विवेचन

अपराजित सूरि ईसा की सातवीं शताब्दी के आस-पास के विद्वान् थे । उनका दूसरा नाम विजयाचार्य था । एक ओर जहां उन्होंने आराधना पर टीका लिखी, दूसरी ओर दशवैकालिक सूत्र पर भी टीका की रचना[1] की । दशवैकालिक सूत्र के वर्णन-प्रसंग में उसकी चर्चा की गई है । उन्होंने दोनों टीकाओं का नाम विजयोदया रखा ।

भगवती आराधना, जो अधिकांशतः दिगम्बर-परम्परा से सम्बद्ध है तथा दशवैकालिक, जो श्वेताम्बरों के मूलतः मान्य ग्रन्थों में मुख्य है, पर टीका रचने तथा तद्गत विषय-विवेचन आदि से प्रतीत होता है कि अपराजित सूरि यापनीय संघ के थे । उदाहरणार्थ—

---

१. आराधना की ११९७वीं गाथा की व्याख्या के अन्तर्गत अपराजित सूरि द्वारा उल्लेख—
"दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते ।"

आराधना की निम्नांकित गाथा की अपराजित सूरि ने अपनी टीका में जो व्याख्या की है, जिससे इस सुतरां ज्ञातव्य विषय पर प्रकाश पड़ सकेगा :

"आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहर रायपिंडकिइ कम्मे ।
वयजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥ ४२१ ॥"

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् । तथाहि आचारप्रणिधौ भणितम्-'प्रतिलिखेत् पात्रकम्बलं ध्रुवम्' इति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ? आचारस्यापि द्वितीयोऽध्यायो लोकविच(ज)यो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तम्—'पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कडासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्ज' इति । तथा वत्थेसणाए वुत्तं—'तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं तदियं । तत्थ एसे जुग्गिदे दे (?) से दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तिदियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तओ वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं ।' तथा पायेसणाए कथितम्—'हिरिमाणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए' इति । पुनश्चोक्तं तत्रैव—'अलाबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्प स (ह) रिदं, तथा अ (तह) प्पकारं पावं न लाभे सति पडिगाहिस्सामि' इति । वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ? भावनायां चोक्तम्—'वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलके तु जिणे' इति । तथा सूत्रकृतस्य पुण्डरीकेऽध्याये कथितम्—'ण कहेज्जा धम्मकहं वत्थपाविहेदुं' इति । निषेधे = (निशीथे) ऽप्युक्तम्—कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं' इति । एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथम् ? इति ।

अत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमेऽनुज्ञातं वस्त्रम्, कारणापेक्षया भिक्षूणाम्, ह्रीमानयोग्य-शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्ब्यमानवीजो वा परिषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति ।"[1]

अपराजित सूरि ने आराधना की इस गाथा का विश्लेषण करते हुए साधु द्वारा वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता के सन्दर्भ में जो विश्लेषण किया है, श्वेताम्बर-आगम-वाङ्मय के अत्यन्त मान्य आचारांग, सूत्रकृतांग तथा निशीथ जैसे ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत कर इसे समर्थित करने का प्रयत्न किया है, उससे स्पष्ट है कि इन आगम ग्रन्थों के प्रति वे निःसन्देह श्रद्धावान् थे । साथ-साथ यह भी ध्वनित होता है कि मूल गाथाकार शिवार्य के मस्तिष्क में भी गाथा रचते समय बहुत सम्भव है, ये तथा तत्सम्बद्ध अन्य श्वेताम्बर-आगम-ग्रन्थ रहे हों । क्योंकि दिगम्बरों के मान्य ग्रन्थों में साधु द्वारा वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता के सम्बन्ध में समर्थन नहीं प्राप्त होता ।

---

१. आराधना: विजयोदया आश्वास ४, पृ०

उनकी अपनी विशेषता रखती है। और भी इस प्रकार के अनेक स्थल हैं, जिनका विद्वानों तथा अन्वेष्टाओं द्वारा परिशीलन एवं परीक्षण किया जाना चाहिए।

श्रुतकेवली : देशीयाचार्य

शाकटायन ने अपने व्याकरण के समापन का सूचन जिस शब्दावली में किया है, वह इस प्रकार है :

> "इति श्रीश्रुतकेवलि देशीयाचार्यस्य
> शाकटायनस्य कृतौ शब्दानुशासने...... ।"

शाकटायन ने यहां अपने लिए श्रुत-केवली तथा देशीयाचार्य—इन दो विशेषणों का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है, यापनीय आचार्य इन विशेषणों द्वारा इतर जैन परम्पराओं से अपना पार्थक्य ज्ञापित करते थे।

डा० उपाध्ये ने सिद्धसेन दिवाकर (वि० ५वीं शती) के सम्बन्ध में भी ऐसी कल्पना की है कि बहुत सम्भव है, वे यापनीय मत के आचार्य[1] रहे हों। डा० उपाध्ये का कहना है कि इसीलिए सम्भवतः आचार्य हरिभद्र ने उन्हें श्रुत-केवली कहा हो।

उमास्वाति का सम्प्रदाय

तत्त्वार्थ-सूत्र के रचनाकार आचार्य उमास्वाति को भी एक दिगम्बर-शिलालेख[2] में श्रुत-केवली व देशीय कहा है। उमास्वाति के सम्बन्ध में यह संभावना की जाती है कि वे शायद यापनीय मत से सम्बद्ध रहे हों। स्वर्गीय पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपनी जैन साहित्य और इतिहास नामक पुस्तक में इसकी विशद चर्चा की है तथा उमास्वाति के यापनीय मत से सम्बद्ध होने के कारण भी उपस्थित किये हैं।

---

1. Dr. Upadhye's Introduction to the Siddhasena Divakara's Nyaya Vatara and other works. Published by Jain Sahitya Vikasa Mandala, Bombay 1971.

२. तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
   श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

   —शिलालेख संख्या ४६, नगर ताल्लुका

पं० सुखलालजी के विचार

पं० सुखलालजी वाचक उमास्वाति को यापनीय नहीं मानते। उन द्वारा लिखे गये विवेचना सहित प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र में 'भारतीय विद्या' शीर्षक में जो प्राक्कथन है, वहाँ उन्होंने इस प्रसंग की चर्चा की है, जो इस प्रकार है :

"प्रेमीजी का 'भारतीय विद्या'—सिंघी स्मारक अंक में 'वाचक उमास्वाति का सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्र और उनका सम्प्रदाय' नामक लेख प्रसिद्ध हुआ है। उन्होंने दीर्घ ऊहापोह के बाद यह बतलाया है कि वाचक उमास्वाति यापनीय संघ के आचार्य थे। उनकी अनेक दलीलें ऐसी हैं, जो उनके मन्तव्य को मानने के लिए आकृष्ट करती हैं। इसलिए उनके मन्तव्य की विशेष परीक्षा करने के लिए सटीक भगवती आराधना का खास परिशीलन पं० श्री दलसुख मालवणिया ने किया। उस परिशीलन के फलस्वरूप जो नोंधें उन्होंने तैयार कीं, उन पर उनके साथ मिलकर मैंने भी विचार किया। विचार करते समय भगवती आराधना, उसकी टीकाएं और बृहत्कल्प-भाष्य आदि ग्रन्थों का आवश्यक अवलोकन भी किया। जहाँ तक संभव था, इस प्रश्न पर मुक्त मन से विचार किया। आखिर में हम दोनों इस नतीजे पर पहुंचे कि वाचक उमास्वाति यापनीय न थे, वे सचेल परम्परा के थे, जैसा कि हमने परिचय में दरसाया है। हमारे अवलोकन और विचार का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है :

१. भगवती आराधना और उसके टीकाकार अपराजित—दोनों यदि यापनीय हैं तो उनके ग्रन्थ से यापनीय संघ के आचार विषयक निम्न लक्षण फलित होते हैं :

(क) यापनीय आचार का औत्सर्गिक अंग अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व है।

(ख) यापनीय संघ में मुनि की तरह आर्याओं का भी मोक्ष-लक्षी स्थान है और अवस्था-विशेष में उनके लिए भी निर्वसनभाव का उपदेश है।

(ग) यापनीय मत में पाणितल-भोजन का विधान है और कमण्डलु-पिच्छ के सिवाय और किसी उपकरण का औत्सर्गिक विधान नहीं है।

उक्त लक्षण उमास्वाति के भाष्य और प्रशमरति जैसे ग्रन्थों के वर्णन के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाते; क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से मुनि के वस्त्र-पात्र का वर्णन है और कहीं भी नग्नत्व का औत्सर्गिक विधान नहीं है, कमण्डलु-पिच्छ जैसे उपकरण का तो नाम भी नहीं।

दक्षिण में यापनीयों के कभी अनेक मन्दिर थे, जो उपर्युक्त संक्रान्ति-काल में दिगम्बर मन्दिरों में इस प्रकार विलीन हो गये कि आज उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, जिनके सम्बन्ध में रूढ़-परम्परा-ग्रस्त दिगम्बर विद्वान् कहते थे कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित मूर्तियों की पूजा ही नहीं करनी चाहिए।

जगत का इतिहास कुछ ऐसा ही है, समय, परिस्थिति, मानस, अध्यवसाय की करवटें कब किधर का मोड़ लें और क्या से क्या हो जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता।

उपसंहार

श्वेताम्बर-आगमों के सर्वतोमुखी परिशीलन के सन्दर्भ में हमने श्वेताम्बर-दिगम्बर के रूप में जैन संघ के विभाजन की चर्चा की। उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रादुर्भूत यापनीय संघ की भी चर्चा की। यद्यपि चर्चा कुछ विस्तृत हो गई है, पर हमारा विचार है कि आगम-वाङ्मय के अस्तित्व, स्वरूप, ह्रास, आकलन, परिरक्षण, उसके विश्लेषण-विवेचन में प्रणीत साहित्य, उसके आधार पर सृष्ट मानस, परिगठित एवं प्रवृत्त धार्मिक अभियान आदि के सम्बन्ध में भी समीक्षात्मक दृष्टिकोण से जानना कम आवश्यक नहीं है। आगम तथा शास्त्र जीवन के लिए हैं। उनके सहारे लोक-जीवन कब, कैसा मोड़ लेता है, यह जहां सामाजिक इतिवृत्त का एक महत्वपूर्ण पहलू है, वहां आगम व शास्त्र-गर्भित विचार-दर्शन की लोक-जीवन में सफल-विफल क्रियान्वित के इतिहास का एक ज्वलन्त पृष्ठ भी है, जो अनदेखा नहीं रहना चाहिए।

अंग-वाङ्मय : विच्छेद : कुछ तथ्य

दिगम्बर-मत के अनुसार द्वादशांग-वाङ्मय के विच्छेद-क्रम तथा अन्ततः वीर-निर्वाण सं० ६८३ में उसके सर्वथा विच्छेद आदि के विषय में पिछले पृष्ठों में यथाप्रसंग उल्लेख किया जा चुका है। यहां उस सम्बन्ध में कुछ और तथ्य उपस्थित किये जा रहे हैं।

श्वेताम्बरों द्वारा भी स्वीकार

बारहवें अंग दृष्टिवाद के विच्छेद के सम्बन्ध में श्वेताम्बर भी सहमत हैं ही। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के बाद धारक की दृष्टि से पूर्व-ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो गया। तित्थोगालीपइन्ना प्रभृति ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में उल्लेख[1] है।

---

१. वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो॥

—तित्थोगालीपइन्ना, गाथा ८०५

अवशिष्ट ग्यारह अंगों के सम्बन्ध में दिगम्बरों की तरह सर्वथा तो नहीं, पर (ग्यारह अंग) उत्तरोत्तर क्रमशः विच्छिन्न एवं ह्रसित होते जायेंगे, ऐसा श्वेताम्बर स्वीकार करते हैं।

तित्थोगालीपइन्ना में इस सम्बन्ध में जो वर्णन है, वह इस प्रकार है: "दिनगणि—पुष्यमित्र के देहावसान के साथ वीर निर्वाण सं० १२५० में व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र का व्युच्छेद हो जायेगा।"[1]

तित्थोगाली पइन्नाकार व्याख्या प्रज्ञप्ति के अन्तिम सम्पूर्ण वेत्ता पुष्यमित्र की विशेषता की चर्चा करते हुए लिखते हैं : 'श्रमणोचित गुणों में निष्णात, आत्मबल-सम्पन्न पुष्यमित्र अन्तिम व्याख्या प्रज्ञप्तिधर होंगे।

चौवीस हजार पदों से युक्त, गुणनिष्पन्न व्याख्या-प्रज्ञप्ति-सूत्र-रूप वृक्ष के व्युच्छिन्न हो जाने पर लोग सहसा उनकी विशेषताओं के फलों से वंचित हो जायेंगे।"[2]

वीर-निर्वाण के १३०० वर्ष पश्चात् माढर गोत्रोत्पन्न संभूति नामक यति (साधु) के के मरण के साथ समवायांग का व्यवच्छेद हो जायेगा। वीर-निर्वाण के १३५० वर्ष पश्चात् आर्जव नामक मुनि के दिवंगमन के साथ स्थानांग सूत्र का व्युच्छेद हो जायेगा, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का निर्देश है।"[3]

---

1. पण्णासा वरिसेहिं, य बारसवरिससएहिं वोच्छेदो।
   दिण्णगणि पूसमित्ते, सविवाहाणं छलं माणं॥

—तित्थोगालीपइन्ना, गा० ८०७

2. नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुणनिउणचित्तो।
   होही अपच्छिमो किर, विवाहसुयधारको वीरो।
   संति य विवाहरुक्खे, चुलसीति पयसहस्सगुणकलिओ।
   सहसं च्चिय संमंतो, होही गुणनिप्फलो लोगो॥

—वही, गा० ८०८-९

3. समवाय-वच्छेदो, तेरसहिं सतेहिं होहि वासाणं।
   माढरगोत्तस्स इहं, संभूतिजतिस्स मरणंमि॥
   तेरसवरिससतेहिं, पण्णासा समहिएहिं वोच्छेदो।
   अज्जवजतिस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निद्दिट्ठो॥

—वही, गा० ८१०-८११

"वीर-निर्वाण सं० १५०० में गौतम गोत्रोत्पन्न, प्राकृत धर्म के महान् धनी श्रमण फल्गुमित्र के स्वर्गवास के साथ दशाश्रुतस्कन्ध विच्छिन्न हो जायेगा, ऐसा कहा गया है।"[1]

"वीर-निर्वाण सं० १९०० में भारद्वाज गोत्रोत्पन्न महासुमन नामक मुनि के पश्चात् सूत्रकृतांग का व्युच्छेद हो जायेगा।"[2]

"वीर-निर्वाण सं० २००० में हारीत गोत्रोत्पन्न विष्णु नामक मुनि के मरणोपरान्त आचारांग का व्युच्छेद हो जायेगा।"[3]

"तदनन्तर दुःषमा संज्ञक इस पांचवें आरे के शेष काल अर्थात् उसके समाप्त होने में थोड़ा-सा समय बाकी रहने पर दुःप्रसह नामक श्रमण होंगे। वे ज्ञान, तप आदि गुणों से शोभित होंगे। भारतवर्ष में वे अन्तिम आचारांगधर होंगे। उनके देहावसान के साथ आचारांग सूत्र और चारित्र निःशेष हो जायेंगे—मूलतः उच्छिन्न हो जायेंगे।"[4]

---

१. भणिओ दसाण छेओ, पनरससएहिं होइ वरिसाणं।
समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते॥

—तित्थोगालीपइन्ना, गा० ८१३

२. भारद्दायसगुत्ते, सूयगडंगं महासमण नामे।
अगुणवीससएहिं, जाही वरिसाण वोच्छित्ति॥

—वही, गा० ८१४

३. विण्हुमुणिम्मि मरंते, हारितगोत्तम्मि होंति वीसाए।
वरिसाण सहस्सेहिं, आयारंगस्स वोच्छेदो॥

—वही, गा० ८१६

४. (क) अह दूसमाए सेसे, होही नामेण दुप्पसह समणो।
अणगारो गुणगारो, धम्मागारो तवागारो॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होहीति भरहवासे।
तेण समं आयारो, निस्सीही समं चरित्तेण॥

—वही, गा० ८१७-१८

(ख) तित्थोगालीपइन्ना की ८१६वीं तथा ८१७वीं गाथा में आचारांग के विच्छिन्न होने के सन्दर्भ में जो कहा गया है, उसका आशय यों समझा जाना चाहिए कि वीर-निर्वाण सं० २०००० में हारीतगोत्रीय विष्णु मुनि के स्वर्गवास के साथ आचारांग अंशतः विच्छिन्न होगा तथा वीर-निर्वाण सं० २१००० में श्रमण दुःप्रसह के देहावसान के साथ वह सर्वथा उच्छिन्न हो जायेगा।

ऐसा माना जाता है कि यह घटना वीर-निर्वाण सं० २१००० के आस-पास घटित होगी। ऐसा भी कहा जाता है कि जिस दिन पंचम आरे की समाप्ति होगी, उसके पहले प्रहर में आचार्य दुःप्रसह दिवंगत हो जायेंगे। उनके दिवंगमन के साथ ही आचारांग भी पूर्णतः विच्छिन्न हो जायेगा।

यों आगम-विच्छेद की अन्तिम कड़ी तक पहुंच पइण्णाकार उसका फलित स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "वास्तव में आचारांग ही वह साधन है, जो श्रमणों को चारित्र-धर्म का यथावत् बोध कराता है।

आचारांग का प्रणाश हो जाने पर सब ओर अनाचार व्याप्त हो जायेगा। सर्वत्र अज्ञान-तमिस्रा का साम्राज्य फैल जायेगा। तब श्रमणों का अस्तित्व भी नहीं रह पायेगा।"[1]

तित्थोगालीपइन्ना में विच्छेद-क्रम के बीच बचे रहने वाले आगम-वाङ्मय के सम्बन्ध में इतना और लिखा है : "वीर-निर्वाण के पश्चात् २१००० वर्ष तक यहां भारतवर्ष में दशवैकालिक अर्थ रूप में विद्यमान रहेगा। दुःप्रसह मुनि के स्वर्गारोहण के साथ वह विनष्ट होगा।

इसी प्रकार वीर-निर्वाण से २१००० वर्ष तक, जब तक तीर्थ—जैन परम्परा विद्यमान रहेगी, आवश्यक सूत्र भी अव्युच्छिन्न रहेगा।"[2]

---

१. अणुओगच्छिण्णायारो, अह समणगणस्स बाधियायारो।
आयारम्मि पणट्ठे, होहीति तइया अणायारो ॥
चंकमिहं वरतरं तिमिसं गुहाए तमंधकाराए।
न य तइया समणाणं, आयार-सुत्ते पणट्ठंमि ॥

—तित्थोगालीपइन्ना, गा० ८१९-२०

२. वासाण सहस्सेण य, इक्कवीसाए इहं भरहवासे।
दसवेयालिय अत्थो, दुप्पसहजइंमि नासिहिति ॥ ५० ॥
इगवीससहस्साइं, वासाणं वीरमोक्खगमणाओ।
अव्वोच्छिन्नं होही, आवस्सगं जाव तित्थं तु ॥ ५१ ॥

—तित्थोगालीपइन्ना

अभिमत

तित्थोगालीपइन्ना में दिये गये वर्णन से यह सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर आचार्य भी आगमों के विच्छेद-क्रम से असहमत नहीं रहे हैं। अन्तर केवल इतना है, दिगम्बर आचार्यों ने आगमों को जहां सर्वथा विच्छिन्न एवं विलुप्त मान लिया, वहां श्वेताम्बर उनका आंशिक विलय तथा आंशिक अस्तित्व स्वीकार करते रहे। आज श्वेताम्बर एकादशांगी का जो, जितना कलेवर प्राप्त है, समग्र सामग्री का बहुत थोड़ा-सा अंश है। विज्ञ पाठकों को इसका यथावत् परिचय हो सके, एतदर्थ आगमगत सामग्री का समग्र परिमाण तथा उपलब्ध अंश का तुलनात्मक उल्लेख किया जा रहा है।

आगम : सम्पूर्ण : उपलब्ध

१. आचारांग की मूल पद-संख्या १८००० मानी जाती है। आज जितना अंश प्राप्त है, उसका कलेवर २५०० श्लोक-प्रमाण है। पहले उल्लेख हुआ ही है, आचारांग का महा-परिज्ञा संज्ञक सप्तम अध्ययन अनुपलब्ध है।

२. सूत्रकृतांग की मूल पद-संख्या ३६००० थी, ऐसा विश्वास किया जाता है। आज २१०० श्लोक-प्रमाण पाठ प्राप्त है।

३. स्थानांग की पद-संख्या ७२००० थी, ऐसी मान्यता है। इस समय उसमें ३७७० श्लोक-प्रमाण सामग्री उपलब्ध है।

४. समवायांग में मूल पद-संख्या १,४४००० थी, ऐसा अभिमत है। इस समय इसका कलेवर १६६७ श्लोक-प्रमाण है।

५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति की पद-संख्या के विषय में दो प्रकार की मान्यताएं हैं। नन्दीसूत्र के अनुसार उसमें २,८८,००० तथा समवायांग के अनुसार ८४,००० पद थे। पर वर्तमान में १५७५२ पद प्राप्त हैं। यह अंग १०१ शतकों में विभक्त था, जिनमें से आज केवल ४१ शतक उपलब्ध हैं।

६. ज्ञातृधर्मकथा में समवायांग सूत्र तथा नन्दी सूत्र के अनुसार संख्यात सहस्र पद माने जाते हैं, पर इन दोनों की वृत्तियों में उसकी पद-संख्या ५,७६,००० उल्लिखित की गई है। इस समय इसका कलेवर ५,५०० श्लोक-प्रमाण है। इसके अनेक कथानक काल-क्रम से लुप्त हो गये।

७. उपासकदशा की पद-संख्या समवायांग सूत्र और नन्दी सूत्र के अनुसार संख्यात सहस्र मानी जाती है, पर इन दोनों की वृत्तियों में उसकी पद-संख्या ११,५२,००० उल्लिखित की गई है। इस समय इसका कलेवर ८१२ श्लोक-प्रमाण है।

८. अंतकृद्दशा में संख्यात सहस्र पद माने जाते हैं, पर समवायांग सूत्र एवं नन्दी सूत्र की वृत्ति में इसके २३,०४,००० पद होने का उल्लेख किया गया है। वर्तमान में इसमें ९०० श्लोक-प्रमाण सामग्री उपलब्ध है।

९. अनुत्तरौपपातिक दशा की पद-संख्या संख्यात सहस्र मानी जाती है। समवायांग-सूत्र तथा नन्दी सूत्र की वृत्ति के अनुसार यह ४६,०८,००० है। वर्तमान में उसका केवल १९२ श्लोक-प्रमाण कलेवर प्राप्त है।

१० प्रश्नव्याकरण सूत्र में संख्यात सहस्र पद माने गये हैं। समवायांग सूत्र तथा नन्दी सूत्र की वृत्ति में इसके पदों की संख्या ९२,१६,००० बतलाई गई है। वर्तमान में इसमें १३०० श्लोक-प्रमाण सामग्री है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया ही गया है, नन्दी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो स्वरूप बतलाया गया है, वर्तमान में प्राप्त प्रश्नव्याकरण सूत्र का स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न है।

११. विपाक सूत्र की पद-संख्या संख्यात सहस्र मानी जाती है। समवायांग सूत्र एवं नन्दी सूत्र की वृत्ति के अनुसार इसकी पद-संख्या १,८४,३२००० है। इस समय यह १२१६ श्लोक-प्रमाण रूप में उपलब्ध है।

तिलोयपण्णत्ति : एक विशेष संकेत

दिगम्बर-परम्परा में यह स्पष्ट मान्यता है कि वीर-निर्वाण सं० ६८३ में द्वादशांगी का विच्छेद हो गया। तिलोयपण्णत्ति में गाथा १४८२ से १४९२ तक श्रुत-विच्छेद-क्रम वर्णित हुआ है, जिसका पिछले पृष्ठों में यथाप्रसंग विवेचन किया गया है। यह सब लिखने के बावजूद यति वृषभ एक बात और कहते हैं : "धर्म-प्रवर्तन के हेतु श्रुत-तीर्थ (चाहे आंशिक रूप में ही सही) वीर-निर्वाण के २०३१७ वर्ष (जो दुःषमा की समाप्ति से कुछ पहले का समय है) तक सम्प्रवृत्त रहेगा। तदनुसार वह काल-दोष से व्युच्छिन्न हो जायेगा।"[1]

---

१. वीससहस्सं तिसदा, सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं।
धम्मपयट्टणहेदू, वोच्छिज्जदि कालदोसेण ॥ १४९३ ॥
—तिलोयपण्णत्ति

महापुराण में इस तथ्य को और स्पष्ट किया गया है। वहां कहा गया है : "यद्यपि तपःशील श्रुत-ज्ञानियों की परम्परा मिट जायेगी, पर फिर भी आचार्य वीरसेन तथा तदनुगामी जिनसेन प्रभृति श्रुत-वैभव के धनी, तपस्वी श्रमणों द्वारा श्रुत के एक देश—अंश का दुःषमा की समाप्ति से पूर्व तक संवर्तन रहेगा।"[1]

ऐसे उल्लेखों के बावजूद दिगम्बर-परम्परा में अंग-साहित्य के सम्पूर्ण विच्छेद की बात बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता से कही जाती है। यह समीक्षणीय है।

दिगम्बर-परम्परा में अंग-प्रविष्ट, अंग-बाह्य

जिस प्रकार श्वेताम्बर आगम-वाङ्मय अंग-प्रविष्ट एवं अंग-बाह्य के रूप में दो भेदों में विभक्त है, दिगम्बर-परम्परा में भी इन्हीं दो भेदों में उसका विभाजन है। दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत नामों में भी काफी सादृश्य है।

धवलाकार का विवेचन

षट्खण्डागम के धवला-टीकाकर आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में अंग-बाह्य तथा अंग-प्रविष्ट के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया है : "अर्थाधिकार दो प्रकार का है—१. अंग-बाह्य, २. अंग-प्रविष्ट। उनमें अंग-बाह्य के चवदह अर्थाधिकार हैं : १. सामायिक, २. अंग चतुर्विंशति-स्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृति-कर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्प-व्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प्य, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक, १४. निषिद्धिका।"[2]

---

१. श्रुतं तपोभृतामेषां प्रणेष्यति परंपरा।
शेषैरपि श्रुत-ज्ञानस्यैको देशस्तपोधनैः ॥ ५२७ ॥
जिनसेनाद्युर्गैर्वीरसेनैः प्राप्तमहर्द्धिभिः।
समाप्ते दुःषमायाः प्राक्, प्रायशो वर्तयिष्यते ॥ ५२८ ॥

—महापुराण (उत्तर पुराण, पर्व ६)

२. अत्थाहियारो दुविहो, अंगबाहिरो अंग-पइट्ठो चेदि। तत्थ अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा—१. सामाइयं, २. चउवीसत्थओ, ३. वंदणा, ४. पडिक्कमणं, ५. वेणइयं, ६. किदियम्म, ७. दसवेयालियं, ८. उत्तरज्झयणं, ९. कप्पववहारो, १०. कप्पाकप्पियं, ११. महाकप्पियं, १२. पुंडरीयं, १३. महापुंडरीयं, १४. णिसिहियं चेदि।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ९६

अंग-प्रविष्ट के सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने निम्नांकित रूप में उल्लेख किया है: "अंग-प्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह प्रकार के हैं—१. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरोपपातिक दशा, १०. प्रश्न-व्याकरण, ११. विपाक सूत्र, तथा १२. दृष्टिवाद। इनमें से आचारांग अठारह हजार पदों के द्वारा—किस प्रकार चलना चाहिए ? किस प्रकार बैठना चाहिए ? किस प्रकार शयन करना चाहिए ? किस प्रकार भोजन करना चाहिए ? किस प्रकार संभाषण करना चाहिए और किस प्रकार पाप-कर्म नहीं बन्धता है ? (इस तरह गणधर के प्रश्नों के अनुसार) यत्न से चलना चाहिए, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिए, यत्न से बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए, यत्न से संभाषण करना चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता है ॥ ७०-७१ ॥ इत्यादि रूप से मुनियों के आचार का वर्णन करता है।

सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदों के द्वारा ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार-धर्म-क्रिया का प्ररूपण करता है तथा यह स्व-समय और पर-समय का भी निरूपण करता है।

स्थानांग बयालीस हजार पदों के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। उसका उदाहरण—महात्मा अर्थात् यह जीव-द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्म से उपयुक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा एक ही है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्म-फल-चेतना, कर्म-चेतना और ज्ञान-चेतना से लक्ष्यमान होने के कारण तीन भेद रूप है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से तीन भेद रूप है। चार गतियों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा से इसके चार भेद हैं। औदयिक आदि पांच प्रधान गुणों से युक्त होने के कारण इसके पांच भेद हैं। भवान्तर में संक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे—इस तरह छः संक्रमलक्षण अपक्रमों से युक्त होने की अपेक्षा से छः प्रकार का है। अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगों से युक्त होने की अपेक्षा से सात प्रकार का है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के आस्रव से युक्त होने की अपेक्षा से आठ प्रकार का है। अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों तथा आठ गुणों का आश्रय होने की अपेक्षा से आठ प्रकार का है। जीवादि नौ पदार्थों को विषय करने वाला अथवा जीवादि नौ प्रकार के पदार्थ-रूप परिणमन करने वाला होने की अपेक्षा से नौ प्रकार का है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक-वनस्पतिकायिक, साधारण-वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-

जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पंचेन्द्रिय-जाति के भेद से दश स्थानगत होने की अपेक्षा से दश प्रकार का कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

समवाय नाम का अंग एक लाख चौंसठ हजार पदों के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है अर्थात् सादृश्य-सामान्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। वह समवाय चार प्रकार का है—द्रव्य-समवाय, क्षेत्र-समवाय, काल-समवाय और भाव-समवाय। उनमें से द्रव्य-समवाय की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्र-समवाय की अपेक्षा से प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामक इन्द्रक बिल, ढाई द्वीप-प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामक इन्द्रक-विमान और सिद्ध-क्षेत्र समान हैं। काल की अपेक्षा से एक समय एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है। भाव की अपेक्षा से केवल-ज्ञान केवल-दर्शन के समान ज्ञेय-प्रमाण है, क्योंकि ज्ञान-प्रमाण ही चेतना-शक्ति की उपलब्धि होती है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम का अंग दो लाख अट्ठाईस हजार पदों द्वारा—क्या जीव है? क्या जीव नहीं है? इत्यादिक रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करता है।

नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा नाम का अंग पांच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो—एतदर्थ तीर्थंकरों की धर्म-देशना का, सन्देह-प्राप्त गणधरदेव के सन्देह दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथाओं व उपकथाओं का वर्णन करता है।

उपासकाध्ययन नामक अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भ-विरत, परिग्रह-विरत, अनुमति-विरत और उद्दिष्ट-विरत—इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रत-धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।

अन्तकृद्दशा नामक अंग तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय-विशेष प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृत् केवलियों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थ-भाष्य में भी कहा है: "जिन्होंने संसार का अन्त किया, उन्हें अन्तकृत् केवली कहते हैं। वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल, पालम्ब, अष्टपुत्र—ये दस अन्तकृत् केवली हुए हैं। इसी प्रकार

ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थंकरों के तीर्थ में दूसरे दश-दश अनगार दारुण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत् केवली हुए। इन सबकी दशा का जिसमें वर्णन किया जाता है, उसे अन्तकृद्दशा नामक अंग कहते हैं।"

अनुत्तरौपपादिकदशा नामक अंग बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय-विशेष प्राप्त कर अनुत्तर-विमानों में गये हुए दश-दश अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थ-भाष्य में भी कहा है : "उपपाद-जन्म ही जिनका प्रयोजन है, उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि—ये पांच अनुत्तर-विमान हैं, जो अनुत्तरों में उपपाद-जन्म से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र—ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी तरह ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दश-दश महान् साधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादिक पांच अनुत्तरों में उत्पन्न हुए। इस तरह अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दश साधुओं का जिसमें वर्णन किया जाय, उसे अनुत्तरौपपादिकदशा नामक अंग कहा जाता है।

प्रश्न-व्याकरण नामक अंग तिरानवे लाख सोलह हजार पदों द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी—इन चतुर्विध कथाओं तथा (भूत, भविष्य व वर्तमान काल संबंधी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय एवं पराजय सम्बन्धी प्रश्नों के पूछने पर, उनके) उपाय का वर्णन करता है।

जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों के तथा दूसरे समयों की निराकरण पूर्वक शुद्धि कर छः द्रव्यों तथा नव पदार्थों का प्ररूपण करती है, वह आक्षेपणी कथा कही जाती है। जिसमें पहले पर-समय के द्वारा स्व-समय में दोष बतलाये जाते हैं, तदनन्तर पर-समय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन कर स्व-समय की स्थापना की जाती है तथा छः द्रव्यों व नव पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है, उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहा जाता है।

शंका—पुण्य के फल कौन से है ?

समाधान—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल हैं।

पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका—पाप के फल कौन से हैं ?

समाधान—नरक, तिर्यंच तथा कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना एवं दारिद्रय आदि प्राप्त होना पाप के फल हैं।

अथवा संसार, शरीर तथा भोगों में वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कथा कही जाती है। कहा भी है : तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। यथार्थ तत्त्व से भिन्न दिशा को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन कर अर्थात् पर-समय की ऐकान्तिक दृष्टियों का शोधन कर स्व-समय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म का फल-वर्णन करने वाली संवेगिनी कथा है। वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेगिनी कथा है।

इन कथाओं का प्रतिपादन करते समय, जो जिन-वचन को नहीं जानता—जिसका जिन-वचन में प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए; क्योंकि जिसने स्व-समय के रहस्य को नहीं जाना है, पर-समय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुल-चित्त होकर वह कहीं मिथ्यात्व स्वीकार न कर ले—एतदर्थ स्व-समय का रहस्य नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं का उपदेश देना चाहिए। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्व-समय को भली-भांति समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिन-शासन में जिसकी अस्थि और मज्जा तक अनुरक्त है, जिन-वचन में जिसके किसी प्रकार की विचिकित्सा—शंका-सन्देह नहीं है जो भोगानुरक्ति से विरक्त है, जो तप, शील एवं नियमों से युक्त है, इस प्रकार के पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश करना चाहिए। यों प्ररूपणा करने वाले के लिए और प्रज्ञापित होने वाले के लिए यह अकथा कथा हो जाती है। अतः पुरुष को देख कर ही श्रमण को कथा का उपदेश करना चाहिए।

यह प्रश्न-व्याकरण नामक अंग प्रश्नानुरूप हृत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु तथा संख्या का भी प्ररूपण करता है।

विपाक सूत्र नामक अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य तथा पाप-रूप कर्मों के फलों का वर्णन करता है। ग्यारह अंगों के कुल पदों की जोड़ चार करोड़ पन्द्रह

लाख दो हजार पद है।"[1]

---

1. अंगपविट्ठस्स अत्थाहियारो बारस विहो। तंजहा—आयारो, सूदयदं, ठाणं, समव[ाओ],
वियाहपण्णत्ती, णाहधम्मकहा, उवासयज्झयणं, अंतयडदसा, अनुत्तरोववादिय[दसा],
पण्हवायरणं, विवागसुत्तं, दिट्ठिवादो चेदि।

आयारंग अट्ठारह-पद-सहस्सेहि १८०००—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई ॥ ७० ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ॥ ७१ ॥

एवमादियं मुणीणमायारं वण्णेदि।

सूदयदं णाम अंग छत्तीस-पद-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाक[प्प]-छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेइ।

ठाण णाम अंगं बायालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्ठाणा[णि] वण्णेदि। तस्सोदाहरणं—

एक्को चेव महप्पो सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिओ।
चदु-संकमणा-जुत्तो पंचग्ग-गुण-प्पहाणो य ॥ ७२ ॥
छक्कापक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भंगि-सब्भावो।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दस-ठाणियो भणियो ॥ ७३ ॥

समवायो णाम अंगं चउसट्ठि-सहस्सब्भहिय-एग-लक्ख-पदेहि १६४००० सव्व-पयत्थाणं समवायं वण्णेदि। सो वि समवायो चउव्विहो, दव्व-खेत्त-काल-भाव समवायो चेदि। तत्थ दव्व-समवायो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-लोगागास-एगजीवपदेसा च समा। खेत्तदो सीमंतणिरय-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धिखेत्तं च समा। कालदो समयो समएण मुहुत्तो मुहुत्तेण समो। भावदो केवलणाणं केवलदंसणेण समं णेयप्पमाणं णाणमेत्त-चेयणोव-लंभादो।

वियाहपण्णत्ती णाम अंगं दोहि लक्खेहि अट्ठावीस-सहस्सेहि पदेहि २२८००० किमत्थि जीवो, किं णत्थि जीवो, इच्चेवमाइयाइं सट्ठि-वायरण-सहस्साणि परूवेदि।

णाहधम्मकहा णाम अंग पंच-लक्ख-छप्पण्ण-सहस्स पदेहि ५५६००० सुत्तपोरिसीसु तित्थयराणं धम्मदेसणं गणहरदेवस्स जाद-संसयस्स संदेह-छेदण-विहाणं, बहुविह-कहाओ उवकहाओ च वण्णेदि।

तत्त्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में आचार्य पूज्यपाद ने जो अंग-बाह्य तथा अंग-

---

उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस-लक्ख-सत्तरि-सहस्स-पदेहि ११७००००—

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य।

बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदी य ॥ ७४ ॥

इदि एक्कारसविह-उवासगाणं लक्खणं तेसिं चेव वदारोवणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि।

अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लक्ख-अट्ठावीस-सहस्सपदेहि २३२८००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थ भाष्ये—

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमिमतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्किविल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमान-तीर्थंकर-तीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा। अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं बाणउदि-लक्ख-चोयाल-सहस्स पदेहि ९२४४००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण अणुत्तर-विमाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थ भाष्ये—

उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजित-सर्वार्थसिद्धाख्यानि पंचानुत्तराणि। अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिकेयानन्द-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थंकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये एवं दश दशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिका दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरोपपादिकदशा।

पण्हावायरणं णाम अंगं तेणउदि-लक्ख-सोलह-सहस्स पदेहि ९३१६००० अक्खेवणी णिक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। तत्थ अक्खेवणी णाम छ-द्दव्व-णव-पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धि करेंतो परूवेदि। विक्खेवणी णाम पर-समएण स-समयं दूसंतो पच्छा दिगंतर-सुद्धि करेंतो परूवेदि।
विक्खेवणी णाम पर-समएण स-समयं दूसंतो पच्छा दिगंतर-सुद्धि करेंतो परूवेदि।
स-समयं थावंतो छ-द्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि। संवेयणी णाम पुण्ण-फल-संकहा। काणि

८. अन्तकृद्दशा — पद-संख्या २३२८०००
श्लोक-संख्या ११८९३३९३९८८५२०००
अक्षर-संख्या ३८०५८८६०७६३२३४०००

९. अनुत्तरौपपातिकदशा — पद-संख्या ९२४४०००
श्लोक-संख्या ४७२२६१७४४१४६०००
अक्षर-संख्या १५११२३७५८११६६७०००

१०. प्रश्न-व्याकरण — पद-संख्या ९३१६०००
श्लोक-संख्या ४७५९४०११३३८९४०००
अक्षर-संख्या १५२३००८३६२८४६०८०००

११. विपाक सूत्र : — पद-संख्या १८४०००००
श्लोक-संख्या ९४००२७७०३५६०००००
अक्षर-संख्या ३००८०८८६५१३९२०००००

१२. दृष्टिवाद : — पद-संख्या १०८६८५६००५
श्लोक-संख्या ५५५२५८०१८७३९४२७१०७
अक्षर-संख्या १७७६८२५६५९९६६१६६१६६७४४०

सारांश

अंग-प्रविष्ट तथा अंग-बाह्य ग्रन्थों के नाम, उपर्युक्त विवेचन आदि से यह असंदिग्ध रूप में प्रकट होता है कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत वाङ्मय में काफी नैकट्य व सादृश्य रहा है। दोनों वाङ्मय-धाराओं के उद्गम-स्रोत का ऐक्य भी इससे सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ एक प्रसंग उपस्थित किया जाता है। धवला-टीकाकार आचार्य वीरसेन ने आचारांग के विषय एवं कलेवर का वर्णन करते हुए मुनि-आचार से सम्बद्ध जो निम्नांकित दो गाथाएं उद्धृत की हैं :

> " कधं चरे कधं चिट्ठे, कधमासे कधं सए।
> कधं भुंजेज्ज भासेज्ज, कधं पावं ण बज्झई ॥ ७० ॥
> जदं चरे जदं चिट्ठे, जदमासे जदं सए।
> जदं भुंजेज्ज भासेज्ज, एवं पावं ण बज्झई[1] ॥ ७१ ॥"

---

१. षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ९९

लगभग इसी प्रकार की शब्दावलि में इसी भाव का निरूपण करते हुए दशवैकालिक में कहा गया है :

"कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधई॥
जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधई॥"[1]

दिगम्बर-परम्परा-सम्मत आचारांग की भाषा जैन शौरसेनी है तथा श्वेताम्बर-सम्मत दशवैकालिक की भाषा अर्द्धमागधी। उद्धृत गाथाओं में केवल इतना-सा भाषात्मक भेद है।

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती साहित्य भगवती-आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों के अन्य विषय तथा वहां प्रयुक्त गाथाएं बृहत्कल्प-भाष्य, आवश्यक निर्युक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति, मरण-समाधि, भक्त-परिज्ञा, संस्तारक आदि श्वेताम्बर-साहित्य से अनेक स्थलों पर मिलती है।

षट्खण्डागम : महत्व

द्वादशांग वाङ्मय के संबंध में दिगम्बर-चिन्तन-धारा को प्रस्तुत करने के अनन्तर अब हम उस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की चर्चा करने जा रहे हैं, जो षट्खण्डागम के नाम से विश्रुत है, दिगम्बर-परम्परा में, जिसे द्वादशांग श्रुत से सीधा सम्बद्ध माना जाता है। इसकी रचना शौरसेनी प्राकृत में सूत्रात्मक शैली में हुई है।

समग्र दिगम्बर-सम्प्रदाय में षट्खण्डागम के प्रति असीम श्रद्धा, अपरिमित आदर एवं पूजा का भाव रहा है। जैन-तत्त्व-ज्ञान से सम्बद्ध कर्मवाद प्रभृति विषयों के गम्भीर तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का असाधारण महत्व है।

ग्रन्थ का नाम

मूल सूत्रों में तो ग्रन्थ का कोई नाम दिया हुआ प्रतीत नहीं होता। पर, इसके टीकाकार आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में इसे खण्ड सिद्धान्त[2] के नाम से संज्ञित किया है।

---

१. दशवैकालिक, ४.७-८

२. तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति।
—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ७१

उन्होंने वहां इसके छः खण्डों की चर्चा की है। इस प्रकार आचार्य वीरसेन द्वारा यह ग्र
षट्खण्ड सिद्धान्त के रूप में अभिहित हुआ है।

आगे चलकर यह षट्खण्ड सिद्धान्त के स्थान पर यह आगम, परमागम तथा षट्खण्डागम के नाम से विशेष रूप से विश्रुत हुआ।

अपभ्रंश के महान् कवि महापुराण के रचयिता पुष्पदन्त ने इसे आगम सिद्धान्त[2] कहा है। गोम्मटसार की टीका में इसे परमागम कहा गया[3] है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में इसकी षट्खण्डागम के नाम से चर्चा की है।[4]

आगम शब्द एक विशेष आशय लिए हुए है, उसका आधार आप्त-वाक्यता है। युक्ति और तर्क का स्थान वहां गौण है। सर्वथा युक्तियुक्त और प्रमाण-सम्मत तथ्य को सिद्धान्त कहा जा सकता, आगम नहीं, यदि उसका स्रोत आप्तवाक्यता नहीं है। जैन परम्परा में आगम-कोटि में वे ही ग्रन्थ आते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध सर्वज्ञ-भाषित से होता है, दूसरे शब्दों में सर्वज्ञ-वाणी जिनका उद्गम-स्रोत है। इस दृष्टि से दिगम्बर-विश्वास के अनुसार इस ग्रन्थ के 'आगम' अभिधान की निःसन्देह सार्थकता है।

एक अविस्मरणीय घटना

भगवान् महावीर का निर्वाण हुए छः शताब्दियों से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार आगम-विच्छेद का काल लगभग आने वाला था। अधिकांश

---

१. इदं पुण जीवट्ठाणं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ७४

२. ण उ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु।
सिद्धंतु धवलु जयधवलु णामु॥

—महापुराण १.९.८

३. एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानादयः प्ररूपणा भगवदर्हद्गणधरशिष्यप्रशिष्यादिगुरुपूर्वागतया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिताः परमागमे पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिताः।

—गोम्मटसार, जीव काण्ड, टीका २१

४. षट्खंडागमरचनाभिप्रायः पुष्पदन्तगुरोः।

—श्रुतावतार १३७

आगम-श्रुत विच्छिन्न हो चुका था। बहुत कम अवशिष्ट रह पाया था। उस समय आचार्य धरसेन उसके संवाहक थे।

नन्दि-संघ की प्राकृत-पट्टावली में आचार्य धरसेन को आचारांग का पूर्ण ज्ञाता कहा गया है।[1] धवलाकार ने उन्हें अंगों तथा पूर्वों के एक देश का ज्ञाता कहा[2] है। जैसा भी रहा हो, वस्तुतः वे एक विशिष्ट ज्ञानी आचार्य थे, साथ-ही-साथ विशिष्ट साधक भी। वे सौराष्ट्र के अन्तर्गत गिरिनगर[3] की चन्द्र नामक गुफा में विशिष्ट ध्यान-साधना में संलग्न थे। उन्होंने सोचा—जो विशिष्ट श्रुत उन्हें प्राप्त है, वह कहीं उनके बाद लुप्त न हो जाये, योग्य एवं अधिकारी पात्र को दिया जाना चाहिए। उन्होंने महिमानगरी के मुनि-सम्मेलन (संभवतः तब वहां कोई वैसा सम्मेलन चल रहा हो) को पत्र प्रेषित किया तथा अपनी भावना उन तक पहुंचाई। इस प्रसंग का उल्लेख धवला-टीकाकार आचार्य वीरसेन ने निम्नांकित रूप में किया है :

"ग्रन्थ अर्थात् अवशिष्ट श्रुत-ज्ञान, जो उन्हें स्वायत्त है, का कहीं उच्छेद न हो जाये, यह सोचकर आचार्य धरसेन ने जो सौराष्ट्र देश में गिरिनगर नामक शहर की चन्द्र-गुफा में स्थित थे, जो अष्टांग महानिमित्त के पारगामी थे, अर्हत् प्रवचन के प्रति जिनका वात्सल्य था, महिमानगरी में सम्मिलित दक्षिणापथ के आचार्यों के पास लेख भेजा। आचार्य धरसेन द्वारा लेख में अभिव्यक्त वचन को अवधारित कर उन्होंने दो साधुओं को आन्ध्र-स्थित वेणा नदी के तट से गिरिनगर की ओर रवाना किया, जो (वे दो साधु) श्रुत के ग्रहण-धारण में सक्षम थे, उज्ज्वल-निर्मल विनयाचार से विभूषित थे, शील रूपी माला धारण किये हुए थे, जिनके लिए गुरु का निर्देश भोजनवत् तृप्तिप्रद था, जो देश, कुल एवं जाति से शुद्ध थे, समग्र कलाओं के पारगामी थे, अपने आचार्य से तीन बार पूछकर

---

१. पंचसये पणसेठे अंतिम जिण-समय-जादेसु।
   उप्पण्णा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥

   अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
   अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥

२. तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।

—षट्खण्डागम खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६७

३. जिसे आजकल गिरनार कहा जाता है।

आज्ञा लेने वाले थे ।"[1]

आगे आचार्य धरसेन की श्रुतोन्मुखी शुभाशंसा, विद्यार्थी मुनियों की पात्रता की परीक्षा, मुनियों द्वारा अपने योग्यत्व का समापन, श्रुताध्ययन का शुभारंभ आदि के सम्बन्ध में धवलाकार ने जो उल्लेख किया है, वह वस्तुतः पठनीय है; अतः उसे यहां उपस्थित किया जा रहा है ।

आचार्य धरसेन का स्वप्न

धवला के अनुसार—महिमानगरी से रवाना हुए दोनों मुनि चलते-चलते पहुंचने वाले थे । इधर आचार्य धरसेन ने रात के अन्तिम पहर में एक स्वप्न देखा—कुन्द, चन्द्र तथा शंक जैसे उज्ज्वल वर्ण वाले, सभी शुभ लक्षणों से युक्त दो वृषभ आते हैं, वे तीन बार उनकी (आचार्य धरसेन की) प्रदक्षिणा करते हैं और अत्यन्त नम्रतापूर्वक उनके चरणों में पड़ जाते हैं ।

यह स्वप्न देख आचार्य धरसेन परितुष्ट हुए तथा सहसा उनके मुंह से निकल पड़ा—श्रुत देवता की जय हो । उसी दिन वे दोनों विद्यार्थी-मुनि आचार्य धरसेन की सेवा में पहुंचे । उन्होंने आचार्य की चरण-वन्दना आदि कृति-कर्म किये । दो दिन सुसताये । तीसरे दिन विनयपूर्वक आचार्य धरसेन से निवेदन किया—इस (श्रुताध्ययन) के कार्य (उद्देश्य) से हम आपके श्रीचरणों में उपस्थित हुए हैं । आचार्य धरसेन बोले—यह सुष्ठु है, भद्र (कल्याणकारी) है और उन्होंने समागत मुनियों को आश्वासन दिया ।"[2]

---

१. तेण वि सोरट्ठ विसयगिरिणयरपट्टणचंदगुहाठिएण अट्ठंगमहानिमित्तपारएण गंथवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो । लेह-ट्ठिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहणधारण-समत्था धवलामलबहुविह-विणयविहूसियंगा सीलमालाहरा गुरुपेसणा-सणतित्ता देस-कुलजाइसुद्धा सयलकलापारया तिक्खुत्ता बुच्छियाइरिया अंधविसयवेण्णयडादो पेसिदा ।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६७

२. तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमे भाए कुंदेंदु-संख-वण्णा सव्वलक्खणसंपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु णिसुढिय-पदियंगा बे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा । एवंविह सुमिणं दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरिएण 'जयउ सुय-देवदा' त्ति संलवियं । तद्दिवसे चेव ते बे वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं । तदो धरसेणभयवदो किदियम्मं काऊण दोण्णि दिवसे बोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहि विण्णत्तो—'अणेण

आचार्य का चिन्तन

आचार्य धरसेन ने शुभ स्वप्न देखा। अगले ही दिन उसकी फल-निष्पत्ति भी देखी। आचार्य के सामने प्रश्न था—वे अपनी दुर्लभ विद्या समागत मुनियों को प्रदान करें या नहीं। उनका विश्वास था—सद्विद्या सत्पात्र में ही सन्निहित की जानी चाहिए। असत् पात्र में निहित उत्तम विद्या भी कभी सुखावह नहीं हो सकती। आचार्य के अन्तःकरण में विचारोद्वेलन होने लगा—

"जो शिक्षयिता—गुरु मोहवश पर्वत के मेघ, फूटे हुए घट, सांप, चालनी, भैंसे, मेढ़े, जोंक, शुक, मिट्टी तथा मच्छर के सदृश श्रोताओं के आगे श्रुत का व्याख्यान करता है—ऐसों को श्रुत का शिक्षण देता है, वह मद से प्रतिबद्ध, विषय-लोलुपता के विष से मूर्च्छित हो भटकता हुआ, बोधि—रत्नत्रय (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) के लाभ से भ्रष्ट होकर चिर-काल तक भव-कान्तार में परिभ्रमण करता रहता है। इस वचन का आलोडन करते हुए आचार्य के मन में आया कि स्वच्छन्द व्यक्तियों को विद्या देना भव-भ्रमण एवं भीति बढ़ाने वाला है।

यद्यपि आचार्य धरसेन ने शुभ स्वप्न द्वारा समागत मुनिद्वय का हार्द समझ लिया था, फिर भी उन्होंने उनकी परीक्षा करना आवश्यक समझा। वे जानते थे, सुपरीक्षा से की हुई परीक्षा हृदय में परितोष उत्पन्न करती है।"[1]

कल्लेयम्हा वो वि कज्जा तुम्हं पायमूलमुवगया' त्ति। 'सुट्ठु भद्दं' ति भणिऊण धरसेण-भडारएण वो वि आसासिदा।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६७-६८

1. सेल-घण-भग्ग-घड-अहि-चालणि-महिसा-ऽवि-जाहय-सुएहि।
   मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥ ६२ ॥
   दढ-गारव-पडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो।
   सो णट्ठ-बोहि-लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

   इदि वयणादो जहाछंदाइरियाणं विज्जादाणं संसार-भयवद्धणं ति चिंतिऊण सुह-सुविण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भडारएण पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता, 'सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइ करेत्ति'।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६९-७०

परीक्षा : सफलता

आचार्य धरसेन ने उपर्युक्त रूप में निश्चय कर श्रुतार्थी मुनियों की इस प्रकार परीक्षा की—"उन्होंने उनको दो विद्याएं दीं। उनमें एक अधिकाक्षरा थी, दूसरी हीनाक्षरा। उन्होंने मुनियों से कहा—षष्ठ-भक्त-उपवास—बेला कर विद्याएं साधें। मुनियों ने विद्याओं की साधना की। विद्या की अधिष्ठात्री देवियां उनके समक्ष प्रकट हुईं। उनमें एक देवी के दान्त मुंह से बाहर निकले हुए थे और दूसरी एक आंख से कानी थी। मुनि विचारने लगे—देवताओं में ऐसा कैसे? उनमें तो विकलांगता नहीं होती। दोनों मुनि मंत्र-विश्लेषण-शास्त्र में प्रवीण थे। अतः उन्होंने हीनाक्षरा विद्या के मंत्रों से अपेक्षित अक्षर मिलाकर तथा अधिकाक्षरा विद्या के मंत्रों में से अनपेक्षित अधिक अक्षर हटाकर उनकी पुनः साधना की। साधना फलित हुई। दोनों विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियां अपने स्वाभाविक सौम्य रूप में उन्हें दिखलाई दीं। मुनि आचार्य धरसेन के पास आये, यथोचित विनयपूर्वक विद्यासाधना सम्बन्धी वृत्तान्त उन्हें निवेदित किया। आचार्य बहुत परितुष्ट हुए और उन्हें शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र तथा शुभ वार में ग्रन्थ —शास्त्र पढ़ाना आरम्भ किया।"[1]

परितुष्ट गुरु द्वारा विद्या-दान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य धरसेन ने विद्या ग्रहण-हेतु समागत साधुओं को परीक्षा में सफल पाया। उन्हें विश्वास एवं परितोष हुआ कि वे दोनों सुयोग्य पात्र एवं समर्थ अधिकारी हैं। वे उन्हें सोत्साह विद्या देने लगे। विद्यादाता का हार्दिक अनुग्रह तथा विद्या-गृहीता की तन्मयता, लगन एवं परिश्रम विद्या की यथावत् प्राप्ति में निःसन्देह असाधारण सहायक होते हैं। ऐसा ही हुआ। पुष्पदन्त और भूतबलि बड़ी निष्ठा, भक्ति तथा विनयपूर्वक विद्या ग्रहण करने लगे। आचार्य धरसेन ने, जो विशिष्ट श्रुत उन्हें आयत्त था, सहर्ष अपने शिष्यों को दिया। शिष्य विद्या-निष्णात हो गये।

---

१. तदो तासं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ। तत्थ एगा अहियक्खरा अवरा वि हीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेह त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जादेवताओ पेच्छंति, एगा उड्ढंतुरिया अवरेया काणिया। ऐसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतिऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहि हीणाहिय-क्खराणं छुहणाव-णयण-विहाणं काऊण पढंतेहिं दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ७०

धवलाकार ने लिखा है, जिस दिन विद्याध्ययन समाप्त हुआ, वह आषाढ़ शुक्ला एकादशी का दिन था, पूर्वाह्न का समय था।[1] स्नातक-शिष्यों ने सोचा, हम अब अपने विद्या-गुरु का और सान्निध्य पायेंगे, उनकी सेवा-शुश्रूषा करेंगे। पर, घटना और ही प्रकार से घटी। आचार्य धरसेन ने उन्हें उसी दिन रवाना कर दिया।[2] इन्द्रनन्दि ने अपनी पुस्तक में उन्हें दूसरे दिन रवाना करने का उल्लेख किया है। खैर, शिष्यों को यह अपने मनोनुकूल तो कैसे लगता, पर जैसी भी हो, गुरु की आज्ञा कभी लांघनी नहीं चाहिए, वे चल पड़े।

वर्षावास का समय लगभग आ ही चुका था। क्योंकि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से जैनों में उसका प्रारम्भ माना जाता है। जैन मुनि वर्षावास में विहार नहीं करते। वे किसी एक ही ग्राम या नगर में चातुर्मासिक प्रवास करते हैं। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आचार्य धरसेन ने अपने शिष्यों को विदा करने में इतनी शीघ्रता क्यों की, जब कि मुनियों के विहार का समय लगभग समाप्त हो चुका था।

स्नातकों का प्रस्थान : संभावनाएं

आचार्य धरसेन द्वारा अपने अन्तेवासियों को इतना शीघ्र विहार करा देने के सन्दर्भ में अनेक संभावनाएं की जा सकती हैं।

आचार्य धरसेन ने जब महिमानगरी के मुनि-सम्मेलन को लेख भेजा, तब सम्भवतः उसका कारण उन्हें अपने आयुष्य की अल्पता ज्ञात हुआ हो। अन्यथा वे स्वयं चलाकर ऐसा क्यों करते। अब, जब वे दोनों शिष्यों को अपनी विद्या दे चुके हैं तो शायद उनका आयुष्य मृत्यु के बिल्कुल निकट पहुंच गया हो। उन्होंने सोचा हो, इन्हें तो जाना है ही, जिन शिष्यों को उन्होंने इतने अनुग्रह और वात्सल्य से विद्या-दान दिया है, वे (शिष्य) उन्हें अपनी आंखों के सामने देह-त्याग करते देख कितने दुःखी होंगे। यह भी हो सकता है; उन्हें लगा हो, यदि शिष्य सामने रहेंगे तो स्यात् उनके मन में अपने अन्तिम समय में अपने प्रिय, विनीत एवं आज्ञाकारी शिष्यों के प्रति कुछ ममता का भाव उत्पन्न हो जाये, जो उनके उदात्त एवं निःस्पृह श्रमण-जीवन के प्रतिकूल हो।

---

1. पुणो कमेण वक्खाणेंत आसाढ़-मास-सुक्क-पक्ख [illegible] मर्यादिदो।
—षट्खण्डागम, १, पृ० ७०
2. पुणो तद्दिवसे चेव पेसिदा संतो। १, पृ० ७

एक सम्भावना यह भी की जा सकती है, वे एक ध्यान-योगी एवं तपस्वी साधक थे। जब उन्होंने देखा कि शिष्यों को विद्या-दान कर वे अपना उत्तरदायित्व पूरा कर चुके हैं तो उन्हें लगा हो कि अब उन्हें पुनः एकान्त साधना में जुट जाना चाहिए। अतः एक दिन भी वे अपने शिष्यों को अपने पास क्यों रखें।

यह सम्भावना कुछ संगत प्रतीत नहीं होती; क्योंकि आचार्य धरसेन की वैसी भावना होने पर भी जिस दिन विद्याध्ययन समाप्त हुआ, उसी दिन या उसके अगले दिन शिष्यों को रवाना करने जैसी शीघ्रता करने की वैसी क्या आवश्यकता थी। कुछ समय शिष्यों के वहां रहते हुए भी उनकी साधना चल सकती थी।

एक कल्पना यह भी है, उन्होंने सोचा हो, जो श्रुत उन्होंने अपने अन्तेवासियों को दिया है, उसके प्रसार-विस्तार में एक दिन का भी विलम्ब क्यों हो। अतएव उन्हें तत्काल रवाना कर दिया हो। पर, यह संभावना भी कम व्यवहार्य प्रतीत होती है।

इन्द्रनन्दि और श्रीधर का संकेत

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार तथा श्रीधर के श्रुतावतार में पहली सम्भावना की ओर संकेत किया है। अर्थात् उनके अनुसार आचार्य धरसेन को ऐसा भान हुआ कि उनकी मृत्यु सन्निकट है। उनके निधन का दृश्य देख उनके शिष्यों को मनः क्लेश न हो, इसलिए उनको प्रस्थान करा दिया।[1]

अंकुलेश्वर में चातुर्मास्य

पुष्पदन्त एवं भूतबलि गुरु की आज्ञा को अलंघनीय मानते हुए उसे शिरोधार्य कर चल पड़े। वे अंकुलेश्वर आये।[2] इन्द्रनन्दि ने उस नगर का नाम कुरीश्वर लिखा है। ऐसी भी

---

१. स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत् संक्लेशमेतयोरस्मिन्।
इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन॥

—इन्द्रनन्दि

आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेनस्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनि विसर्जनं करिष्यति।

—श्रीधर

२. ——'गुरुवयणमलंघणिज्जं' इदि चिंतिऊणागदेहि अंकुलेसरे वरिसाकालो कओ।

—षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ७१

चर्चा की है कि वे दोनों मुनि नौ दिनों की यात्रा कर वहां पहुंचे। इसका अर्थ यह हुआ कि वे यदि आषाढ़ शुक्ला एकादशी को गिरिनगर से चले तो श्रावण कृष्णा चतुर्थी को अंकुलेश्वर पहुंचे और यदि आषाढ़ शुक्ला द्वादशी को चले तो श्रावण कृष्णा पंचमी को वहां पहुंचे। अर्थात् जैन मर्यादा के अनुसार चातुर्मास्य के प्रारम्भ हो जाने के छः या सात दिन बाद वहां पहुंचे। उनकी यह सासाहिक यात्रा जैन आचार-व्यवस्था के अनुसार विहित नहीं थी, पर शायद अपवाद रूप में उन्हें वैसा करना पड़ा हो; आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी तक उनके पास विहार के लिए केवल तीन दिनों का समय अवशिष्ट था। इतने अल्प समय में वे चातुर्मासिक प्रवास के लिए उपयुक्त स्थान पर नहीं पहुंच सके हों। अस्तु, उन्होंने अंकुलेश्वर में अपना चातुर्मास्य किया।

आचार्य धरसेन : तिरोधान

महान् मनीषी एवं साधक आचार्य धरसेन के जीवन का केवल इतना-सा भाग प्रकाश में है। उनके आगे-पीछे के इतिवृत्त के सम्बन्ध में और कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। अपनी विद्या को सत्पात्र में सन्निधापित करने की तीव्र उत्कण्ठा, सुयोग्य, जिज्ञासु एवं जिघृक्षु अन्तेवासियों की प्राप्ति, विद्या का दान और उसके बाद तिरोधान—यही संक्षेप में उनके व्यक्त जीवन का लेखा-जोखा है। पुष्पदन्त तथा भूतबलि को प्रस्थान कराने के बाद वे हमारी आंखों से ओझल हो जाते हैं। अब कुछ, क्या हुआ, सब अज्ञात है। भारत के साधक मनीषियों की कुछ इसी प्रकार की स्थिति रही है।

आचार्य धरसेन के सम्बन्ध में जो कुछ प्राप्त आधार, उल्लेख या सम्भावनाएं हैं, उनके परिपार्श्व में यथास्थान चर्चा करेंगे।

षट्खण्डागम का प्रणयन

मुनि पुष्पदन्त एवं भूतबलि ने अंकुलेश्वर में चातुर्मासिक प्रवास किया। उस सन्दर्भ में धवला में उल्लेख है : "वर्षावास बिताकर आचार्य पुष्पदन्त जिनपालित को देखकर (उसके साथ) वनवास नामक प्रदेश की ओर चले गये। भूतबलि भट्टारक द्रमिक प्रदेश की ओर चले गये। तत्पश्चात् आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा की। बीस अधिकारों में विभक्त सत्प्ररूपणा के सूत्र रचे तथा जिनपालित को उन्हें पढ़ाया। फिर उसे भूतबलि भट्टारक के पास भेज दिया।"[1]

---

1. जोगं समाणीय जिणवालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासविसयं गदो। भूदबलि-भडारओ वि दमिल देसं गदो। तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण

उत्तरापथ से पादपूर्ण तक पहुंच यह धर्म दक्षिण में हिन्द महासागर तक फैला, जिसे आज [illegible] है। दीर्घ काल तक वह दक्षिण भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय था। उसे राजा और प्रजा—दोनों की असीम श्रद्धा तथा आदर उसे प्राप्त था।

जैन धर्म के दक्षिण-प्रवेश के सन्दर्भ में परम्परया यहाँ तक माना जाता है कि आद्य तीर्थंकर ऋषभ तथा चरम तीर्थंकर महावीर का यहाँ से सीधा सम्बन्ध रहा है। प्रो० एम० बे० रामचन्द्रराव ने इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा है : "ग्यारहवीं शती के एक संस्कृत[1] ग्रन्थ में उपाख्यान है। उसमें कहा गया है कि महावीर स्वयं दक्षिण में आये, विशेषतः कन्नड़ देश में, जो तब हेमांगद-देश कहा जाता था। उस समय जीवन्धर नामक राजा था। वह महावीर के सम्पर्क में आया और उनसे श्रमण-जीवन में प्रव्रजित हो गया। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि आद्य तीर्थंकर ऋषभ, जो अनुमानतः चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के आविर्भाव (५९९ ई० पूर्व) से सहस्रों वर्ष पूर्व हुए, के श्रमण-संघ में दाक्षिणात्य राजकुमार भी सम्मिलित थे, जो अन्त में सौराष्ट्रस्थित पालीताना के शत्रुंजय पर्वत पर चले गये।"[2]

---

1. Kshatra Chudamani by Odeyadeva Vadibhsimtra; the legend is retold in the Kannada Jeevandhara Charite of Bhaskara and the Tamil Jeevaka Chintamani of Tiruthukka-devar.

2. There is a legend, told in an eleventh Century Sanskrit work. That Mahavira himself came to the South, to the Kannada Country more specifically, (Known at that time as Hemangada-desha), during the reign of King Jivandhara, whom Mahavira met and admitted into the ascetic fold. There is a belief that even during the days of the very first Tirthankara Rishabha, Presumably several thousand of years before the arrival of the twenty fourth Tirthankara, Mahavira, 599 B.C., there were South Indian princes in the entourage of Rishabha and that they finally retired to the Satrunjaya Hills in Palitana, Saurashtra.

—Jainism in South India, Page 1

एक प्रश्न : एक समाधान

दक्षिण में जैन धर्म के रूप में दिगम्बर-सम्प्रदाय ही प्रसृत हुआ, श्वेताम्बर नहीं। आज भी प्रायः दक्षिण निवासी जो जैन हैं, वे लगभग सब के सब दिगम्बर हैं, श्वेताम्बर नहीं हैं, वे प्रायः वही हैं, जो उत्तर के राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों से व्यवसाय हेतु वहाँ जाकर बस गये हैं। केवल दिगम्बर ही दक्षिण में कैसे पहुँचे— यह एक प्रश्न है। इस सन्दर्भ में एक सम्भावना की जा सकती है कि जैन धर्म में श्वेताम्बरों तथा दिगम्बर के रूप में जब भेद पड़ा, तब तक दक्षिण में जैन धर्म का उत्तर की अपेक्षा बहुत कम प्रसार रहा हो। दिगम्बर मुनियों में धर्मोद्योत एवं धर्म-प्रभावना का तीव्र उत्साह रहा हो, साथ-ही-साथ अपने लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र प्रतिष्ठापन्न करने का भी मानस रहा हो। एतदर्थ दक्षिणापथ में धर्म को व्यापक रूप में प्रसृत करने का उनमें भाव जागा हो। दक्षिण का जन-मानस उन्हें अपेक्षाकृत विशेष उर्वर लगा हो। निर्वस्त्र जीवन-यापन की दृष्टि से वहाँ का जलवायु भी, जो उस प्रदेश की उष्ण कटिबन्ध में अवस्थिति के कारण प्रायः उष्ण है, अनुकूल प्रतीत हुआ हो। ऐसे और भी कारण हो सकते हैं, जिन्होंने दिगम्बर श्रमणों को दक्षिण की ओर आकृष्ट किया हो। धर्म-प्रसार का जैसा तीव्र उत्साह एवं तदनुरूप उद्यम उन दिगम्बर-श्रमणों में रहा, वह फलान्वित भी हुआ, जिसका ज्वलन्त प्रमाण दाक्षिणात्य भाषाओं का साहित्य, वहाँ का स्थापत्य, मूर्तिकला, संस्कृति आदि है।

कतिपय दिग्गज दाक्षिणात्य दिगम्बर आचार्य

दिगम्बर जैन साहित्य के सर्जन, विकास एवं अभ्युदय की दृष्टि से दक्षिण निःसन्देह बड़ा उर्वर क्षेत्र सिद्ध हुआ। इस भूमि में उत्पन्न महान् आचार्यों ने तत्त्व-ज्ञान, अध्यात्म एवं धर्म-जागरण के परिपार्श्व में जो अनेक विषयों पर बहुविध साहित्य रचा, उसका भारतीय वाङ्मय एवं चिन्तनधारा में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यों कहना अतिरंजन नहीं होगा कि दिगम्बर-जैन-परम्परा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्य यहीं दक्षिणापथ में प्रणीत हुआ। उन्होंने अपनी अनुपम कृतियों द्वारा जैन वाङ्मय को अपनी अप्रतिम देन दी। उनमें समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि तथा अनेक प्राभृत-ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द (ई० सन् के प्रारम्भ के आस-पास), इतने गौरवास्पद कि दिगम्बर परम्परा में जिनका नाम गणधर गौतम के बाद लिया जाता है।[1]

---

१. मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गोतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो, जैनधर्मस्तु मंगलम्॥

विस्तृत और बहुतर अध्यवसाय से साध्य सरणि का क्यों अवलम्बन करे। खैर, जैसा भी हुआ, उसे स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता।

तत्त्व-ज्ञान का क्षेत्र वस्तुतः बड़ा विशाल है। उसमें अवगाहन करने के लिए तो जीवन भर की साधना की मांग है। कामचलाऊ बात वहां नहीं होती। सुविधाप्रिय मनोवृत्ति में कामचलाऊपन का आधिक्य रहता है। अतः धवला सहित षट्खण्डागम के अध्ययन से जो लभ्य है, वह मात्र गोम्मटसार के अध्ययन से लब्ध हो सके, नहीं माना जा सकता।

ज्ञान तो उभय पक्षी है—वह साधन भी है, साध्य भी है। इसलिए यहां सुविधा-असुविधा का प्रश्न नहीं उठता। खैर, जैसा भी हो, अन्ततः ये शास्त्र ग्रन्थ-भण्डार में स्थिर हो गये। ये पूजा तथा दर्शन की वस्तुमात्र बनकर रह गये।

ज्ञान का स्रोत तो गंगा का बहता नीर है। वह सदा बहता रहना चाहिए। क्योंकि वह सरोवर का बन्द जल नहीं है। तत्त्व-ज्ञान की महिमामयी निधि को अपने में समेटे हुए ये सिद्धान्त-ग्रन्थ जिस स्थिति में आकर निरुद्ध हो गये, क्या वह उनकी तड़ाग के जल की-सी स्थिति नहीं थी ?

मूडबिद्री दिगम्बर-जैनों का भारत-विख्यात तीर्थ है। प्रतिवर्ष सहस्रों जैन तीर्थ-यात्रा हेतु वहां जाते रहे हैं तथा रत्नमयी जिन-प्रतिमाओं के साथ-साथ इन सिद्धान्त-ग्रन्थों के भी दर्शन करते रहे हैं। आज भी यह क्रम होता है।

कारा शब्द अच्छा तो नहीं है, पर यों कहना न अवहेलना है और न अत्युक्ति ही कि पिछली कई शताब्दियों से ये ग्रन्थ ग्रन्थ-भण्डार की कारा में बन्द थे। देव-मूर्ति के रूप से अधिक उनका कोई व्यावहारिक अस्तित्व रह नहीं गया था।

षट्खण्डागम के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय डा० हीरालाल जैन ने इस सम्बन्ध में बड़े विह्वल शब्दों में लिखा है : "इन सिद्धान्त-ग्रन्थों में जो अपार ज्ञान-निधि भरी हुई है, उसका इन कई शताब्दियों से हमारे साहित्य को कोई लाभ नहीं मिल सका; क्योंकि इनकी एकमात्र प्रति किसी प्रकार तालों के भीतर बन्द हो गई और अध्ययन की वस्तु न रहकर पूजा की वस्तु बन गई। यदि ये ग्रन्थ साहित्य-क्षेत्र में प्रस्तुत रहते तो उनके आधार से अब तक न जाने कितना किस कोटि के साहित्य का निर्माण हो गया होता और हमारे [illegible] को [illegible] विकास [illegible] हो गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां जिनसे विद्वत्समाज के [illegible] और [illegible] [illegible] होता रहता है, वह

घुलती हुई जा रही है। ऐसी [illegible] हम [illegible] ही [illegible] रहे— ......।"[1]

षट्खण्डागम : बहिर्निष्क्रमण की कहानी

आलोडक एवं ज्ञानानुरागी जनों के मन में अलग-अलग यह विचारोद्वेलन तो होता रहा है कि वे महान् सिद्धान्त-ग्रन्थ प्रकाश में आयें, इनका पठन-पाठन हो, प्रचार-प्रसार हो, पर विचार का क्रियान्वयन इतना सरल नहीं है। इन ग्रन्थों के बाहर आने, प्रकाश में आने की बड़ी रोचक कहानी है। उसे संक्षेप में उपस्थित करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

पं० टोडरमलजी के समय में चिन्तन

दिगम्बर समाज में पं० टोडरमलजी (वि० सं० १७९७-१८२४) उत्कृष्ट तत्त्व-वेत्ता के रूप में विश्रुत रहे हैं। उनके लिए प्रयुक्त 'आचार्य-कल्प' विशेषण इस तथ्य का उद्घाटक है। उनके समय में जयपुर तथा तत्रस्थ के श्रावकों में इन सिद्धान्त-ग्रन्थों को प्रकाश में लाने, इनके पठन-पाठन का प्रचार करने आदि पर विचार चला, पर, उसकी कोई क्रियान्विति नहीं हो सकी। पं० टोडरमलजी ने आयुष्य ही बहुत कम पाया। यदि उनका दीर्घ आयुष्य होता तो सम्भव है, वे संघ को इस ओर प्रेरित करते।

सेठ माणिकचन्द की यात्रा : विचारोद्वेलन

बम्बई निवासी स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द जे० पी० दिगम्बर समाज के एक प्रसिद्ध, उदारमना, धर्मनिष्ठ एवं समाज सेवी सज्जन थे। एक प्रसंग बना, वे विक्रमाब्द १९४० में संघ सहित मूडबिद्री की यात्रा पर गये। उन्होंने वहाँ रत्न-प्रतिमाओं तथा सिद्धान्त-ग्रन्थों के दर्शन किये। उनका मन रत्नमयी प्रतिमाओं की अपेक्षा सिद्धान्त-ग्रन्थों की ओर विशेष आकृष्ट हुआ। जब उन्होंने ताड़-पत्रों की स्थिति देखी, जो जीर्ण होते जा रहे थे, उनके मन में चिन्ता व्याप्त हो गई, कहीं ऐसा न हो, ये महान् ग्रन्थ उत्तरोत्तर जीर्ण होते जायें और एक दिन ऐसा आये, शायद ये हमें उपलब्ध ही न रह सकें। सेठ ने मन्दिर के भट्टारक तथा पंचों से समक्ष चर्चा की। उनसे पूछा, क्या आप लोग इन ग्रन्थों को पढ़ सकते हैं ? उन्होंने कहा—हम तो केवल दर्शन एवं पूजा कर लेने में ही अपना सौभाग्य मानते हैं और सन्तोष कर लेते हैं, पढ़ नहीं सकते। सेठजी चिन्तित हो गये कि कितना आश्चर्य है, ग्रन्थों

---

१. षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, प्राक्कथन पृ० ६

इन सभी ग्रन्थों की सुरक्षा तथा तत्त्व-जिज्ञासुओं के उपयोग के उद्देश्य से अनेक प्रतिलिपियाँ हों तथा उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों में रखा जाए। मूडबिद्री के भट्टारक तथा पंच इससे सहमत नहीं हुए। इतना भर हुआ कि सिद्धान्त-मन्दिर में रखे जाने के लिए महाधवल की कनाड़ी में प्रतिलिपि कराये जाने की स्वीकृति हो गई। पं० नेमिराज सेठी इस कार्य में लगा दिये गये, जिन्होंने सन् १९१८ से पहले इसे सम्पन्न कर दिया। इस प्रकार महाधवल की कनाड़ी प्रतिलिपि तो हो गई, पर, सेठ हीराचन्द चाहते थे, उसकी देवनागरी में भी प्रतिलिपि हो। प्रस्ताव स्वीकृत होने पर पं० लोकनाथ शास्त्री नामक विद्वान् को इस कार्य में लगाया गया, जिन्होंने चार वर्ष की अवधि में इसे सम्पन्न कर लिया। इस प्रतिलिपि का कार्य सन् १८९६ में चालू हुआ तथा सन् १९२२ में समाप्त हुआ। कुल २६ वर्षों का समय इसमें व्यतीत हुआ।

पं० गजपति शास्त्री द्वारा अतिरिक्त प्रतिलिपि

जैसा कि कहा गया है, धवल और जयधवल की देवनागरी प्रतिलिपि का कार्य १५०० श्लोक-प्रमाण सामग्री के अतिरिक्त सारा का सारा पं० गजपति शास्त्री ने अकेले किया। वे जानते थे, यह प्रतिलिपि जो हो रही है, मूडबिद्री के मन्दिर में ही रहेगी, कहीं बाहर नहीं जा सकेगी। उनमें विचारोद्वेलन हुआ। उनकी पत्नी लक्ष्मी बाई एक विदुषी महिला थी। उसने भी इस स्थिति का अंकन एवं पर्यालोचन किया। दोनों सोचने लगे—क्यों न हम लोग गुप्त रूप से इसकी एक कनाड़ी लिपि कर लें। लक्ष्मी बाई ने अपने पति को इसके लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। अन्ततः पति-पत्नी ने निश्चय किया कि वे गुप्त रूप से कनाड़ी प्रतिलिपि करेंगे।

कनाड़ी में प्रतिलिपि करने का निर्णय शायद इसलिए किया गया हो कि वैसा होने से वह कार्य अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से होगा। क्योंकि वे कन्नड़ भाषी थे, कनाड़ी उनकी लिपि थी, जिसमें लिखने का उनका अभ्यास देवनागरी की अपेक्षा द्रुततर रहा हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है, लक्ष्मीबाई को देवनागरी लिपि का विशेष अभ्यास न रहा हो, जिससे देवनागरी में प्रतिलिपि करने में वह अपने पति की सहयोगिनी नहीं हो सकती थी, जबकि कनाड़ी में प्रतिलिपि किये जाने में वह अपने पति को पूरा सहयोग कर सकती थी। अस्तु, उधर दिन में मन्दिर में देवनागरी में प्रतिलिपि किये हुए पत्र पं० गजपति शास्त्री वहां से लौटते समय गुप्त रूप से अपने घर लेते आते। रात्रि में वे तथा उनकी पत्नी कनाड़ी में प्रतिलिपि करते जाते। उधर देवनागरी प्रतिलिपि समाप्त हुई, इधर

कनाड़ी प्रतिलिपि का कार्य भी साथ-ही-साथ सम्पन्न हो गया। पति-पत्नी दोनों ने मिल कर इस कार्य में घोर परिश्रम किया।

पं० गजपति शास्त्री का यह कार्य नैतिकता की भाषा में नहीं आता तथा न उन्होंने एकमात्र ज्ञान-प्रसार के भाव से ही उसे किया, फिर भी इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि पं० गजपति शास्त्री और उनकी विदुषी पत्नी यदि ऐसा न करते तो ये दुर्लभ सिद्धान्त-ग्रन्थ ग्रन्थ-भण्डार की कारा से शायद ही बाहर आ पाते। यदि आते तो भी बड़े विलम्ब से, बड़ी कठिनाई से।

कनाड़ी प्रतिलिपि का बहिर्गमन

पं० गजपति शास्त्री अपनी प्रतिलिपि किसी सुयोग्य, समर्थ व्यक्ति को उपहृत करना चाहते थे, जिससे वह किसी उपयुक्त स्थान में अवस्थित रह सके ताकि कभी उपयोग में भी आ सके। वे उसके लिए पुरस्कार भी चाहते थे। वे सोलापुर आये। उन्होंने सेठ हीराचन्द से अनुरोध किया कि वे प्रतिलिपि ले लें। सेठ ने प्रतिलिपि लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने मित्र बम्बई निवासी सेठ माणिकचन्द जे०पी० को भी लिख दिया कि वे भी धवल, जयधवल की प्रतिलिपि स्वीकार न करें। यद्यपि सेठ हीराचन्द हृदय से इन सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार चाहते थे और जैसा कि पहले सूचित किया गया है, तदर्थ अधिक प्रतिलिपियां कराना भी चाहते थे, पर ग्रन्थ बाहर न ले जाने के सम्बन्ध में मूडबिद्री के भट्टारक तथा पंचों के साथ उनकी वचन-बद्धता थी, जो प्रतिलिपियां स्वीकार करने से भंग होती थी; अतः वैसा करना उन्हें अपने लिए नैतिक नहीं लगा।

तब पं० गजपति शास्त्री सहारनपुर गये। वहां जैन समाज के प्रमुख लाला जम्बूप्रसाद रईस थे। उन्होंने प्रतिलिपियां स्वीकार कर लीं और शास्त्रीजी को पुरस्कार प्रदान किया। प्रतिलिपियां मन्दिर में रख दी गईं।

लाला जम्बूप्रसाद रईस चाहते थे कि उन द्वारा गृहीत उन सिद्धान्त-ग्रन्थों की देवनागरी में भी प्रतिलिपि हो ताकि उत्तर भारत में उनका उपयोग हो सके। पं० गजपति शास्त्री ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे वैसा कर देंगे। पर, यह सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि पं० गजपति शास्त्री अपने पुत्र की रुग्णता के कारण घर लौट आये। संयोग ऐसा हुआ, उनकी पत्नी भी रुग्ण हो गई तथा कुछ समय के पश्चात् उनका देहावसान हो गया। ऐसी विषम परिस्थिति के कारण शास्त्रीजी फिर सहारनपुर नहीं जा सके। १९२३ ईसवी

में वे स्वयं परलोकगामी हो गये। अपने द्वारा की गई कनाड़ी प्रतिलिपि का देवनागरी रूपान्तर उनके हाथ से नहीं हो सका।

कनाड़ी से देवनागरी

लाल जम्बूप्रसाद रईस कनाड़ी से देवनागरी प्रतिलिपि कराने के लिए विशेष प्रयत्नशील थे। इसके लिए ऐसे विद्वानों की आवश्यकता थी, जो दोनों लिपियों के अच्छे अभ्यासी हों, संस्कृत-प्राकृतविद् भी हों। लालाजी को पं० विजयचन्द्रय्या तथा पं० सीताराम शास्त्री नामक विद्वान् मिल गये। १९१६ ईसवी से प्रतिलिपि का कार्य आरम्भ हुआ। सात वर्ष तक चला। १९२३ ईसवी में सम्पन्न हुआ। लाल जम्बूप्रसाद रईस आदि ने यह आवश्यक समझा कि कनाड़ी और देवनागरी प्रतिलिपियों का बहुत ध्यान से मिलान करवाया जाए, ताकि कोई स्खलना न रहे। दोनों प्रतियां सर्वथा एकरूप हों। मूडबिद्री निवासी पं० लोकनाथ शास्त्री इस कार्य के हेतु बुलवाये गये। उन्होंने दोनों प्रतियों का मिलान कर दिया।

कुछ और प्रतिलिपियां

सहारनपुर में की गई देवनागरी प्रतिलिपि कनाड़ी की तरह मन्दिर में सन्निधापित कर दी गई। कार्य समाप्त हुआ। पर, यहां भी मूडबिद्री की घटना से मिलती-जुलती सी घटना पुनरावृत्त हुई। पं० सीताराम शास्त्री ने एक प्रतिलिपि और कर ली एवं उसे अपने पास रख लिया। ऐसा करने के पीछे उनके मन में दोनों प्रकार की भावनाएं रही हों—इन सिद्धान्त-ग्रन्थों को अन्यत्र प्रसृत करने का अवसर हाथ में रहे और साथ-ही-साथ पुरस्कार पाने का भी।

पं० सीताराम शास्त्री के पास रही प्रति के सम्बन्ध में एक और प्रकार की चर्चा भी है। पं० विजयचन्द्रय्या और पं० सीताराम शास्त्री जब प्रतिलिपि का कार्य करते थे, तब उनका विधि-क्रम यह था—पं० विजयचन्द्रय्या ग्रन्थ पढ़ते जाते थे और पं० सीताराम शास्त्री एक कच्चे खर्रे के रूप में लिखते जाते थे ताकि लेखन शीघ्रता से हो सके। श्री शास्त्री ने उस कच्चे खर्रे से सावधानीपूर्वक स्पष्ट अक्षरों में शास्त्राकार प्रतिलिपि तैयार की तथा लालाजी को सौंप दी। कच्चे खर्रे वाली प्रति पं० सीताराम शास्त्री ने अपने पास रख ली।

षट्खण्डागम के प्रति समग्र दिगम्बर समाज में अत्यन्त श्रद्धा एवं पूजा के भाव रहे हैं। लोगों को जब यह विदित हुआ, उन्होंने पं० सीताराम शास्त्री से अपने-अपने स्थानों के लिए प्रतिलिपियां करवाईं। अनेक कुछ प्रतिलिपियां पं० सीताराम शास्त्री द्वारा की गई

प्रतिलिपियों के आधार पर भी हुईं। इस प्रकार अजमेर, अमरावती, आरा, इन्दौर, कारंजा, झालरापाटन, दिल्ली, बम्बई, ब्यावर, सागर, सिवनी तथा सोलापुर में उन सिद्धान्त-ग्रन्थों की प्रतिलिपियां सन्निधापित हुईं।

यह उन महान् ग्रन्थों के शास्त्र-भण्डार से बाहर आने की कहानी है, जो काफी प्रेरक भी है और रोमांचक भी। धर्म के दो पक्ष हैं—ज्ञान और उपासना। दोनों सन्तुलित रूप में चलें तो यथार्थतः धर्म सधता है। धर्म केवल पूजा और अर्चना तक सिमट जाये तो उससे जीवन का साध्य कभी सधता नहीं। जब भी, जिस भी युग में ऐसा होता है, तथाकथित धार्मिक जनों में जड़ता व्याप्त हो जाती है और मात्र धर्मोपासना की बंधी-बंधाई यान्त्रिक-पद्धति ही उनके हाथ में रह जाती है। षट्खण्डागम जैसे महत्त्वपूर्ण वाङ्मय के शताब्दियों तक केवल धूप की सुवास लेते हुए अवस्थित रहने की घटना क्या इस श्रेणी में नहीं आती? शास्त्र की सच्ची पूजा उसका स्वाध्याय, उस पर मनन, चिन्तन, परिशीलन एवं निदिध्यासन है। यह सब छूट जाये और केवल ग्रन्थ मात्र उसकी धूप, दीप, केसर, चन्दन से अर्चना मात्र होती रहे, क्या इसे वास्तविक अर्चना और पूजा की संज्ञा दी जा सकती है, इसका उत्तर पाना विज्ञजनों के लिए कठिन नहीं है।

षट्खण्डागम का प्रकाशन

स्वनामधन्य स्वर्गीय डा० हीरालाल जैन ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु बड़ा प्रयत्न किया। उन्हें तथा उनके साथियों को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। एक वर्ग ऐसा भी था, जो उन ग्रन्थों के प्रकाशित होने में धर्म की अवहेलना और ज्ञान की आशातना समझता था। इन महान् ग्रन्थों को प्रतिमाओं की तरह केवल मन्दिरों में या शास्त्र-भण्डारों में प्रतिष्ठित देखना ही उसे [illegible] था। पर [illegible] न [illegible] हुए [illegible] के अनुसार डा० जैन [illegible] अपने इस कार्य में लगे रहे। फलतः वे महान् ग्रन्थ, जिनके [illegible] दुर्लभ थे, [illegible] के रूप में आ सके।

डा० जैन और उनके साथियों को कठिनाइयों का [illegible] है कि जब प्रकाशन की चर्चा चली तो कोई भी अपनी प्रतिलिपियाँ देने के लिए तैयार नहीं हुआ। डा० जैन ने स्वयं लिखा है: [illegible], षट्खण्डागम की प्रतिलिपि प्राप्त करने की [illegible] हुई। [illegible]

[illegible]

तैयार नहीं थे। ऐसे समय में श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी ने व अमरावती पंचायत से सत्साहस करके अपने यहां की प्रतियों की सदुपयोग करने की अनुमति दे दी।"[1]

अमरावती की प्रतिलिपि से प्रेस-कॉपी तैयार की गई। अमरावती की प्रति सागर-स्थित प्रति की प्रतिलिपि है। सागर की प्रति पं० सीताराम शास्त्री के हाथ की है।

पाठ-संशोधन में आरा तथा कारंजा की प्रतियों के उपयोग की सुविधा प्राप्त हो गई। ये दोनों प्रतियां पं० सीताराम शास्त्री के हाथ की हैं। मूडबिद्री की प्रति से मिलाने का तो तब अवसर ही कहां था। वहां वाले तो उनमें से थे, जिनकी दृष्टि से यह कार्य धर्म का प्रतिगामी था। इस सन्दर्भ में डा० जैन ने अपनी तथा अपने साथियों की मनोव्यथा का इन शब्दों में उल्लेख किया है : "जिन प्रतियों को लेकर हम संशोधन करने बैठे थे, वे त्रुटियों और स्खलनों से परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक-एक शब्द के संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पड़ी हैं और कितने दिनों तक रात के दो-दो बजे तक बैठकर अपने खून को सुखाना पड़ा है। फिर भी हमने जो संशोधन किया, उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह भी सब करना पड़ा, जब कि मूडबिद्री की आदर्श प्रतियों के दृष्टिपात मात्र से सम्भवतः उन कठिन स्थलों का निर्विवाद रूप से निर्णय हो सकता था। हमें उस मनुष्य के जीवन का-सा अनुभव हुआ, जिसके पिता की अपार कमाई पर कोई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक-एक टुकड़े के लिए दर-दर भीख मांगता फिरे। इससे जो हानि हुई, वह किसकी ? जितना समय और परिश्रम इसके संशोधन में खर्च हो रहा है, उससे मूल प्रतियों की उपलब्धि में न जाने कितनी साहित्य-सेवा हो सकती थी और समाज का उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्ति के अपव्यय से समाज की गति रुकती है। इस मन्द गति से न जाने कितना समय इन ग्रन्थों के उद्धार में खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला और संस्कृति के लिए बड़े संकट का है। राजनैतिक विप्लव से हजारों वर्षों की सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटों में भस्मसात् हो सकती है। दैव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा ही संकट यहां आ गया तो वे ताड़पत्र-वाली के अवशिष्ट रूप फिर कहां रहेंगे ? इस, चीन आदि देशों के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जाने पर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जाने पर नये कभी भी निर्माण कराकर खड़े किये जा सकते हैं। धर्म के अनुयायियों की संख्या कम होने पर कदाचित् प्रचार द्वारा

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, प्राक्कथन पृ० २

बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्यों के जो शब्द ग्रन्थों में ग्रथित हैं, उनके एक बार नष्ट हो जाने पर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों-करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुत का उद्धार किया जा सकता है? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्य के एक-एक टुकड़े पर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायों से अभी तक ग्रन्थ-रक्षा होती थी, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। संहारक शक्ति ने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य-रक्षा का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रन्थों की हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जायें ताकि किसी भी अवस्था में कहीं-न-कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत-भक्ति का अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है, जो हम ज्ञान के इन उत्तम संग्रहों की ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाश की जोखम लिए चुपचाप बैठे हैं।"[1]

सम्पादन-कार्य में डा० जैन को दिगम्बर समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री तथा पं० हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ का असाधारण सहयोग तथा साहाय्य रहा। इसी प्रकार संशोधन-कार्य में प्राकृत एवं जैन वाङ्मय के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये तथा व्याख्यान-वाचस्पति पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री जैसे मनीषियों का साहाय्य रहा।

प्रथम भाग का प्रकाशन : एक अन्य प्रतिक्रिया

मानव एक विचित्र प्राणी है। वह कब क्या सोचे, कैसा करे—यह सब रहस्यमय है। जो वह आज सोचता है, कल भी वैसा ही सोचेगा अथवा उसका चिन्तन कोई दूसरी करवट लेगा, निश्चय की भाषा में कुछ कहा नहीं जा सकता।

षट्खण्डागम के प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद जन-मानस में एक दूसरा ही चिन्तन स्पन्दित हुआ। एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद के साथ लोगों ने देखा और उन्होंने पहले-पहल यह अनुभव किया कि वे इस ग्रन्थ को पढ़ भी सकते हैं, जिसके दर्शनों का सौभाग्य पाना भी कभी कठिन था। अनेक सुज्ञ जन, जो इस ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रतीक्षा में थे, अत्यधिक प्रसन्न हुए ही, उन लोगों का मानस भी बदला, जो कभी इन ग्रन्थों के प्रकाशन को अशुभ कार्य मानते थे। पहले-पहल उन्होंने ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन की उपयोगिता का महत्व आंका।

---

१. षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, प्राक्कथन पृ० ६-७

चिन्तन में मोड़ आना स्वाभाविक था। क्योंकि उपयोगिता का यथार्थ दर्शन मानव को अति-भावुकता से हटाकर प्रज्ञा की भूमि में ले जाता है। यहां कुछ ऐसा ही हुआ। मूडबिद्री के भट्टारक, पंच तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति भी इससे बड़े प्रसन्न हुए। डा० जैन ने इस सम्बन्ध में जो कुछ उल्लेख किया है, उससे वहां के लोगों की मनोवृत्ति में सहसा कितना भारी परिवर्तन आ गया, इसका स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। वे लिखते हैं : "श्री धवल सिद्धान्त प्रथम विभाग के प्रकाशित होने से, हमें जो आशा थी, उसकी सोलहों आने पूर्ति हुई। हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष और संतोष है कि मूडबिद्री मठ को भेंट की हुई शास्त्राकार और पुस्तकाकार प्रतियों के वहां पहुंचने पर उन्हें विमान में विराजमान करके जुलूस निकाला गया, श्रुतपूजन किया गया और सभा की गई, जिसमें वहां के प्रमुख सज्जनों और विद्वानों द्वारा हमारी संशोधन, सम्पादन और प्रकाशन-व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की गई और यह मत प्रगट किया गया कि आगे इस सम्पादन-कार्य में वहां की मूल प्रति से मिलाने की सुविधा दी जानी चाहिये, नहीं तो ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होगा। यह सभा मूडबिद्री मठ के भट्टारक श्री चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य के ही सभापतित्व में हुई थी।

उस समारम्भ के पश्चात् स्वयं भट्टारकजी ने अपना अभिप्राय हमें सूचित किया और प्रति मिलाने की व्यवस्थादि के लिए हमें वहां आने के लिए आमन्त्रित किया।"[1] प्रथम भाग का प्रकाशन तो हो ही चुका था, आगे के प्रकाशन की प्रेस-कॉपियों को मूडबिद्री की मूल प्रति से मिलाने की भी स्वीकृति मिल गई। महाधवल (महाबंध) के प्रकाशनार्थ प्रतिलिपि कराये जाने की स्वीकृति और प्राप्त हो गई।

मूडबिद्री की प्रतियां

धवला की संस्कृत-कन्नड़-मिश्रित प्रशस्ति, श्रमणबेलगोला के शिलालेख आदि के सम्यक् परिशीलन से ऐसा परिज्ञात होता है कि देमियक्क, देमति, देयवती या देवमति नामक सद्धर्मनिष्ठ महिला, जो श्रेष्ठिराज चामुण्ड की पत्नी, बूचिराज की बहिन, बुज-बलिगंगपेर्माडिदेव की भुआ थी, ने अपने श्रुत-पंचमी के व्रतोद्यापन के उपलक्ष में ये ताड़-पत्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थ अपने गुरु शुभचन्द्रदेव को अर्पित किये थे। धवला की प्रशस्ति तथा श्रमणबेलगोला के शिलालेख के अनुसार शुभचन्द्रदेव का देहावसान शक संवत् १०४५

1. षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, प्राक्कथन पृ० २

श्रावण शुक्ला दशमी शुक्रवार को हुआ।[1] शुभचन्द्रदेव मूलसंघ-देशीगण-पुस्तक-गच्छ से सम्बद्ध थे।

श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४९ (१२९) में देमति के समाधि-मरण की प्रशस्ति के रूप में विस्तृत उल्लेख है, जिसमें उनके अनेक गुण— आहार, शास्त्र, औषध, अभय आदि की दानशीलता, देवपूजाभिरुचि, सतीत्व, पुण्यशीलता, लावण्य आदि की चर्चा की गई है। अन्त में कन्नड़ में उसके देहावसान का समय शक संवत् १०४२ फाल्गुन कृष्णा ११ बृहस्पतिवार लिखा है।[2]

अनुमेय है, देमति द्वारा अपने गुरु शुभचन्द्रदेव को इन ताड़पत्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थों के उपहृत किये जाने का समय सम्भवतः शक संवत् १०३७ तथा १०४२ के मध्य रहा हो।

---

१. एतत्सूचक श्लोक, जो धवला की प्रशस्ति तथा श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४३ (११७) में समान रूप में प्राप्त है :
बाणाम्भोधिनभश्शशांकतुलिते जाते शकाब्दे ततो,
वर्षे श्रीमकृताह्वये व्युपगते मासे पुनः श्रावणे।
पक्षे कृष्णविपक्षवर्तिनि सिते वारे दशम्यां तिथौ,
स्वर्यातः शुभचन्द्रदेवगणभृत् सिद्धांतवारांनिधिः॥

२. आहारं त्रिजगज्जनाय विभयं भीताय दिव्यौषधं,
व्याधिव्यापदुपेतदीनमुखिने श्रोत्रे च शास्त्रागमम्।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रप्रक्षये स्वायुषा—
मर्हद्देवमतिं विधाय विधिना दिव्या वपुः प्रोदभूत्॥
आसीत्परस्तोभकरप्रतापाशेषावनीपालकृतादरस्य ।
चामुण्डनाम्नो वणिजः प्रिया स्त्री मुख्या सती या भुवि देमतीति॥
भूलोकचैत्यालयचैत्यपूजाव्यापारकृत्यादरतोऽवतीर्णा ।
स्वर्गात्सुरस्त्रीति विलोक्यमाना पुण्येन लावण्यगुणेन चात्र॥
आहारशास्त्राभयभेषजानां दायिन्यलं वर्णचतुष्टयाद।
पश्चात्समाधिक्रियया मृदन्ते स्वस्थानवत्स्वः प्रविवेश योच्चैः॥
सद्धर्मशत्रुं कलिकालराजं जित्वा व्यवस्थापितधर्मवृत्त्या।
तस्या जयस्तम्भनिभं शिलाया स्तम्भं व्यवस्थापयति स्म लक्ष्मीः॥

श्री मूलसंघद देशिगगणद पुस्तकगच्छद शुभचन्द्रसिद्धान्तदेवर् गुड्डि सक वर्ष १०४२ नेय विकारि संवत्सरद फाल्गुन ब० ११ बृहवार बन्दु संन्यासन विधियि देमियक्क मुडिपिदलु।

डा० हीरालाल जैन ने सम्बद्ध घटनाओं, लेखों, प्रसंगों आदि के आधार पर मूडबिद्री स्थित इन ताड़पत्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थों के लेखन का समय शक संवत् ९५० के लगभग सम्भावित माना है।

आचार्य धरसेन : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

भारत के प्राचीन-कालीन विद्वानों, साहित्यिकों तथा ग्रन्थकारों के इतिहास के सम्बन्ध में आज भी बहुत कुछ अस्पष्ट जैसा है। अधिकांशत. अनुमानों तथा अटकलों से काम चलाना होता है। इसके पीछे भारतीय मनीषियों की एक विशेष चिन्तनात्मक पृष्ठभूमि रही है। करणीय के प्रति सर्वथा जागरूकता और अपने वैयक्तिक परिचय या आत्म-प्रकाशन के प्रति सहजतया एक उपेक्षा-भाव प्राक्तन ग्रन्थकारों में अक्सर देखा जाता है। उत्तरवर्ती लेखकों ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहा हो तो उन्हें सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी हो। यदि उपलब्ध भी हुई हो तो बहुत कम। क्योंकि कालिक व्यवधान इतिवृत्तों तथा घटना-क्रमों को विस्मृति के गर्त में पहुंचाता जाता है।

दिगम्बर परम्परा के द्वादशांग का अंशभूत षट्खण्डागम जैसा महान् ग्रन्थ जिनसे उपलब्ध हुआ, उन आचार्य धरसेन के सम्बन्ध में केवल पुष्पदन्त और भूतवलि को श्रुता-ध्ययन कराने के अतिरिक्त कुछ भी स्पष्टतया ज्ञात नहीं है। उनके समय, गुरु-परम्परा आदि के सम्बन्ध में इधर-उधर की सामग्री के आधार पर ही कुछ संभावनाएं की जा सकती हैं।

पट्टानुक्रम में धरसेन का अनुल्लेख

दिगम्बर सम्प्रदाय में गौतम से लोहार्य तक की पट्टावली का तिलोयपण्णत्ति, हरिवंश पुराण, धवला, जयधवला, श्रुतावतार आदि में उल्लेख है। पीछे यथाप्रसंग उस ओर संकेत किया गया है। उनमें गौतम से लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य होते हैं, जिनमें तीन केवली, पांच श्रुतकेवली, ग्यारह दशपूर्वधर, पांच एकदशांगधर तथा चार आचारांगधर हैं। लोहार्य के पश्चात् पट्टानुक्रम वर्णित नहीं है।

इस सन्दर्भ में यह कल्पना की जा सकती है कि लोहार्य के पश्चात् आचार्य धरसेन का समय रहा होगा। धवला में लोहार्य तक का उल्लेख कर केवल इतना-सा कहा है कि धरसेनाचार्य को आचार्य-परम्परा से आते हुए अंगों तथा पूर्वों के ज्ञान का एकदेश

उत्तराधिकारी था, उनमें परस्पर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध था या नहीं, कुछ ज्ञात नहीं होता। ऐसा लगता है, इन्द्रनन्दि ने इन विशिष्ट मुनियों के नाम सुने हों और काल-भेद के बिना उनका उल्लेख कर दिया हो। जो इतिवृत्त प्राप्त हुआ या सुना गया, उसे भी वर्णित कर दिया हो। इन्द्रनन्दि ने स्वयं प्रसंगोपात्त रूप में कहा है कि गुणधर और धरसेन की गुरु-परम्परा उन्हें ज्ञात नहीं है; क्योंकि वैसा बताने वाला न कोई ग्रन्थ है और न कोई मुनि ही।[1]

नन्दि-संघ की संस्कृत-गुर्वावली में माघनन्दि

नन्दिसंघ की संस्कृत-गुर्वावली में जहां मूल संघ से नन्दिसंघ व बलात्कारगण की उत्पत्ति का उल्लेख है, वहीं माघनन्दि की चर्चा है। गुर्वावलिकार ने उन्हें पूर्वपदांशवेदी—अंशतः पूर्व-ज्ञान के वेत्ता तथा मनुष्यों और देवों द्वारा वन्दनीय कहा है।[2]

सम्भव है, अर्हद्बलि ने जैन संघ का जो विभिन्न संघों में विभाजन किया, उनमें नन्दिसंघ का अधिनायकत्व उन्हें सौंपा हो। इस गुर्वावली में धरसेन का कोई उल्लेख नहीं है। माघनन्दि के उत्तराधिकारी के रूप में जिनचन्द्र का, तत्पश्चात् तत्पट्टाधिकारी पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का उल्लेख है।

यहां यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि श्रुतावतार में जिन माघनन्दि की चर्चा है, ये वह माघनन्दि हैं या कोई दूसरे। क्योंकि वहां उनके बाद धरसेन आते हैं, जब कि यहां वैसा कोई संकेत नहीं है।

यहां एक कल्पना की जा सकती है कि जिनचन्द्र तथा धरसेन दोनों ही माघनन्दि के शिष्य रहे हैं। धरसेन की विद्या, ध्यान, मंत्र तथा तप की आराधना में अधिक अभिरुचि रही हो। ऊर्जयन्त पर्वत की चन्द्र-गुफा में उनके साधना-निरत रहने की घटना से यह तथ्य समर्थित होता है। वैसी स्थिति में माघनन्दि ने संघीय व्यवस्था का उत्तरदायित्व जिनचन्द्र को सौंप दिया हो; अतः गुर्वावली के पट्टानुक्रम में धरसेन का नाम न आकर जिनचन्द्र का नाम आया हो।

---

१. गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
   न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

२. श्री मूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
   तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥

—जैन सिद्धान्त भास्कर १.४, पृ० ५१

यहाँ माघनन्दि के लिए जो पूर्वपदांशवेदी विशेषण आया है, वह काफी महत्त्वपूर्ण है। धरसेन भी पूर्वपदांशवेदी थे। यों श्रुत-क्रम में दोनों एक ही श्रेणी में आते हैं। इसलिए यहाँ वर्णित माघनन्दि सम्भवतः वही हैं, जिनका इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में उल्लेख किया है।

जम्बूदीवपण्णत्ति (दिगम्बर) में भी माघनन्दि की चर्चा है। वहाँ कहा गया है। "माघनन्दि राग, द्वेष तथा मोह से अतीत थे। वे श्रुत-सागर के पारगामी तथा प्रगल्भ बुद्धिशाली थे। उनके शिष्य सकलचन्द्र थे, जो तत्त्व-ज्ञान के समुद्र में अवगाहन कर अपना कालुष्य धो चुके थे। जो नीति, नियम तथा शील से सुशोभित व गुणयुक्त थे। सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि थे, जो निर्मल तथा उज्ज्वल ज्ञान व चारित्र्य से संयुक्त थे, सम्यक् दर्शन से परिशुद्ध थे।"[1]

यहाँ माघनन्दि के लिए जो 'श्रुतसागर-पारग' विशेषण दिया है, वह महत्वपूर्ण है। उससे अनुमान होता है कि ये वही माघनन्दि रहे हों, जिनका श्रुतावतार तथा नन्दि-संघ की संस्कृत-गुर्वावली में वर्णन है। क्योंकि तीनों ही स्थानों पर उनके विशिष्ट ज्ञानी होने की सूचना है, जिससे उनका ऐक्य सूचित होता है।

संस्कृत-गुर्वावली में माघनन्दि के शिष्य का नाम पद्मनन्दि है। जंबुद्दीवपण्णत्ति में उनके स्थान पर सकलचन्द्र तथा श्रीनन्दि का उल्लेख है। हो सकता है, एक ही व्यक्ति के ये मिलते-जुलते से दो-दो नाम हों।

कुम्भकारी और माघनन्दि

एक जन-श्रुत्यात्मक घटना है। सिद्धान्त वेदी माघनन्दि किसी दिन भिक्षा के लिए नगर में गये। एक युवती कुम्भकार-कन्या ने उन्हें देखा। वह उन पर मुग्ध हो गई और

---

1. गयरायदोसमोहो सुदसागरपारओ मइ-पगब्भो।
तव-संजम-संपण्णो विक्खाओ माघणंदि गुरू॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंतमहोवहिम्मि धुवकलुसो।
णय-णियम-सील-कलिदो गुणउत्तो सयलचंद गुरू॥
तस्सेव य वरसिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण-संजुत्तो।
सम्मद्दंसणसुद्धो सिरिणंदि-गुरु त्ति विक्खाओ॥
—१५४-५६

उनसे प्रेम की याचना की। मुनि भी उस रूपवती कन्या पर आसक्त हो गये। त्यागी से भोगी बन गये। कुम्भकारी के साथ रहने लगे, बर्तन-भांड़े बनाने लगे।

कहा जाता है, एक बार जैन संघ में किसी महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक विषय पर मत-भेद या विवाद उत्पन्न हो गया। कोई समाधान नहीं हो पाया। संघाधिपति ने सब ओर दृष्टि दौड़ाई तो वह माघनन्दि पर जाकर टिकी। माघनन्दि के वैदुष्य तथा सिद्धान्त-वेतृत्व के सम्बन्ध में वे जानते थे। उन्होंने मुनियों को आदेश दिया कि वे माघनन्दि के पास जायें, उनसे पूछें, वे समाधान कर सकेंगे। मुनि कुम्भकार के स्थान पर आये। माघनन्दि के समक्ष अपनी सैद्धान्तिक समस्या उपस्थित की और समाधान चाहा। माघनन्दि को बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने समागत मुनियों से कहा—अब भी संघ मुझे इतना सम्मान देता है? मुनि बोले—आपके पास जो महत्वपूर्ण गम्भीर श्रुत-ज्ञान है, वह सदा समादृत रहेगा। माघनन्दि को सहसा अपनी गरिमा का भान हुआ, भोगासक्तिवश जिसे वे भूल चुके थे। तत्क्षण तुच्छ भोगों के प्रति उनके मन में ग्लानि का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने तत्काल कुम्भकारी का साथ छोड़ दिया। अपना कमण्डलु और मयूर-पिच्छ उठा लिया तथा प्राय-श्चित्त कर पुनः मुनि-संघ में सम्मिलित हो गये।

माघनन्दि के कुम्भकार-जीवन की एक कहानी यों भी प्रचलित है—जब वे कच्चे घड़ों को पकाने के लिए उन पर थाप देते थे, तब सहजतया कवि-हृदय होने के कारण कुछ गुनगुनाने लगते थे। उनकी गुनगुनाहट कविता के रूप में परिणत होती जाती थी। जैन-सिद्धान्त भास्कर में 'ऐतिहासिक स्तुति' के शीर्षक से एक षोडश श्लोकात्मक-स्तुति प्रकाशित हुई थी, जो माघनन्दि द्वारा कुम्भकार-जीवन में रचित कही जाती है। वहां इस कथानक की भी चर्चा है।[1]

निर्णायक भाषा में तो नहीं कहा जा सकता, ये माघनन्दि कौन से थे; क्योंकि दिग-म्बर-परम्परा में इस नाम के एकाधिक आचार्य हुए हैं, पर यहां वर्णित माघनन्दि के श्रुत-वैशिष्ट्य तथा सिद्धान्तवेतृता से यही ध्वनित होता है कि ये सम्भवतः अर्हद्बलि के शिष्य माघनन्दि ही हों। श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में भी माघनन्दि का सिद्धान्तवेदी के रूप में उल्लेख है।[2]

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृ० १२१

२. नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥ ४ ॥

—श्रवणबेलगोला शिलालेख नं० १२९

ारांश

तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला, श्रुतावतार आदि में गौतम से लोहार्य तक के चार्यों का समय ६८३ वर्ष माना गया है।

इन्द्रनन्दि ने लोहार्य और धरसेन के मध्य विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त तथा अर्हद्दत्त— चार तथा अर्हद्बलि और माघनन्दि—इन दो आचार्यों का और उल्लेख किया है। में प्रथम चार सम्भवतः एक ही काल के हों, क्योंकि उनका उल्लेख पूर्व-पश्चाद्-भेद कता के संकेत के बिना एक ही साथ है। दिगम्बर समाज के प्रमुख विद्वान् पं० जुगल-शोर मुख्तार ने इनके काल के सम्बन्ध में ऊहापोह किया है।[1] उनके अनुसार सामष्टिक में उनका काल बीस वर्ष का है। मुख्तारजी ने अर्हद्बलि तथा माघनन्दि का काल क्रमशः -दश वर्ष का माना है। इस प्रकार, लोहार्य के चालीस वर्ष बाद अर्थात् वीर-निर्वाण ७२३ धरसेन का समय होता है।

न्दि-संघ की प्राकृत-पट्टावली में धरसेन

नन्दि-संघ की प्राकृत-पट्टावली प्रस्तुत विषय में एक महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करती , जो अनेक दृष्टियों से विचारणीय है।[2]

---

1. समन्तभद्र, पृ० १६१

2. अंतिम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य गोयम मुणिंदो।
बारह-वासे य गये सुधम्मसामी य संजादो ॥ १ ॥
तह बारहवासे पुण संजादो जम्बुसामि मुणिणाहो।
अठतीसवासरहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥
बासट्ठि-केवलवासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्मजंबू य।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पंच जणा बासट्ठि वासे गये सुसंजादा।
पढमं चउदहवासं विण्हुकुमारं मुणेयव्वं ॥ ४ ॥
नंदिमित्त वाससोलह तिय अपराजिय वास बावीसं।
इगहीणबीसवासं गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा विण्हु नंदिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥ ६ ॥

पण्णत्ति आदि में उन पांचों का समय २२० वर्ष है, जबकि प्राकृत-पट्टावली में उनका समय—नक्षत्र १८ वर्ष, जयपाल २० वर्ष, पाण्डव ३९ वर्ष, ध्रुवसेन १४ वर्ष तथा कंस ३२ वर्ष = कुल १२३ वर्ष बतलाया गया है।

तत्पश्चात् अन्यत्र जहां चार आचारांगधर आते हैं, वहां उस पट्टावली में उन्हें दश, नव व अष्ट अंगधर कहा गया है। तिलोयपण्णत्ती आदि में इन चार का समय ११८ वर्ष कहा गया है, जब कि उस पट्टावली में सुभद्र ६ वर्ष, यशोभद्र १८ वर्ष, भद्रबाहु २३ वर्ष तथा लोहाचार्य ५२ वर्ष = कुल ९९ वर्ष होता है। पट्टावलिकार की यहां भी भूल चूक रही है। क्योंकि वे इस प्रकार पृथक्-पृथक् काल-गणना करके भी उसका योग ९७ वर्ष बतलाते हैं। ९७ से ही उनका आगे का ठीक हिसाब बैठता है। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमादवश किसी आचार्य के समय में दो वर्ष अधिक जुड़ गये हैं।

दश,नव एवं अष्ट अंगधारक के रूप में उल्लिखित इन चार आचार्यों के सम्बन्ध में ऐसा समझा जा सकता है—इनमें सुभद्र दशअंगधर रहे हों, यशोभद्र नव अंगधर रहे हों तथा भद्रबाहु, जिन्हें अन्यत्र यशोबाहु कहा गया है व लोहाचार्य या लोहार्य आठ-आठ अंगों के धारक रहे हों।

अन्यत्र पट्टानुक्रम में लोहार्य अन्तिम हैं, जहां इसमें लोहार्य के बाद अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि—ये पांच आचार्य और आते हैं, जिनका समय अर्हद्बलि २८ वर्ष, माघनन्दि २१ वर्ष, धरसेन १९ वर्ष, पुष्पदन्त ३० वर्ष तथा भूतबलि २० वर्ष = कुल ११८ वर्ष है।

इस प्रकार केवलि-काल ६२ वर्ष, श्रुत-केवलि-काल १०० वर्ष, चतुर्दश पूर्वधर-काल १८३ वर्ष, एकादशांगधर-काल १२३ वर्ष, दश-नव-अष्ट-अंगधर-काल ९७ वर्ष तथा एकांगधर-काल ११८ वर्ष = कुल ६८३ वर्ष होते हैं।

समीक्षा

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राकृत-पट्टावली में अन्यों से मुख्यतः तीन बातों में अन्तर है : पांच एकादशांगधर आचार्यों के काल-क्रम की भिन्नता, अन्यत्र जिन्हें आचारांगधर कहा गया है, उन्हें उक्त पट्टावली में दश,नव एवं अष्ट अंगधर कहा जाना, उनका समय भी भिन्न बतलाया जाना तथा अर्हद्बलि आदि पांच नये आचार्यों का समावेश।

प्रायः सभी दिगम्बर-लेखक आचार्य-क्रम तथा उनके काल-क्रम के उसी रूप को लेकर चले हैं, जैसा तिलोयपण्णत्ति आदि में है, फिर इस पट्टावलिकार ने जो नया काल-क्रम दिया

है, उसकी उपलब्धि उन्हें कहाँ से हुई ? सम्भव है, इस पट्टावलिकार को कोई ऐसी परम्परा या प्रमाण प्राप्त हुआ हो, जो दूसरों को अप्राप्त था, जिसके आधार पर उसने इसकी रचना की हो।

इस पट्टावलिकार ने प्रत्येक आचार्य का जो पृथक्-पृथक् समय दिया है, वह महत्वपूर्ण है। किसी विशेष उल्लेख या प्रमाण के उपलब्ध हुए बिना वह इस प्रकार कैसे कर सकता था, जब कि यति वृषभ से लेकर इन्द्रनन्दि आदि किसी ने ऐसा नहीं किया है।

एकादशांगधरों के काल में जो दोनों गणनाओं में भेद है, उसका पर्यालोचन करें तो इस पट्टावलिकार का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक संगत होता है। इसके अतिरिक्त सर्वथा पांच आचार्यों का जो २२० वर्षों का समय वर्णित हुआ है, वह यदि सर्वथा असंभव नहीं कहा जा सकता तो उसे अत्यन्त सम्भव मानना भी समुचित नहीं लगता।

तिलोयपण्णत्ति आदि में एकादश-अंगधर-परम्परा के पश्चात् एकाङ्ग आचारांगधरों के रूप में एकांगधर-परम्परा आ जाती है अर्थात् दश अंगों का एक साथ लोप हो जाता है। प्रस्तुत पट्टावली में एकादश-अंगधरों के बाद दश-नव-अष्ट-अंगधर-परम्परा आती है। उत्तरोत्तर हीयमान श्रुत-परम्परा के सन्दर्भ में यह क्रम-लोप का यह क्रम अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समावेश और काल का अभेद अर्थात् ६८३ वर्ष का जो स्वीकृत काल-क्रम चला आ रहा है, उसी के अन्तर्गत इन पांच आचार्यों को भी ले लिया गया है, वहां कुछ विचारणीय है।

एक सम्भावना

इस सन्दर्भ में एक सम्भावना यह हो सकती है, पट्टावलिकार स्यात् उस संघ या गण से सम्बद्ध रहा हो, जिससे अर्हद्बलि, माघनन्दि तथा धरसेन आदि थे। इससे अपनी परम्परा से सम्बद्ध उन प्राचीन आचार्यों के एकादशांगधर रूप विशिष्ट ज्ञान के कारण यह सोचा हो कि पट्टानुक्रम में इनका समावेश किया जाना चाहिए। मौलिक रूप तो संघ-भेद नहीं था; अतः सब गण का पट्टानुक्रम तो सर्व-सामान्य था ही। एक रूप के अन्तर्गत उत्तरों के रूप में वह विभाजन हो जाता है, तब स्थिति परिवर्तित हो जाती है अर्थात् अपनी अपनी परम्परा के पट्टधरों को ही मान्यता देते हैं। अस्तु, सम्भव पट्टावलिकार ने इन पांच आचार्यों को प्राक्तन श्रुत-परम्परा की शृंखला से जोड़ने तथा उनका महत्व स्थापित करने के हेतु पीछे के काल-क्रम में परिवर्तन किया हो और इस सर्व-स्वीकृत

६८३ वर्षों की कालावधि में इन पांचों आचार्यों को मिला दिया हो। पट्टावलिकार ने वहां सभी आचार्यों का पृथक्-पृथक् समय भी दे दिया है, जिससे यह काल-गणना विशेष प्रामाणिक लगे।

दूसरी सम्भावना

जैन संघ के पृथक्-पृथक् गणों या गच्छों में विभक्त हो जाने से भिन्न-भिन्न संघों में जो विशिष्ट ज्ञानी हुए, उनके ज्ञान की गरिमा तो सर्वत्र समादृत थी, पर, सर्व-स्वीकृत पट्टानुक्रम में उन्हें गृहीत करना सम्भव नहीं था ; अतः लोहार्य के बाद का पट्टानुक्रम सब संघों का अपना पृथक्-पृथक् होता गया। इसलिए यह भी संभव हो सकता है कि अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन जैसे विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न आचार्यों को, जो श्रुत-परम्परा पर आधृत पूर्वंतन श्रेणी में आते थे, वहां नहीं गिना गया या जान-बूझकर छोड़ दिया गया। हो सकता है, हीयमान-श्रुत-परम्परा की यह काल-गणना भूतबलि तक रही हो, वहीं तक ६८३ वर्ष का समय पूरा होता हो, पर, जब एक सर्वसम्मत पट्टानुक्रम का रूप बनाये रखना वांछित था, तब उन्हें कैसे लिया जाता, जो एक विशिष्ट संघ के नेतृत्व से सम्बद्ध थे। इसलिए इन सहित जो ६८३ वर्ष होते थे, उन्हें लोहार्य तक के आचार्यों में बांट दिया हो। यह सब इसलिए किया गया हो कि एक पट्टानुक्रम तो ऐसा रहे, जिसकी प्रामाणिकता तथा सर्व-मान्यता पर कोई अंगुली तक न उठा सके।

यह सम्भावना की तो जा सकती है, परन्तु कम समाधायक लगती है। क्योंकि एक मात्र इस प्राकृत-पट्टावली के अतिरिक्त और कहीं भी वैसी सूचना प्राप्त नहीं होती। इसलिए इस पट्टावली को ही अक्षरशः मान लिया जाए, ऐसा नहीं कहा जा सकता और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि इस पट्टावली के रचयिता मात्र कल्पनाकार थे ; क्योंकि उसमें प्रकटित तथ्य सहसा मन को आकृष्ट भी करते हैं।

इस सन्दर्भ में मनीषियों का अनुसन्धित्सापूर्ण प्रयत्न अपेक्षित है, जिससे अब तक अव्यक्त तथ्यों का उद्घाटन हो सके।

इस पट्टावली के अनुसार माघनन्दि तक वीर निर्वाण ६१४ वर्ष होते हैं। माघनन्दि के अनन्तर भूतबलि के काल तक ६९ वर्षों का समय रहता है, जिसे धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि—इन तीनों में विभक्त किया गया है। इसके अनुसार धरसेन का आचार्य-काल वीर-निर्वाण ६१५ से ६३३ तक, पुष्पदन्त का आचार्य-काल वीर निर्वाण ६३४ से ६६३ तथा भूतबलि का आचार्य-काल वीर-निर्वाण ६६४ से ६८३ तक होता है।

प्राकृत-पट्टावली की प्रामाणिकता

इस पट्टावली की भाषा बहुत अशुद्ध एवं मिश्रित है। यहां तक कि इसमें प्रयुक्त प्राकृत का स्वरूप अपभ्रंश से हिन्दी तक पहुंच जाता है। पर, रचना के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में भाषा की दृष्टि से यह इसी रूप में रचित नहीं हुई। प्रतिलिपि की प्रतिलिपि किये जाते रहने से, वह भी जब ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जो उस भाषा के ज्ञाता न हों तो वह अशुद्धि-क्रम बढ़ता ही जाता है। इस पट्टावली में भी कुछ ऐसा ही बीता है। तथ्य या आंकड़े तो इसमें बचे रह गये, भाषा उत्तरोत्तर घिसती गई, मिटती गई, बदलती गई और वह मूल से बहुत दूर चली गई है। जैसी इसकी भाषा है, उसके आधार पर इसकी कोई काल-निश्चिती नहीं की जा सकती। पर, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह बहुत अर्वाचीन तो नहीं है। स्व० डा० हीरालाल जैन ने भी आचार्य धरसेन के समयावधारण में इसका उपयोग किया है। उन्होंने चाहा था कि वे उसकी विशेष गवेषणा कर सकें। अतः उन्होंने उसकी मूल प्रति को प्राप्त करने का प्रयास भी किया था। वह प्रति कभी जैन सिद्धान्त भवन, आरा में थी। उसी के आधार पर जैन सिद्धान्त भास्कर में उसका प्रकाशन हुआ था, पर, तब वहां खोजने पर हस्तगत नहीं हो सकी; अतः मूल प्रति पर विशेष परिशीलन एवं विमर्श का अवसर नहीं रहा।

दिगम्बर आचार्यों के पट्टानुक्रम के सम्बन्ध में यह पट्टावली जो विलक्षण सूचनाएं देती है, वे बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उन पर विशेष अन्वेषण होना चाहिए। सम्भव है, कभी कोई ऐसा आधार, परम्परा या प्रमाण हो मिल जाये, जिसका अवलम्बन लेकर इस प्राकृत-पट्टावलिकार ने अपनी पट्टावली में उक्त तथ्य निबद्ध किये।

धरसेन की एक कृति : जोणिपाहुड

प्राकृत में मंत्र-तंत्र शास्त्र का 'जोणिपाहुड' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य धरसेन उसके रचयिता माने जाते हैं। आचार्य धरसेन द्वारा मंत्र-विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे जाने की संभावना अस्थानीय नहीं मानी जा सकती। विद्याध्ययन के उद्देश्य से पुष्पदन्त और भूतबलि का आचार्य धरसेन के सान्निध्य में आने का जो प्रसंग आया है, वहां यह उल्लेख हुआ ही है कि आचार्य धरसेन ने समागत मुनियों की अध्ययन-क्षमता जांचने के लिए उन्हें दो मंत्र-विद्याएं साधने को दीं। इससे यह सिद्ध होता है कि धरसेन मंत्र-तंत्र-विज्ञान में निष्णात थे तथा उनका उस ओर झुकाव भी था। यही कारण है, उन्होंने विद्यार्थी श्रमणों के परीक्षण का माध्यम मंत्र-विद्या को बनाया।

जोणिपाहुड आठ सौ श्लोक-प्रमाण प्राकृत-गाथाओं में है। उल्लेख है कि इसे कुष्माण्डिनी महादेवी से उपलब्ध कर आचार्य धरसेन ने अपने अन्तेवासी पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा। जोणिपाहुड के सम्बन्ध में धवला में भी चर्चा है। वहां उसे मंत्र-तंत्र शक्तियों तथा पुद्गलानुभाग का विवेचन ग्रन्थ बताया है।

बृहट्टिप्पणिका में उल्लेख

एक श्वेताम्बर जैन मुनि ने विक्रमाब्द १५५६ में बृहट्टिप्पणिका के नाम से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—यथासम्भव सभी जैन विद्वानों के ग्रन्थों की सूची तैयार की। उसमें उन्होंने अपने समय तक के सभी लेखकों की सब विषयों की कृतियों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। जोणिपाहुड की भी वहां चर्चा है। बृहट्टिप्पणिकाकार ने उसे आचार्य धरसेन द्वारा रचित बताया है तथा उसका रचना-काल वीर-निर्वाण सं० ६०० सूचित किया है। बृहट्टिप्पणिका की प्रामाणिकता में सन्देह की कम गुंजाइश है। फिर एक श्वेताम्बर मुनि द्वारा एक दिगम्बर मुनि के ग्रन्थ के सम्बन्ध में किया गया सूचन अपने आप में विशेष महत्त्व रखता है।

नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली, जिस पर पिछले पृष्ठों में विस्तार से चर्चा की गई है, के अनुसार माघनन्दि का काल वीर निर्वाण सं० ६१४ में समाप्त होता है, तत्पश्चात् धरसेन का काल प्रारम्भ होता है। बृहट्टिप्पणिका और प्राकृत-पट्टावली के काल-सूचन के सन्दर्भ से ऐसा प्रकट होता है कि धरसेन ने आचार्य-पदारोहण से चवदह वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की रचना की हो। इस कोटि के जटिल ग्रन्थ की रचना करने के प्रसंग तक वे प्रौढ़ावस्था में आ गये होंगे।

भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (महाराष्ट्र) के ग्रन्थ-भण्डार में जोणिपाहुड की एक हस्तलिखित प्रति है, जिसका लेखन-काल वि० सं० १५८२ है।

जोणिपाहुड : मंत्र-विद्या की एक विलक्षण कृति

यह ग्रन्थ मंत्र-विद्या, तंत्र-विज्ञान आदि के विश्लेषण—विवेचन की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—दोनों जैन सम्प्रदायों में यह समादृत रहा है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसके सम्बन्ध में जो सूचना तथा उद्धरण दिये हैं, उन्हें यहां उद्धृत किया जा रहा है : "निशीथ चूर्णि (४, पृ० ३०२ [illegible] ... [illegible]) के [illegible] आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के आधार से [illegible] थे। [illegible]

महिषों को अचेतन किया जा सकता था और इससे धन पैदा कर सकते थे। प्रभावक चरित (५, ११५-१२७) में इस ग्रन्थ के बल से मछली और सिंह उत्पन्न करने का तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा १७७५) की हेमचन्द्र कृत टीका मे अनेक विजातीय द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थों के पैदा करने का उल्लेख मिलता है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार जोणिपाहुड में कही हुई बात कभी असत्य नहीं होती। जिनेश्वरसूरि ने अपने कथाकोषप्रकरण में भी इस शास्त्र का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में ८०० गाथाएं हैं। कुलमण्डनसूरि द्वारा विक्रम संवत् १४७३ (ईसवी सन् १४१६) में रचित विचारामृत संग्रह (पृष्ठ ९ आ) मे योनिप्राभृत को पूर्व श्रुत से चला आता हुआ स्वीकार किया है :

> अग्गेणिपुव्वनिग्गयपाहुडसत्थस्स मज्झयारंमि।
> किंचि उद्देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणइ॥
> गिरि उज्जितठिएण पच्छिमदेसे सुरट्ठगिरिनयरे।
> बुड्ढंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावंमि॥

प्रथम खण्डे—

> अट्ठावीस सहस्सा गाहाणं जत्थ वन्निया सत्थे।
> अग्गेणिपुव्वमज्झे संखेवं वित्थरे मुत्तुं।
> चतुर्थखण्डप्रान्ते योनिप्राभृते।

इस कथन से ज्ञात होता है कि अग्रायणी पूर्व का कुछ अंश लेकर धरसेन ने इस ग्रन्थ का उद्धार किया है तथा इसमें पहले २८ हजार गाथाएं थीं, उन्हीं को संक्षिप्त करके योनिप्राभृत में कहा है।"[1]

निष्कर्ष

उपर्युक्त समग्र विवेचन के परिप्रेक्ष्य में धरसेन के समय के सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो प्रकार की स्थितियां हैं। तिलोयपण्णत्ति, हरिवंश पुराण, धवला, जयधवला, श्रुतावतार आदि के अनुसार देखा जाये तो वीर निर्वाण ६८१ के पश्चात् इनका समय सिद्ध होता है और यदि नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली व जोणिपाहुड आदि के आधार पर चिन्तन करें तो वह वीर निर्वाण ६०० से कुछ पूर्व सिद्ध होता है। अर्थात् ईसा की प्रथम शती मे वे हुए, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। तिलोयपण्णत्ति आदि के अनुसार उनका समय लगभग

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७३-७४

जोणिपाहुड आठ सौ श्लोक-प्रमाण प्राकृत-गाथाओं में है। उल्लेख है कि इसे कुष्माण्डिनी महादेवी से उपलब्ध कर आचार्य धरसेन ने अपने अन्तेवासी पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा। जोणिपाहुड के सम्बन्ध में धवला में भी चर्चा है। वहां उसे मंत्र-तंत्र शक्तियों तथा पुद्गलानुभाग का विवेचक ग्रन्थ बताया है।

बृहट्टिप्पणिका में उल्लेख

एक श्वेताम्बर जैन मुनि ने विक्रमाब्द १५५६ में बृहट्टिप्पणिका के नाम से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—यथासम्भव सभी जैन विद्वानों के ग्रन्थों की सूची तैयार की। उसमें उन्होंने अपने समय तक के सभी लेखकों की सब विषयों की कृतियों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। जोणिपाहुड की भी वहां चर्चा है। बृहट्टिप्पणिकाकार ने उसे आचार्य धरसेन द्वारा रचित बताया है तथा उसका रचना-काल वीर-निर्वाण सं० ६०० सूचित किया है। बृहट्टिप्पणिका की प्रामाणिकता में सन्देह की कम गुंजाइश है। फिर एक श्वेताम्बर मुनि द्वारा एक दिगम्बर मुनि के ग्रन्थ के सम्बन्ध में किया गया सूचन अपने आप में विशेष महत्व रखता है।

नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली, जिस पर पिछले पृष्ठों में विस्तार से चर्चा की गई है, के अनुसार माघनन्दि का काल वीर निर्वाण सं० ६१४ में समाप्त होता है, तत्पश्चात् धरसेन का काल प्रारम्भ होता है। बृहट्टिप्पणिका और प्राकृत-पट्टावली के काल-सूचन के सन्दर्भ से ऐसा प्रकट होता है कि धरसेन ने आचार्य-पदारोहण से चवदह वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की रचना की हो। इस कोटि के जटिल ग्रन्थ की रचना करने के प्रसंग तक वे अवस्था में प्रौढ़ नहीं तो युवा अवश्य रहे होंगे।

भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (महाराष्ट्र) के ग्रन्थ-भण्डार में जोणिपाहुड की एक हस्तलिखित प्रति है, जिसका लेखन-काल वि० सं० १५८२ है।

जोणिपाहुड : मंत्र-विद्या की एक विलक्षण कृति

यह ग्रन्थ मंत्र-विद्या, तंत्र-विज्ञान आदि के [illegible] महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर [illegible] रहा है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसके सम्बन्ध में जो [illegible] यहाँ उद्धृत किया जा रहा है : "निशीथ चूर्णि (४, [illegible] के कथनानुसार आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के [illegible]

मूर्तियों को अचेतन किया जा सकता था और इससे धन पैदा कर सकते थे। प्रभावक चरित (५, ११५-१२७) में इस ग्रन्थ के बल से मछली और सिंह उत्पन्न करने का तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा १७७५) की हेमचन्द्र कृत टीका में अनेक विजातीय द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थों के पैदा करने का उल्लेख मिलता है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार जोणिपाहुड में कही हुई बात कभी असत्य नहीं होती। जिनेश्वरसूरि ने अपने कथाकोषप्रकरण में भी इस शास्त्र का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में ८०० गाथाएं हैं। कुलमण्डनसूरि द्वारा विक्रम संवत् १४७३ (ईसवी सन् १४१६) में रचित विचारामृत संग्रह (पृष्ठ ९ आ) मे योनिप्राभृत को पूर्व श्रुत से चला आता हुआ स्वीकार किया है :

> अग्गेणिपुव्वनिग्गयपाहुडसत्थस्स मज्झयारंमि ।
> किंचि उद्देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणइ ॥
> गिरि उज्जितठिएण पच्छिमदेसे सुरट्ठगिरिनयरे ।
> बुड्डंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावंमि ॥

प्रथम खण्डे—

> अट्ठावीस सहस्सा गाहाणं जत्थ वन्नियर सत्थे ।
> अग्गेणिपुव्वमज्झे संखेवं वित्थरे मुत्तं ।
> चतुर्थखण्डप्रान्ते योनिप्राभृते ।

इस कथन से ज्ञात होता है कि अग्रायणी पूर्व का कुछ अंश लेकर धरसेन ने इस ग्रन्थ का उद्धार किया है तथा इसमें पहले २८ हजार गाथाएं थीं, उन्हीं को संक्षिप्त करके योनिप्राभृत में कहा है।"[1]

निष्कर्ष

उपर्युक्त समग्र विवेचन के परिप्रेक्ष्य में धरसेन के समय के सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो प्रकार की स्थितियां हैं। तिलोयपण्णत्ति, हरिवंश पुराण, धवला, जयधवला, श्रुतावतार आदि के अनुसार देखा जाये तो वीर निर्वाण ६८३ के पश्चात् इनका समय सिद्ध होता है और यदि नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली व जोणिपाहुड आदि के आधार पर चिन्तन करें तो वह वीर निर्वाण ६०० से कुछ पूर्व सिद्ध होता है। अर्थात् ईसा की प्रथम शती में वे हुए, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। तिलोयपण्णत्ति आदि के अनुसार उनका समय लगभग

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७३-७४

एक शती बाद होता है। जैसा भी हो, वे ईसा की द्वितीय शती से अवश्य पूर्ववर्ती रहे हैं। पुष्पदन्त तथा भूतबलि की समय-सीमा बांधने का आधार भी प्रायः यही है।

धवला और जयधवला

षट्खण्डागम के यथार्थ महत्व से लोक-मानस को अवगत कराने का मुख्य श्रेय आचार्य वीरसेन को है, जिन्होंने उस पर 'धवला' संज्ञक अत्यन्त महत्वपूर्ण टीका की रचना की।

धवला के विशाल कलेवर के सम्बन्ध में संकेत किया ही गया है। षट्खण्डागम जैसे महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ पर अकेला व्यक्ति गम्भीर विश्लेषण तथा विवेचन पूर्ण ७२ सहस्र श्लोक-प्रमाण व्याख्या प्रस्तुत करे, निःसंदेह यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। आचार्य वीरसेन का कृतित्व और उद्भासित हो जाता है तथा सहसा मन पर छा जाता है, जब साथ-ही-साथ यह देखते हैं कि उन्होंने जयधवला का बीस-सहस्र-श्लोक-प्रमाण अंश भी लिया। उतना ही कर पाये थे कि उनका भौतिक कलेवर नहीं रहा।

इस प्रकार आचार्य वीरसेन ने अपने जीवन में ९२ सहस्र-श्लोक-प्रमाण रचना की। ऐसा प्रतीत होता है, गम्भीर शास्त्राध्ययन के अनन्तर उन्होंने अपना समग्र जीवन साहित्य-सर्जन के इस पुनीत लक्ष्य में लगा दिया। तभी तो इस प्रकार का विराट् कार्य सध सका।

विशालकाय महाकाव्य के रूप में महाभारत, विश्व-वाङ्मय में सर्वाधिक प्रतिष्ठापन्न है, क्योंकि उसका कलेवर एक लाख-श्लोक-परिमित माना जाता है। पर, वह अकेले व्यासदेव की रचना नहीं है। न जाने कितने कवियों और विद्वानों की लेखिनी का योगदान उसे मिला है। पर, धवला, जो कलेवर में महाभारत से कुछ ही कम है, एक ही महान् लेखक की कृति है। यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। ज्ञानोपासना के दिव्य यज्ञ में अपने आप को होम देने वाले आचार्य वीरसेन जैसे मनीषी ग्रन्थकार जगत् में विरले ही हुए हैं।

महान् विद्वान् : प्रखर प्रतिभान्वित

आचार्य वीरसेन का वैदुष्य विलक्षण था। उनकी स्मरण-शक्ति एवं प्रतिभा अद्भुत थी। उनका विद्याव्यसन अपरिसीम था। स्व-शास्त्र एवं पर-शास्त्र—दोनों के रहस्य उन्हें स्वायत्त थे। व्याकरण, न्याय, छन्द, ज्योतिष प्रभृति अनेक विषयों में उनकी गति अप्रतिहत थी।

जिनसेन के शब्दों में वे समग्र विश्व के पारदृश्वा थे, मानो साक्षात् केवली हों। उनकी सर्वार्थगामिनी स्वाभाविक प्रज्ञा को देख विद्वानों को सर्वज्ञ के अस्तित्व में शंका नहीं रही। उनकी चमकती हुई ज्ञानमयी किरणों का प्रसार देखकर प्राज्ञजन उन्हें श्रुत-केवली तथा उत्कृष्ट प्रज्ञा-श्रमण[1] कहते थे।

तत्त्व-दर्शन के महान् समुद्र में अवगाहन करने से उनकी बुद्धि परिशुद्ध थी, तभी मानो महान् मेधाशील प्रत्येक-बुद्धों से वे स्पर्धा करने लगे हों।[2]

जिनसेन ने उनके शास्त्रानुशीलन के सम्बन्ध में एक बड़े महत्त्व की बात कही है। उसके अनुसार आचार्य वीरसेन ने चिरन्तन कालीन पुस्तकों का गौरव बढ़ाया अर्थात् पुस्तकारूढ़ प्राचीन वाङ्मय का उन्होंने गम्भीर अनुशीलन किया, उसे अग्रसर किया।[3]

इससे यह गम्य है कि आचार्य वीरसेन के समय तक जो भी उच्च कोटि के ग्रन्थ प्राप्त थे, उन्होंने उन सब का सांगोपांग एवं व्यापक अध्ययन किया। तभी तो यह सम्भव हो सका कि वे अपनी धवला टीका को अनेक शास्त्रों के निष्कर्ष तथा नवनीत से आपूरित कर सके।

जिनसेन ने आदिपुराण की उत्थानिका में अपने श्रद्धास्पद गुरु को परमोत्कृष्ट वादी,

---

१. विशिष्ट प्रज्ञात्मक ऋद्धि-सम्पन्न

२. श्री वीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम्॥
प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः।
सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः॥

—जयधवला-प्रशस्ति १९, २१-२३

३. पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः॥

—वही, २४

पवित्रात्मा, लोकविद्, कवित्व-शक्ति-सम्पन्न तथा बृहस्पति के तुल्य वाग्मी कहा है ।[1]

उनकी धवला टीका के विषय में जिनसेन ने बड़े भावपूर्ण शब्दों में उल्लेख किय कि उनकी धवला भारती तथा उनकी पवित्र व उज्ज्वल कीर्ति ने प्रचण्ड भू-मण्डल धवल—उज्ज्वल बना दिया । अर्थात् वे दोनों लोक-व्याप्त हो गईं ।[2]

धवला की रचना

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में आचार्य वीरसेन तथा उनकी धवला टीका की चर्चा है । टीका की रचना के सन्दर्भ में उन्होंने बताया है कि वीरसेन ने एलाचार्य के प सैद्धान्तिक ज्ञान अर्जित किया । गुरु के आदेश से वे वाटग्राम आये । आनतेन्द्र द्वारा नि पित जिन-मन्दिर में रुके । वहां उन्हें बप्पदेव-गुरु-रचित व्याख्या-प्रज्ञप्ति—षट्खण्डा की एक पुरानी टीका मिली । वहीं उन्होंने धवला की रचना समाप्त की ।

उसी प्रसंग में इन्द्रनन्दि ने वीरसेन-रचित धवला तथा अंशतः जयधवला के श्लो प्रमाण की भी चर्चा की है । यह भी बताया है कि धवला प्राकृत-संस्कृत-मिश्र टीका इसी सन्दर्भ में जिनसेन द्वारा जयधवला की पूर्ति तथा उसके समग्र षष्टि-सहस्र-श्लो प्रमाण की भी चर्चा की है ।[3]

---

१. श्री वीरसेन इत्याप्तभट्टारकपृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् ।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥

—आदिपुराण उत्थानिका ५५-५६

२. धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम् ।
धवलीकृतनिःशेष-भुवनां तां नमाम्यहम् ॥

—आदिपुराण उत्थानिका ५८

३. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥

नाम : अन्वर्थकता

आचार्य वीरसेन ने टीका का अभिधान 'धवला' क्यों रखा, इस सम्बन्ध में स्पष्टतया कोई विवरण प्राप्त नहीं है। धवला शब्द संस्कृत भाषा का है, जिसका अर्थ श्वेत, सुन्दर, स्वच्छ, विशुद्ध, विशद आदि है। मास के शुक्ल पक्ष को भी धवल कहा जाता है। सम्भव है, अपनी टीका की अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से विशदता, भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से स्वच्छता, पद-विन्यास की दृष्टि से सुन्दरता, प्रभावकता की दृष्टि से उज्ज्वलता, शैली की दृष्टि से प्रसन्नता—प्रसादोपपन्नता आदि विशेषताओं का एक ही शब्द में आख्यान करने के लिए टीकाकार को धवला नाम खूब संगत लगा हो। आगे चलकर यह नाम प्रिय एवं रूढ़ इतना हुआ कि षट्खण्डागम वाङ्मय 'धवला-सिद्धान्त' के नाम से विश्रुत हो गया।

धवला की समापन-सूचक प्रशस्ति में उल्लेख हुआ है कि यह टीका कार्तिक मास के धवल या शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन सम्पूर्ण हुई थी। हो सकता है, मास के धवल पक्ष में परिसमाप्त होने के कारण रचयिता के मन में इसे धवला नाम देना जचा हो।

एक और सम्भावना की जा सकती है, इस टीका का समापन मान्यखेटाधीश्वर, राष्ट्रकूटवंशीय नरेश अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में हुआ था। राजा अमोघवर्ष उज्ज्वल चरित्र, सात्त्विक भावना, धार्मिक वृत्ति आदि अनेक उत्तमोत्तम गुणों से विभूषित था। उसकी गुणसूचक उपाधियों या विशेषणों में एक अतिशय 'धवल' विशेषण भी प्राप्त होता है। प्रामाणिक रूप में नहीं कहा जा सकता, इस विशेषण के प्रचलन का मुख्य हेतु क्या

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥
प्राकृतसंस्कृतभाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च कषाय-प्राभृत के चतसृणां विभक्तीनाम् ॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन)
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः ।

था। हो सकता है, राजा अमोघवर्ष के इन उज्ज्वल, धवल, निर्मल गुणों के कारण यह विशेषण प्रचलित हुआ हो अथवा उसकी देह-सम्पदा—सौष्ठव, गौरत्व आदि के कारण भी लोगों को उसे उस उपाधि से सम्बोधित करने की प्रेरणा हुई हो। अमोघवर्ष विद्वानों, त्यागियों एवं गुणियों का बड़ा आदर करता था। उनके साथ उसका श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध था, अतः यह अनुमान करना भी असंगत नहीं लगता कि राजा अमोघवर्ष का उक्त विशेषण इस नाम के पीछे प्रेरक हेतु रहा हो।

जैसा भी रहा हो, इस टीका ने केवल दिगम्बर जैन वाङ्मय में ही नहीं, भारतीय तत्त्व-चिन्तन के व्यापक क्षेत्र में निःसन्देह अपने नाम के अनुरूप धवल, उज्ज्वल यश अर्जित किया। मानो नाम की आवयविक सुषमा ने भावात्मक सुषमा को भी अपने में समेट लिया हो।

धवला का वैशिष्ट्य

कहा ही गया है, यह टीका प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित है। इस प्रकार की सम्मिश्रित भाषामयी रचना मणि-प्रवाल-न्याय से उपमित की गई है। मणियां तथा प्रवाल परस्पर मिला दिये जायें तो भी वे अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व लिए विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार प्राकृत तथा संस्कृत मिलने पर भी पृथक्-पृथक् दिखाई देती रहती हैं।

टीकाकार द्वारा किये गये इस द्विविध भाषात्मक प्रयोग की अपनी उपयोगिता है। तात्त्विक अथवा दार्शनिक विषयों को तार्किक शैली द्वारा स्पष्ट करने में संस्कृत का अपना एक महत्व है। उसका अपना विशिष्ट, पारिभाषिक शब्द-समुच्चय एवं रचना-प्रकार है, जो अनन्य-साधारण है। प्राकृत लोकजनीन भाषा है, जो कभी इस देश में बहु-प्रचलित थी। टीका की रचना केवल पाण्डित्य-सापेक्ष ही न रह जाये, उसमें लोकजनीनता भी व्याप्त रहे, प्राकृत-भाग इस अपेक्षा का पूरक माना जाये तो अस्थानीय नहीं होगा।

टीकाकार ने अपने समय तक उपलब्ध बहुविध दिगम्बर-श्वेताम्बर-साहित्य का मुक्त रूप से उपयोग किया है। अनेक ग्रन्थों के यथाप्रसंग, यथापेक्ष अंश उद्धृत किये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने अपनी टीका को सम्पूर्णतः समृद्ध एवं सर्वथा उपादेय बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। उसकी शैली समीक्षा, विश्लेषण एवं विशद विवेचन की दृष्टि से वास्तव में असाधारण है।

समापन : समय

वीरसेनाचार्य के काल के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मकता नहीं है। धवला की अन्तिम

प्रशस्ति में उन्होंने ज्योतिष शास्त्रीय शैली में कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत किये हैं। स्वर्गीय डा० हीरालाल जैन ने प्रशस्ति के उस भाग का, जो धवला की समाप्ति के समय का सूचक है, विशेष परिशीलन एवं सूक्ष्मतया पर्यवेक्षण कर परिष्कृत रूप उपस्थित किया[1] है, जिसके अनुसार धवला की सम्पूर्णता का समय शक संवत् ७३८ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी निश्चित होता है।

आचार्य वीरसेन के सुयोग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने अपने पूज्यचरण गुरु द्वारा समारब्ध जयधवला टीका की पूर्ति शक संवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमी को की। उस समय राजा अमोघवर्ष का शासन-काल था।[2]

धवला की पूर्ति और जयधवला की पूर्ति के बीच २१ वर्ष का समय पड़ता है। आचार्य वीरसेन के देहावसान की यह पूर्वापर सीमा है।

जैन साहित्य एवं इतिहास के अन्वेष्टा स्व० पं० नाथूराम प्रेमी ने आचार्य वीरसेन का समय शक संवत् ६६५ से ७४५ तक माना है, जो अनेक पूर्वापर सन्दर्भों एवं प्रमाणों पर आधारित है।

---

१. अट्ठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु- सगणामे।
   वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे॥
   जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
   सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते॥
   चावम्हि तरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणेचंदम्मि।
   कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला॥
   —धवला-प्रशस्ति ६-८

२. इतिश्री वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
   वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते॥
   फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्ल पक्षके।
   प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे॥
   अमोघवर्षराजेन्द्रराज्य प्राज्यगुणोदया।
   निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका॥
   एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
   समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥
   —जयधवला-प्रशस्ति ६-९

षट्खण्डागम : आधार

द्वादशांग के अन्तर्गत बारहवें अंग दृष्टिवाद का चौथा भेद पूर्वगत है। वह चतुर्दश पूर्वों में विभक्त है। उनमें दूसरा आग्रायणीय पूर्व है। उनके निम्नांकित चवदह अधिकार हैं :

१. पूर्वान्त, २. अपरान्त, ३. ध्रुव, ४. अध्रुव, ५. चयनलब्धि, ६. अध्रोपम, ७ प्रणिधिकल्प, ८. अर्थ, ९ भौम, १०. व्रतादिक, ११. सर्वार्थ, १२. कल्पनिर्याण, १३. अतीतसिद्धबद्ध तथा १४. अनागत।

इनमें पाँचवां चयनलब्धि अधिकार बीस पाहुडों में विभक्त है। उनमें चौथा पाहुड कर्म-प्रकृति है। उसके चौबीस अनुयोगद्वार हैं, जो इस प्रकार हैं : १. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्श, ४. कर्म ५ प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२. संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्या-कर्म, १५. लेश्या-परिणाम, १६. सातासात, १७. दीर्घह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्म, २०. निधत्तानिधत्त, २१. निकाचिता-निकाचित, २२. कर्म-स्थिति, २३. पश्चिमस्कन्ध तथा २४. अल्पबहुत्व।

इनके तथा इनके भेदोपभेदों के आधार पर षट्खण्डागम की रचना हुई।

षट्खण्डागम : एक परिचय

पहला खण्ड

छः खण्डों में पहले खण्ड का शीर्षक जीवट्ठाण है। इसका अधिकांश भाग कर्मप्रकृति नामक पाहुड के बन्धन नामक छठे अनुयोगद्वार के बन्ध-विधान नामक भेद[1] के आधार पर वर्णित हुआ है।

जीवट्ठाण के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाएं हैं। आठ अनुयोगद्वारों के नाम इस प्रकार हैं : १. सत्, २. संख्या, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शन, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव तथा ८. अल्पबहुत्व।

उपर्युक्त अनुयोगद्वारों तथा चूलिकाओं में विवेच्य विषयों का गुणस्थानों तथा मार्गणाओं के आधार पर बड़ा विस्तृत विवेचन हुआ है।

दूसरा खण्ड

दूसरे खण्ड का नाम खुद्दाबन्ध है, जिसका संस्कृत-रूप क्षुल्लक बन्ध होता है। यह कर्मप्रकृति पाहुड़ के बन्धन संज्ञक अनुयोगद्वार के बन्धक नामक भेद के आधार पर सृष्ट हुआ है। यह खण्ड ग्यारह अधिकारों में विभक्त है, जो निम्नांकित हैं :

१. स्वामित्व, २. काल, ३. अन्तर, ४. भंगविचय, ५. द्रव्यप्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम, ७. स्पर्शनानुगम, ८. नानाजीवकाल, ९. नाना जीव अन्तर, १०. भागाभागानुगम तथा ११. अल्पबहुत्वानुगम।

प्रस्तुत खण्ड में कर्म बांधने वाले जीव, कर्म-बन्ध के भेद आदि का उपर्युक्त अधिकार संकेतक इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा विवेचन किया गया है।

तीसरा खण्ड

तीसरा खण्ड बन्धस्वामित्वविचय संज्ञक है। कर्मप्रकृति पाहुड़ के बन्धन अनुयोगद्वार का बन्ध-विधान नामक भेद प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के रूप में चार प्रकार का है। प्रकृति के दो भेद हैं—मूल तथा उत्तर। उत्तर प्रकृति दो प्रकार की है—एकैकोत्तर तथा अव्वोगाढ़। एकैकोत्तर प्रकृति के २४ भेद हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. समुत्कीर्तना, २. सर्वबन्ध, ३. नोसर्व, ४. उत्कृष्ट, ५. अनुत्कृष्ट, ६. जघन्य, ७. अजघन्य, ८. सादि, ९. अनादि, १०. ध्रुव, ११. अध्रुव, १२. बन्धस्वामित्वविचय, १३. बन्धकाल, १४. बन्धान्तर, १५. बन्धसन्निकर्ष, १६. भंगविचय, १७. भागाभागानुगम, १८. परिमाण, १९. क्षेत्र, २०. स्पर्शन, २१. काल, २२. अन्तर, २३. भाव, २४. अल्पबहुत्व।

इनमें बारहवें बन्धस्वामित्वविचय के आधार पर इस खण्ड की रचना हुई है। इस खण्ड में मुख्यतः निम्नांकित विषयों का विशद विवेचन है :

किस जीव के किन-किन प्रकृतियों का कहाँ तक बन्ध होता है, [illegible] होता।

किस गुणस्थान में कौन-कौनसी प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं,

सारांश

षट्खण्डागम के छहों खण्डों के इस संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि कर्म-तत्त्व-विज्ञान के निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ निःसन्देह भारत के दार्शनिक वाङ्मय में अपना असाधारण स्थान लिए हुए है।

कसायपाहुड (कषायप्राभृत)

आचार्य धरसेन का वर्णन करते समय आचार्य गुणधर के सम्बन्ध में पीछे संकेत किया गया है। जिस प्रकार धरसेन के इतिहास के विषय में हमारे समक्ष निश्चायक स्थिति नहीं है, उसी प्रकार गुणधर का भी कोई ऐतिहासिक इतिवृत्त हमें उपलब्ध नहीं है। धरसेन के विषय में, जैसा कि पिछले पृष्ठों में चर्चित हुआ है, नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली में माघनन्दि के पश्चात् उल्लेख तो है, गुणधर के सम्बन्ध में इतना भी नहीं है।

श्रुतावतार के लेखक इन्द्रनन्दि ने गुणधर तथा धरसेन—दोनों के इतिवृत्त के सम्बन्ध में अपनी अज्ञता ख्यापित की ही है,[1] जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

गुणधर के दैहिक जीवन का इतिहास हमें नहीं मिल रहा है, यह सच है। पर, तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में उनकी जो बहुत बड़ी देन—उनकी कृति कसायपाहुड है, वह सदा उन्हें अजर-अमर बनाये रखेगी। व्यक्ति मर जाता है, विचार नहीं मरते। यदि किसी के विचार जीवित हैं, तो निश्चय की भाषा में उसे मृत नहीं कह सकते।

आधार

षट्खण्डागम की तरह कसायपाहुड भी द्वादशांग से सीधे सम्बद्ध वाङ्मय के रूप में प्रसिद्ध है। चवदह पूर्वों में पांचवां ज्ञानप्रवादपूर्व है। उसकी दशम वस्तु के तृतीय पाहुड का नाम पेज्जदोसपाहुड है। उसी के आधार पर कसायपाहुड की रचना हुई; अतः अपने आधारभूत पाहुड के नाम पर यह पेज्जदोसपाहुड के नाम से भी अभिहित किया जाता है। पेज्जदोस का संस्कृत-रूप प्रेयस्-द्वेष अर्थात् राग-द्वेष है। यही संसार का मूल है, जिसे सही रूप में जाने बिना, समझे बिना, उच्छिन्न किये बिना बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता।

---

1. गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
   न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

२. स्थितिविभक्ति, ३. अनुभागविभक्ति, ४. प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीणस्थित्यन्तिक, ५. बन्धक, ६. वेदक, ७. उपयोग, ८. चतुः स्थान, ९. व्यंजन, १०. दर्शनमोहोपशामना, ११. दर्शनमोहक्षपणा, १२. संयमासंयमलब्धि, १३. संयमलब्धि, १४. चारित्रमोहोपशामना तथा १५. चारित्रमोहक्षपणा।

अधिकारों के नाम से ही यह सुज्ञेय है कि आत्मा की अन्तर्वृत्तियों के विश्लेषण तथा परिष्करण की दृष्टि से यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण है।

षट्खण्डागम की भाषा

मथुरा के आस-पास का क्षेत्र कभी शूरसेन जनपद के नाम से प्रसिद्ध रहा है। प्राकृत-काल में वहां जो भाषा प्रचलित रही है, वह शौरसेनी प्राकृत कही जाती है। यह भाषा शूरसेन जनपद के अतिरिक्त पूर्व में वहां तक, जहां से अर्द्धमागधी का क्षेत्र शुरू होता था तथा पश्चिम में वहां तक जहां से पैशाची का क्षेत्र शुरू होता था, प्रसृत रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक समय ऐसा रहा, जब यह भाषा उत्तर भारत के मध्यवर्ती विस्तृत भू-भाग में प्रयुक्त थी।

दिगम्बर आचार्यों द्वारा अपने धार्मिक साहित्य के सर्जन में जिस प्राकृत का प्रयोग हुआ है, लक्षणों से यह शौरसेनी के अधिक निकट है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य विशेष रूप से परिशीलनीय हैं।

दिगम्बर-सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र दक्षिण भारत रहा है। जिसके साथ अनेक प्रकार के कथानक जुड़े हैं, वह उत्तर भारत में व्याप्त द्वादशवर्षीय दुष्काल एक ऐसा प्रसंग था, जिसके परिणामस्वरूप घटित घटनाओं के कारण जैन संघ दो भागों में बंट गया। उत्तर में जो जैन संघ रहा, अधिकांशतया वह आगे चलकर श्वेताम्बर के रूप में विश्रुत हो गया। वह परम्परागत आगमों की, चाहे अंशतः ही सही, अविच्छिन्नता में विश्वास रखता रहा। उसकी ओर से विभिन्न समयों में आयोजित आगम वाचनाओं द्वारा अपने अर्द्धमागधी आगम-वाङ्मय को सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न भी चला। फलतः वह वाङ्मय सुरक्षित रह भी सका। श्वेताम्बर मुनियों के माध्यम से आगे वह स्रोत प्रवहणशील रहा।

दिगम्बर मुनियों की स्थिति दूसरी थी। उन्होंने महावीर-भाषित द्वादशांग-वाङ्मय को विच्छिन्न माना। इसलिए तदनुस्यूत भाषा के साथ भी उनका विशेष सम्बन्ध न रह सका। इस सम्प्रदाय के विद्वानों को, जब साहित्य-सर्जन का प्रसंग आया तो शौरसेनी का

स्वीकार अधिक संगत लगा हो। क्योंकि उत्तर भारत का मुख्य भाग उससे प्रभावित था। हर कोई लेखक यह चाहता है, उसकी कृति स्थायी रहे। वह भाषा के अस्तित्व तथा महत्व पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। शौरसेनी प्रभावशील भाषा थी। दिगम्बर लेखकों को उसमें कुछ ऐसी संभावनाएं प्रतीत हुई हों, वे मन में आश्वस्त रहे हों कि उन द्वारा उसमें प्रणीत साहित्य स्थायित्व लिए रहेगा।

एक दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि प्राचीन काल में दिगम्बर सम्प्रदाय का उत्तर भारत से कुछ सम्बन्ध रहा भी तो वह विशेष रूप से मथुरा के आस-पास के प्रदेश से रहा हो। उस कारण भी उस प्रदेश की भाषा को अपने धार्मिक साहित्य मे ग्रहण करने की मनः स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

दिगम्बर लेखकों द्वारा प्रयुक्त शौरसेनी जैन शौरसेनी कही जाती है। इसका ए कारण तो यह है कि उसमें पहले-पहल ग्रन्थ-रचना वाले जैन विद्वान् ही थे, जिनकी अपः परम्परा थी, अपनी शैली थी। उनके कारण वह भाषा, जो उनकी लेखिनी से पल्लवि और विकसित हुई, उनके विशेषण के साथ (जैन शौरसेनी) विश्रुत हो गई।

एक और कारण भी है। जैन धर्म, जब अविभक्त था, तब से, उससे भी पूर्व भगवा महावीर के समय से अर्द्धमागधी से विशेष सम्बद्ध रहा। भगवान् महावीर चाहे श रूप में बोले हों अथवा उनके देह से ध्वनि रूप में उद्गार निकले हों, अन्ततः उनके भाष त्मक रूप की परिणति अर्द्धमागधी में होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जाये तो अत्युि नहीं होगी कि अर्द्धमागधी एक तरह से जैन धर्म की भाषा है। जैसा कि कहा गया यद्यपि दिगम्बरों का अर्द्धमागधी के साथ विशेष सम्बन्ध रहा, पर अर्हद्-वाणी या आग वाणी के रूप में उनके मन में जो पारम्परिक श्रद्धा थी, वह कैसे मिट सकती थी। इस सिवाय पूर्वतन श्रुत-स्रोत के परिप्रेक्ष्य में भी उनके मस्तिष्क पर उसकी छाप थी। अ उन्होंने यद्यपि लिखा तो शौरसेनी में, पर स्वभावतः उस पर अर्द्धमागधी का प्रभाव ब रहा। इस प्रकार अर्द्धमागधी अर्थात् जैन धर्म की भाषा या जैन भाषा से प्रभावित ए के कारण वह शौरसेनी जैन शौरसेनी कहलाने लगी।

दिगम्बर लेखकों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के स्वरूप के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम उस भाषा के अन्तःस्वरूप की यथार्थ परिचायकता की अपेक्षा उसके स्थूल कलेवरीय स्वरूप पर अधिक आधृत है अन्यथा उन द्वारा प्रयुक्त भाषा में ऐसे उदाहरण भी हैं, जो मागधी आदि की सरणि से अधिक मेल खाते हैं।

प्रकृति के विद्वान् वैयाकरण डा० आर० पिशेल (Dr. Pischel) ने इसे जो जैन शौरसेनी कहा है, उसके पीछे भी उसी प्रकार का अभिप्राय प्रतीत होता है।[1] डा० वाल्टर शुब्रिंग (Dr. Walter Schubring) के शिष्य डा० डेनेक (Dr. Denecke) ने डा० पिशेल (Dr. Pischel) द्वारा परिकल्पित जैन शौरसेनी नाम को अनुपयुक्त बताया है। उन्होंने उसे 'दिगम्बरी भाषा' कहना अधिक उपयुक्त समझा है। डा० ए० एन० उपाध्ये आदि विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते। बात ऐसी ही है, यदि दिगम्बर लेखकों द्वारा अपने ग्रन्थों का इस भाषा में लिखा जाना इसके 'दिगम्बरी भाषा' कहे जाने का पर्याप्त हेतु है, तो वह अस्थान है, क्योंकि दिगम्बर विद्वानों ने अपने धर्म का साहित्य कन्नड़ तथा तमिल जैसी भाषाओं में भी तो रचा है, बहुत रचा है, जो उन भाषाओं की निधि है। अतः स्थूल दृष्ट्या जैन शौरसेनी नाम से इसे संज्ञित करना अनुपयुक्त नहीं लगता।

दिगम्बर लेखकों द्वारा प्रयुक्त शौरसेनी में देशी शब्दों के प्रयोग लगभग अप्राप्त हैं। कारण स्पष्ट है, वह भाषा उस प्रदेश में पनपी, विकसित हुई, जो द्रविड़ परिवारीय-भाषा-समूह से सम्बद्ध है तथा देशी-शब्दों के प्रयोग-क्षेत्र से सर्वथा बाहर है।

दिगम्बर लेखकों द्वारा प्रयुक्त भाषा—शौरसेनी द्रविड़ परिवारीय भाषाओं से प्रभावित नहीं हुई, इसका कारण उन (द्रविड़ परिवारीय) भाषाओं का ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान तथा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से आर्य-परिवारीय भाषाओं से भिन्नता है। संस्कृत का प्रभाव उस पर अवश्य अधिक है। एक तो शौरसेनी का प्रारम्भ से ही संस्कृत से विशेष लगाव रहा है, वररुचि ने तो इसकी उत्पत्ति ही संस्कृत[2] से बतलाई है तथा दूसरे संस्कृत की अपनी प्रभावापन्नता है, जिसकी अन्ततः परिणति हम समन्तभद्र, पूज्यपाद, अनन्तवीर्य तथा अकलंक जैसे महान् दिगम्बर संस्कृत लेखकों में पाते हैं।

दिगम्बर लेखकों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत का यह संक्षिप्त विवरण है। स्थान, समय, स्थिति आदि के कारण विभिन्न कृतियों में भाषा के सन्दर्भ में कुछ भिन्नता या असदृशता भी रही है, पर वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। अस्तु, षट्खण्डागम की भाषा जैन शौरसेनी प्राकृत है। मूल सूत्रों तथा टीका की भाषा में जो यत्किंचित् भिन्नता है, उसका उत्तर देश, काल एवं परिस्थिति के व्यवधान में स्वयं खोजा जा सकता है।

---

1. Comparative Grammar of the Prakrit Languages, Page 20-21

२. प्रकृतिः संस्कृतम्।

—प्राकृत-प्रकाश १२.२

शौरसेनी प्राकृत की मुख्य विशेषताएं

शौरसेनी प्राकृत की निम्नांकित मुख्य विशेषताएं हैं।

इसमें मध्यवर्ती क् के स्थान पर ग्, त् के स्थान पर द् तथा थ् के स्थान पर ध होता है।

वर्तमान काल प्रथम-पुरुष एक वचन क्रिया में 'दि' लगता है।

पूर्वकालिक क्रियात्मक प्रत्यय में प्रायः उन, तु एवं 'दूण' प्रत्यय का प्रयोग होता है।

उपसंहारात्मक समीक्षा

आगम-साहित्य एवं त्रिपिटक-साहित्य पर भाव, भाषा, शैली की दृष्टि से यथोचित *दिग्दर्शन सम्बन्धित सन्दर्भों में* कराया जाता रहा है। शब्द-साम्य व उक्ति-साम्य आदि नाना स्फुट विषय बनते हैं, जिन पर पृथक्-पृथक् रूप से शोध-कार्य किया जा सकता है। प्रस्तुत खण्ड की महाकायता को देखते हुए इतना विस्तार में जाना समुचित नहीं होगा। विषय का आरम्भ मात्र मैं यहां कर देना चाहता हूं ताकि आने वाली पीढ़ी उसे और विस्तार दे सके। मेरे लिए यह कार्य तीसरे खण्ड में भी सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका विषय भी मुख्यतः प्रकरण-साम्य ही रहेगा, जो अपने आप में प्रथम दो खण्डों के समकक्ष होगा।

पिटक—शास्त्र के अर्थ में पिटक शब्द दोनों ही परम्पराओं ने अपनाया है। वह ज्ञान-मंजूषा गणी तथा आचार्य के लिए है, इसलिए उसे गणिपिटक कहा गया है। गणी शब्द का प्रयोग महावीर, बुद्ध आदि तात्कालिक धर्म-प्रवर्तकों के अर्थ में भी बौद्ध परम्परा में मिलता है।[1] हो सकता है, गणनायक भगवान् महावीर से उद्भूत वाणी के अर्थ में ही जैन परम्परा ने गणिपिटक शब्द को अपनाया हो।

निगंठ—इस शब्द का अर्थ है—निर्ग्रन्थ। तात्पर्य है—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। त्रिपिटकों में जैन सम्प्रदाय को निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय, भगवान् महावीर को निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र स्थान-स्थान पर कहा गया है। जैन श्रमणों को भी निर्ग्रन्थ कहा गया है। उक्त

---

१. संयुत्तनिकाय, दहर सुत्त (३.१-२), पृ० ६८, दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १/२, सुत्तनिकाय, सभीय सुत्त, पृ० १०८ से ११० आदि

अर्थों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग त्रिपिटक में भी ज्यों-का-त्यों देखा जाता है। भगवान् महावीर के प्रवचन को भी निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा गया है।

पुग्गल—पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता है। जैन परम्परा में इसका मुख्य अर्थ रूपी जड़ पदार्थ है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल शब्द का अर्थ है—आत्मा, जीव।[1] जैनागमों में जीव-शब्द के अर्थ में पुद्गल शब्द आया है।[2] गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान् महावीर ने जीव को पुद्गल कहा है।[3]

अर्हत् और बुद्ध—वर्तमान में अर्हत् शब्द जैन परम्परा में और बुद्ध शब्द बौद्ध परम्परा में रूढ़ जैसा बन गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैनागमों में अर्हत् और बुद्ध अपने श्लाघ्य पुरुषों के लिए अपनाये गये हैं और बौद्ध आगमों में भी अपने श्लाघ्य पुरुषों के लिए। जैनागमों की प्रसिद्ध गाथा है—

जेय बुद्धा अतिकन्ता। जेये बुद्धा अणागया।[4]

बौद्ध परम्परा की सुविदित गाथा है—

ये बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।

पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वंदामि ते सदा।

जैनागमों में और भी अनेक स्थानों पर बुद्ध, सम्बुद्ध, संयबुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

तित्थगराणं सयं सम्बुद्धाणं।[5]

तिविहा बुद्धा-णाण बुद्धा, दंसण बुद्धा, चरित्त बुद्धा।[6]

समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थयरेणं सयं संबुद्धेणं।[7]

---

१. मज्झिम निकाय, ११४
२. भगवती सूत्र, शतक २०-३-२
३. वही, ८-३-१०
४. सूत्रकृतांग सूत्र, १-१-३६
५. रायपसेणइयं, ५
६. स्थानांग सूत्र, ठा० ३
७. समवायांग सूत्र, ३.२

बुद्धेहि एवं पवेदितं ।[1]

संखाई धम्म य वियागरंति बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति ।[2]

बौद्ध परम्परा मे अर्हत् शब्द का प्रयोग इसी प्रकार पूज्यजनों के लिए किया गया है। स्वयं तथागत को स्थान-स्थान पर अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया है।[3] भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् पांच सौ भिक्षुओं की जो सभा होती है, वहां आनन्द को छोड़कर चार सौ निन्यानवे भिक्षु अर्हत् बतलाए गए हैं। कार्य-प्रारम्भ के अवसर तक आनन्द भी अर्हत् हो जाते हैं।[4] बौद्धागमों में बुद्ध और जैनागमों में अर्हत् शब्द के तो अगणित प्रयोग हैं ही।

थेरे—स्थविर शब्द का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं में वृद्ध या ज्येष्ठ के अर्थ में हुआ है। जैन परम्परा में ज्ञान,वय, दीक्षा-पर्याय आदि को लेकर स्थविर के अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं। बौद्ध परम्परा में बारह वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ थेर या थेरो लगाया जाता है।

भन्ते—पूज्य और बड़ों को आमंत्रित करने में भन्ते (भदन्त) शब्द दोनों ही परम्पराओं में एक है। से कणट्ठेण भन्ते, सुणं भन्ते, सेव भन्ते, सव्वं भन्ते आदि प्रयोग जैन आगमों के हैं।[5] बौद्ध आगमों में भी भन्ते शब्द की अनहद बहुलता है।

आउसो—समान या छोटे के लिए आउस (आयुष्मान्) शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। भगवान् बुद्ध को भी 'आउस' गौतम कहकर सम्बोधित किया जाता था। गोशालक ने भी भगवान् महावीर को 'आउसो कासवा'[6] कहा है।

श्रावक, उपासक,श्रमणोपासक—श्रावक शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार उसका अर्थ गृहस्थ उपासक है। बौद्ध परम्परा

---

१. आचारांग सूत्र, ४।१।१४०
२. सूत्रकृतांग सूत्र, १-१४-१८
३. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १।२
४. विनयपिटक, पंचशतिका स्कन्धक
५. भगवती सूत्र, शतक ७।१।२७९
६. वही, शतक १५

में इससे भिक्षु और गृहस्थ, दोनों ही प्रकार के शिष्यों का बोध होता है।[1] उपासक और श्रमणोपासक शब्द अनुयायी गृहस्थ के लिए दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त हैं।

आस्रव और संवर—ये दोनों शब्द भी जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में एक ही अर्थ में मान्य दिखलाई पड़ते हैं।[2]

दीक्षित होने के अर्थ में एक वाक्य दोनों परम्पराओं में रूढ़ जैसा पाया जाता है। जैनागमों में है—अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।[3] बौद्ध शास्त्रों में है—अगारस्मा अनगारिअं पव्वज्जन्ति।[4]

सम्यक्‌दृष्टि, मिथ्यादृष्टि—ये दोनों शब्द भी एक ही अर्थ में दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही अपने-अपने अनुयायियों को सम्यक्‌दृष्टि और इतर मत वालों को मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

उपोसथ—इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। दीघनिकाय में भगवान् बुद्ध ने जैनों के उपोसथ की आलोचना की है।

वेरमण—व्रत लेने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में देखा जाता है।

तथागत—मुख्यतः यह शब्द बौद्ध परम्परा का है। जैनागमों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ—

कओ कआइ मेहावी उपज्जन्ति तहागया।
तहागया उप्पडिक्कन्ता चक्खु लोगस्सनुत्तरा॥[5]

विनय—विनय शब्द का दोनों परम्पराओं में महत्व है। बौद्ध परम्परा में समग्र आचार-धर्म के विषय में ही विनय शब्द का प्रयोग है। विनयपिटक इसी बात का सूचक है। जैनागमों में भी अनेक अध्ययन विनय-प्रधान हैं। दशवैकालिक सूत्र का नवम अध्ययन

१. अंगुत्तर निकाय, एक कनिपात, १४

२. जैनागम, समवायांग सूत्र, स० ५, बौद्ध शास्त्र, मज्झिमनिकाय, २

३. भगवती सूत्र, ११।१२।४३१

४. महावग्ग

५. सूत्र कृतांग सूत्र, २।१५।१२०।६२५

विनय-समाधि नाम से है—उसकी प्रथम उक्ति है—थंभा व कोहा व मयप्प माया, गुरु सगासे विणयं न सिक्खे। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम भी विनयश्रुत है और वहां यही कहा जाता है—विणयं पाउ करिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।

वर्जित कथा—जैनागमों में स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज कथा की वर्जना मिलती है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल, इन दोनों प्रकरणों में ऐसी कथाओं को तिरच्छान कथा कहा है—तिरच्छान कथं, अनुयुत्तो विहरति सेय्यथदं राज कथं, चोरकथं, महामत्त कथं सेना कथं, भय कथं, युद्ध कथं, अन्न कथं, पान कथं।

त्रिशरण-चतुश्शरण—बौद्ध पिटकों व परम्परा में तीन शरण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, तो जैनागमों व परम्परा में चार शरण अपना अनन्य स्थान रखते हैं। ये तीन व चार शरण क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

बुद्धं सरणं गच्छामि	अरहन्ते सरणं पवज्जामि
संघं सरणं गच्छामि	सिद्धे सरणं पवज्जामि
धम्मं सरणं गच्छामि	साहू सरणं पवज्जामि
	केवली पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

णमोत्थुणं—जैन आगमों का प्रसिद्ध स्तुति-वाक्य है—'णमोत्थुणं समणस्स भगव महावीरस्स।' बौद्ध परम्परा का सूत्र है—"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ सम्मग् सम्बुद्धस्स

नगर व देश—नालन्दा, राजगृह, कयंगला, श्रावस्ती आदि नगरों व अंग, मगध आ देशों के नाम व वर्णन दोनों आगमों में समान रूप से मिलते हैं।

जैनागम कहते हैं—व्यक्ति तीन उपकारक व्यक्तियों से उऋण नहीं होता—गुरु मालिक से और माता-पिता से।[1] वहां यह भी बताया गया है कि अमुक प्रकार पराकाष्ठा-परक सेवाएं दे देने पर भी वह अनृऋण ही रहता है। लगभग वही उक्ति बौ आगमों में मिलती है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, सौ वर्ष तक एक कन्धे पर माता को अ एक कन्धे पर पिता को ढोए, और सौ वर्ष तक ही वह उनके उबटन, मर्दन आदि कर रहे, उन्हें शीतोष्ण जल से स्नान कराता रहे, तो भी न वह माता-पिता का उपकार

१. ठाणांग सूत्र, ठा० ३

होता है, न प्रत्युपकारक। यह इसलिए कि माता-पिता का पुत्र पर बहुत उपकार होता है।[1] जैनागमों ने धार्मिक सहयोग को उऋण होने का आधार माना है।

दो अरिहन्त—जैनागमों की सुदृढ़ मान्यता है—भरत आदि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! इस बात की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि एक ही विश्व में एक ही समय में अर्हत् सम्यग् संबुद्ध पैदा हों।[2]

स्त्री—अर्हत्, चक्रवर्ती शक्र—जैनों की मान्यता है ही कि अर्हत्, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि स्त्री-भव में कभी नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, यह तनिक भी सम्भावना नहीं है कि स्त्री-अर्हत् चक्रवर्ती व शक्र हो।[3] श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार मल्ली स्त्री तीर्थंकर थी, पर वह कभी न होने वाला आश्चर्य था।

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

१. अंग पण्णत्ति : आचार्य शुभचन्द्र

२. अंगुत्तर-निकाय : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७-६३

३. अलंकार-तिलक :

४. अनुयोगद्वार सूत्र :

५. अट्ठसालिनी : पूना संस्करण, १९४२

६. अष्टाध्यायी-वृत्ति : पाणिनी

७. अभिसमयालंकार : बड़ौदा संस्करण

८. अभिधान राजेन्द्र कोष : (७ भाग) आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम, १९१३-३४

९. अमरकोश : (तृतीय खण्ड) नानार्थ वर्ग

१०. अशोक के धर्मलेख : सं० जनार्दन भट्ट, प्र० पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली, १९५७

११. आचारांग-निर्युक्ति :

१२. आचारांग सूत्र : (जैनागम) शीलांकाचार्य कृत वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति, सूरत, १९३५

१३. आदि पुराण : आचार्य जिनसेन, सं० पं० पन्नालाल जैन, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६१

१४. आराधना : अपराजित सूरि

१५. आराधना : विजयोदया : अपराजित सूरि

१६. आवश्यक-निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु मलयगिरि वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति बम्बई १९२८

१७. आवश्यक-निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु हरिभद्रीय वृत्ति [illegible] आगमोदय समिति बम्बई, १९१६

१८. इन्द्रनन्दि :

१९. उत्तराध्ययन सूत्र : भावविजयजी कृत टीका, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
२०. उपमिति भवप्रपञ्चकथा : आचार्य सिद्धर्षि
२१ ऋग्वेद :
२२. औपपातिक सूत्र : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९३७
२३ कच्चान व्याकरण :
२४. कर्पूर मंजरी : राजशेखर
२५. कल्पसूत्र : प्र० साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९४१
२६. कल्पसूत्र टीका :
२७. कल्याण : गीता प्रेस, गोरखपुर
२८. कामसूत्र :
२९. काव्यादर्श : दण्डी
३०. काव्यालकार वृत्ति :
३१. गउड़वहो : वाक्‌पति राज
३२. गोपक मोग्गलान सुत्त :
३३ गोम्मटसार : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, पाढम निवासी पं० मनोहरलाल कृत वृत्ति, प्र० श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई १९१३
३४. चूलवग्ग परिच्छेद :
३५. चूलवंस परिच्छेद :
३६. छान्दोग्योपनिषद् :
३७. जंबूदीपपण्णत्ति : शांतिचन्द्र गणि विहित वृत्ति सहित (भाग १, २) प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९२०
३८. जय धवला प्रशस्ति :
३९. जैन आगम : प० दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति शोध मंडल, बनारस, १९४७
४०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
४१. जैन सिद्धान्त भास्कर : जैन सिद्धान्त भवन, आरा १९१३
४२. ज्योतिष्करण्डक टीका :
४३. ज्ञातृधर्मकथा :
४४. ज्ञातृधर्मकथा सूत्र :

४५. ठाणांग सूत्र ।

४६. तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति, प्र० रायचन्द जैन शास्त्रमाला, हीराबाग, बम्बई, १९०६

४७. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि : आचार्य पूज्यपाद

४८. ताण्ड्य महाब्राह्मण, पचविंश ब्राह्मण :

४९. तित्थोगालीपइन्ना : (जैन ग्रन्थ) अप्रकाशित

५०. तिलोयपण्णत्ति : आचार्य यति वृषभ, सं० हीरालाल जैन व ए० एन० प्र० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१

५१. तैत्तरीय संहिता :

५२. दशवैकालिक वृत्ति :

५३. दर्शनसार : देवसेनाचार्य, सं० पं० नाथूराम प्रेमी, प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर व बम्बई, १९२०

५४. दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सारनाथ, बनारस, १९३६

५५. दीपवंस : (सिलोनी पालि ग्रन्थ) सं० और अनु० ओल्डन बर्ग प्र० वि एण्ड नोर्गेट, लन्दन १९०६-१९१५

५६. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

५७. धर्म सग्रह सटीक :

५८. धवला :

५९. नन्दी सूत्र :

६०. नन्दी सूत्र स्थविरावली :

६१. नाट्य शास्त्र : आचार्य भरत

६२. नायाधम्मकहाओ : वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, स० मुनि नथमल, प्र० विश्व भारती, लाडनूं, वि० स० २०३१

६३. नारद-स्मृति :

६४. निरयावलिका : (सुन्दर बोधि व्याख्या तथा हिन्दी-गुर्जर भाषानुवाद स घासीलालजी महाराज, प्र० अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्र समिति, राजकोट, १९६०

६५. निरुक्त :

६६. निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु

६७. निशीथ भाष्य :

६८. नीतिसार : आचार्य इन्द्रनन्दी

६९. पंचसिद्धान्तिका : वराहमिहिर

७०. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० सेठ हरगोविन्ददास, प्र० जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९५७

७१. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० डा० हर्मन जेकोबी, प्र० एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३२

७२. पाइअसद्दमहण्णवो : कर्ता पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं०दलसुखभाई मालवणिया, प्र०प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, (द्वितीय संस्करण) १९६३

७३. पाणिनी शिक्षा :

७४. पाणिनीय अष्टाध्यायी :

७५. पालि महाव्याकरण : ले० भिक्षु जगदीश काश्यप

७६. पालि साहित्य का इतिहास : डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन (द्वितीय संस्करण) प्रयाग, १९६३

७७. प्रभावक चरित : प्रभाचन्द्र, प्र० सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९४०

७८. प्रज्ञापनोपांगम पूर्वार्द्धम् :

७९. प्रज्ञापना सूत्र : अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित

८०. प्राकृत उपदेश पद : आचार्य हरिभद्र

८१. प्राकृत पट्टावली :

८२. प्राकृत प्रकाश : वररुचि

८३. प्राकृत लक्षण :

८४. प्राचीन लिपि माला : डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

८५. बाल रामायण : राजशेखर

८६. बृहत्कथाकोष : आचार्य हरिषेण, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थ माला, बम्बई १९४३

८७. बृहत्कल्पभाष्य :

८८. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास :

८९. भगवती सूत्र : (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३७

९०. भद्रबाहु चरित्र : आचार्य रत्ननन्दी
९१. भर्तृहरिकृतनीतिशतक : आचार्य सिद्धर्षि
९२. भारत की आर्य भाषाएं : डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
९३. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएं : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
९४. भाषा विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
९५. भाव-संग्रह : देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिक्यचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२१
९६. मज्झिम निकाय : (हिन्दी अनुवाद) अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
९७. मनुस्मृति :
९८. महापरिनिब्बाण सुत्त :
९९. महापुराण : प्र० माणकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
१००. महाभारत :
१०१. महाभाष्य : महर्षि पतंजलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९५१
१०२. महावंस : (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६
१०३. महावग्ग : महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ,खण्ड १-२,बम्बई,१९६८
१०४. महावीर चरित : रयधू
१०५. महायान सूत्र संग्रह : (प्रथम खण्ड) मिथिला पीठ, दरभंगा संस्करण १९६१
१०६. महायान सूत्रालंकार :
१०७. मिलिन्द-पञ्हो : (पालि) सं० आर० डो० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्यालय बम्बई १९४०
१०८. मुण्डकोपनिषद् :
१०९ याज्ञवल्क्य स्मृति :
११०. रत्नकरण्डश्रावकाचार : प्र० माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
१०१. राजप्रश्नीय सूत्र :
११२. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर

1. A Comparative Study of Pratimoksha : by Pachova.

2 An Introduction to Linguistic Science : Prof. Adager Sturvint, New Haven, 1948.

3 Annols of Bhondarkar Oriental Research Institute, Poona, 1974.

4 Buddhist India : Rovas Devids.

5. Buddhistic Studies : Edited by Dr. Law.

6 Comparative Grammar of the Prakrit Language : Dr. Pishel.

7. Dr. Upadhye's Introduction to the Siddhasena Divakara's Nyaya vatara and other works : Published by Jain Sahitya Vikas Mondala Bombay, 1971.

8. Epitome of Jainism Appendix :

9. History of Pali Literature : Dr. Law.

10. History of Indian Literature : M. Winter Nitza, Calcutta, 1933

11. Indian Historical Quarterly : December, 1928.

12. Indian Palaeography : Dr. Bular.

13. J. Bendryes Language : J. Bendryes, London, 1952.

14 Jainism In South India : Prof. S. K. Ramchandra Rao.

15. Language : Dr. Blum Field.

16. Lax Raligion Dyaina : Dr. Welter Schubring.

17. Linguistic Survey of India : Sir Jorj Abroham Griyorsan. 1927

18. Manu Smriti : M. Monior Williams.

19 Mysore Gazatter : Laws Rice.

20. Pali Literature and Language : Dr. Gaiger.

21. Rajasthan District Gazetter : Churu.

22. R. G. Bhandarkar Commemoration :

23. Sanskrit-English Dictionary : by Sir M. Monior Williams M. W. A. K. C. I. E.

24. The Middle Length Saying :

25. The Pali Literature of Burma : London, 1909,

26. The Story of Language : Mosiyo-Pai, London, 1952

1. A Comparative Study of Pratimoksha : by Pachova.
2 An Introduction to Linguistic Science : Prof. Adager Sturvint, New Haven, 1948.
3 Annols of Bhondarkar Oriental Research Institute, Poona, 1974.
4 Buddhist India : Rojas Devids.
5. Buddhistic Studies : Edited by Dr. Law.
6 Comparative Grammar of the Prakrit Language : Dr. Pishel.
7. Dr. Upadhye's Introduction to the Siddhasena Divakara's Nyaya vatara and other works : Published by Jain Sahitya Vikas Mondala Bombay, 1971.
8. Epitome of Jainism Appendix :
9. History of Pali Literature : Dr. Law.
10. History of Indian Literature : M. Winter Nitza, Calcutta, 1933
11. Indian Historical Quarterly : December, 1928.
12. Indian Palaeography : Dr. Bular.
13. J. Bendryes Language : J. Bendryes. London, 1952.
14 Jainism in South India : Prof. S. K. Ramchandra Rao.
15. Language : Dr. Blum Field.
16. Lex Raligion Dyaina : Dr. Welter Schubring.
17. Linguistic Survey of India : Sir Jorj Abroham Griyorsan. 1927
18. Manu Smriti : M. Monior Williams.
19 Mysore Gazatter : Laws Rice.
20. Pali Literature and Language : Dr. Gaiger.
21. Rajasthan District Gazetter : Churu.
22. R. G. Bhandarkar Commemoration :
23. Sanskrit-English Dictionary : by Sir M. Monior Williams M. W. A. K. C. I. E.
24 The Middle Length Saying :
25. The Pali Literature of Burma : London, 1909.
26. The Story of Language : Mosiyo-Pai, London, 1952

1. A Comparative Study of Pratimoksha : by Pachova.
2 An Introduction to Linguistic Science : Prof. Adager Sturvint, New Haven, 1948.
3 Annols of Bhondarkar Oriental Research Institute, Poona, 1974.
4 Buddhist India : Royas Devids.
5. Buddhistic Studies : Edited by Dr. Law.
6 Comparative Grammar of the Prakrit Language : Dr. Pishel.
7. Dr. Upadhye's Introduction to the Siddhasena Divakara's Nyaya vatara and other works : Published by Jain Sahitya Vikas Mondala Bombay, 1971.
8. Epitome of Jainism Appendix :
9. History of Pali Literature : Dr. Law.
10. History of Indian Literature : M. Winter Nitza, Calcutta, 1933
11. Indian Historical Quarterly : December, 1928.
12. Indian Palaeography : Dr. Bular.
13. J. Bendryes Language : J. Bendryes, London, 1952.
14 Jainism In South India : Prof. S. K. Ramchandra Rao.
15. Language : Dr. Blum Field.
16. Lax Raligion Dyaina : Dr. Welter Schubring.
17. Linguistic Survey of India : Sir Jorj Abroham Griyorsan. 1927
18. Manu Smriti : M. Monior Williams.
19 Mysore Gazatter : Laws Rice.
20. Pali Literature and Language : Dr. Gaiger.
21. Rajasthan District Gazetter : Churu.
22. R. G. Bhandarkar Commemoration :
23. Sanskrit-English Dictionary : by Sir M. Monior Williams M. W. A. K. C. I. E.
24 The Middle Length Saying :
25. The Pali Literature of Burma : London, 1909.
26. The Story of Language : Mosiyo-Pai, London, 1952

९०. भद्रबाहु चरित्र : आचार्य रत्ननन्दी
९१. भर्तृहरिकृतनीतिशतक : आचार्य सिद्धर्षि
९२. भारत की आर्य भाषाएं : डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
९३. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएं : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
९४. भाषा विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
९५. भाव-संग्रह : देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिक्यचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२१
९६. मज्झिम निकाय : (हिन्दी अनुवाद) अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
९७. मनुस्मृति :
९८. महापरिनिब्बाण सुत्त :
९९. महापुराण : प्र० माणकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
१००. महाभारत :
१०१. महाभाष्य : महर्षि पतंजलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९५१
१०२. महावंस : (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६
१०३. महावग्ग : महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ,खण्ड १-२,बम्बई,१९६८
१०४. महावीर चरित : रयधू
१०५. महायान सूत्र संग्रह : (प्रथम खण्ड) मिथिला पीठ, दरभंगा संस्करण १९६१
१०६. महायान सूत्रालंकार :
१०७. मिलिन्द-पञ्हो : (पालि) सं० आर० डी० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्यालय बम्बई १९४०
१०८. मुण्डकोपनिषद :
१०९ याज्ञवल्क्य स्मृति :
११०. रत्नकरण्डश्रावकाचार : प्र० माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
१०१. राजप्रश्नीय सूत्र :
११२. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर

६७. निशीथ भाष्य :
६८. नीतिसार : आचार्य इन्द्रनन्दी
६९. पंचसिद्धान्तिका : वराहमिहिर
७०. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० सेठ हरगोविन्ददास, प्र० जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९५७
७१. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, स० डा० हर्मन जेकोबी, प्र० एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३२
७२. पाइअसद्दमहण्णवो : कर्ता पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं०दलसुखभाई मालवणिया,प्र०प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, (द्वितीय संस्करण) १९६३
७३. पाणिनी शिक्षा :
७४. पाणिनीय अष्टाध्यायी :
७५. पालि महाव्याकरण : ले० भिक्षु जगदीश काश्यप
७६. पालि साहित्य का इतिहास : डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन (द्वितीय संस्करण) प्रयाग, १९६३
७७. प्रभावक चरित : प्रभाचन्द्र, प्र० सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९४०
७८. प्रज्ञापनोपांगम् पूर्वार्द्धम् :
७९. प्रज्ञापना सूत्र : अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित
८०. प्राकृत उपदेश पद : आचार्य हरिभद्र
८१. प्राकृत पट्टावली :
८२. प्राकृत प्रकाश : वररुचि
८३. प्राकृत लक्षण :
८४. प्राचीन लिपि माला : डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
८५. बाल रामायण : राजशेखर
८६. बृहत्कथाकोष : आचार्य हरिषेण, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थ माला, बम्बई १९४३
८७. बृहत्कल्पभाष्य :
८८. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास :
८९. भगवती सूत्र : (अंगागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३७

९०. भद्रबाहु चरित्र : आचार्य रत्ननन्दी
९१. भर्तृहरिकृतनीतिशतक : आचार्य सिद्धर्षि
९२. भारत की आर्य भाषाएं : डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
९३. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएं : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
९४. भाषा विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
९५. भाव-संग्रह : देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिक्यचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२१
९६. मज्झिम निकाय : (हिन्दी अनुवाद) अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
९७. मनुस्मृति :
९८. महापरिनिब्बाण सुत्त :
९९. महापुराण : प्र० माणकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
१००. महाभारत :
१०१. महाभाष्य : महर्षि पतंजलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९५१
१०२. महावंस : (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६
१०३. महावग्ग : महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ, खण्ड १-२, बम्बई, १९६८
१०४. महावीर चरित : रयधू
१०५. महायान सूत्र संग्रह : (प्रथम खण्ड) मिथिला पीठ, दरभंगा संस्करण १९६१
१०६. महायान सूत्रालंकार :
१०७. मिलिन्द-पञ्हो : (पालि) सं० आर० डी० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्यालय बम्बई १९४०
१०८. मुण्डकोपनिषद् :
१०९ याज्ञवल्क्य स्मृति :
११०. रत्नकरण्डश्रावकाचार : प्र० माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
१०१. राजप्रश्नीय सूत्र :
११२. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर

६७. निशीथ भाष्य :
६८. नीतिसार : आचार्य इन्द्रनन्दी
६९. पंचसिद्धान्तिका : वराहमिहिर
७०. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० सेठ हरगोविन्ददास, प्र० जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९५७
७१. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० डा० हर्मन जेकोबी, प्र० एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३२
७२. पाइअसद्दमहण्णवो : कर्ता पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं०दलसुखभाई मालवणिया,प्र०प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, (द्वितीय संस्करण) १९६३
७३. पाणिनी शिक्षा :
७४. पाणिनीय अष्टाध्यायी :
७५. पालि महाव्याकरण : ले० भिक्षु जगदीश काश्यप
७६. पालि साहित्य का इतिहास : डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन (द्वितीय संस्करण) प्रयाग, १९६३
७७. प्रभावक चरित : प्रभाचन्द्र, प्र० सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९४०
७८. प्रज्ञापनोपांगम पूर्वार्द्धम् :
७९. प्रज्ञापना सूत्र : अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित
८०. प्राकृत उपदेश पद : आचार्य हरिभद्र
८१. प्राकृत पट्टावली :
८२. प्राकृत प्रकाश : वररुचि
८३. प्राकृत लक्षण :
८४. प्राचीन लिपि माला : डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
८५. बाल रामायण : राजशेखर
८६. बृहत्कथाकोष : आचार्य हरिषेण, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थ माला, बम्बई १९४३
८७. बृहत्कल्पभाष्य :
८८. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास :
८९. भगवती सूत्र : (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९१७

९०. भद्रबाहु चरित्र : आचार्य रत्ननन्दी
९१. भर्तृहरिकृतनीतिशतक : आचार्य सिद्धर्षि
९२. भारत की आर्य भाषाएं : डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
९३. भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
९४. भाषा विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
९५. भाव-संग्रह : देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२१
९६. मज्झिम निकाय : (हिन्दी अनुवाद) अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
९७. मनुस्मृति :
९८. महापरिनिब्बाण सुत्त :
९९. महापुराण : प्र० माणकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
१००. महाभारत :
१०१. महाभाष्य : महर्षि पतंजलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९५१
१०२. महावंस : (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६
१०३. महावग्ग : महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ,खण्ड १-२,बम्बई, १९६८
१०४. महावीर चरित : रयधू
१०५. महायान सूत्र संग्रह : (प्रथम खण्ड) मिथिला पीठ, दरभंगा संस्करण १९६१
१०६. महायान सूत्रालंकार :
१०७. मिलिन्द-पञ्हो : (पालि) सं० आर० डी० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्यालय बम्बई १९४०
१०८. मुण्डकोपनिषद् :
१०९ याज्ञवल्क्य स्मृति :
११०. रत्नकरण्डश्रावकाचार : प्र० माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
१०१. राजप्रश्नीय सूत्र :
११२. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर

६७. निशीथ भाष्य :
६८. नीतिसार : आचार्य इन्द्रनन्दी
६९. पंचसिद्धान्तिका : वराहमिहिर
७०. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० सेठ हरगोविन्ददास, प्र० जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९४७
७१. परिशिष्ट पर्व : आचार्य हेमचन्द्र, सं० डा० हर्मन जेकोबी, प्र० एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३२
७२. पाइअसद्दमहण्णवो : कर्ता पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं०दलसुखभाई मालवणिया,प्र०प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, (द्वितीय संस्करण) १९६३
७३. पाणिनी शिक्षा :
७४. पाणिनीय अष्टाध्यायी :
७५. पालि महाव्याकरण : ले० भिक्षु जगदीश काश्यप
७६. पालि साहित्य का इतिहास : डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन (द्वितीय संस्करण) प्रयाग, १९६३
७७. प्रभावक चरित : प्रभाचन्द्र, प्र० सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९४०
७८. प्रज्ञापनोपांगम पूर्वार्द्धम् :
७९. प्रज्ञापना सूत्र : अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित
८०. प्राकृत उपदेश पद : आचार्य हरिभद्र
८१. प्राकृत पट्टावली :
८२. प्राकृत प्रकाश : वररुचि
८३. प्राकृत लक्षण :
८४. प्राचीन लिपि माला : डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
८५. बाल रामायण : राजशेखर
८६. बृहत्कथाकोष : आचार्य हरिषेण, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थ माला, बम्बई १९४३
८७. बृहत्कल्पभाष्य :
८८. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास :
८९. भगवती सूत्र : (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३७

९०. भद्रबाहु चरित्र : आचार्य रत्ननन्दी
९१. भर्तृहरिकृतनीतिशतक : आचार्य सिद्धर्षि
९२. भारत की आर्य भाषाएं : डा० हरदेवचन्द्र शास्त्री
९३. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएं : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
९४. भाषा विज्ञान : डा० भोलानाथ तिवारी
९५. भाव-संग्रह : देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२१
९६. मज्झिम निकाय : (हिन्दी अनुवाद) अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
९७. मनुस्मृति :
९८. महापरिनिब्बाण सुत्त :
९९. महापुराण : प्र० माणकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
१००. महाभारत :
१०१. महाभाष्य : महर्षि पतंजलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बा १९५१
१०२. महावंस : (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हि साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६
१०३. महावग्ग : महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ,खण्ड १-२,बम्बई, १९
१०४. महावीर चरित : रयधू
१०५. महायान सूत्र संग्रह : (प्रथम खण्ड) मिथिला पीठ, दरभंगा सस्करण १९
१०६. महायान सूत्रालंकार :
१०७. मिलिन्द-पञ्हो : (पालि) सं० आर० डी० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्याल बम्बई १९४०
१०८. मुण्डकोपनिषद् :
१०९ याज्ञवल्क्य स्मृति :
११०. रत्नकरण्डश्रावकाचार : प्र० माणक्चन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई
१११. राजप्रश्नीय सूत्र :
११२. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर

११३. रायपसेणइयं : (जैनागम) सं० पं० बेचरदास डोसी, प्र० गुर्जर रत्न ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद, १९३९

११४. ललित बिस्तर : (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली) सं० डा० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९५८

११५. ललित विस्तरा : आचार्य हरिभद्र

११६. लघु सिद्धान्त कौमुदी :

११७. वसुदेव हिंडी :

११८. विनयपिटक : (पालि) सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मंडल नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य १९५६

११९. विनयपिटक : (भूमिका) सं० डा० ओल्डन वर्ग

११०. विपाक सूत्र :

१२१. विपाक श्रुत :

१२२. विसुद्धिमग्ग : आचार्य बुद्धघोष

१२३. विशेषावश्यक भाष्य : (सटीक) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, वृत्तिकार-कोट्याचार, प्र० ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था, रतलाम, १९३६-३७

२२४. वृहदारण्य कोपनिषद् :

१२५. वृष्णिदशा सूत्र :

१२६. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी :

१२७. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र : टीका अभयदेव सूरि, प्र० ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे० संस्था, रतलाम १९४७

१२८. शाकटायन :

१२९. शाकटायन व्याकरण :

१३०. श्रवणबेलगोला शिलालेख :

१३१. श्रुतावतार :

१३२. श्री आवश्यक सूत्रम् : (द्वितीय भाग) आचार्य मलयगिरि

१३३. श्री दुषमाकालश्रमणसंघस्तव : धर्मघोष सूरि

१३४. षट्खण्डागम : (धवला टीका) आचार्य वीरसेन, सं० हीरालाल जैन, प्र० सिताबचन्द लक्ष्मीचन्द, अमरावती (बरार) १९४१-५०

१३५. षट्प्राभृत टीका :

१३६ षड्दर्शन समुच्चय सटीक : याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य सूरि

१३७. संयुक्त निकाय : (पालि) सं० भिक्षु जगदीश , काश्यप प्र० पालि प्रकाशन मंडल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, विहार राज्य, १९५९

१३८. संस्कृत-हिन्दी-कोश : आप्टे, वामन शिवराम

१३९. सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र : डा० एन० एन० दत्त का देवनागरी संस्करण

१४०. समन्तपासादिका : आचार्य बुद्धघोष, सं० जे० तकाकुसु, मकोटो नगाई, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९४७

१४१. समवायांग सूत्र : (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित सं० मास्टर नगीनदास नेमचन्द, प्र० सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, कान्तीलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३८

१४२. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव

१४३. सामान्य भाषा विज्ञान : डा० बाबूराम सक्सेना

१४४. सामवेद :

१४५. साहित्य दर्पण : महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी

१४६. सिद्धहैमशब्दानुशासन : हेमचन्द्राचार्य, प्र० सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई

१४७. सुमंगलविलासिनी : आचार्य बुद्धघोष, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८६-१९३२

१४८. सूत्रकृतांग सूत्र : (जैनागम) शीलांकाचार्य वृत्ति सहित, सं० पन्यासप्रवर श्रीचन्द्रसागरगणि, प्र० श्री गोड़ीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढ़ी, बम्बई

१४९. सूत्रकृतांग निर्युक्ति चूर्णि :

१५०. स्थविरावली चरितम् -

१५१. स्थानांग टीका - आचार्य अभयदेव सूरि, सन् १०६३

१५२. स्थानांग सूत्र - (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समि सूरत, १९२०

१५३. स्थानांग सूत्र वृत्ति :

१५४. स्त्री-निर्वाण-केवलि-भुक्ति-प्रकरण : सं० मुनि जम्बूविजयजी, प्र० आत्मा जैन सभा, भावनगर, सं० २०१०

१५५. हिमवन्त थेरावली :

११३. रायपसेणइयं : (जैनागम) सं० पं० बेचरदास डोशी, प्र० गुर्जर रत्न ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद, १९३९

११४ ललित विस्तर : (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली) सं० डा० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९५८

११५. ललित विस्तरा : आचार्य हरिभद्र

११६. लघु सिद्धान्त कौमुदी :

११७. वसुदेव हिंडी :

११८. विनयपिटक : (पालि) सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मंडल नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य १९५६

११९. विनयपिटक : (भूमिका) सं० डा० ओल्डन बर्ग

१२०. विपाक सूत्र :

१२१. विपाक श्रुत :

१२२. विसुद्धिमग्ग : आचार्य बुद्धघोष

१२३. विशेषावश्यक भाष्य : (सटीक) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, वृत्तिकार-कोट्याचार, प्र० ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था, रतलाम, १९३६-३७

२२४. बृहदारण्य कोपनिषद :

१२५. वृष्णिदशा सूत्र :

१२६. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी :

१२७. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र : टीका अभयदेव सूरि, प्र० ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे० संस्था, रतलाम १९४७

१२८. शाकटायन :

१२९. शाकटायन व्याकरण :

१३०. श्रवणबेलगोला शिलालेख :

१३१. श्रुतावतार :

१३२. श्री आवश्यक सूत्रम् : (द्वितीय भाग) आचार्य मलयगिरि

१३३. श्री दुःषमाकालश्रमणसंघस्तव : धर्मघोष सूरि

१३४. षट्खण्डागम : (धवला टीका) आचार्य वीरसेन, सं० हीरालाल जैन, प्र० सिताबचन्द लखमीचन्द, अमरावती (बरार) १९४१-५७

१३५. षट्प्राभृत टीका :

१३६. षड्दर्शन समुच्चय सटीक : याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य सूरि

१३७. संयुक्त निकाय : पालि) सं० भिक्षु जगदीश , काश्यप प्र० पालि प्रकाशन मंडल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१३८. संस्कृत-हिन्दी-कोश : आप्टे, वामन शिवराम

१३९. सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र : डा० एन० एन० दत्त का देवनागरी संस्करण

१४०. समन्तपासादिका : आचार्य बुद्धघोष, स० जे० तकाकुसु, मकोटो नगाई, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९४७

१४१. समवायांग सूत्र : (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित सं० मास्टर नगीनदास नेमचन्द, प्र० सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, कान्तीलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३८

१४२. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव

१४३. सामान्य भाषा विज्ञान : डा० बाबूराम सक्सेना

१४४. सामवेद :

१४५. साहित्य दर्पण : महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी

१४६. सिद्धहैमशब्दानुशासन : हेमचन्द्राचार्य, प्र० सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई

१४७. सुमंगलविलासिनी : आचार्य बुद्धघोष, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८६-१९३२

१४८. सूत्रकृतांग सूत्र : (जैनागम) शीलांकाचार्य वृत्ति सहित, सं० पन्यासप्रवर श्रीचन्द्रसागरगणि, प्र० श्री गौड़ीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढ़ी, बम्बई

१४९. सूत्रकृतांग निर्युक्ति चूर्णि :

१५०. स्थविरावली चरितम् -

१५१. स्थानांग टीका - आचार्य अभयदेव सूरि, सन् १०६३

१५२. स्थानांग सूत्र - (जैनागम) अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति सूरत, १९२०

१५३. स्थानांग सूत्र वृत्ति :

१५४. स्त्री-निर्वाण-केवलि-भुक्ति-प्रकरण : सं० मुनि जम्बूविजयजी, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, सं० २०३०

१५५. हिमवत् थेरावली :

1. A Comparative Study of Pratimoksha : by Pachova.
2 An Introduction to Linguistic Science : Prof. Adager Sturvint. New Haven, 1948.
3 Annols of Bhondarkar Oriental Research Institute, Poona, 1974.
4 Buddhist India : Royas Devids.
5. Buddhistic Studies : Edited by Dr. Law.
6 Comparative Grammar of the Prakrit Language : Dr. Pishel.
7. Dr. Upadhye's Introduction to the Siddhasena Divakara's Nyaya vatara and other works : Published by Jain Sahitya Vikas Mondala Bombay, 1971.
8. Epitome of Jainism Appendix :
9. History of Pali Literature : Dr. Law.
10. History of Indian Literature : M. Winter Nitza, Calcutta, 1933
11. Indian Historical Quarterly : December, 1928.
12. Indian Palaeography : Dr. Bular.
13. J. Bendryes Language : J. Bendryes. London, 1952.
14 Jainism In South India : Prof. S. K. Ramchandra Rao.
15. Language : Dr. Blum Field.
16. Lex Raligion Dyaina : Dr. Welter Schubring.
17. Linguistic Survey of India : Sir Jorj Abroham Griyorsan. 1927
18. Manu Smriti : M. Monior Williams.
19 Mysore Gazatter : Laws Rice.
20. Pali Literature and Language : Dr. Gaiger.
21. Rajasthan District Gazetter : Churu.
22. R. G. Bhandarkar Commemoration :
23. Sanskrit-English Dictionary : by Sir M. Monior Williams M. W. A. K. C. I. E.
24. The Middle Length Saying :
25. The Pali Literature of Burma : London, 1909,
26, The Story of Language : Mosiyo-Pai, London, 1952

संस्कृत

अंग्रेजी

★